जपसूत्रम्

द्वितीय खण्ड

स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

संस्कृत और बंगभाषा में लिखित स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती के 'जपसूत्र' के ६ खण्ड अनेक दिन पूर्व प्रकाशित हुए थे। आनन्द का विषय है कि सम्प्रति हिन्दी भाषा-प्रेमिक अध्यात्मज्ञान-पिपासु पाठकगण के निकट इस अपूर्व ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का अनुवाद प्रकाशित होने जा रहा है। अनुवादिका हैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की अन्यतम अध्यापिका डा० प्रेमलता शर्मा।

जपसाधना अध्यात्म मार्ग की सरल और श्रेष्ठ साधना होने पर भी उसका रहस्य गम्भीर होने से शास्त्रीय सिद्धान्त ज्ञान पूर्णभाव से आयत्त रहने पर भी, व्यक्तिगत अपरोक्ष अनुभव के बिना हृदयंगम नहीं होता। उसके बाद हृदयंगम होने पर भी वर्तमान जगत् में लोकशिक्षा के लिए वह तब तक प्रकाशार्थ उपयोगी नहीं होता जबतक विज्ञान-विद् की मार्जित भाषा व परिभाषा से संवलित न हो। स्वामीजी स्वनामधन्य पुरुष हैं। वे शास्त्रज्ञान-सम्पन्न, तपोबलविशिष्ट और पाश्चात्य विज्ञान के रहस्यविद् हैं—अथ च लिपि-कुशल हैं। विदुषी अनुवादिका ने मूल ग्रन्थ के तात्पर्य और गुरुत्व की ओर लक्ष्य रखकर सावधानता के साथ अनुवाद कार्य सम्पन्न किया है। यह अनुवाद-ग्रन्थ हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि का साधन करते हुए ज्ञानलिप्सु पाठकगण का परम कल्याण-विधान करेगा। आशा है, परवर्ती खण्डों का अनुवाद भी इसी प्रकार क्रमशः प्रकाशित होगा।

१६-८-६६ **श्री गोपीनाथ कविराज**

('जपसूत्रम्' प्रथम खण्ड से उद्धृत)

मूल्य : एक सौ पचास रुपये

जपसूत्रम्

द्वितीयखण्डः

(तान्त्रिक अध्यात्मविज्ञान के श्रेष्ठ अङ्ग ज्ञान और योगरहस्य की
व्याख्या-सहित जप-विद्या का अनुपम समीक्षण, अनादि
परम्परागत आगमज्ञान और प्रातिभ-स्वरूप
साक्षात् अनुभवात्मक विवेकज ज्ञान के
परस्पर समन्वय के प्रभाव से)

प्रणेता

स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

(पूर्वाश्रम के प्रोफेसर श्री प्रमथनाथ मुखोपाध्याय)

अनुवादिका एवं सम्पादिका

(सूत्रों एवं कारिकाओं के शब्दार्थ तथा अन्वय आदि
के अभिनव संयोजन-सहित)

प्रेमलता शर्मा

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

JAPASUTRAM

Vol. II

by

Swami Pratyagatmanand Saraswati

Translated by

Premlata Sharma

1992

ISBN 81–7124–104–2

प्रथम संस्करण : १९९२ ई०

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी

मुद्रक

शिव प्रेस

ए. १०/२५, प्रह्लादघाट, वाराणसी

प्ररोचना

'जपसूत्रम्' नामक ग्रन्थ मूल रूप से संस्कृत और बंगला में प्रकाशित हुआ था। इसके रचयिता प्रातःस्मरणीय स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती थे। स्वर्गीय म० म० गोपीनाथ कविराजजी ने इसकी भूमिका लिखी थी, और उन्हीं की इच्छा से इसका हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत हुआ। यह काम बहन प्रेमलताजी ने १९६५ में शुरू किया था और १९६६ में इसका प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। प्रथम भाग एक तरह से जपसूत्रों की भूमिका ही थी। यह ग्रन्थ एक दिव्य अनुभव और परिणत प्रज्ञा की प्रसूति है। इसलिए इसके अनुवाद में समय लगना स्वाभाविक ही था, क्योंकि यहाँ अनुवाद **शब्द** का नहीं करना है, **अनुभव** का करना है।[1]

बहनजी के पहले भाग के अनुवाद की भूरि-भूरि प्रशंसा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी की थी। दूसरा भाग अब प्रकाशित हुआ है। इसमें जपसूत्रम् के प्रथमाध्याय के आद्योपान्त १२० सूत्र, ४७१ वार्त्तिक अथवा कारिकाएँ और भाष्य हैं। प्रत्येक सूत्र निगम का निचोड़ है। जप-साधना भारत को प्रत्येक उपासना-पद्धति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधना है, क्योंकि भारत की संस्कृति वाङ्मयी संस्कृति है। पूज्य स्वामीजी ने मन्त्र-तत्त्व पर वर्षों तक ध्यान किया था और उन्होंने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और तर्क-प्रवणता को ध्यान में रखते हुए मन्त्र का रहस्य समझाया, साथ ही शास्त्रों से उसकी सङ्गति भी स्थापित की। यही अकेली विशेषता इस ग्रन्थ को आधुनिक जगत् के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बनाती है। वैसे तो इस ग्रन्थ के स्थल-स्थल पर भक्ति-पदावली, स्मृति और आगम से इतने सन्दर्भ दिये गये हैं कि यह अपने आप में मन्त्रविद्या का विश्वकोष बन गया है। बहनजी ने उन तमाम सन्दर्भों को और स्रोतों को अपने इस अनुवाद में जोड़कर इस ग्रन्थ की, शोध की दृष्टि से, उपादेयता बढ़ा दी है।[2] जैसा कि श्री गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय ने प्रथम संस्करण की प्रस्तावना में कहा था—"इस ग्रन्थ की विशेषता है इसके एक-एक शब्द को पकड़कर उसके प्रत्येक वर्ण का विश्लेषण करते हुए उसका निगूढ़ मर्मार्थ पकड़ने का प्रयास।"

---

१. द्वितीय खण्ड के प्रकाशन में आई असाधारण बाधाओं का उल्लेख अनुवादिका की भूमिका में है। —सम्पा०

२. यह काम जितनी समग्रता से प्रथम खण्ड में किया गया था, वैसा कुछ इस द्वितीय खण्ड में नहीं बन पाया है। द्रष्टव्य अनुवादिका की भूमिका। —सम्पा०

आचार्य कविराजजी ने भूमिका में तन्त्र की दृष्टि से कुछ अत्यन्त रहस्यमय तथ्य और कुछ अन्य ऐसे तत्त्व जोड़ दिये हैं, जिससे शुद्ध विद्या के पूर्व की और शुद्ध विद्या की भूमियों का एक स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है। जपसूत्रों के द्वितीय खण्ड के हिन्दी रूपान्तर की यह प्ररोचना लिखते समय मुझे आत्मतृप्ति मिलती है, और मैं समझता हूँ पाठकों को भी आत्मिक तृप्ति मिलेगी, और प्रबुद्ध पाठकों को विशेषरूप से नामसाधना की सार्थकता का भलीभाँति परिज्ञान होगा। बहन प्रेमलताजी के प्रति साधक और जिज्ञासु पाठक बहुत आभारी होंगे।

विद्यानिवास मिश्र
कुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वराणसी–२२१००१
२ सितम्बर, १९९२

उपस्थापन

आज से षड्विंशति वर्ष पूर्व पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मानन्दजी सरस्वती के आप्त ग्रन्थ श्री जपसूत्रम् के प्रथम खण्ड का हिन्दी अनुवाद विदुषी डा० प्रेमलता शर्मा ने किया था, तदुपरान्त श्री जपसूत्रम् के शेष पाँच खण्डों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत नहीं किया जा सका। प्रेमलताजी ने दूसरे खण्ड का भी अनुवाद कर लिया है और उसे श्री पुरुषोत्तमदासजी मोदी अपने संस्थान विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, से प्रकाशित कर रहे हैं। प्रथम खण्ड के प्रकाशनोपरान्त अनेक सुधी विद्वानों और मनीषी सज्जनों, आचार्यों ने पुनः-पुनः अन्य खण्डों के प्रकाशन के लिए भी आग्रह किया। विदुषी प्रेमलताजी ने दूसरे खण्ड का अनुवाद लगभग चौबीस वर्ष पूर्व ही कर लिया था, पर प्रकाशित नहीं हो सका। अब वह संकल्प पूरा हो रहा है।

महामहोपाध्याय गोपीनाथजी कविराज ने श्री जपसूत्रम् को 'अपूर्व ग्रन्थ' कहा है और 'अध्यात्म-साधना को हृदयङ्गम करने एवं लोक-शिक्षा के लिए उपयोगी एवं विज्ञान-वद् की मार्जित भाषा व परिभाषा से संवलित' बताया। पूज्यपाद स्वनामधन्य, शास्त्र-ज्ञान सम्पन्न, तपोबलनिष्ठ और पाश्चात्य विज्ञान के रहस्यविद् महायोगी थे। श्री जपसूत्रम् उनकी महत्तम साधना का पियूष-प्रवाह है, जिसके लिए पुनः गोपीनाथजी ने स्वानुभूति, सद्युक्ति और वर्त्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्त के साथ शास्त्रीय-सिद्धान्त का अपूर्व समन्वय कहकर स्वीकार किया कि ऐसा (पुनीत) यत्न और कहीं नहीं देखा। पंडितप्रवर गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय के अनुसार इस ग्रन्थ के अनुशीलन से हमारी भ्रान्त और श्रान्त दृष्टि के क्रान्त एवं शान्त बनने का भरोसा है।

श्री जपसूत्रम् के प्रकाशनोपरान्त वैज्ञानिक संस्कृति और गहन व गम्भीर होती गई है। आज देश-विदेश के वैज्ञानिक प्रायः एकमत हो गये हैं कि विज्ञान अब उस छोर पर पहुंच गया है, जिसके आगे ब्रह्माण्ड और प्रकृति के अभेद्य रहस्यों को खोलना उसके लिए सम्भव नहीं। यह कार्य अब अध्यात्म-विद्या और दर्शन से ही सम्भव है। यहाँ प्रोफेसर ओलोवर लाकोम्बे का कथन स्मरण होता है "हमें कल के मानव को मनुष्यत्व देना है, – दूसरे शब्दों में इसे पूर्ण और 'अतिमानस' बनाना है—विज्ञान और तकनीकी सभ्यता से यह सम्भव नहीं।" काप्रा के 'ताओ आफ़ फ़िजिक्स', इल्या प्रिगोजिन के 'आर्डर आउट आफ़ केओस', डाना जोहर के 'दि क्वान्टम सेल्फ़', लारिन्स कोनून के 'दि डाइलामा आफ़ माडर्निटी' के साथ अनेक आधुनिक अनुसंधानों ने यह प्रतिपादित और प्रमाणित कर दिया है कि विज्ञान भौतिक सुख-साधन-समृद्धि जुटा

सकता है और उसके दुरुपयोग से महाविनाश भी, पर वह मनुष्य को मानसिक उच्चता और आत्मिक शांति नहीं दे सकता, जिसकी आज नितान्त अनिवार्यता है। इसका एक मात्र साधन अध्यात्म-भक्ति और जप-साधना है। डा. अलेक्सिस कैरेल ने अपने ग्रन्थ 'मैन दि अननोन' में अनुसंधान-पूर्ण अनुभवों से जप, मन्त्र और प्रार्थना पर विशेष विचार किया है। डा. होवर्ड समरवेल की कृति 'आफ्टर एवरेस्ट' और डा. शेरवुड ऐडी का 'दि विल टू सरवाइव आफ्टर डेथ' भी अध्यात्म-साधना का महत्त्व प्रमाणित करते हैं। इसी प्रकार 'साइकोलोजी, रिलीजन एण्ड हीलिंग' और 'साइकोलाजिकल सोसाइटी' भी उल्लेखनीय हैं। आधुनिक चिन्तकों ने इसी से 'दि इण्डियन वे' की प्रमुखता व प्रभुता स्वीकार की।

अनेक महानुभावों को सहज रूप से स्मरण है कि पूज्यपाद के सान्निध्य में विद्वत्प्रवर गोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय सांध्य वेला में जब श्री जपसूत्रम् की व्याख्या-विवेचना करते थे, तब मानवीय जीवन के अनेक दुर्भेद्य रहस्य स्वतः सुलझ जाते थे और आत्म-साधना की उज्ज्वल भूमिका स्पष्ट होती थी। 'अणोरणीयान् महतो महीयान् (माइक्रो-कोज्म मेक्रोकोज्म) पिंड और ब्रह्माण्ड का ऐक्य, जिसे आज आधुनिक विज्ञान 'सुपरस्ट्रिंग्स' से प्रमाणित करता है, समझ में आता था; पूज्यपाद की दिव्य उपस्थिति उसे और भी सहज, सुगम और सुबोध बना देती थी। वे दिन कभी विस्मृत नहीं हो सकते क्योंकि तब यही बोध होता था कि 'मनुष्य-भवः प्रधानम्'। वहीं हमें गुरु-तत्त्व का भी ज्ञान होता था।

इष्टदेवस्वरूपो यः सच्चिदानन्दविग्रहः।
शुद्धो बुद्धः प्रमुक्तश्च गुरुरादर्शमानवः॥

पूज्यपाद दक्षिणामूर्ति थे।

श्री जपसूत्रम् के प्रथम खण्ड के निवेदनान्तर्गत 'निपातनिका' में मनीषिणी प्रेमलताजी ने अनुवाद के प्रेरणा-स्रोत पर प्रकाश डालते हुए अनेक मधुर स्मृतियाँ संजोयी हैं। उसी समय उन्होंने सङ्कल्प किया था कि भविष्य में भी वे यथासम्भव सभी खण्डों का अनुवाद करेंगी। श्री जपसूत्रम् अत्यन्त जटिल और दुर्बोध ग्रन्थ है। उसका आन्तरिक विन्यास बैखरी से प्रारम्भ होकर ऊर्ध्व-गति-सम्पन्न हो मध्यमा, पश्यन्ती और परा से नादोत्थान बन जाता है। पूज्यपाद "निखिल शास्त्र महोदधि का मन्थन करके विज्ञानामृत के समुद्धरण में तत्पर हुए हैं एवं अपनी अनुभूति के उज्ज्वल आलोक में सुनिपुण विचार-विश्लेषण के द्रावक में उसकी परीक्षा की है।" ऐसे महान् युग-प्रवर्तक और जप-विज्ञान के 'मेगनम ओपस' का अनुवाद वही व्यक्ति कर सकता था, जो स्वयं उसमें निष्णात और निपुण हो और हो अध्यात्म-पथ का पथिक और साधना-राज्य का अधिकारी। प्रेमलताजी के द्वारा ही यह अनुष्ठान पूरा होना था। 'अभ्यारोह जप'

केवल शब्दमय नहीं है, वह ज्ञानमय, भावमय, क्रियामय भक्ति तत्त्व है—तपस् से ज्योति का उपक्रम! प्रेमलताजी ने पूज्यपाद के "वेद व विज्ञान' का भी अनुवाद करवा के इसे प्रकाशित किया (प्रकाशक विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी) जिसकी विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यद्यपि पूज्यपाद के ये ग्रन्थ प्रायः तीन दशक पूर्व प्रकाशित हुए थे, पर उनकी महत्ता, उपयोगिता और सार्थकता देशकालातीत है। हाल ही में यादवपुर विश्वविद्यालय ने स्वामीजी का एक और ग्रन्थ 'इतिहास और अभिव्यक्ति' (बांग्ला में) प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ भी अनेक वर्षों से अप्राप्य था। हमारी योजना है कि हम पूज्यपाद की सभी कृतियों, कविताओं और निबन्धों का प्रकाशन करें, जिससे उनके द्वारा लोक-मानस सदैव लाभान्वित होकर अपने जीवन को साफल्य-मंडित करने में समर्थ हो सके। प्रस्तुत खण्ड के प्रकाशन में कलकत्ता निवासी श्री आत्माराम कानोड़िया ने वित्तीय सहायता दी है, जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। अन्त में सम्माननीया प्रेमलताजी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हुआ, गुरु प्रशस्ति के साथ ही मैं अपना उपस्थापन समाप्त करता हूँ।

विना गुरुं यो गुणनीरधन्यो
जानाति तत्त्वं न विचक्षणोऽपि।
आकर्णदीर्घोज्ज्वललोचनोऽपि
दीपं विना पश्यति नान्धकारे॥

२ ए, देशप्रिय पार्क,
कलकत्ता — ७०००२९

कल्याणमल लोढ़ा
२-९-९२

निवेदन

'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इस सुभाषित की चरितार्थता बड़े अद्‌भुत रूप से इस ग्रन्थमाला के प्रस्तुत खण्ड के प्रकाशन में देखने को मिली। विघ्नों की गणना का स्वल्प प्रयास निम्नलिखित घटनाओं का स्मरण दिलाता है।

१. १९६६ में जपसूत्रम् प्रथम खण्ड का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होने के दो वर्ष के भीतर ही उसी प्रकाशक को द्वितीय खण्ड की पाण्डुलिपि प्रस्तुत की गयी। किन्तु परिणाम यही हुआ कि प्रथम २४ पृष्ठ उन्होंने खो दिये और मुद्रण-प्रकाशन की दिशा में कोई भी चरण नहीं बढ़ाया।

२. प्रकाशक के अभाव में वर्षों तक पाण्डुलिपि पड़ी रहने के बाद १९८४ के आसपास प्रो० श्री कल्याणमल लोढ़ा ने कहा कि कोई ट्रस्ट कुछ आर्थिक अनुदान देकर प्रकाशन में सहायता करने को प्रस्तुत है। कलकत्ता में मुद्रण हो, ऐसी कुछ बात चली। तदनुसार १९८६ के आसपास पूरी पाण्डुलिपि मैंने लोढ़ाजी की अनुपस्थिति में उनके घर पर छोड़ दी। इससे पहले एक बार पाण्डुलिपि कलकत्ता ले जाकर भी वाराणसी लौटा लानी पड़ी थी क्योंकि तब लोढ़ाजी से भेंट नहीं हो पाई थी।

शुरू के चौबीस पृष्ठ जो खो गये थे, उन्हे पुनः तैयार करने में असुविधा यह आ गयी थी कि मूल बंगला का प्रथम खण्ड मेरे पास घर में ही इधर-उधर हो गया था और द्वितीय खण्ड का आरम्भिक अंश उसी में से लेना था। पाण्डुलिपि लोढ़ाजी के घर पर छोड़ने के बाद १९८८ तक के बीच दो बार कलकत्ता में लोढ़ाजी से मिलने के प्रयास आकस्मिक दुर्घटनाओं के कारण विफल हो गये, और लोढ़ाजी ने १९८८ के नवम्बर के आसपास पाण्डुलिपि मेरे पास खैरागढ़ (म० प्र०) वापिस भिजवा दी, ताकि प्रथम २४ पृष्ठ पूरे कर सकूँ, जबकि मैं अक्तूबर' ८८ में खैरागढ़ छोड़ चुकी थी। खैरागढ़ से मेरे प्रस्थान की सूचना मिलने पर लोढ़ाजी ने बहुत व्यग्र होकर उसे खैरागढ़ से वापस मँगाया, और १९९० में यह सुयोग बन पाया कि वे कलकत्ता में पुनः मुझे पाण्डुलिपि सौंप सके। वाराणसी से कलकत्ता, कलकत्ता से पुनः वाराणसी, वाराणसी से मेरे साथ खैरागढ़, पुनः कलकत्ता, पुनः खैरागढ़, वापस कलकत्ता, और अन्त में पुनः वाराणसी की अन्तिम यात्रा कर के पाण्डुलिपि मेरे पास पहुँची। तब सुयोग पाते ही प्रारम्भ वाले ९४ पृष्ठ पूरे किये गये। कारिकाओं का अन्वय-अनुवाद पूरा किया गया, और

फरवरी १९९१ में विश्वविद्यालय प्रकाशन के द्वारा मुद्रण आरम्भ हुआ। जिस प्रेस में मुद्रण आरम्भ किया गया, उसकी शिथिलता के कारण प्रगति अत्यन्त विलम्बित रही, और पाण्डुलिपि के ५० पृष्ठ प्रेस में खो भी गये। वे पचास पृष्ठ पुनः तैयार करके जब दे दिये गये, तब पता चला कि उतना अंश प्रेस में ही मिल गया था। अस्तु, इसके बाद प्रेस बदला गया। एक वर्ष में केवल दस फर्मे छप पाए थे। दूसरे प्रेस ने प्रायः छह महीने में काम पूरा कर दिया।

इस तरह पूरे २६ वर्ष अर्थात् एक शताब्दी के पादभाग से भी अधिक काल के व्यवधान के बाद द्वितीय खण्ड के प्रकाशन की कहानी अपूर्व है न ! पच्चीस वर्षों में पाण्डुलिपि की जो जर्जर दशा हो गयी थी, वह भी अविस्मरणीय है। प्रभु से प्रार्थना है कि आगामी खण्डों में अधिक व्यवधान न आए। इतने लम्बे व्यवधान को तो अब इस जीवन में अवकाश भी नहीं है। यदि इस जीवन में यह कार्य पूरा होना हो तो अब बहुत त्वरित गति लानी होगी। पूज्यपाद स्वामीजी की इहलोक में अवस्थिति रहते यह द्वितीय खण्ड प्रकाशित न हो सका, इसकी कसक जी में रह ही गयी।

मूल ग्रन्थमाला के खण्डों में ग्रन्थ के अध्याय, पाद आदि की कोई संगति नहीं थी। ऐसा लगता है कि जितना-सा अंश तैयार होता गया, उतने का मुद्रण क्रमशः होता गया होगा। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के केवल पन्द्रह सूत्र प्रथम खण्ड में आए थे। हमने प्रथम खण्ड को भूमिका खण्ड बनाकर इन सूत्रों को द्वितीय खण्ड में ही लिया है। बीच-बीच में मूल ग्रन्थ के क्रम से हटकर भी अनेक शीर्षकों में विपुल-संख्यक पद्य और उन पर भाष्य दिया गया है। इन सबको परिशिष्ट खण्ड में रखने की योजना है। मूल बंगला ग्रन्थमाला और हिन्दी अनुवाद की ग्रन्थमाला की योजना का तुलनात्मक विवरण निम्नलिखित सारणी में प्रस्तुत है।

मूल बंगला ग्रन्थमाला	प्रस्तावित हिन्दी ग्रन्थमाला
प्रथम खण्ड	**प्रथम खण्ड**
भूमिका, उपोद्घात तथा प्रथम अध्याय, प्रथम पाद के पन्द्रह सूत्र' (१।१। १—१५) कारिका-भाष्य सहित।	भूमिका, उपोद्घात और सभी खण्डों की भूमिकाएँ।
द्वितीय खण्ड	**द्वितीय खण्ड**
प्रथम अध्याय, प्रथमपाद के सूत्र १६ से ३९ (पूरा पाद) कारिका भाष्य-सहित और प्रकीर्ण सामग्री।	प्रथम अध्याय के चारों पाद, १२० सूत्र, कारिका ४७१ तथा भाष्य।

मूल बंगला ग्रन्थमाला	प्रस्तावित हिन्दी ग्रन्थमाला
तृतीय खण्ड प्रथम अध्याय के पाद २, ३, ४ और दूसरे अध्याय का प्रथम पाद, सूत्र २२ तक, कारिका-भाष्य सहित ।	तृतीय खण्ड द्वितीय अध्याय के चारों पाद, १२० सूत्र, कारिका ६१० और भाष्य ।
चतुर्थ खण्ड दूसरे अध्याय के प्रथम पाद के सूत्र २३-३० और द्वितीय पाद के सूत्र—१-३, कारिका-भाष्य सहित	चतुर्थ खण्ड तृतीय अध्याय के चारों पाद, सूत्र १२०, कारिका ३४५ और भाष्य ।
पञ्चम खण्ड द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के शेष सूत्र ४-३०, तीसरा और चौथा पाद पूरा, तृतीय अध्याय का पहला पाद और दूसरे पाद के १-४ सूत्र, कारिका भाष्य-सहित	पञ्चम खण्ड चतुर्थ अध्याय के चारों पाद, सूत्र १२०, कारिका ४२२ और भाष्य ।
षष्ठ खण्ड तृतीय अध्याय के द्वितीय पाद के सूत्र ५-३०; तृतीय और चतुर्थ पाद पूरा; तथा चतुर्थ अध्याय पूरा; जपसूत्र परिशिष्ट ४१ सूत्र कारिका एवं भाष्य सहित ।	षष्ठ खण्ड (परिशिष्ट खण्ड) पाँचों खण्डों (२–६) की विविध प्रकीर्ण सामग्री तथा जपसूत्र-परिशिष्ट के ४१ सूत्र, कारिका एवं भाष्य सहित ।

इस प्रस्तावित योजना से ग्रन्थमाला में व्यवस्था तो आ जायगी, किन्तु एक क्षति अवश्य होगी कि ग्रन्थकार मूल ग्रन्थ में कहीं-कहीं प्रकीर्ण सामग्री के जो सन्दर्भ देते चलते हैं, उनके लिए अन्तिम (छठे) खण्ड तक पाठकों को प्रतीक्षा करनी होगी। व्यवस्था और प्रकीर्ण सामग्री की यथास्थान प्रस्तुति—दोनों एक-साथ सम्भव नहीं थे। हमें व्यवस्था का ही पलड़ा भारी लगा। पू० पा० ग्रन्थकार की भी इसमें सहमति थी। अस्तु।

जप-विज्ञान का यह अपूर्व ग्रन्थ निगम, आगम, तन्त्र, षड्दर्शन, काश्मीर शैवदर्शन, गौड़ीय वैष्णव दर्शन, पुराण, साथ ही आधुनिक विज्ञान इत्यादि का 'पानक-रस न्याय' से घुला-मिला रूप है। प्रतिपादन-शैली पाणिनीय-व्याकरण के अनेकों अछूते प्रयोगों, नव्यन्याय की छटाओं और साहित्य के लालित्य की समृद्धि से विविधवर्णा एवं अनूठी है। गहनता, व्यापकता और सरसता के इस विलक्षण संयोग के ग्रहीता विरल तो होंगे, किन्तु उनका सर्वथा अभाव नहीं होगा, ऐसी मेरी श्रद्धा है। मेरी भूमिका तो पाठकों के लिए रस-परिवेषण के 'पात्र' की ही है।

स्वयं ग्रन्थकार ने प्रसंगवश इस ग्रन्थ की प्रणाली को लेकर जो कुछ कहा है, वह बहुत सूचक है। यथा :—"मिथ्यात्व के 'लक्षणजाल' को 'विश्वघेरा' बना कर उसमें भान-भास आदि सब कुछ को खींचकर, भक्ति-प्रभृति 'सिद्धान्तभेद' जिससे न जन्मे, उसी रीति से जप की आधार-पस्तुति में जपसूत्रम् अग्रसर हो रहा है।"

(प्रस्तुत द्वितीय खण्ड पृ० ३७६)

पू० पा० स्वामीजी की विशद दृष्टि आपके निम्नलिखित शब्दों में झलकती है :—

"जपसूत्र के आधार पर, केवल वैज्ञानिक के Matter वा जड़त्व को ही लक्ष्य नहीं किया, अथवा पश्चिम के दर्शनादि में रूपादि को एवं गुरुत्वादि के आश्रय अथवा सम्भावना को ही लक्ष्य नहीं किया गया है; इस देश के भी सांख्यादि के जड़त्व में ही लक्षण को बाँधकर रखा नहीं गया है। एक सर्वानुस्यूत सूत्र पाने की चेष्टा हुई है। विज्ञान का ही हो—दर्शन का ही हो, जो जड़ कहकर 'ख्यात' होता है, उसकी ख्याति में एक 'कुण्ठा', एक संकोच रह जाता है। यह मानो भुला दिया जाता है कि कोई पदार्थ किसी अवस्थान में अपने 'स्वभाव' वा प्रकृति का त्याग नहीं करता, एवं वह स्वभाव हुआ उसमें अस्तिता-भातिता-प्रियता (सच्चिदानन्द) का अविनाभाव। यह 'अपिहित' होता है, सङ्कुचित होता है, किन्तु तिरोहित, निरस्त नहीं होता है, हो नहीं सकता। एक धूलिरेणु में भी नहीं।"

(प्रस्तुत द्वितीय खण्ड पृ० ३८३, ८४)

इस ग्रन्थ की भूमिका लिखने के लिए दक्षिणामूर्त्तिमठ, निरञ्जन-पीठ के महामण्डलेश्वरश्री पूज्यपाद स्वामी महेशानन्द गिरिजी से निवेदन किया था, किन्तु उन्होंने सम्पूर्ण ग्रन्थ सामने आने पर ही भूमिकानुरूप लेख लिखने का औचित्य बताया। देखें, वह समय कब आता है।

कृतज्ञता के सर्वप्रथम भाजन हैं प्रो० श्री कल्याणमल लोढ़ा, जिनके प्रयास प्रायः दस वर्ष से चलते रहे हैं। दूसरा स्थान विश्वविद्यालय-प्रकाशन के अधिष्ठाता श्री पुरुषोत्तमदास मोदी का है। आपने जिस तत्परता से मुद्रण-प्रकाशन का कार्य सम्पन्न किया, उसके लिए आप अशेष साधुवाद के पात्र हैं।

ग्रन्थ पर प्ररोचना लिख देने के लिए श्रद्धेय पं० विद्यानिवास मिश्र के अनुग्रह का सादर उल्लेख करती हूँ। स्वामीजी के दीक्षा-शिष्य प्रो० कल्याणमल लोढ़ा ने उपस्थापन लिख कर अनुगृहीत किया है।

पाण्डुलिपि की प्रस्तुति में डॉ० जगन्नाथ पाठक के सहयोग का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करती हूँ। मेरी अनुजा डॉ० ऊर्मिला शर्मा इस कार्य के प्रत्येक चरण में निरन्तर मेरी सहयोगिनी रही है। उसे धन्यवाद कैसे दूं ?

प्रथम खण्ड के अनेक पाठकों के पत्र गत पच्चीस वर्षों तक आते रहे हैं, जिनमें आगे के खण्डों के लिए उत्सुकता भरी रहती थी। उन सबको यह द्वितीय खण्ड इतने अन्तराल के बाद समर्पित है।

मूल ग्रन्थ में प्रत्येक सूत्र पर व्याख्यापरक श्लोक हैं, कहीं कम कहीं अधिक। इन्हें ग्रन्थकार ने प्रायः कारिका संज्ञा दी है, जो कि ठीक ही है। शास्त्रों की परम्परा में सूत्र, वार्तिक और भाष्य का त्रिक सर्वविदित है। इसलिए हमने इन श्लोकों से पूर्व **वा०**=वार्त्तिक सङ्केत दिया है। पू० पा० ग्रन्थकार को दोनों संज्ञाएँ स्वीकार रही होंगी। पाठकों को भ्रम न हो, इसलिए इतना उल्लेख करना उचित लगा। अनुवाद की भाषा के बारे में दो शब्द। कहीं-कहीं बंगला प्रयोग पाठकों को शायद खटके। जैसे कि, 'वा' को 'या' प्रायः नहीं बनाया गया है या 'मरमी' 'दरदी' जैसे शब्द; पाठकों को अर्थबोध में असुविधा नहीं होगी, ऐसा विश्वास है।

प्रूफ-संशोधन में अत्यधिक सावधानता बरतने पर भी यदि कोई अशुद्धियाँ रह गई हों तो सुधी पाठक क्षमा करेंगे। विशेष रूप से, प्रथम और तृतीय पाद में वार्तिक-संख्या में और तृतीय पाद में सूत्र-संख्या में व्यतिक्रम की ओर क्षमाशील पाठकों का ध्यान दिलाते हुए निवेदन है कि अनुक्रमणिका में पाद-टिप्पणियों में यथास्थान दिये गए निर्देशों के अनुसार संख्याएँ ठीक कर लें।

इस खण्ड का कलेवर काफ़ी बड़ा होने के कारण प्रथम खण्ड की भाँति इसमें परिशिष्टों का संयोजन नहीं किया जा सका है। अन्तिम परिशिष्ट खण्ड में इस प्रकार की न्यूनताएँ पूर्ण करने की योजना है।

जिनकी प्रबल प्रेरणा से यह गुरुतर कार्य १९६५ में आरम्भ किया गया था, उनका सहज स्मरण हो आना इस समय अनिवार्य है। ग्रन्थकार के अतिरिक्त प्रातःस्मरणीय म० म० पण्डित श्री गोपीनाथ कविराजजी, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल—सभी तो दिवंगत हैं। मेरी स्वर्गीया माताजी भी दूसरे खण्ड की उत्सुकता से प्रतीक्षा किया करती थीं।

कलकत्ता के श्रेष्ठि श्री आत्माराम कानोड़ियाजी ने इस खण्ड के प्रकाशन के लिए जो आर्थिक अनुदान दिया है, उसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता अर्पित है।

'आम्नाय'
२०९।१, करौंदी
वाराणसी–२२१००५

निवेदिका
प्रेमलता शर्मा
(श्रीकृष्णजन्माष्टमी, वि० सं० २०४९,
२० अगस्त, १९९२)

अनुक्रमणिका

विषय		पृष्ठ
प्ररोचना—(पं० विद्यानिवास मिश्र)		३–४
उपस्थापन—(प्रो० श्री कल्याणमल लोढ़ा)		५–७
निवेदन—(अनुवादिका)		८–१२
प्रथम पाद		१–१८६
(जपलक्षण-जपच्छन्दो-जपविघ्न-मान्यस्थानादि-व्याहृतिसप्तकनिरूपणम्)		
सूत्र	वार्तिक	
१	१–२	१–२
२	३	२
३	४	३
४	५–६	३–४
५	७–९	४–५
६	१०–१२	५–११
७	१३–१६	१२–१६
८	१७–२७	१६–२२
९	२८–४१	२३–३५
१०	४२	३५–३६
११	४३–४५	३६–३८
१२	४६	३८–३९
१३	४७–४८	३९–४१
१४	४९–५०	४१–४४
१५	५१–५७	४४–४७
१६	५८–६३	४७–५०
१७	६४–७२	५०–५४
१८–२४ (व्याहृति-सप्तक)	७३–१०५※	५५–१३०

※ इस स्थल पर वार्त्तिक संख्या ९५ के बाद कुछ वार्तिकों पर संख्या लगी ही नहीं है (९६–१०५) उसके बाद पृ० १३० पर संख्या ६८ से पुनः संख्या शुरू हो गई हैं जो कि १०६ से शुरू होना चाहिए थीं और १३८ तक (पाद के अन्त तक) चलनी चाहिए थीं। पाठकगण कृपया पृ० १०९ पर वार्त्तिक में ९६ सं० लगाकर पाद के अन्त तक संख्यायें लगा लें, सुधार लें। सम्पा०

सूत्र	वार्त्तिक	पृष्ठ
२५	१०६	१३०
२६	१०७	१३०
२७	१०८	१३०–३१
२८	१०९–११२	१३१–५१
२९	११३–१३८	१५१–८६
द्वितीय पाद		१८७–३०४

महामाया (महामाया-माया-हुल्लेखा-प्रकृति-विकृत्यादिनिरूपणम्)

सूत्र	वार्त्तिक	पृष्ठ
१	१–३५	१८७–२२२
२	३६–३७	२२२–२४
३	३८–४०	२२४–२६
४	४१	२२६–२९
५	४२–४४	२२९ ४०
६	४५–४६	२४०–४१
७	४७	२४१–४३
८	४८	२४३–४७
९	४९–५०	२४७–५०
१०	५१-५२	२५०–५२
११	५३	२५२–५४
१२	५४	२५५–५७
१३	५५–५६	२५७–६०
१४	५७	२६०–६२
१५	५८	२६२–६३
१६	५९	२६३–६५
१७	६०	२६५-६७
१८	६१	२६८–७१
१९	६२	२७१–७३
२०	६३–६५	२७३–७८

(उपसूत्र ७)

सूत्र	वार्त्तिक	पृष्ठ
२१	६६–६८	२७८–८३
२२	६९	२८३–८५
२३	७०	२८५–८६
२४	७१	२८६–८८
२५	७२	२८८–९१
२६	७३–७४	२९१–९३
२७	७५	२९३–९५
२८	७६–७७	२९५–९७
२९	७८	२९७–९९
३०	७९	२९९–३०१
३१	८०	३०१–०४
तृतीय पाद		३०५–५६

(वृत्तितानिरूपणम्)

सूत्र	वार्तिक	पृष्ठ
१	१–२	३०५–०६
२	३	३०६–०९
३	४	३१०–१२
४	५	३१२–१३
५	६	३१३–१६
६	७※	३१६–१८
७	८	३१८–२०
८	९–१०	३२०–२२
९	११	३२२–२५
१०	१२–१३	३२५–२६
११	१४–१५	३२६–२७
१२	१६	३२७–२९

※ वार्तिक-संख्या में गड़बड़ है। ७ के स्थान पर ८७ हो गया है और पाद के अन्त तक व्यतिक्रम बना रहा है। पाठक कृपया अनुक्रमणिका के अनुसार संख्याएँ सुधार लें।

सूत्र	वार्तिक	पृष्ठ ५००
१३	१७※	३३०–३१
१४	१८	३३१–३२
१५	१९	३३२–३४
१६ ●	२०	३३४–३५
१७	२१	३३५–३६
१८	२२	३३७–३८
१९	२३	३३८–४०
२०	२४	३४०–४२
२१	२५	३४२–४४
२२	२६	३४४–४५
२३	२७–२८	३४५–४७
२४	२९–३०	३४७–४९
२५	३१–३२	३४९–५०
२६	३३	३५०–५१
२७	३४–३५	३५१–५२
२८	३६	३५२–५३
२९	३७	३५३–५४
३०	३८	३५४–५६
चतुर्थं पाद		३५७– ०७

(आनन्दाधारनिरूपणम्)

सूत्र	वार्तिक	पृष्ठ
१	१–२	३५७–५९
२	३	३५९–६०
३	४	३६१–६२
४	५	३६२–६३

※ यह वार्त्तिक पृ० ३३० पर आना चाहिए था, किन्तु छूट गया है। अनुक्रमणिका के अन्त में इसे दिया जा रहा है।

● यहाँ से सूत्र-संख्या गड़बड़ हो गई है। १६ के स्थान पर १७ संख्या लग गई है और stef तक सूत्र-संख्या में गड़बड़ बनी रही है। पाठकगण कृपया अनुक्रमणी में दी हुई सूत्र-संख्या के अनुसार सुधार कर लें।

सूत्र	वार्तिक	पृष्ठ
५	६	३६३–६४
६	७	३६४–६५
७	८	३६५–६६
८	९	३६६–६७
९	१०	३६७–६८
१०	११	३६८–६९
११	१२–१३	३६९–७०
१२	१४–१५	३७०–७१
१३	१६	३७२–७३
१४	१७	३७३–७४
१५	१८	३७४–७५
१६	१९	३७५–७७
१७	२०–२१	३७७-७९
१८	२२	३७९-८०
१९	२३	३८०–८१
२०	२४	३८१–८२
२१	२५	३८२–८३
२२	२६	३८३–८४
२३	२७	३८५–८६
२४	२८	३८६–८७
२५	२९	३८७–८८
२६	३०	३८८–८९
२७	३१	३८९–९०
२८	३२	३९०–९१
२९	३३	३९१–९२
३०	३४–४१	३९३–४०७

●

पृ० ३३०, सूत्र १३ पर छूटा हुआ वार्तिक

अभावं कञ्चनापेक्ष्याथवोदासीनतामपि ।
सर्वो व्यापार आयाति कञ्चिद् बिन्दुं निरूपकम् ।।
देशबिन्दुं कालबिन्दुं बीजबिन्दुमहङ्कृतिम् ।।१७।।

अन्वय :—कञ्चन अभावम् अथवा उदासीनतामपि अपेक्ष्य सर्वः व्यापारः कञ्चिद् निरूपकं बिन्दुम् देशबिन्दुम् कालबिन्दुम् बीजबिन्दुम् अहङ्कृतिम् [च] आयाति ।। ७।।

[किसी अभाव की अथवा उदासीनता की भी अपेक्षा से सारा व्यापार किसी निरूपक बिन्दु, देशबिन्दु, कालबिन्दु, बीजबिन्दु और अहंकृति तक पहुँचता है ।।१७।।]

प्रथम पाद के भाष्य में ग्रन्थकार द्वारा दिये गये शीर्षकों की तालिका

शीर्षक	पृष्ठ-संख्या
आभिमुख्य किसे कहते हैं ? संलक्ष्य का लक्षण	६८
तपः किसे कहते है ? तप का स्थान मूल में क्यों है ? तेजः यदि अभीद्ध हो, तब वह होता है तपः	६९
कश्यप—अदिति और दिति	६९
तपस् शब्द का वर्ण–विश्लेषण एवं व्यञ्जना	७०
मूल कारण के सत्ता, ज्ञान एवं आनन्द इन तीन प्रकार से आविर्भाव का मूल प्रयास और आकृति है तप	७०
सृष्टि का मूल तपः एवं सप्तव्याहृति सृष्टि के सब कुछ में अनुस्यूत है	७१
तप की ज्योतीरूप में सप्तधा अभिव्यक्ति	७३
सुतरां तपोयोग—यह सप्तार्चिः शिखा में हवन है	७४
ज्योतिः शब्द का विश्लेषण और व्यञ्जना	७५
अपर दृष्टान्त	७६
व्याहृति-सप्तक का भावार्थ-विस्तार	७६
सर्वविध सृष्टि को 'यह्' रूप में अपना प्रकाश करने के निमित्त 'भूः' इस आदिम व्याहृति की अपेक्षा है	७६
'भूः' इस अव्यय की व्याप्ति द्विविध है साधारणी और असाधारणी	७७
'असौ' प्रत्यय कहने पर क्या समझेंगे ?	७८
'स्वः' शब्द का विश्लेषण और व्यञ्जना । 'व' कार और 'उ' कार । संकोच और प्रसार का रहस्य	७९
स्वाभाविक शब्द, स्वाभाविक रूप, स्वाभाविक क्रिया—मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र	८०

स्वः एवं सुवः इन दोनों का तत्त्वगत एवं प्रयोगगत वैलक्षण्य । 'व' 'उ' और 'उव्' ये तीन आकृतियाँ ८१
सुवः 'संकुचत्-प्रसरत्' आकृति है ८१
'अयं' एवं 'असौ' एतदुभय प्रत्यय का जो अप्रतियोगी अर्थात् विषयीभूत नहीं है उसे कहते हैं 'भुवः' ८३
प्रणव के बीच भी उदाहृत ८४
अन्तरीक्ष—शून्यमात्र नहीं है ८४
वैखरी; मध्यमा एवं पश्यन्ती इस त्रिविध जप में तीन व्याहृतियाँ किस प्रकार उदाहृत हैं । मध्य में व्यवधान-सेतु और सन्धि है । व्यवधान में नियामकत्व है ८४
भुवः शब्द का विश्लेषण और व्यञ्जना ८५
'अयं' एवं 'असौ'—एतदुभय प्रत्यय का ही जो विषय है, वही महः है ८६
वस्तु-शक्ति और अनुभूति की ओर से महर्लोक की व्यञ्जना ८७
महर्लोक के ज्ञान का असाधारणत्व कैसे है ८७
महः इस शब्द का विश्लेषण और व्यञ्जना ८८
जनि प्रत्यय को किस प्रकार समझना होगा ? विश्व व्यवहार का मूल कहाँ है ? ८९
'जनि' वा मूल 'होना' किस अधिकरण में सम्भावित हो सकता है ? अस्ति और अस्मि ९०
'जन' के बाद चार लोकों में चार प्रकार का रूपायण ९१
तान्त्रिक दीक्षा का दृष्टान्त ९२
कुछेक साधारण तत्त्वों का सूत्राकार में निर्देश ९३
'अस्मि' और 'मैं हूँ' इन दो बोधों का पार्थक्य ९६
अस्मि और भान का सम्बन्ध । भान और भास ९६
बोधविश्व और विश्वबोध ९७
भान के सम्बन्ध में बौद्ध विवृति किस प्रकार होती है ? ९७
"अननूद्यानुवाद-निबन्धन" ९८
सृष्टि के मूल में जो वस्तु है, उसका स्वाभिनिवेश मौन आनन्द की मुखररूपता है ९८
सर्वविध सृष्टि-प्रयास के मूल में क्या है ? वस्तु (Elan vital) १००
तपः जीव में एवं ब्रह्म में । आनन्द संवित्ति १००
तपोरूप में आनन्द की जागृति एवं छन्दोरूप में आनन्द का सर्वत्र

प्रकाश और लीलायन	१०२
प्रकट विश्व में छन्दोग रूप में पथ-प्रदर्शक नव-विज्ञान	१०२
विश्व में ऋति और यदृच्छा–वैज्ञानिक दृष्टि से	१०४
निखिल विज्ञान का ध्यान–विग्रह छन्दोग विश्वरूप	१०४
ऋति और यदृच्छा का सम्बन्ध सन्धिमुख्य है अथवा विग्रहमुख्य है ? छन्द के रूप-विज्ञान और प्रज्ञान में	१०५
मौलिक छन्द का लौकिक प्रत्यय की भूमि में अवतरण	१०६
अवतरण-तल से उत्तरण का क्रम	१०७
अभ्यारोही क्रम–अहल्या की पाषाणी तनु	१०७
प्रसङ्गतः अहल्या का शाप एवं शाप-विमोचन-रहस्य	१०८
तप में कृच्छ्र से आरम्भ करके क्रमोन्नत धारा-अलसित आनन्द-जागृति है	१०९
तपः जिस आनन्द की जागृति है, उस आनन्द का स्वरूप	११३
परिमाण में लाना और अनुभव में आना क्या एक ही वस्तु है ?	११५
पाद और मात्रा	११६
पाद किसे कहते हैं ?	११७
जो सपाद है उसका पादचतुष्टय के रूप में अङ्गीकार आवश्यक है	११७
ज्ञान में और आनन्द में इन चार पादों का किस प्रकार समापन करना होगा ?	११८
जप में पादचतुष्टय	११९
ज्ञेय और मेय की अन्योन्य एषणा	११९
अर्च और अर्चिः	१२०
अर्क, अप् प्रभृति कुछेक शब्दों का विश्लेषण और व्यञ्जना। सब कर्मों में अप् की अपेक्षा क्यों है ?	१२१
वृत्तिरूप और स्मृतिरूप	१२२
सत्यलोकख्याति लोक और लोकस–दृष्टान्त	१२३
जप अनुध्यानादि का समग्र लेख	१२५
समग्र लेख देखकर क्या लाभ है ?	१२५
सत्यलोक किस अर्थ में स्थिर है ? Basic Brain cosmic Memory.	१२६
Basic कहने से व्यञ्जना कहाँ तक ले जाती है ?	१२६
सूक्ष्म ग्राम में प्रतिपूरण आपूरणादि	१२७
आन्तर यन्त्रों का अपना छन्दः	१२७

विश्वक्षेम का महाभाण्डार १२८
चातुर्मात्रिक विश्लेषण १३१
उक्त अनन्ततत्त्वादि मन्त्रादि के अवयव, प्रयोग एवं उपलब्धि में किस रूप में उदाहृत है ? १३३
घटना का वामनरूप और विश्वरूप १३५
प्रकाश वा अनुभूति के उच्चतर ग्राम। वे खुलेंगे किस के समीप, किस दृष्टि में ? विज्ञान की प्रान्त-भूमि में किस संकट का सामना हमें करना पड़ रहा है ? १३६
अनन्तवत् कहने से क्या समझें ? सब कुछ में अपनी सीमा के पार जाने की चिरन्तन आस्पृहा १३७
शुक्लवर्त्म पर अभ्यारोह में स्तरबद्ध अनुभूतियाँ एवं उन सबके जप-ध्यानादि का साधन-क्रम १३९
विज्ञान की ओर से वस्तु और शक्ति का विश्लेषण और समीकरण। इसकी काष्ठा कहाँ मिलेगी ? १४०
प्रकाश और प्रकाशयिता १४१
आधिभौतिकादि तीन प्रकार की दृष्टि, दृष्टान्त १४२
आधिभौतिक दृष्टि की सीमा एवं तन्निमित्त वैज्ञानिक का संकोच १४३
योग का पन्था—परिपूर्णता और निर्व्यूढता के ही अभिमुख ले चलता है १४३
कोषपञ्चक किस प्रकार कोषसप्तक के रूप में गण्य होगा १४४
सप्तविध आयतन के अन्तिम तीन क्या हैं एवं किस प्रकार वे मिलेंगे ? १४५
काष्ठा व सीमा को चार प्रकार से देखना—अध्यात्म जीवन में सबसे जो मर्मी प्रश्न है उसके साथ इसका सम्बन्ध १४६
साधक के पक्ष में उसके आयतन क्रमिक रूपान्तर की अवस्था एवं उसके फलस्वरूप उपलब्धि की क्रमिक भूमियों का उन्मेष १४७
भान, भास एवं भाण इन तीनों का लक्षण और सम्बन्ध १५६
मूल और नित्य प्रकाशरूपता कहाँ है ? १५८
पञ्च प्रकार के मर्श और भास—उनका परस्पर सम्बन्ध १५८
मर्शपञ्चक का लक्षण। विमर्श और प्रणव। परब्रह्म की मान्त्री और शाक्ती तनु १५९
सत्य किंवा मिथ्या यह प्रश्न किस प्रकार उठता है ? १६२
असाधारण अनुभूति का दृष्टान्त १६३
सर्वविध परीक्षा में त्रिविध दोषों की सम्भावना और त्रिविध परिहार १६४
चित्त का मल कैसे अपहृत होता है ? साधना में कल्पना का क्रमिक

शोधन और बोधन १६५
जप की विभिन्न भूमि में विभिन्न ख्याति और छन्दः—श्वास-श्वास में जप १६७
कल्पना और भावना के तीन-तीन स्तर—शेष, समापत्ति १६८
साधक की आन्तर अनुभूति के स्थल में अपने को क्या-क्या प्रश्न कर उनका सदुत्तर पाना होगा ? सत्य अनुभूति के पाँच लक्षण १६९
सत्य अनुभूति की भी क्रमिकता १७०
सत्य चतुष्पात् है—सत्ता, शक्ति, आकूति, छन्दः १७०
बुद्धि—साधारणी, समझसा और समर्था; तुरीय ख्याति कहाँ से आरम्भ है ? १७१
विज्ञान के ऊपर प्रज्ञान है, समझसा के बाद समर्था है १७३
वैज्ञानिक और दार्शनिक चिन्ता की दुश्चिन्ता १७३
पाँच प्रश्न एवं उनके उत्तर । तत्परता और परमार्थता १७८
संलक्ष्य वा लक्षण की पराकाष्ठा कहाँ है ? Supreme Logical वा Perfect Harmony क्या वस्तु है ? १८०
जपादि साधन, व्याहृति के सहयोग से एवं तदतीत रूप से १८०
गायत्री जप में पूर्वोक्त क्रम का दृष्टान्त १८१
भूमा, स्वरूप में और बुद्धि के परिमाप में १८२
सत्ता के ज्ञान और आनन्द की ओर से सविशेष और निर्विशेष भाव से कहीं भी क्या सङ्गति नहीं है ? १८२

आनन्द-प्रकाश[1]

यह परम आनन्द का विषय है कि पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती-विरचित 'जपसूत्रम्' नामक महान् ग्रन्थ का दूसरा भाग भी अब हिन्दी में प्रकाशित हो रहा है।

प्रथम खण्ड में पूज्य स्वामीजी ने "श्रीगुरुपादाब्ज-दलपञ्चकम्" शीर्षक के अन्तर्गत् पाँच श्लोकों में श्रीगुरुस्मरण करते हुए श्रीगुरुतत्त्व के उद्घाटन द्वारा इस ग्रन्थ का सूचन किया है। इसके बाद उपोद्घात के रूप में जपतत्त्व की वैज्ञानिक पटभूमिका-मात्र का दिग्दर्शन प्रथम खण्ड में मिलता है।

अब द्वितीय खण्ड में वही बीज पल्लवित, पुष्पित, फलित, चन्द्रतारकादिवत् प्रति-मण्डित हो चला है, जिसमें सप्तव्याहृति का विश्लेषण अनुपम रीति से किया गया है। पूरा प्रथम अध्याय इस खण्ड में भाष्य-सहित दिया गया है। प्रथम पाद के अन्त में हम उस चरम तत्त्व में जा पहुँचते हैं, जो 'सत्' नाम से प्रसिद्ध है। जिस सत् स्वरूप का कभी कहीं भी, किसी भी अवस्था में बाध नहीं होता है, पूज्य स्वामीजी उसका अधूरा लक्षण इस प्रकार सुनाते हैं—

बाधमात्रविरहप्रतियोगिकत्वाभाववत्त्वं सत्त्वम्।

वही हमारा ध्येय है। वहीं हम को पहुँचना है। इसी का पूर्णाङ्ग साधन है जप। एक-एक साधन तो एक-एक फल को उत्पन्न करके समाप्त हो जाता है, पर सब फल की पूर्णता तो केवल जप से ही मिलती है। हमारी दृष्टि तो ध्यान में जा कर समाप्त हो जाती है, शरणागति प्रेम में, निष्ठा जाकर कर्म में लीन होती है, शमन या शान्ति ले जाती है विरति या वैराग्य में, भाव का उपसंहार होता है भजन में और तत्त्वबुद्धि लग जाती है मनन में, पर सब अपूर्ण जाकर पूर्ण होता है जपन में। एक आश्चर्यमय श्लोक में पूज्य स्वामीजी इसका मार्मिक उद्घाटन करते हैं इस द्वितीय खण्ड में—

ध्याने नयनं प्रेमणि शरणं
कर्मणि निष्ठा विरतौ शमनम्।
भजने भावः शमथो मनने
पूर्णमपूर्णं सर्वं जपने॥

---

१. यह लघु लेख 'छपते छपते' मिला है। इसलिए इसे अनुक्रमणिका के बाद स्थान देना पड़ा है। पू० पा० स्वामीजी के नितान्त आत्मीय और स्नेहभाजन श्री गोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय के इस 'मिलन' से हम पुलकित हैं। सम्पा०

(यह श्लोक प्रकीर्ण सामग्री के अन्तर्गत होने के कारण प्रस्तुत खण्ड में नहीं दिया गया है; अन्तिम परिशिष्ट खण्ड में जायेगा। सम्पा०)

इस पूर्णता का ही हमें आस्वादन लेना है जपसाधन के द्वारा। पूज्य स्वामीजी एक-एक खंड में इसी का विस्तार करते गये हैं।

हम आशा करते हैं कि सभी खण्ड धीरे-धीरे हिन्दी में प्रकाशित हो जायेंगे और सभी हिन्दी भाषियों के लिए इस ग्रन्थराज का आस्वादन सुगम होगा।

हिन्दी में अनुवाद के इस उद्योग के लिए हम मुख्यतः पूज्य स्वामीजी के परम अनुरागी, कृपाप्राप्त शिष्य, अध्यापक डा० कल्याणमल लोढ़ाजी के आभारी हैं और अनुवाद-कर्म के लिए डा० प्रेमलता शर्मा और डा० ऊर्मिला शर्मा के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिन दोनों ने मिलकर एक दुःसाध्य कर्म को सुसाध्य बना दिया, अपनी भक्ति और आन्तरिक श्रद्धा के कारण। सबके ऊपर पूज्य स्वामीजी का आशीर्वाद निरन्तर बरसता रहे, यही प्रार्थना है।

'श्यामली' सी एस/१/८, गोल्फ ग्रीन,
कलकत्ता–७०००४५

श्रीगोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय
(श्रीकृष्णजन्माष्टमी, २१-८-९२)

॥ ॐ ॥

॥ जपसूत्रम् ॥

प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

सूत्र १. अथ जपसूत्रम् ॥

[१. अब जपसूत्र प्रारम्भ होता है ।]

वार्तिकम् :

'जन्माद्यस्य यतो' जेन पेन च प्रणवः परः ।
'तज्जलानीत्युपासीत' जपाक्षरक्रमादिति ॥ १ ॥
'यस्य देवे पराभक्ति'रित्यपि पेन गृह्यते ।
भक्त्या यया हि जायेत ज्ञानं जननिवर्तकम् ॥ २ ॥

अन्वयः—जेन "जन्माद्यस्य यतः", पेन च परः प्रणवः, **जपाक्षरक्रमात्** "तज्जलानीत्युपासीत" इति [च] ॥ १ ॥

पेन "यस्य देवे परा भक्तिः" इति अपि गृह्यते । यया भक्त्या हि जननिवर्तकं ज्ञानं जायते ॥ २ ॥

['जप' शब्द को अक्षरक्रम से देखने पर—'ज' के द्वारा "जन्माद्यस्य यतः" [ब्रह्मसूत्रों का प्रारम्भक सूत्र—१।१।१] का ग्रहण है और 'प' के द्वारा परम प्रणव का। ऐसे ही, 'जप' के अक्षरक्रम से ।१। "तज् जलानीति उपासीत" इस श्रुति का 'ज' से और "यस्य देवे परा भक्तिः" का 'प' से ग्रहण होता है, जिस भक्ति के द्वारा जन्मनिवर्तक ज्ञान उत्पन्न होता है ।] ॥ १,२ ॥

भाष्य—'जप' शब्द में 'ज' और 'प' ये दो अक्षर हैं। इन दोनों अक्षरों का तात्पर्य हमें समझना होगा। इस विश्व-भुवन के जन्म (स्थिति और अन्त) आदि जहाँ से (और जहाँ) हुए हैं, उस मूल बीज को 'ज' अक्षर द्वारा समझना होगा; एवं 'प' अक्षर द्वारा परावाक् रूप जो प्रणव है उसे जानना होगा। यह प्रणव ही जगत् में जन्म आदि का बीज है। अतएव 'जप' शब्द के द्वारा प्रणव ही लक्षित हो रहा है।

इसके बाद, श्रुति (उपनिषद्) ने जो कहा है—'तज्जलानीत्युपासीत'—अर्थात् उससे ही सब उत्पन्न हो रहा है, एवं उसमें ही सब-कुछ लीन हो रहा है, इसलिए एक-मात्र उनका ही उपासनायोग द्वारा आश्रय लेना चाहिए। उनका ही आश्रय लो !—इस श्रुतिवाक्य के बीच में 'ज' और 'प' ये दो अक्षर पूर्वापर क्रम से (आगे-पीछे क्रम से) लेने पर 'जप' शब्द की व्युत्पत्ति होती है। इसलिए, 'जो निखिल के आश्रयस्वरूप हैं उन्हीं का उपासनायोग द्वारा आश्रय लो' यह तात्पर्य 'जप' शब्द में हमें मिल रहा है।

श्रुति ने और भी कहा है—'यस्य देवे परा भक्तिः' इत्यादि। इस वाक्य के बीच में से 'प' अक्षर लेना होगा। इस परा भक्ति के द्वारा जन्म-मृत्यु-निवर्तक 'ज्ञान' उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रसङ्गक्रम से 'ज' अक्षर प्राप्त होता है। इस रूप से भी 'जप' शब्द को समझना होगा।

सू० २. जपोऽभ्यारोहविशेषः ॥

[२. अभ्यारोह-विशेष को जप कहते हैं।]

वा० 'असतो मे'ति मन्त्रेण योऽभ्यारोह इष्यते।
व्यावृत्य हि पराग् वृत्तीः प्रत्यग्वृत्त्या स वै जपः ॥ ३ ॥

अन्वयः—'असतो मा' इति मन्त्रेण पराग् वृत्तीः व्यावृत्य प्रत्यग्वृत्त्या हि यः अभ्यारोहः इष्यते स वै जपः ॥ ३ ॥

["असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय।" इस मन्त्र के द्वारा पराग् (बहिर्मुखी) वृत्तियों को लौटा कर प्रत्यग् (अन्तर्मुखी—अन्तरुद्भूत—भीतर स्वरूप की ओर देखनेवाली) वृत्ति के द्वारा जो भीतर अभिमुखी आरोहण अभीप्सित है वही 'जप' है] ॥ ३ ॥

भाष्य—'मुझे असत् से सत् में ले चलिये ! अन्धकार से ज्योति में ले चलिये एवं मृत्यु से अमृत में ले चलिये !' अन्तरात्मा के आवेग से निकली ऐसी प्रार्थना और इस प्रार्थनामन्त्र को 'अभ्यारोह' कहते हैं। 'अभ्यारोह' शब्द की व्युत्पत्ति है—अभि + आरोह अर्थात् अभिमुखी आरोहण। अर्थात्—Ascent of the spirit—चेतना का आरोहण। कहाँ से Ascent या आरोहण ? अपने कल्पित असत्य, तमस् और मृत्यु के बन्धन से ऊपर उठना। यह अभ्यारोह किस प्रकार सम्यक् रूप से घटित होगा ? जो वृत्ति हमें 'सत्य', 'ज्योति' एवं 'आनन्द' से पराङ्मुख बनाये रखती है उसे कहते हैं 'पराग् वृत्ति', और जो वृत्ति हमें उस (सत्य-ज्योति-अमृत) के अभिमुखीन बनाती है उसे कहते हैं 'प्रत्यग्' वृत्ति। अब, पराग् वृत्ति को निवारित करके जो प्रत्यग् वृत्ति प्रवाहित कर देता है उसी का नाम है 'जप' ॥ ३ ॥

सू० ३. व्यावृत्तेः समावृत्तिरूपः ॥

[जिसके द्वारा व्यावृत्ति से समावृत्ति होती है वही जप है ।]

वा० ऋतं सत्यं मधुच्छन्दो हित्वा विर्व्याजवृत्तिता ।
निर्व्याजा सा च निर्व्यूढा व्याभिसम्पद्यते यया ॥ ४ ॥

अन्वयः—यया 'व्या' ऋतं सत्यं मधुच्छन्दः हित्वा व्याजवृत्तिता अभिसम्पद्यते सा च 'विः' निर्व्याजा निर्व्यूढा (जपः) ।

[जिस 'वि' (रहित होना) के द्वारा ऋत, सत्य, मधुच्छन्दस् को छोड़ कर (छोड़ने पर) व्याजवृत्तिता बन जाती है, वही 'वि' निर्गत-व्याज और निर्गत्-वि-ऊढ रूप में जप बनती है ।] ॥ ४ ॥

भाष्य—ऋतच्छन्दः, सत्यच्छन्दः एवं मधुच्छन्दः मे जो भ्रंश या च्युति है उसे व्याजवृत्तिता कहते हैं । सप्तम सूत्र में इस व्याज का लक्षण दिया जायेगा । एक तरह से यही है छन्दच्युतिनिमित्त वक्रता या विषमता (Unharmony Curvature) । इस वक्रता के फलस्वरूप ऋत से अनृत में, सत्य से असत्य में एवं मधु या आनन्द से विष या निरानन्द में वृत्ति होती है । यही है व्यावृत्ति । समावृत्ति-रूप को हम उपोद्घात में विशेष रूप से देख चुके हैं । समावृत्ति में व्याज अथवा वक्रता-विषमता विदूरित होती है एवं वह (वृत्ति) निर्व्यूढ अर्थात् सर्वथा संशयविहीन होती है । इसीलिए अवक्रता, अविषमता एवं असन्दिग्धता है समावृत्ति का रूप । श्रुति में जिस 'अभिसम्पन्नता' की बात कही गयी है, समावृत्ति के द्वारा स्वरूप के साथ उस प्रकार अभिसम्पन्न हुआ जा सकता है । आत्मस्वरूप ही है परम सम्पद्; इस परम सम्पद् के अभितः यानी अभिमुख (towards) ऋजु-सुषम-निःसंशय गति को ही समावृत्ति कहते हैं । ऋत, सत्य एवं मधु—इस त्रिविध छन्द के आश्रयण से यह यात्रा सफल हो सकती है । लक्ष्य में सफल गति हुई समावृत्ति, एवं लक्ष्य से विमुख विफल, व्यर्थ गति या विपरीत गति ("away from") है व्यावृत्ति । इस प्रकार की समावृत्ति-रूप ही जप है ॥ ४ ॥ (कारिका के 'वि' एवं 'अव्या' पर ध्यान दीजिये ।)

सू० ४. बाधाविरहवृत्तित्वम् ऋतत्वम् ।

[बाधाविहीन वृत्ति ही ऋत है । (The Real as movement)]

वा० देशजन्या कालजन्या छन्दोजन्या च वस्तुजा ।
बाधा चतुर्विधा ज्ञेयाऽवरोधप्रतिरोधने ॥ ५ ॥
विरोधश्च निरोधश्च पणिरह्यादयः श्रुतौ ।
एभ्यो मुक्ताम् ऋतिं विद्यादेभिर्युक्ताञ्च निर्ऋतिम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—अवरोधप्रतिरोधने बाधा चतुर्विधा ज्ञेया—देशजन्या, काल-जन्या, छन्दोजन्या, वस्तुजा च ॥ ५ ॥

श्रुतौ पणिर्-अहि-आदयः विरोधः च निरोधः च । एभ्यः मुक्ताम् ऋतिं विद्यात्, एभिर् युक्ताम् च निर्ऋतिं (विद्यात्) ॥ ६ ॥

[चार प्रकार की बाधा जाननी चाहिए—१. देश से उत्पन्न, २. काल से उत्पन्न, ३. छन्द से उत्पन्न, और ४. वस्तु से उत्पन्न । अवरोध, प्रतिरोधन तथा श्रुति में कहे गये 'पणि' 'अहि' आदि विरोध एवं निरोध हैं; इन बाधाओं, विरोध-निरोधों से मुक्त (रहित) स्थिति है ऋति, और इनसे युक्त होने की दशा ही निर्ऋति है ॥ ५,६ ॥

भाष्य—देशनिमित्त, कालनिमित्त, छन्दोनिमित्त एवं वस्तुनिमित्त ऐसी चतुर्विध बाधाएँ हैं । इन्हीं को क्रमशः अवरोध, प्रतिरोध, विरोध एवं निरोध कहा जाता है । ऋग्वेद आदि में वृत्र, पणि, अहि इत्यादि उपाख्यानों में विश्वसृष्टि में देशादिजन्य ये चार प्रकार की बाधाएँ ही उपलक्षित होती हैं यह समझना चाहिए । उपाख्यानों पर ध्यान देने से समझ में आयेगा कि कौन-कौन सी बाधा किस-किस आकार में श्रुति ने हमारे सामने रखी है । इन सब बाधाओं से जो मुक्त है, उसका नाम है ऋति, और उनसे जो युक्त है उसका नाम है निर्ऋति ॥ ५-६ ॥

सू० ५. बाधविरहवृत्तित्वं सत्यत्वम् ॥

[बाधरहित वृत्ति को ही सत्य कहते हैं । The Real as Ground or as Persistence.]

वा० **विकारश्च विवर्त्तश्च परिवर्त्तश्च नास्तिता ।**
सदसद्भाव इत्येवमन्यथाभावपञ्चकम् ॥ ७ ॥
अवच्छेदपरिच्छेदौ विच्छेदश्च ततः पुनः ।
उच्छेदश्च प्रतिच्छेद इति बाधोऽपि पञ्चधा ॥ ८ ॥
विकाराद्यन्यथाभावा विच्छेदादिनिमित्तकाः ।
तेषामप्रतियोगित्वं सत्यत्वेन व्यवस्थितम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—विकारः विवर्त्तः परिवर्तः नास्तिता सदसद्भावः च इति एवम् अन्यथाभावपञ्चकम् (अस्ति) ॥ ७ ॥

अवच्छेदपरिच्छेदौ विच्छेदः च, ततः पुनः उच्छेदः प्रतिच्छेदः च इति बाधः अपि पञ्चधा (ज्ञेयः) ॥ ८ ॥

विकाराद्यन्यथाभावाः विच्छेदादिनिमित्तकाः । सत्यत्वेन तेषाम् अप्रति-योगित्वं व्यवस्थितम् ॥ ९ ॥

[अन्यथाभाव पाँच प्रकार का है—विकार, विवर्त, परिवर्त, नास्तिता और सदसद्भाव । बाध भी पाँच प्रकार का समझना चाहिए; अवच्छेद, परिच्छेद, विच्छेद, उच्छेद, प्रतिच्छेद । विकार आदि अन्यथाभावों में विच्छेद आदि निमित्त हैं । सत्यत्व के द्वारा उनकी अप्रतियोगिता व्यवस्थित है ।] ॥ ७-९ ॥

भाष्य—किसी भी वस्तु के स्वरूप का अन्यथाभाव पाँच प्रकार का होता है—विकार, विवर्त, परिवर्त, नास्तिता एवं सदसद्भाव । वस्तु के अन्यथाभाव रूप से जो बाध होता है, उसे भी पाँच प्रकार का समझना चाहिए—अवच्छेद, परिच्छेद, विच्छेद, उच्छेद एवं प्रतिच्छेद । उनको यथास्थान खोल कर कहा जायेगा (जैसे ३।१।१९) । यहाँ पहले जो विकार आदि पाँच प्रकार का अन्यथाभाव कहा गया वह इन पाँच प्रकार के बाधों के निमित्त से ही होता है । पाँचों प्रकार के अन्यथाभाव का, अत एव पाँचों प्रकार के बाध का जो अप्रतियोगी होता है अर्थात् उनका विषय नहीं बनता, वही सत्य रूप से व्यवस्थित है । इसलिए सत्य वह वस्तु है जिसका विकार आदि रूप से अन्यथाभाव नहीं होता, अतः जिसका अवच्छेद आदि रूप से बाध भी नहीं होता ।

[अव-अवधारणे, अतएव तत्त्वतः, परि-परितः, on the surface, अर्थात् अतत्त्वतः; वि-विशेषणे, in regard to a certain aspect or mode, किसी भी विशेष अवस्था या धर्म के सम्पर्क में उत् ऊर्ध्व = ऊँचाई—लम्बाई में Vertically अनुलम्ब or longitudinally छेद (काटना), सुतरां निषेध or negation प्रति-तिर्यक्, horizontally and transversely छेद (Cross-section) (अनुप्रस्थ, सपाट) (आड़ी रेखा में अनुप्रस्थ काट)]

सू० ६. व्याजविघ्नविरहवृत्तित्वं छन्दस्त्वम् ।

[व्याज और विघ्न दोनों से विरहित वृत्ति ही छन्दः है ।]
(व्याज और विघ्न का लक्षण आगे के दो सूत्रों में निरूपित है ।)

वा० ऋतस्वभावनिष्ठा या शृङ्खला सुसमञ्जसा ।
तस्यां स्थितायाम् ऋतिः स्यादार्जवं हि तथा स्थितिः ॥ १० ॥

स्वाभाविकं हि सत्यस्यानन्त्यं यज् ज्ञानभास्वरम् ।
आनन्दघनतानिष्ठ-लीलाकैवल्यमेव च ॥ ११ ॥
यदर्त्तञ्च तु सत्यञ्चाभिष्वङ्क्तो परस्परम् ।
तयोश्छन्दस्त्वमायात्यनध्यस्तबाधयोस्तदा ॥ १२ ॥

अन्वय—या सुसमञ्जसा शृङ्खला ऋतस्वभावनिष्ठा, तस्यां स्थितायाम् ऋतिः स्यात्, आर्जवं हि तथा स्थितिः ॥ १० ॥

सत्यस्य आनन्त्यं हि यत् स्वाभाविकं ज्ञानभास्वरम्, आनन्दघनता-निष्ठ-लीलाकैवल्यमेव च ॥ ११ ॥

तदा यद् ऋतं च सत्यं च परस्परम् अभिष्वङ्गिनी, तयोः तु अनध्यस्त-बाधयोः छन्दस्त्वमायाति ॥ १२ ॥

[जो सुसमञ्जस शृङ्खला ऋतस्वभाव में निष्ठ है, उसके रहने पर ऋति होती है, उस प्रकार की स्थिति आर्जव या ऋजुता है। सत्य का जो आनन्त्य (अनन्त होने का भाव) है, जो स्वाभाविक है, ज्ञान-भास्वर (ज्ञान की ज्योति से दीप्त) है और आनन्द की घनता में निष्ठित लीलाकैवल्य ही है, जो ऋत है और जो सत्य है, (वे दोनों) परस्पर आलिङ्गन में बद्ध हैं, ऐसी स्थिति में बाध का अध्यास जिनमें से छूट गया है ऐसे उन दोनों में छन्दस्त्व (छन्द का भाव) आ जाता है।] ॥ १०-१२ ॥

भाष्य—हम आगे के दो सूत्रों में देखेंगे कि बाध और बाधा के निमित्त से जो वैरूप्य है उसका नाम है व्याज एवं बाध और बाधा के निमित्त से जो वैगुण्य है, उसका नाम है विघ्न। 'छन्दः' वह वस्तु है जिसमें इन वैरूप्य एवं वैगुण्य का अभाव रहता है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण—निखिल विश्व का मूल है यह 'छन्दः'। श्रुति ने अनेकों स्थलों पर बहुत प्रकार से कहा है कि 'छन्दः' से ही विश्व की सृष्टि हुई है। छन्दः से ही सृष्टि, छन्दः में ही स्थिति है और छन्दः में ही विश्व का लय होता है। इसलिए 'इस विश्व के जन्म आदि जिससे हुए' उस ब्रह्म का ही एक मौलिक रूप है छन्दः।

पहले हम 'ऋत' और 'सत्य' तत्त्वों का परिचय पा चुके हैं। जगत्-कारण का जो गति-रूप है वह है ऋत। गति का जो फल या कार्य है वह है जगत्। किन्तु जगत्कारण की जगत् की ओर (अभिमुख) जो गति है वह क्या अन्ध, उच्छृंखल, असमञ्जस गति है ? वैसा हो तो इस सुन्दर विश्वरचना की किसी प्रकार उपपत्ति नहीं होती। अन्ध आकस्मिकता (Blind chance) से यह अपूर्व महाश्चर्य रचना किसी भी तरह सम्भव नहीं हो सकती। अत एव अवश्य ही समझना होगा कि सुसमञ्जस एवं सुशृङ्खल गति ही ऋत का स्वभावनिष्ठ धर्म है। इस शृङ्खला में रहते हुए कुछ घटित हो तो उस घटना को हम कहेंगे 'ऋति', एवं इसी प्रकार की स्थिति को हम कहेंगे 'ऋजु स्थिति'। कहना न होगा कि मूल कारण के दृष्टिकेन्द्र से देखें तो विश्व का सब कुछ ही इस ऋजु ऋत के पथ पर चल रहा है। हमारी अभिज्ञता में जो सब भ्रंश या च्युतियाँ एवं उनके कारण वक्रता-विषमताएँ दिखाई दे रही हैं, वे मूल वास्तविक चित्र में अवश्य ही नहीं हैं। हमारी सीमाबद्ध दृष्टि में मूल वास्तविक चित्र जिस प्रकार जितना सा प्रकाशित होता है, उसके भीतर ही सब विषमता आदि दोष लक्षित होते हैं। इसलिए पूर्णज्ञान में अनवद्य छन्दोमय यह जो विश्व है वह स्वरूप में ही विद्यमान रहता है। इस विश्व-

महासङ्गीत के बीच बेसुरा, बेताला कुछ भी नहीं है। इस विश्व का 'अटन'—जो भीषण और भद्र हैं उन महानटराज का नटन है, हंसरूपी भगवान् का भुवन रूप से अकुण्ठ सञ्चार है। पूर्ण ज्ञान में विश्व की ऋत-पथ में नित्य ऋजु स्थिति है। अपूर्ण-ज्ञान में इसका व्यतिक्रम देखता हूँ। कहीं तो छन्द देखता हूँ, कहीं नहीं भी देखता। जहाँ छन्द हैं वहाँ वे भी खण्डित रूप से हैं। खण्ड छन्दों को हम एक अखण्ड में समन्वित नहीं कर पाते। हमारी बुद्धि इस अखण्ड समन्वयी छन्द का निरन्तर अन्वेषण करती आयी है। बुद्धि लक्ष्य की ओर जितनी अग्रसर हो रही है, उतना ही वे व्याज और विघ्न, वैरूप्य और वैगुण्य, किसी न किसी सामञ्जस्य-सूत्र-के द्वारा समाधान करते जा रहे हैं। विज्ञान और प्रज्ञान की यही गति है।

हमारे व्यावहारिक ज्ञान में जो कोई भी गतिरूप देख रहा हूँ (जैसे-सूर्य के चारों ओर किसी ग्रह की गति) उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न अवश्य उठ सकता है कि उक्त गति का निरतिशय यथार्थ रूप या स्वरूप क्या है? हम चक्षु द्वारा एक प्रकार देख रहे हैं, यन्त्रादि के साहाय्य द्वारा शायद दूसरी प्रकार से देख रहे हैं। इसी तरह देखने में तारतम्य है। अतः प्रश्न करना होगा कि गति का यथार्थरूप क्या है? कहना न होगा कि एकमात्र अकुण्ठित पूर्णज्ञान में यह यथार्थतम रूप प्रतिभात है। अपूर्ण सभी स्तरों में वह रूप थोड़ा-बहुत आवृत, कुण्ठित और विकृत है, पूर्णज्ञान में गति को विच्छिन्न रूप से नहीं देखा जा सकता। ग्रह-नक्षत्र आदि की गति से आरम्भ करके क्षुद्र इलेक्ट्रोन-प्रोटोन की गति-पर्यन्त सभी कुछ एक अखण्ड विराट् गति में महाछन्द के अच्छेद्य बन्धन में बँधा हुआ है।

अलग करके देखने पर वे अयथार्थ हो जाते हैं। इसलिए जो ऋत है वह अनृत हो जाता है। यह भी स्मरण रखना होगा कि छन्द की शृङ्खला शृङ्खल (बाँधनेवाली साँकल या सीकड़) नहीं है, उससे होने वाला बन्धन भी 'नागपाश' नहीं है। छन्द का बन्धन है छन्द में नियत अन्वितत्व। पुनश्च, ऋत के पथ को जो ऋजु पथ कहा गया वह ऋजुत्व ज्यामितिक ऋजुत्व नहीं है। उस ऋजुत्व का अर्थ है छान्दोग्य या छन्दोगत्व (Conformity या Concordance—समनुरूपता, सुसङ्गति और सामञ्जस्य)। छन्द का जो स्वाभाविक निजस्व रूप है, उससे जरा-सी भी हिल-डुल न होने से हम पाते हैं ऋजुता। दूसरी ओर वक्रता का अर्थ ज्यामितिक वक्रता (Curvature) नहीं; अछन्दोगत्व ही वक्रता—(Unharmony-Curvature विसंवादी टेढ़ा-मेढ़ापन) है। इसी प्रकार हमें सुषमता और विषमता को समझना होगा। ज्यामितिक तल क्षेत्र आदि के सम्बन्ध में जो सुषमता (symmetry) है वह मूल छन्दोगत्व का एक विशिष्ट नमूना-मात्र है। मूल छन्दोगत्व है परम विशारदी बुद्धि की अपनी बोधरूपता, वह बोध ही सत्य विश्व है।

अब सोच कर देखना होगा कि सत्य का स्वरूप क्या है ? गति की और से देखें तो जो ऋत है, वही वस्तु की ओर से देखने पर सत्य है। हमारे व्यावहारिक ज्ञान में किसी भी वस्तु का एक विशिष्ट रूप दिखाई देता है। हमारे इन्द्रिय के कैमरे में वस्तु की जो छवि पड़ती है उसे मन अपने विविध संस्कारों के द्राव (घोल) में धो कर (develop करके) हमारे सामने पेश करता है। वस्तु स्वरूपतः कुछ भी हो, हमारे 'कैमरे' जब अलग-अलग हैं और द्रावक (घोल) भी जब एक ही प्रकार के नहीं हैं, तब अवश्य ही वस्तु का रूप हम सबके सामने एक ही नहीं हो सकता। विभिन्न जीवों की तो बात ही नहीं। एक ही वस्तु की विभिन्न प्रकार की छबि होने पर किस छबि को वस्तु के ठीक अनुरूप कहेंगे ? विज्ञान अवश्य वस्तु की प्रकृत (असली) छबि उतारने की कोशिश कर रहा है, इसमें बहुत कुछ अग्रसर भी हुआ है इसमें सन्देह नहीं। फलस्वरूप हमारे चारों तरफ का यह जड़ विश्व क्रमशः अपनी जड़ता हटाता हुआ शक्ति-रूप धारण कर रहा है। विश्वशक्ति की क्रोड़ा के एक समन्वयी छन्द का सन्धान भी हमें मिल रहा है। वह है सांख्य छन्द—Mathematical Harmony. सुतरां सत्य की ओर ही अग्रसर हो रहे हैं इसमें सन्देह नहीं। किन्तु चरम सत्य अभी भी दूर प्रतीत हो रहा है।

जिस सत्य को इस समय हम लोग गणित के समीकरण-शृङ्खल द्वारा बाँधने का यत्न कर रहे हैं वह शक्ति क्या कोई प्राणहीन-चैतन्यहीन वस्तु है ? स्पष्ट ही समझ पा रहे हैं कि व्यष्टि अथवा समष्टि किसी भी प्रकार से वस्तु की जो 'हृल्लेखा' (Basic pattern. मूल ढाँचा या बनावट) है, एवं वस्तु का जो 'हृत्' अथवा आत्मा (Basic Essence) है—उन दोनों में से किसी को भी हम अब तक पकड़ नहीं पाये हैं। पूर्ण ज्ञान या प्रज्ञान के बिना वस्तु का 'हृत्' अथवा 'हृल्लेखा' सम्यक् प्रकाशित नहीं हो सकती। इसलिए ऋत के समान सत्य भी हमारे बोध का आदर्श एवं लक्ष्य (End and Ideal) मात्र है। अव्यक्त स्वभाव, नियति, असत् या शून्य, काल, यदृच्छा (chance, दैवयोग) अथवा कोई सर्वज्ञ-सर्ववित् पुरुष और उसकी इच्छा—इनमें से किसी-किसी को जगत् के मूल में हमने बैठाया है, किन्तु इससे क्या जगत् का 'हृत्' या 'हृल्लेखा' मिल पाई है ? मिली हो तो किस में मिली ?

किन्तु तब भी हमारा यह बोध ही है सत्य की प्रतिष्ठा। सभी कुछ प्रश्न, संशय, विकल्प आदि का विषय बन सकता है केवल 'साक्षात् अपरोक्षात्' बोध (ज्ञान) को छोड़ कर। वह निर्व्यूढ़ रूप से (Unconditionally) 'अस्ति' एवं 'भाति' है। वही Fact (तथ्य) है; उसके अपने सम्पर्क में सत्य, मिथ्या आदि कोई प्रश्न नहीं है। रज्जु-सर्पादि स्थलों पर भी उसके भान के स्वरूप में ('भाति'-ता-के सम्बन्ध में) कोई संशय या विकल्प नहीं है। भातिता के नाते इसमें अवच्छेद-परिच्छेद भी

नहीं है। अवश्य ही जो या जो सब रूप आदि 'भात' (Presented दिखाई दे रहे) हैं, उनके सम्बन्ध में अवच्छेद आदि हैं। समग्र, अखण्ड ज्ञान स्वयं 'अव्यवहार्य' अनिरुक्त है। इस भानरूप बोध की पटभूमिका (Canvas) में हो विचित्र विश्व प्रपञ्चित हो रहा है आदि-अन्तहीन एक चलचित्र के समान। अतएव इस बोध के द्वारा ही सत्य को समझना होगा। ज्ञान और बोध के बीच जरा- सा विशेष (अन्तर) करके यह समझ पानी होगी।

भान अनिरुक्त (Alogical) है, उसे 'बोध' नाम दिया जाता है जब उसे किसी न किसी निरुक्ति (Category या श्रेणी) की सहायता से 'बुद्धिग्राह्यमिव' (As it were logical, thinkable—बुद्धि द्वारा पकड़े जाने जैसा) बनाना चाहें। सत्य का भी यही भान-रूप एवं यही बोधरूप है। अनिरुक्त की निरुक्ति करने जायें तो स्वरूप, तटस्थ आदि भेद भी करते हैं बुद्धि का ही कोई 'सूत्र' पकड़ कर। एक वाक्य में कहें तो 'साक्षादपरोक्ष' (Alogical Absolute Fact) का अस्तिकतमत्व या गरिष्ठ नैकटिकत्व (closest possible approximation) हुआ स्वरूपलक्षण। अन्यथा, अलक्षण में लक्ष्यतावच्छेदकता तो नहीं है।

श्रुति ने 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' स्वरूपलक्षण कहा है। अवच्छेद-परिच्छेद आदि जिसमें नहीं हैं, जो किसी भी प्रकार अभाव का विषय नहीं है, वह है अनन्त। सत्य है इस प्रकार का अनन्त ज्ञान। क्यों ? 'मेरा' जो बोध-ज्ञान (Experience as Fact) है वही 'भाति'-ता या प्रकाशमात्र रूप से यह अनन्त ज्ञान नहीं है क्या ? उस ज्ञान के 'विषय-विशेष' (Fact-section, Object-content)—सम्बन्ध में अवच्छेद आदि अवश्य हैं किन्तु निर्विशेष अस्तिता-भातिता-मात्र रूप में उसमें वह सब नहीं है। इसका आदि, मध्य, अन्त भी कल्पना से जाना नहीं जा सकता। समग्र और अखण्ड रूप से जो प्रमाणयोग्य और निर्वचनयोग्य (Thinkable and Predicable) नहीं, उसका असाकल्य (अंशतः, खण्डतः) निर्वचन जिस बोध के द्वारा होता है, उसे कहते हैं 'प्रमाताबोध' (Reviewer Fact)। इसे आदिम दृष्टि एवं अनुदर्शन (Original View and Review) का एक भेद समझना होगा। बोधविश्व एवं विश्वबोध एक नहीं है।

'अस्ति'–'भाति–'ता या सत् व प्रकाशमात्रता रूप से इसमें कोई भी परिच्छेद तो नहीं है, तब भी 'मेरे' इस बोध–भान में एक 'कार्पण्य' (Intrinsic Limitationality) और कुण्ठा (Strain Potential) है यह देख रहा हूँ। 'हृत्' एवं 'हृल्लेखा' (व्यष्टि अथवा समष्टि) 'मेरो' इस अस्ति–भातिता में 'अस्ति' एवं 'भाति' कहाँ है ? अवश्य ही कोई 'अवगुण्ठक' (Veil, पर्दा) है। यह अवगुण्ठक भी अनिर्वचनीय (Inscrutable) है। केवल मात्र अवगुण्ठक नहीं, अवमर्शक (Stress Potential) है।

इसके फलस्वरूप मेरा बोध भान एक विशिष्ट आकार-प्रकार का 'बोध विश्व' (A Universe of Experience with a given reference system—विशेष सन्दर्भ–व्यवस्था सहित अनुभव का विश्व) है। वह विश्व ऋत और सत्य स्वरूप का एक व्यावहारिक प्रतिच्छेद (Practical cross-section) है। इस प्रतिच्छेद में हृत् एवं हृल्लेखा तथा उनका हृच्छन्दः मिल नहीं रहे हैं ऐसा देखता हूँ। पर मिलाने का प्रयास है यह भी देखता हूँ। जिस पथ में (विद्या, श्रद्धा, उपनिषद् द्वारा) वह मिलता है वही समावृत्ति है। पदार्थ–विज्ञान इस का बहिरङ्ग, अपूर्ण साधन है, जप एवं उपासना अन्तरङ्ग साधन है।

समावृत्ति यानी समापन में विश्व का जो 'हृत्' या आत्मा है वह आनन्द के सिवा कुछ नहीं। आनन्द का 'सिन्धु' (आकाश या नाद)–रूप है और बिन्दु (बादल)–रूप। घन (बादल) या बिन्दु के रूप में भी वह सिन्धु है। बिन्दुरूप में भी, स्वरूपतः जो अमेय है, वह मेय नहीं हो जाता, केवल सम्भाव्य-निखिल-क्रियोत्पत्ति-सामर्थ्य से अर्जित (Potent) होता है। बिन्दु-रूप में भी देश-काल-कारणताजन्य 'निरुक्ति' नहीं है। बिन्दु स्वयं 'निष्कल' है, किन्तु अनन्त कलनवृत्तितारूप अर्थात् कला के सम्भाव्य-संभावन-सामर्थ्यरूप है। घनरूपता ही निखिल अभिव्यक्ति की मूलभूत बीजरूपता (ह्रीँ) है। यह परम और अवम है, यह द्विविध केन्द्रों का आश्रय लिये हुए है, जो 'नैष्कल्य' है उसके 'साकल्य' की दृष्टि से। जिसमें कला (Aspect या Partial) नहीं, वह है नैष्कल्य; कलन-वृत्तिता से उसमें कलाएँ फूटने पर वह होता है साकल्य। परम केन्द्राश्रयिणी आनन्दघनरूपता ही परमेश्वर (ॐकार) का "बहु स्याम् प्रजायेय"—ऐसा सृष्टिबीज 'काम' (क्लीँ) है। अवम केन्द्र में 'बिन्दु' अवगुण्ठक अवमर्शक द्वारा अवच्छिन्न है। परमेश्वर का लीला-कैवल्य (श्रीँ ऐँ) (Pure Unfettered Action or Play) ने अवम 'सकल' सभी केन्द्रों में 'कैवल्य' लक्षण खोकर 'लोला'–स्वरूप भी छिपा लिया है। अथ च, कहीं भी (यहाँ तक कि जड़ परमाणुओं में भी) वह पूरी तरह बाधित नहीं हुआ है। सर्वत्र चतुष्पात् सत्य अनुप्रविष्ट है (सभी जगह सत्य अपने पूर्ण रूप में चारों चरणों सहित विराजमान है)। सुतरां, सत्य को दृष्टि से विश्व का 'हृत्' जैसे आनन्द है, 'हृल्लेखा' उसी प्रकार लोलाकैवल्य से प्रसूत (उत्पन्न) है। फिर प्रकारताविशिष्ट आनन्द का उल्लास एवं विलास है। आगे के किसी-किसी सूत्र में आनन्द की उल्लसित्व, विलसित्व एवं अलसित्व अवस्थाएँ विवृत होंगी, (खोल कर कही जायेंगी)। 'म'—'मैं' की कोई अनिरूपित किन्तु निरूपण योग्य संस्था (स्थिति) है, उसके 'अव' (Sub-नीचे) हुआ 'अवम', और उसके 'पर' (Super या Supra यानी ऊर्ध्व में) हुआ 'परम'।

अतएव 'सत्य' शब्द से (१) अनन्त अकुण्ठ ज्ञान, (२) अपरिसीम, अपरिमेय आनन्द, (३) आनन्द की बिन्दुघनरूपता एवं (४) लीलाकैवल्य, अत एव (५) अनिरुक्त-

निष्कल की निरुक्त सकल रूप में (कलाविशिष्ट) अभिव्यक्ति—ये कुछ अर्थ समझ पाता हूँ। इस अभिव्यक्ति के 'अतात्त्विक' अर्थात् देश-काल आदि द्वारा तत्त्वतः अन्तरित (Interjected,–projected) होने पर अनिरुक्त-निष्कल निरुक्त-सकल नहीं बन जाता। एक अबोधगाह्य (अबुद्धिग्राह्य alogical) रूप है, दूसरा बोधगाह्य (बुद्धिग्राह्य logical) रूप है।

श्रुति ने 'ऋतञ्च सत्यञ्च' कहा, अर्थात् ऋत एवं सत्य को दो 'च' का प्रयोग करते हुए परस्पर अभिष्वङ्गी रूप से कहा है। नवें सूत्र की कारिका में यह अभिष्वङ्ग, आलोचित हुआ है एवं आसङ्ग (व्यासङ्ग), अनुष्वङ्ग, प्रतिष्वङ्ग, इत्यादि रूप भी प्रदर्शित हुए हैं। 'स्वञ्ज' धातु आलिङ्गन के अर्थ में है। फलस्वरूप ऋत एवं सत्य अन्योन्यासङ्गि (Inter-locked) हैं। अर्थात् ऋत केवल ऋजु, सुषम शृङ्खलामात्र-(Law) नहीं रहता, वह अनन्त ज्ञान-आनन्द-लीला-कैवल्य की निज-अभिव्यक्तिरूप-(Own absolute manifestation) है, और सत्य भी तब अनन्तज्ञानादिलक्षण वस्तु-मात्र नहीं है, (एक Absolute Conscious Subsistence मात्र नहीं है)। बल्कि वह है एक 'अमान-मानदा' परम स्वतःस्फूर्त्ता (self determined) धारा (as self-determined process, measureless in itself, but evolving measure).

इस प्रकार ऋत और सत्य की जो परस्पर 'अभितः' स्वजमानता (एक दूसरे को आलिङ्गित होना) है वही हुआ स्वभावच्छन्दः, स्वच्छन्द या हृच्छन्द। बाधा और बाध के द्वारा स्वभावतः अनध्यस्त, अनाक्रान्त ऋत और सत्य का परस्पर अभिष्वङ्ग-जनक और उससे जनित जो स्वच्छन्दः है, उसके सम्बन्ध में व्याज विघ्न को अवकाश नहीं। किन्तु अवम दृष्टि से स्वजमानता (अर्थात् सत्य और ऋत का अपना सत्य—यह ऐसा अविनाभाव) 'अभितः' (ठीक congruent, in complete correspondence) न होने पर 'हृच्छन्दः' अवगुण्ठित आदि हो जाता है, इसके फलस्वरूप 'विश्व-जाड्य' (विश्व की अचेतन जड़रूपता) 'विश्व ताड्य' (blind cosmic determinism) इत्यादि अहृच्छन्दः (जिससे अरिच्छन्द बनता है) एवं वैरूप्य, वैगुण्य आदि आक्षेपित होते हैं।

[जपसूत्र ४-१-१६ में प्रकृतिच्छन्दः, आकृतिच्छन्दः, प्रकृति-विकृतिच्छन्दः एवं विकृतिच्छन्दः—इस प्रकार छन्द का चतुर्विध होना दिखाया गया है एवं वहीं १७ वें सूत्र में स्वभाव-विभावादि-भेद से पञ्चविधता, १८-१९ सूत्रों में सप्तविधता भी कही गयी है। २१-२५ सूत्रों में जगती आदि सात मूल छन्दों का रहस्य-लक्षण एवं अन्य-अन्य स्थलों पर मधुच्छन्दादि का प्रसङ्ग आया है।] ॥ १०, ११, १२ ॥

सू० ७. बाधबाधाजन्यवैरूप्यं व्याजः ॥

[बाध और बाधा के कारण जो वैरूप्य आता है, उसे कहते हैं व्याज । व्याज का अर्थ है Unharmony Curvature]।

भ्रंशापभ्रंशविभ्रंशा इति व्याजो भवेत् त्रिधा ।
च्युत्यपह्नुतिविच्युतिसंज्ञाभिरुच्यतेऽपि सः ॥ १३ ॥
भ्रंशेन व्यभिचारित्वं सामान्यतः प्रसज्यते ।
अपेन चापनीतत्वं वैपरीत्यं पुनर्विना ॥ १४ ॥
साकल्येनांशतो वापि द्विधा व्याप्तिर्भवेत् त्रिषु ॥ १५ ॥
भ्रंशः सांसिद्धिको ज्ञेयः प्रमाणैरुपपादितः ।
साङ्कल्पिकस्तु सङ्कल्पाद् वैकल्पिको विकल्पवान् ।
आभासिकश्च जानीह्याकस्मिक इति पञ्चधा ॥ १६ ॥

अन्वयः—भ्रंश-अपभ्रंश-विभ्रंशाः इति त्रिधा व्याजः भवेत् ! सः च्युति-अपह्नुतिविच्युतिसंज्ञाभिर् अपि उच्यते ॥ १३ ॥

भ्रंशेन सामान्यतः व्यभिचारित्वं प्रसज्यते । अपेन चापनीतत्वं [प्रसज्यते] । 'वि'ना पुनः वैपरीत्यं [प्रसज्यते] ॥ १४ ॥

साकल्येन अंशतः वा अपि त्रिषु द्विधा व्याप्तिः भवेत् ॥ १५ ॥

सांसिद्धिकः भ्रंशः प्रमाणैः उपपादितः ज्ञेयः, साङ्कल्पिकः तु सङ्कल्पात् [ज्ञेयः] । आभासिकः आकस्मिकः च इति पञ्चधा जानीहि ॥ १६ ॥

[भ्रंश, अपभ्रंश और विभ्रंश, इस प्रकार व्याज तीन प्रकार का है । उसे च्युति, अपह्नुति और विच्युति संज्ञाओं से भी कहा जाता है । 'भ्रंश' से सामान्यतः व्यभिचारित्व (ऐकान्तिकता का अभाव) प्रसक्त होता है यानी समझा जाना चाहिए । 'अप' (उपसर्ग) का अर्थ है अपनीतत्व (अलग होने या हटने का भाव) और 'वि' (उपसर्ग) का अर्थ है वैपरीत्य ! इन तीनों प्रकारों में (व्याज की) व्याप्ति सकल रूप से अथवा आंशिक रूप से, यों द्विधा होगी ।

भ्रंश पाँच प्रकार का जानो—१. सांसिद्धिक जो कि प्रमाणों द्वारा उपपादित है, २. साङ्कल्पिक, सङ्कल्प द्वारा (बनता है), ३, वैकल्पिक, विकल्प से युक्त है, ४. आभासिक और ५. आकस्मिक] ॥ १३-१६ ॥

भाष्य—पूर्व सूत्र की व्याख्या में हमने देखा है कि ऋत और सत्य के परस्पर अन्वित न होने पर अन्ध जगत्, बद्ध जगत्, इस प्रकार जगत् के यथार्थ रूप के सम्बन्ध

में वैरूप्य उपस्थित होता है। केवल वही नहीं, द्वैध अथवा द्वैत जगत् की आशङ्का घटित होती है। विश्व एकरूप न होकर द्विरूप अथवा बहुरूप हो उठता है। इसे Dual (द्विधा) अथवा Plural (बहुत्वभरा) Universe (विश्व) कहा जा सकता है। जैसे, यह विश्व ठीक छन्दोबद्ध भाव से चल रहा है, अथवा कहीं भी इसके छन्द का अभाव है क्या ? Nature (प्रकृति) क्या law (नियम) और chance (आकस्मिकता) का मिश्रण है ? जिस शक्ति द्वारा जगत् चालित हो रहा है, वह शक्ति क्या देवशक्ति है या असुरशक्ति, या दोनों ही ? जगत् के मूल में यह जो द्वन्द्व है, वह क्या मैत्र द्वन्द्व (Concordant duality) है अथवा वैर द्वन्द्व (Discordant duality) है ? इस प्रकार की नाना आशङ्काएँ उदित हुआ करती हैं। ऋत और सत्य का जो परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है, हमारे विश्वबोध में उसका भ्रंश (च्युत होना) आदि लक्षित होते ही, इन सब प्रकार की आशंकाओं की सम्भावना उठा करती है। जिस भ्रंशादि के फलस्वरूप यथार्थ रूप में विरूपता दिखाई देती है, उसे ही कहते हैं व्याज। 'आविः' का जो 'वि' अर्थात् ऋत और सत्य की विश्वतोमुखता है, अर्थात् विश्वाकार आविर्भाव है, उसे आवृत करके जो अन्य आकार अथवा रूप में जात होता है, उसे कहते हैं व्याज—वि + आ + ज। ऋत और सत्य की दृष्टि से जो रज्जु है, वह व्याज-दृष्टि में सर्प के रूप में दिखाई दे रहा है। पहले ४ और ५ सूत्र में जिन बाध और बाधा की बात कही गई है, उनके कारण ही इस प्रकार के आवरण और विक्षेप हुआ करते हैं। भ्रंश, अपभ्रंश और विभ्रंश अथवा च्युति, अपह्नुति और विच्युति, इस तीन प्रकार के व्याज (unharmony curvature) की हमें विवेचना करनी चाहिए। इनमें से 'भ्रंश' से सामान्य रूप से व्यभिचारित्व (departure, deviation, exception) समझना होगा; 'अपभ्रंश' से समझना होगा कि यथार्थ रूप अपनीत हुआ है (negation or elimination), 'विभ्रंश' के द्वारा वैपरीत्य (Contrary or contradictory होने का भाव) समझना होगा। इन तीनों स्थलों पर प्रश्न उठ सकता है—जो व्यभिचार या व्यतिक्रम दिखाई दिया, उसकी व्याप्ति कितनी है ? यथार्थ रूप को क्या समग्र भाव से अथवा आंशिक भाव से व्यभिचार प्राप्त हुआ ? भ्रंश अथवा च्युति के सम्बन्ध में इस प्रकार की साकल्य-व्याप्ति अथवा अंशतोव्याप्ति सभी क्षेत्रों में विचारयोग्य है। अन्य भाव से देखने पर भ्रंश अथवा च्युति होती है पाँच प्रकार की—सांसिद्धिक, साङ्कल्पिक, वैकल्पिक, आभासिक और आकस्मिक।

हमारे व्यावहारिक (अतएव आपेक्षिक, निर्व्यूढ नहीं) प्रमाण द्वारा जो भ्रंश अथवा च्युति उपपादित यानी सिद्ध है, उसे सांसिद्धिक कहते हैं। जैसे कि 'स्थान' या Space की वक्रता, आलोकादि के विकिरण का युगपत् रेणुरूप और ऊर्मिरूप होना, अणु के भीतर ऋणात्मक तडिदणु (electron) की गति-स्थिति की अनियतता

(indeterminacy), रेडियम-जातीय पदार्थों के अणुसमूह के बीच 'अदृष्टवशतः' (मानों 'लाटरी' डालकर) कुछ का विकिरण और दूसरों की निश्चेष्टता, इलेक्ट्रॉन की कक्ष से कक्षान्तर में 'छलाँग', आलोक-रश्मि के वेग और शक्तिकणिका के मान (Quantum) की 'अक्षरता' (Constancy) इत्यादि। प्राणिविज्ञान, मनोविज्ञान और अन्यान्य क्षेत्र में भी इस प्रकार 'व्याज' का दृष्टान्त मिला है और मिल रहा है। पहले जो कुछ प्रमाणसिद्ध था, उसमें से बहुत कुछ ही आज असिद्ध हो गया है। आज जो कुछ 'सिद्ध' है, वह पूरा या उसमें से कुछ-कुछ भविष्य में असिद्ध हो सकता है। पूर्णज्ञान का जो निर्व्यूढ प्रमाण है, उसकी परिभाषा है 'वेद'। उस निर्व्यूढ प्रमाण से जो सिद्ध है, उसके असिद्ध होने की आशङ्का नहीं है। वह फिर 'व्याज' नहीं है। तब वह बाध-बाधा-व्याज से रहित 'ऋतञ्च सत्यञ्च' है। तब भ्रंश अथवा च्युति तत्त्वतः नहीं है। वहाँ छन्दः अपने स्वरूप में ही अचल-प्रतिष्ठ है। हम भी व्यावहारिक ज्ञान या विज्ञान में छन्द के आपात (apparent) भ्रंशों को वृहत्तर छन्द के द्वारा सुधार लेने के लिए यत्नशील हैं—जैसे कि किसी ज्योतिष्क के गतिमार्ग में अतर्कित च्युति या वक्रता। लक्ष्य और आदर्श हुआ—'ऋतं बृहत्' और 'सत्यं महत्'।

साङ्कल्पिक अर्थात् सङ्कल्प या इच्छा के द्वारा जो भ्रंश या च्युति घटित हुआ करती है वह परीक्षास्थल पर ही सकती है। जैसे, एक लट्टू खूब घूम रहा है। उसे उँगली से जरा-सा ठेल कर देखा, क्या होता है। 'इन्द्रशत्रु' इस मन्त्र का जिस स्वर से उच्चारण कर रहा हूँ, उसे बदल कर देखा, उससे शक्ति या फल का कुछ व्यतिक्रम होता है या नहीं, इत्यादि। इसके अलावा, इसमें विवेच्य है कि जीव की इच्छा के फलस्वरूप, जीव का जो यन्त्र, जैसे मस्तिष्क है, उसके निजस्व गतिच्छन्द में कोई परिवर्तन (शक्ति के मान, अथवा दिक् के सम्बन्ध में) घटित होता है या नहीं। यदि घटित हो, तो वह क्या सचमुच ही व्याज हैं, या वह बृहत्तर ऋत के ही अनुगत है। अतएव साङ्कल्पिक के सन्दर्भ में भी ऋत का आनुगत्य अथवा उसका अभाव हुआ विचार्य विषय।

वैकल्पिक वह है जिसमें 'विकल्प' है, सुतरां प्रश्न और संशय है। जैसे विवृद्धि-शील (विवर्धिष्णु) विश्व (Expanding universe) क्या प्रमाणित है या मात्र प्रतीयमान है? किसी जपक्रिया के फलस्वरूप जो शिष्ट-सम्मत फलश्रुति है, उसका व्यतिक्रम दिखाई दिया। यह व्यतिक्रम क्या सचमुच ही घटित हुआ या नहीं, या घटित हुआ तो वह सचमुच व्यतिक्रम है या नहीं? अतएव वैकल्पिक के स्थल में ये द्विविध संशय और द्विविध प्रश्न ही प्रासङ्गिक हैं।

आभासिक वह है, जहाँ भ्रंश या व्यतिक्रम आभास-मात्र है। भ्रान्तिवश, या प्रमादवश 'अनुक्रम' में भी 'व्यतिक्रम'-बुद्धि उपज रही है। जैसे—जल में डूबा हुआ

ऋजु या सीधा डण्डा वक्र या टेढ़ा दिखाई देता है। उदय या अस्त के समय (विशेषतः समुद्रवक्ष पर से) सूर्य बड़ा दिखाई देता है। व्याज शब्द का एक अर्थ है भाण, कपट, छल—यहाँ भी प्रश्न द्विविध है—सचमुच ही भ्रान्ति हुई है या नहीं ? और यदि हुई है तो कैसी हुई है और यथार्थ रूप क्या है ? (Correction of apparent error)।

आकस्मिक की बात करें तो हमारे व्यावहारिक विश्वबोध में 'सम्भाव्यता' (Probability) नाम की एक 'वस्तु' पड़ी हुई है। व्यष्टिभाव से (Individually) प्रत्येक घटना इसके 'नियम' से (by laws of probability) घटित हो रही है, ऐसा लगता है। समष्टिभाव से, (On the average) उसके 'निश्चित' (Certain) दिखाई देने पर भी, उसकी वास्तविकता क्या है ? दृष्टान्त के रूप में kinetic theory of gases (गैसों के चलन-सिद्धान्त) की बात सोचो। हम जिसे निरूपित अथवा निरूपणीय विश्व समझ रहे हैं, वह क्या मूलतः (Basically) सम्भाव्यजगत् (Statistical universe) मात्र है ? यदि वैसा ही हो तो प्रश्न उठता है—सम्भाव्यता क्या उच्छृङ्खलता या अन्ध ख्याल (कल्पना) है ? कुछ भी ठीक न रहने की स्थिति से ही क्या सब कुछ ठीक हो रहा है ? Primordial night (आदिम रात्रि) क्या original chaos (मूलभूत अराजकता) है ? Primordial creativity (आदिम सर्जनशीलता) क्या Primordial lawlessness (आदिम नियमहीनता) है ? नहीं, वैसा तो नहीं है। सम्भाव्यता (probability function) स्व-नियम में ही (अर्थात् अपने नियमानुवर्ती होकर ही) अवश्य विश्व के आदि, मध्य और अन्त के घटनापुञ्ज को बिखेर और समेट रहा है। सर्वथा उद्भट, आकस्मिक कुछ भी घटित नहीं हो रहा है। संख्याविज्ञान के मूल सूत्र एवं समीकरण को सम्भाव्यता के क्षेत्र में अवकाश न हो ऐसी बात नहीं है। सम्भाव्यता को ऊर्मिभङ्गिमा (Probability waves) किसी घटना की सम्भाव्यता की मात्रा के निरूपण में अवश्य द्रष्टव्य और विवेच्य है। वायु-तरङ्ग के समय जैसे वायुकणापुञ्ज की स्थानिक घनता और स्थानिक विरलता देखने को मिलती है, सम्भाव्य तरङ्ग को भी वैसी ही कहीं गाढ़ता और कहीं विरलता कल्पित हो सकती है। कोई घटना यदि गाढ़ अंश में रहे तो उसमें घटित होने की सम्भावना न घटित होने की सम्भावना की अपेक्षा बहुत अधिक है; घनता के केन्द्र में अथवा केन्द्रसान्निध्य में रहने पर, वह एक प्रकार से निश्चित ही है। सम्भाव्यता का जो पूर्णाङ्ग चित्र (Complete चित्र) है, वह अवश्य पूर्णज्ञान में ही व्यवस्थित रहता है। हमारे सामान्य ज्ञान का जो आकस्मिक (accidental) है, विज्ञान का जो सम्भावित (probable) है, प्रज्ञान का जो निश्चित अथवा निश्चितप्राय (Certain or almost so) है, सभी कुछ को इस पूर्ण चित्र के साथ मिला कर जाँचना होगा। सामान्य ज्ञान

का जो व्याज है, उसका शोधन विज्ञान करता है; विज्ञान का शोधन करता है प्रज्ञान और पूर्ण ज्ञान।

सूत्र ८. बाधबाधाजन्यवैगुण्यं विघ्नः।

[बाध, बाधा से जनित वैगुण्य विघ्न है।]

वा० **उर्ूजितोज्ज्वलोत्कर्षे सीमा यत्र निरूपिता।**
वैगुण्यहानिः सिध्येत तत्रैव विघ्नबाधनम् ॥ १७ ॥
गुणात् संजायते विघ्नश्चलचपलचञ्चलात्।
स्तब्धास्तमितधर्माच्च गुणात् स्तिमितताभृतः ॥ १८ ॥

अन्वय—यत्र उर्ूजितोज्ज्वलोत्कर्षे सीमा निरूपिता, तत्र एव वैगुण्य-हानिः सिध्येत, विघ्नबाधनम् (भवति) ॥ १७ ॥

चल–चपल–चञ्चलात् गुणात् विघ्नः संजायते, स्तब्ध–अस्तमित-धर्मात् स्तिमितताभृतः गुणात् च ॥ १८ ॥

[जहाँ श्रेष्ठ ऊर्जित (शक्तिशाली) में सीमा निरूपित होती है, (और) वैगुण्य की हानि सिद्ध होती है, वहीं विघ्नबाधन होता है।] ॥ १७ ॥

[जो गुण–रजोगुण—चल, चपल, चञ्चल है, उससे विघ्न होता है; जो गुण स्तब्ध है. अस्तमित है, जिसमें स्तिमितता है, उससे—तमोगुण से—वस्तु भी वैसी ही हो जाती है] ॥ १८ ॥

भाष्य—इस देश के शास्त्र में तीन गुणों की बात है—सत्त्व, रजः एवं तमः। इनमें से सत्त्व का लक्षण यों दिया जाता है कि यह प्रख्या और प्रकाशधर्मी है। नैसर्गिक सभी वस्तुओं में इन तीन गुणों का अनुपात पड़ा हुआ है। वह अनुपात स्थिर नहीं है, नियत परिवर्तनशील है। किसी पदार्थ के सत्त्वगुण का अनुपात बढ़ता रहने पर, उसकी व्याप्ति बढ़ती है। वह ऊर्जित होता है और उसकी उज्ज्वलता या प्रकाशधर्म बढ़ता जाता है। इससे समझा जा सकता है कि पदार्थ को यथार्थरूप में अभिव्यक्ति या प्रकाश के पथ में जो सब अन्तराय थे, वे धीरे-धीरे विदूरित हो रहे हैं। इसे कहते हैं पदार्थ के गुण या धर्म का उत्कर्ष। किन्तु प्रश्न उठता है कि इस प्रकार के उत्कर्ष की सीमा कहाँ है? अर्थात् कितना उत्कर्ष होने पर हम कह सकते हैं कि इस बार वस्तु का यथार्थरूप में प्रकाश हुआ है? जहाँ उत्कर्ष की पराकाष्ठा या शेष सीमा है, वहाँ वैगुण्य एकान्त भाव से तिरोहित हुआ है, अतएव वहीं पर विघ्नरूप अन्तराय सर्वथा बाधित हुआ है ॥ १७ ॥

भाष्य—किन्तु सत्त्वगुण तो अकेला नहीं है! साथ में रजोगुण पड़ा हुआ है, उसका धर्म है प्रवृत्ति। रजोगुण चल, चपल, चञ्चल स्वभाव का है। इससे घोरवृत्ति

विघ्न वा अन्तराय, सुतरां वैगुण्य होता है। इन दो को छोड़कर जड़ स्वभाववाला तमोगुण है; इस तमोगुण के द्वारा वस्तु स्तब्ध, स्तिमित एवं अस्तमित—इस त्रिविध मूढ़ वृत्तिवाले वैगुण्य को प्राप्त होती है ॥ १८ ॥

वा० उर्वादीनां चलादीनां स्तब्धादीनाञ्च सङ्करात्।
वैगुण्यं बहुधा जातं विघ्नौघश्चापि तज्जनिः ॥ १९ ॥

अन्वय—उर्वादीनां चलादीनां स्तब्धादीनाम् च सङ्करात् बहुधा वैगुण्यं जातम्, तज्जनिः विघ्नौघः च अपि (बहुधा जातः) ॥ १९ ॥

[उरु आदि के, चल आदि के तथा स्तब्ध आदि के मिश्रण से बहुत प्रकार का वैगुण्य उत्पन्न हुआ है, और उससे बहुत प्रकार का विघ्न-समूह भी उत्पन्न हुआ है।] ॥ १९ ॥

भाष्य—उरु-स्वभाव, चल-स्वभाव एवं गुरु-स्वभाव इन त्रिविध गुणों का परस्पर मिश्रण एवं उन सबके अनुपात-वैचित्र्य के फलस्वरूप वैगुण्य बहुत प्रकार का एवं तज्जन्य विघ्नराशि भी बहुत आकार की समुद्भूत होती है ॥ १९ ॥

वा० उपमर्दश्चापमर्दो विमर्दश्चापि विक्रियाः।
परस्परानुपातित्वे गुणानामसमञ्जसाः ॥ २० ॥

अन्वय—गुणानाम् परस्परानुपातित्वे असमञ्जसाः विक्रियाः उपमर्दः, अपमर्दः च, विमर्दः च अपि (भवन्ति) ॥ २० ॥

[गुणों के परस्पर अनुपातित्व से असमञ्जस विक्रियाएँ—उपमर्द, अपमर्द और विमर्द होती हैं।] ॥ २० ॥

भाष्य—गुणत्रय के परस्पर मिश्रण में असमञ्जसता (Disharmony) रहने पर संघात के फलस्वरूप विक्रिया दिखाई देती है। गुणों के परस्पर अनुपात में यदि समञ्जसता (Harmony) रक्षित हो तब अवश्य संघात के फलस्वरूप विक्रिया दिखाई नहीं देती। कौन अनुपात समञ्जस है, कौन नहीं उसका अवश्य ऋत एवं सत्य के आलोक सूत्र (Leading Light) के साहाय्य से ही यथासम्भव निरूपण करना होगा। स्वच्छ एवं प्रकाश स्वभाववाले सत्त्वगुण का पोषण एवं प्रभुत्व होते रहने पर यह अत्यावश्यक आलोक-सूत्र सहज ही हमारे स्वाधीन हो जाता है। पक्षान्तर में रजः एवं तमः इन दोनों का प्राधान्य रहने पर चाञ्चल्य एवं मालिन्य-वशतः उस आलोकसूत्र को हम एक प्रकार से खो ही बैठते हैं। असमञ्जस अनुपात के फलस्वरूप जो विक्रियाएँ उपस्थित होती हैं उनका उपमर्द, अपमर्द एवं विमर्द इस प्रकार तीन श्रेणियों में भाग किया जा सकता है। 'उप' अर्थात्, समीप में स्थिति-वशतः जो मर्द है, 'अप' अर्थात् अपनीत करके या हटाकर जो मर्द है; एवं 'वि' अर्थात् विरुद्ध या विपरीत करके जो मर्द है ॥ २० ॥

['चल' = नियत गति (Continuous) दिग्देश-काल-वस्तु-छन्दः के सम्पर्क में; 'चपल' = अनियत गति (Discontinuous); 'चञ्चल' = पूर्वोक्त दोनों के मिश्रण वशतः अव्यवस्थित (Uncertain) है। घोरवृत्ति इस प्रकार त्रिविध है—Continuous Function, Discontinuous Function; Erratic Function होने पर भी शेषोक्त दोनों में घोर-रूपता का प्राबल्य है। 'चल' मौलिक (Basic) है। इसके आधार पर ही अपर दोनों सम्भावित हो सकते हैं। सुतरां उसे 'शून्य' करने पर जो घोर है, वह 'अघोर' होता है। इस शून्य का साधन है जप-कर्म एवं योग का साधन। 'महानाद' एवं 'महाबिन्दु'—ये दोनों ही शून्यता की सीमा हैं।

['स्तब्ध' = वेगवान् अथच प्रतिहत (Arrested, Repressed or Suppressed Momentum); 'स्तिमित' = अपक्षीयमाण वेग (Reduced Momentum) 'अस्तमित' = प्रक्षीण वेग (Resolved Momentum) बहिर्विश्व में 'जड़शक्ति' की अवस्थिति-परिस्थिति में, प्राण के और मन के सर्वविध व्यापार में (आवेग-संस्कारादि के परस्पर संघात में) यह त्रिविध 'मूढ़ वृत्ति' नियत उदाहृत होती है। दिग्देश-काल-वस्तु-छन्दः ये सब ही इस मूढ़ वृत्ति द्वारा 'आक्रान्त' अथवा 'आक्रम्य' हैं। तीन प्रकारों के बीच स्तब्ध हुआ मौलिक। इसका शून्यीकरण होता है पूर्ण प्रतिपक्ष भावन द्वारा। 'भावन' का अर्थ 'भावना' मात्र नहीं, (४।१।३०), उद्भावन = actual creation है। प्रतिपक्ष = प्रतियोगी = Counteraction।] (इन सबका विस्तार के साथ विश्लेषण बाद में होगा।)

वा० अनुपातः स विज्ञेयो निर्विघ्नश्च समञ्जसः।
उर्वादीनां समुत्कर्षे य एव संहतक्रियः॥ २१॥

अन्वय—उर्वादीनाम् समुत्कर्षे यः एव संहतक्रियः, स अनुपातः समञ्जसः निर्विघ्नः च विज्ञेयः॥ २१॥

[उरु आदि के समुत्कर्ष से जो संहत क्रिया से युक्त है, वह अनुपात समञ्जस निर्विघ्न है।]॥ २१॥

भाष्य—उरु, ऊर्जित (उ + ऊर्जित), एवं उज्ज्वल—प्रणव की उकार मात्रा द्वारा उपलक्षित, इन तीनों गुणों का समुत्कर्ष होते रहने पर समझना होगा कि पदार्थ के यथार्थ स्वरूप की ख्याति हो रही है। इसे कहते हैं प्रख्या। वह सत्त्वगुण का परिणाम है। किन्तु इस परिणाम के होने के लिये रजः एवं तमोगुण को सहयोगिता होनी चाहिए। रजः होता है चल अर्थात् प्रवृत्तिधर्मी। इसके न रहने पर प्रकृति का पूरा व्यापार ही अचल हो उठता है। सुतरां यह साथ में न होने पर सत्त्वगुण का प्रख्या रूप परिणाम भी सम्भव नहीं है। पुनश्च तमोगुण भी साथ में रहना चाहिए। तमोगुण का

धर्म होता है स्थिति। इसलिए इस गुण का एकान्त अभाव होने पर कुछ भी स्थिर होकर नहीं ठहरेगा, विरोधी प्रतिपक्ष को बाधा नहीं देगा। अतएव हम देखते हैं कि सत्त्वगुण के प्राधान्य के स्थल में भी उसके अनुगत भाव से दूसरे दो गुण भी विद्यमान रहने ही चाहिये। अब प्रश्न होता है—अनुगत होना अथवा सहकारी होना कहने से क्या समझेंगे? तीन गुणों का पारस्परिक जो अनुपात है, उस अनुपात के एक विशेष सामञ्जस्य स्वरूप धारण करने पर गुण 'संहतक्रिय' होते हैं। सुतरां उसके फलस्वरूप, उरु, ऊर्ज्जित एवं उज्ज्वल इस त्रिविध धर्म का निर्विघ्न समुत्कर्ष हो सकता है। गुणत्रय के अनुपात में असमञ्जसता के कारण, यदि वे ठीक इस उद्देश्य में संहतक्रिय न हों, तब समझना होगा कि परिणाम विघ्नसङ्कुल है॥ २१॥

[दो दृष्टान्त लेकर समझने की चेष्टा करें। रासायनिक संयोग के क्षेत्र में इस अनुपात-नियम को विशेष रूप से सामर्थ्य-युक्त देख सकते हैं। दो वा तीन वा ततोऽधिक अणु के जिस अनुपात से मिलन में जो अभीष्ट वस्तु वा क्रिया निष्पन्न होती है, उस अनुपात के व्यतिक्रम में वह नहीं होती है, यहाँ तक कि उसके विपरीत भी हो सकती है। संख्या एवं अनुपात ही वस्तु के स्वरूप, गुण एवं क्रिया के नियामक हैं। मधु एवं घृत किसी एक प्रकार के मिश्रण में विषक्रिय हो सकते हैं, और अन्य प्रकार के मिश्रण में मेध्य। शरीर के पाचक रस जिस अनुपात में निःसृत एवं मिलित होने पर परिपाक क्रिया के पक्ष में अनुकूल होते हैं, अन्य अनुपात में वे प्रतिकूल हो सकते हैं। विश्व की घटनाएँ अवश्य एक 'ऋत' के अनुसार ही घटित होती हैं। रेडियम-जातीय जो सब प्राकृतिक वस्तुएँ हैं उनका तेजोविकिरण (अणु विशीर्ण होने के फलस्वरूप) नियत होता रहता है, उसके फलस्वरूप प्रकृति में नूतन प्रकार के पदार्थ का उद्भव होता है, एवं नियत अपक्षीयमाण जो ताप है उसकी भी समता-रक्षा की चेष्टा कुछ परिमाण में होती है; एवं इस प्रकार समता-रक्षा के फलस्वरूप धरित्री का जीवन एक निर्दिष्ट धारा में अग्रगतिलाभ का सुयोग पाता है। रेडियम का तेजो-विकिरण स्वतः स्फूर्त एवं नियत होने पर भी "भीषण विप्लवी" नहीं है। प्रकृति का गतिच्छन्दः तद्द्वारा रक्षित ही होता है। किसी किसी उज्ज्वल ज्योतिष्क (जैसे सूर्य) में अणु समूह का उग्र विप्लवी काण्ड भी सम्भवतः होता है, किन्तु उसके फलस्वरूप ("कॉस्मिक रे" इत्यादि के विकिरण में) विराट् विश्व में शक्ति सामञ्जस्य (Balance of Power) क्षुण्ण न होकर रक्षित ही होता है। अवश्य इन सब मृदु अथवा उग्र विधानों के रहने पर भी सम्भवतः विश्व की "जरा" आ रही है (Entropy or "Universal running down")। वह ऋत के अनुवर्तन में ही है। किन्तु हम जब 'यूरेनियम' ("लघु संस्करण") अथवा अन्य किसी रेडियम-जातीय पदार्थ की केन्द्रीण सत्ताशक्ति को प्रचण्ड अभिघात से चूर्ण करके ("by fission") उसको विपुल घनीभूत शक्ति को

मुक्त करने जाते हैं, तब (जैसे एटम बम के क्षेत्र में) एक सर्वध्वंसी प्रलय ताण्डव की सृष्टि क्यों कर बैठते हैं ? केन्द्रीण सत्ता में ("न्यूक्लियस" में) यह विपुल शक्ति स्तब्ध होकर पड़ी हुई है। यह तमोगुण का काम है। किसी-किसी रेडियम-अणु के एक निर्दिष्ट वेग और छन्द में स्वतो-विकिरण—यह रज का काम है। प्रकृति में इन दोनों का अनुपात सुसमञ्जस भाव से रक्षित होता है उक्त छन्दः द्वारा। प्रकृति के विधान में जिस सत्त्वगुण का प्रभुत्व है, उक्त छन्दः उसी सत्त्वगुण का दिया हुआ है। उस छन्द के शासन में प्रकृति में केन्द्रीण सत्ताशक्ति के आयव्यय के अनुकूल अनुपात रक्षित होता है। हम 'फिशन' द्वारा आणविक शक्ति का विपुल व्यूह विदीर्ण करके इस छन्द के शासन का वर्तमान में लङ्घन करते हैं। शक्ति का 'अवष्टम्भक' जो तमोगुण है, उसे प्रबल प्रचंड रज के द्वारा बिलकुल ही चूर्ण कर रहे हैं। पक्षान्तर में, उस घोर रुद्र शक्ति को अघोर शान्त करके आत्मवश में लाने का कोई कौशल (सत्त्व का सूत्र) अब भी नहीं मिला है। "हाइड्रोजन बम" प्रभृति भी इस दृष्टि से विवेच्य हैं।]

प्राण के क्षेत्र में नाना प्रकार के "सिन्थेटिक पॉयजन" (synthetic poison) एवं "बेक्टीरिया" को उनकी स्वभाव स्वच्छन्दता से कक्षच्युत करके व्यापक सृष्टि में अपने मारण-कर्म में हम उनका विनियोग कर रहे हैं। प्रकृति में उनके विकास-प्रवृत्ति-स्थिति का एक विश्वानुग छन्दः है (जैसे, "पेन्सिलिन" प्रभृति 'अन्टीबायटिक' औषधियों में), उसे हम तोड़ते हैं।

"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः"—काम और क्रोध रजोगुण से उद्भूत हैं। हमारी प्रकृति में इनका सचमुच ही एक स्थान और प्रयोजन है। किन्तु छन्द के (अर्थात् सत्त्व के) शासन में ही वह है। उनकी गति, स्थिति एवं परिवर्तन का रेखाचित्र (Curve) इस नियम द्वारा ही नियन्त्रित होना चाहिए। नियन्त्रित होने पर वे वैरी नहीं, मित्र हैं। अन्यथा 'महाशन' होने पर 'महापाप्मा', सुतरां घोर वैरी हैं।

अतएव पहले जिस ऋत सत्य-छन्द की चर्चा की गई है, उसके शासन का अनुवर्तन ही हुआ मुख्यभाव से गुणत्रय का 'अनुकूल' अनुपात, अनुपात-समता। यह समता संख्या या परिमाण की समता नहीं है। इसके अतिरिक्त जिस किसी लक्ष्य या उद्देश्य के सम्बन्ध में अनुपात की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का यदि विचार करें, तब वह बनता है "गौण"। जैसे इन्द्र का संहार करना तो स्वभाव का अनुवर्तन नहीं है। तथापि कोई उस उद्देश्य से ही 'इन्द्रशत्रु' इत्यादि मन्त्र से हवन करता रहा। इस क्षेत्र में उसकी कार्य-सिद्धि होगी, यदि इस मन्त्रादि की स्वरादिगत 'समता' (appropriateness) रक्षित हो तभी। नहीं तो उल्टी उत्पत्ति होगी। सुतरां 'संहत-क्रिय' का अर्थ केवल एक योग में काम करना नहीं है, व्यूहरूप में (as organised

aocording to plan) काम करना है। व्यूह कहने से कोई उसके केन्द्र में, कोई पृष्ठ पर, कोई पार्श्व में इत्यादि प्रकार से शक्ति-संस्थान और विन्यास का एक निरूपित रूप (definite picture) समझना ही होगा।

वा० दैशिकः कालिकश्चापि वास्तवच्छान्दसौ पुनः।
इति विघ्नानां चत्वारो व्यूहा वाप्यासते गणाः॥ २२॥

अन्वय—दैशिकः कालिकः च अपि पुनः वास्तवच्छान्दसौ इति चत्वारो विघ्नानां व्यूहा गणाः वा अपि आसते॥ २२॥

[दैशिक, कालिक, वास्तव और फिर छान्दस, इस प्रकार विघ्नों के चार व्यूह या गण हैं।]॥ २२॥

भाष्य—विघ्न समूह को फिर समष्टि की ओर से तीन प्रकार का कहा जा सकता है—ओघ, गण एवं व्यूह। 'ओघ' अर्थ में साधारण रूप से समष्टि है, 'गण' अर्थ में दलबद्धभाव से समष्टि है, एवं 'व्यूह' अर्थ में व्यूहबद्धभाव से (किसी केन्द्र का आश्रय करके किसी एक कौशल में) समष्टि है। अन्य प्रकार से देखने पर विघ्न चार प्रकार का है—दैशिक, कालिक, छान्दस एवं वास्तव। इन सब प्रकार के विघ्नों को समेटकर जो हाता है उसे एक शब्द में कह सकते हैं—विघ्नसंदोह॥ २२॥

वा० यन्त्रेण दैशिकं विघ्नं मन्त्रेण कालिकं तथा।
तन्त्रेण छान्दसं नश्येदन्त्रेण वास्तवञ्च यत्॥ २३॥

अन्वय—यन्त्रेण दैशिकं मन्त्रेण कालिकं तथा तन्त्रेण छान्दसं यत् च वास्तवं विघ्नं (तत्) अन्त्रेण नश्येत्॥ २३॥

[यन्त्र से दैशिक, मन्त्र से कालिक, तन्त्र से छान्दस और अन्त्र से वास्तव विघ्न नष्ट हो]॥ २३॥

भाष्य—यन्त्र द्वारा दैशिक विघ्न का नाश करेंगे, मन्त्र द्वारा कालिक विघ्न का, तन्त्र द्वारा छान्दस बिघ्न का एवं अन्त्र द्वारा वास्तव विघ्न का नाश करेंगे॥ २३॥

वा० यन्त्रं तन्त्रञ्च बुध्यस्व विद्यारूपं विशेषतः।
श्रद्धारूपं हि मन्त्रञ्च चान्त्रमुपनिषद्धि या॥ २४॥

अन्वय—यन्त्रं तन्त्रं च विशेषतः विद्यारूपं बुध्यस्व, मन्त्रं च श्रद्धारूपम्, या च उपनिषद् (सा) अन्त्रम्॥ २४॥

[यन्त्र और तन्त्र को विशेषतः विद्यारूप समझो, मन्त्र को श्रद्धारूप (जानो) और जो उपनिषद् है, वह अन्त्र है।]॥ २४॥

भाष्य—यन्त्र एवं तन्त्र को विशेष भाव से विद्यारूप कहकर समझें, मन्त्र को श्रद्धारूप एवं अन्त्र को उपनिषद्रूप कहकर जानें ॥ २४ ॥

वा० त्रिवेणीसङ्गमे तासां किं वा प्रणवरूपिणि ।
स विघ्नपारिपारीणः स्नातनिष्णात एव यः ॥ २५ ॥

अन्वय—तासां त्रिवेणीसंगमे किं वा प्रणवरूपिणि यः स्नातनिष्णात एव स विघ्नपारिपारीणः ॥ २५ ॥

[उन (उपनिषदों) के त्रिवेणीसंगम में अथवा प्रणवरूपी (जल) में जो स्नान कर चुका है (और) निष्णात (कुशल) है, वह विघ्नरूपी पारी (समुद्र) के पार पहुँचा हुआ है] ॥ २५ ॥

भाष्य--इस विद्या, श्रद्धा, उपनिषद्रूप त्रिवेणी-संगम में अथवा इन तीनों के प्रतिनिधि प्रणव में जो स्नान करके चरितार्थ हुए, वे विघ्न-पारावार को गोष्पद की भाँति पार करने में पारग वा क्षम हैं ॥२५॥

वा० धनुर्यन्त्रयिषुर्मन्त्रं तन्त्रं सन्धानपाटवम् ।
यदन्तःस्थं पुनश्चान्त्रे तल्लक्ष्यं परमुच्यते ॥ २६ ॥

अन्वय—यन्त्रम् धनुः मन्त्रम् इषुः सन्धानपाटवम् तन्त्रम्, यत् पुनः अन्तःस्थं तत् च अन्त्रे परम् लक्ष्यम् उच्यते ॥ २६ ॥

[यन्त्र धनुष है, मन्त्र बाण है, निशाना साधने का कौशल (सन्धान-पाटव) तन्त्र है, जो फिर अन्तःस्थ (भीतर स्थित) है, वह अन्त्र में परम लक्ष्य कहा जाता है ।] ॥ २६ ॥

भाष्य—यन्त्र है धनुः, मन्त्र शर, तन्त्र सन्धानपटुता, एवं अन्त्र में, अर्थात् बिलकुल अन्तःस्तल में, जो वस्तु है, उस वस्तु को ही परम लक्ष्य कहकर समझेंगे ॥ २६ ॥

वा० त्रिपुरं निपुरं हित्वा नादनूपुरनिक्वण— ।
निःश्रयणीं समारुह्य निःश्रेयसपदं व्रज ॥ २७ ॥

अन्वय—श्लोक में ही स्पष्ट है ।

[त्रिपुर (और) 'निपुर' (लिङ्गशरीर) को छोड़कर नादरूपी नूपुर से जो मुखरित है, उस सीढी पर चढ़कर निःश्रेयसपद का पहुँचो ।] ॥ २७ ॥

भाष्य—सत्त्वादि गुणत्रय रूप अथवा जाग्रदादि अवस्थात्रय रूप जो त्रिपुर है, उसका परिहार करें, अर्थात् उसमें तादात्म्य-बुद्धि न रखें । निपुर, अर्थात् अवयवावशिष्ट जो लिङ्गशरीर है उसका भी इस प्रकार परिहार करें । नादनूपुरनिक्वणमुखरित जो साधन की सोपान-श्रेणी है, उस सोपान पर समारोहणपूर्वक निःश्रेयस्-पद लाभ करें ॥ २७ ॥

सू० ९. व्याजविद्धस्य छद्मत्वम् ।

[व्याज द्वारा जो विद्ध है उसे कहते हैं छद्म ।]

(Hypothetical and Uncertain Harmony)

वा० आदावृतञ्च सत्यञ्च तपसोऽध्यजायत ।
ऋतेन त्वनभिष्वक्तं सत्यं न स्पन्दितुं क्षमम् ॥ २८ ॥

अन्वय—ऋतं च सत्यं च आदौ तपसः अध्यजायत । ऋतेन अनभिष्वक्तं सत्यं तु स्पन्दितुं न क्षमम् ॥ २८ ॥

[ऋत और सत्य आरम्भ में तपस् से उत्पन्न हुआ, ऋत से अनालिङ्गित सत्य स्पन्दन करने में सक्षम नहीं होता ।] ॥ २८ ॥

भाष्य—व्याज का लक्षण पहले दिया गया है । अब समझना होगा कि उसके द्वारा विद्ध होने का अर्थ क्या है ? वेद कहते हैं कि आदि में तपस्या से ऋत एवं सत्य जात हुए । वेद ने ऋत एवं सत्य का उल्लेख करते हुए दो बार 'च' कार का प्रयोग किया है (ऋतञ्च सत्यञ्च) । इस प्रकार के प्रयोग के द्वारा समझना होगा कि ऋत एवं सत्य मानो किसी एक अच्छेद्य बन्धन द्वारा परस्पर आबद्ध हैं । शिव और शक्ति जैसे परस्पर आलिङ्गन-पाश में बद्ध हैं, ऋत एवं सत्य भी उसी प्रकार हैं । अथच परस्पर इस सङ्ग को धारणा में नहीं लाया जा सकता एवं भाषा में भी व्यक्त नहीं किया जा सकता । 'बन्धन' वा 'आलिङ्गन'—जो असल में समझ में आने योग्य नहीं है, उसे किसी प्रकार किसी सङ्केत के द्वारा समझने का एक विफल प्रयास मात्र है । जो महारहस्य हमारी बुद्धि और वाक्य के पर पार में हैं उसे बुद्धि और वाक्य के व्यवहार की गण्डी में किसी न किसी प्रकार लाना चाहिए, अथ च ठीक ला भी नहीं सकते । यह प्रयास करते हुए अनेक लक्षण, निरुक्ति, प्रतीक एवं संकेत का आश्रय लेना पड़ता है । अब दोनों चकारों का प्रयोग करके वेद ने ऋत और सत्य के बीच जो पारस्परिक सङ्ग की बात हमें बताई है, उसकी भी किसी एक प्रतीक वा सङ्केत की सहायता से हमें धारणा करनी है । आदिम वस्तु 'न रेमे' अथवा 'भयञ्चकार'—उन्हें सुख नहीं मिला अथवा मानो भीत हो गए—सुतरां उन्होंने अद्वितीय एक होकर भी मिथुन होने की इच्छा की । इसके द्वारा जो असङ्ग है उसमें सङ्ग की इच्छा हुई, यही हमें समझना है । किन्तु असङ्ग से सङ्ग किस प्रकार से आ सकता है, उसकी कोई निरुक्ति देने में हम असमर्थ हैं क्योंकि सङ्ग दिखाई देने के बाद ही बुद्धि का व्यापार आरम्भ हो सकता है, उसके पहले नहीं । ऋत एवं सत्य के इस अनिरुक्त सङ्ग को हमने 'अभिष्वङ्ग' नाम दिया है । यह अभिष्वङ्ग जब तक नहीं होता है तब तक जो सत्य है उसमें स्पन्द अथवा स्पन्दन की सम्भावना नहीं होती है । 'आनन्दलहरीस्तव' ने

जैसा कहा है कि शक्ति के बिना शिव जरा भी हिलने-डुलने में असमर्थ हैं, उसी प्रकार ऋत के अभिष्वङ्ग के बिना सत्य का किसी प्रकार स्पन्द सम्भव नहीं हो सकता ॥ २८ ॥

वा० स्पन्दाभावे न चाविष्ट्वं व्योमत्वादिजनिः पुनः ।
असङ्गे तु विना सङ्गं स्पन्दः प्रसज्यते कुतः ॥ २९ ॥

अन्वय—न च पुनः स्पन्दाभावे व्योमत्वादिजनिः आविष्ट्वम् । असङ्गे तु सङ्गं विना स्पन्दः कुतः प्रसज्यते ॥ २९ ॥

[स्पन्द के अभाव में 'आविष् + त्वं' (प्राकट्य) नहीं होता, और न ही फिर व्योमत्व (आकाशत्व) आदि का जन्म होता है । असङ्ग होने पर तो बिना सङ्ग के स्पन्द का कहाँ से प्रसङ्ग है ?] ॥ २९ ॥

भाष्य—स्पन्द कहने से क्या समझेंगे ? स्थूल में जिसे स्पन्दन (Vibration) के रूप में देखते हैं वह एवं सृष्टि के आरम्भ का यह स्पन्द एक वस्तु नहीं हैं । बाहर के स्पन्दन के समय देश, काल और निमित्त की अपेक्षा है । किन्तु जिस मूल स्पन्दन की बात कही जा रही है, उसमें वह अपेक्षा नहीं है । सत्य जब ऋत के संसर्ग से स्पन्दित हुआ, तब देश भी कहाँ, काल भी कहाँ, निमित्त भी कहाँ ? अथ च सङ्ग कहने से किससे वा किसका सङ्ग—यह जिज्ञासा करनी ही पड़ती है । वह दूसरा क्या है ? एक अद्वितीय आत्मा को छोड़ दूसरा जब और कुछ भी नहीं है, तब ध्यान रखना होगा कि वही एक आत्मा ही अपने को 'पर' करके देखता है । हमारे अनुभव के दृष्टान्त में समझने जायँ तो ऐसा कहना होगा—"मेरा जो समग्र बोध है उसे 'मैं' कहकर समझता हूँ । बाद के क्षण में ही 'मैं' का साक्षिस्वरूप 'मैं' होकर अपने बोध विषयों को दृश्य (Object) रूप में, सुतरां 'मैं नहीं हूँ' इस रूप से देखता हूँ ।" इस स्थल में एक अखण्ड 'मैं' स्वयं को दो प्रकार से भाग करके एक जना द्रष्टा वा साक्षी 'मैं' होता है एवं दूसरा 'मैं' को मानो दृश्य बनाकर, पर बनाकर देखता है । यह 'मैं' की अपने आपकी 'बलि' है । यही आदि यज्ञ है । इस प्रकार 'आत्म' एवं 'पर'—यह द्वैत का आश्रय लेकर ही विश्व का मूल सङ्ग एवं स्पन्द सम्भव होता है । सुतरां सङ्ग का अर्थ है इस प्रकार का द्वैत-लेश । 'लेश' कहा जाता है इसलिए कि अब तक भी 'अहं' एवं 'इदं' परस्पर मानो आलिङ्गित होकर पड़े हुए हैं, जिस प्रकार चने के बीज के बीच उसके दोनों दल एक ही आवरण में परस्पर मिलित रहते हैं । इस प्रकार द्वैत समानाधिकरण है, व्यधिकरण नहीं । इस प्रकार सङ्ग अथवा द्वैत-लेश के दिखाई देने पर ही स्पन्द की सम्भावना होती हैं, अन्यथा नहीं । पुनश्च, जब तक स्पन्द नहीं होता है तब तक आदिम वस्तु का जो 'आविः' है, अर्थात् विश्वतोमुख अभिव्यक्ति है, वह सम्भव नहीं, सुतरां व्योम, वायु इत्याकार आविर्भाव भी सम्भव नहीं है ॥ २९ ॥

वा० स आसङ्गो हि कामो यः सूक्त आथर्वणे श्रुतः।
आसङ्गे सत्यभिष्वङ्गश्चानुषङ्गजनिस्तु यः॥
द्वैतं सम्पुटितं यस्मिन् द्वे बीजे चणके यथा॥ ३०॥

अन्वय—आथर्वणे सूक्ते यः कामः श्रुतः स हि आसङ्गः। आसङ्गे च सति अभिष्वङ्गः यः तु अनुषङ्गजनिः, यस्मिन् द्वैतं संपुटितम् यथा चणके द्वे बीजे॥ ३०॥

[आथर्वण सूक्त में जो 'काम' सुना गया है, वही आसङ्ग है। आसङ्ग होने पर अभिष्वङ्ग होता है जो कि अनुषङ्ग का जनक है, जिसमें द्वैत सम्पुटित है, जैसे चने में दो बीज (होते हैं)।]॥ ३०॥

भाष्य—किसी अनिर्वचनीय कारण वा रीति से असङ्ग से सङ्ग हो गया ऐसा मान लें, किन्तु जिस "अभिष्वङ्ग" नामक सम्बन्ध की बात हम कह रहे हैं, वह क्या सङ्ग की सर्वथा आदिम अवस्था है? नहीं, वह नहीं। इसके पूर्व 'आसङ्ग' नाम से और एक अवस्था है, ऐसा समझना होगा। सुषुप्ति अथवा गाढ़ मूर्च्छा में अज्ञान का भान होता है। सुषुप्ति में सुख का भी भान होता है। किन्तु सुषुप्ति की अवस्था में—जिसका भान है एवं जिसको भान है, वे दोनों इस प्रकार लिपटे हुए रहते हैं कि दोनों को दो कहकर भान ही नहीं होता। यहाँ तक कि चैतन्य तत्काल में स्वयं को साक्षी एवं साक्षि-भास्य इस प्रकार दो करके नहीं देखता। हमारी जाग्रत् अवस्था में भी इस प्रकार है। जैसे, सम्मुख में एक वृक्ष देखता हूँ। जब तक तद्गत होकर देखता हूँ तब तक वृक्ष मेरा ज्ञेय एवं मैं उसका ज्ञाता हूँ, इस प्रकार अनुभव का विभाग नहीं करता हूँ। तब यह वृक्ष ही अनुभव है। जब अनुभव के सम्बन्ध में मनन करता हूँ (अर्थात् उस सम्बन्ध में कोई Judgement होता है) अथवा उस सम्बन्ध में जब कुछ बोलने जाता हूँ (Discourse) तब अवश्य ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान को पृथक् करके समझना और कहना होता है। पुनश्च, 'सूर्य में उसका तेज' अथवा 'अग्नि में उसकी दाहिका शक्ति' किस प्रकार हैं, यह सोचकर देखें। इन सब स्थलों में भी कहने के लिए 'सूर्य का तेज' और 'अग्नि की दाहिका शक्ति' इस प्रकार पृथक् करके कहना होता है। किन्तु प्रकृत प्रस्ताव में वे पृथक् कहाँ और किस प्रकार हैं? ये सब दृष्टान्त लेकर हम समझ सकते हैं कि चने के बीच उसके दोनों बीजों के एकत्र अवस्थान की अपेक्षा भी और सूक्ष्मतर एक प्रकार का सङ्ग है। उस प्रकार के सङ्ग को हम 'आसङ्ग' नाम देते हैं। इस 'आसङ्ग' में द्वैत है अथवा नहीं, इस प्रश्न का 'हाँ' अथवा 'नहीं' कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। अद्वैत एवं द्वैत की एक अव्यक्त सन्धि की भाँति ही मानो यह है। सन्धि रेखा के एक ओर द्वैत बिलकुल ही नहीं है, दूसरी ओर द्वैत दिखाई दे रहा है।

बीच की वह अवस्था भी अवाङ्मनसगोचर है। सन्धि-रेखा को कहाँ खीचते हैं ! देश में ? नहीं। काल में ? नहीं। वस्तु में ? नहीं। सम्बन्ध में ? नहीं, वह भी नहीं। क्योंकि, जो सकल-सम्बन्धातीत (Alogical Absolute है, वह सम्बन्धभाक् होता है, सम्बन्ध में अवगाहन करता है (Logical बनता है), इस परमाश्चर्य रेखा को पार होकर ही। 'आ' यह उपसर्ग सङ्ग में मर्यादा एवं अभिविधि इन दोनों की ओर ही इंगित कर रहा है। यहाँ तक अथवा यहाँ से आरम्भ करके द्वैत की एवं सम्बन्ध की उत्पत्ति होती है, यह एक इंगित है। एवं यहाँ से जो कुछ जन्मादि होते हैं, उन सभी को व्याप्त करके द्वैत सम्बन्ध है, यह ऊपर इंगित है। अथर्ववेद के कामसूक्त में जो वस्तु 'काम' इस नाम से कही गई है वह सृष्टि का आदिभूत यह आसङ्ग है।

'सोऽकामयत' यह कहकर श्रुति ने असङ्ग ब्रह्म में इस 'आसङ्ग' का प्रसंग ही करना चाहा है। यह अचिन्त्य भेदाभेद का अचिन्त्य मूल है। इस आसङ्ग का एक प्रकार व्यासङ्ग होता है। इस व्यासङ्ग अवस्था में आत्मा मानो स्वयं ही अपना सङ्ग पाकर जागरूक होता है। जागरूक होकर मानो स्वयं ही अपना आविष्कार करता है—"अरे मैं तो अकेला ही हूँ, दूसरा कोई कुछ भी तो नहीं है !" इस स्थल में आत्मा ही स्वयं साक्षी एवं स्वयं साक्षिभास्य है। 'व्यासङ्ग' इस शब्द के आदि में जो 'वि' है, वह 'आविः' का 'वि' तो है ही, उसके अतिरिक्त वह विविक्त लक्षण में जो 'वि' है वही है। विविक्तलक्षण अर्थात् जो अपने को विविक्त अर्थात् स्वतन्त्र करके देखता है, अन्य कुछ के साथ कारक के सम्बन्ध में मिला करके नहीं देखता है। व्यासङ्ग की यह परिभाषा स्मरण-योग्य है।

तत्पश्चात् आसङ्ग से 'अभिष्वङ्ग' है, जिसके विषय में हमने पहले आलोचना की है; यहाँ चने के बीज के दो दानों की भाँति द्वैत सम्पुटित भाव से विद्यमान रहता है। इस 'अभिष्वङ्ग' से फिर 'अनुष्वङ्ग' एवं 'प्रतिष्वङ्ग' आता है। इनकी बात बाद में आलोचित होगी ॥ ३० ॥

वा० शक्यनिर्वचनं द्वैतमभिष्वङ्गो न वै तथा।
मायाबीजमिमं विद्धि हरौ स्तो यत्र गर्भितौ ॥ ३१ ॥

अन्वय—द्वैतं शक्यनिर्वचनम्। न वै तथा अभिष्वङ्गः। इमं मायाबीजं विद्धि, यत्र हरौ गर्भितौ स्तः ॥ ३१ ॥

[द्वैत का निर्वचन सम्भव है, (किन्तु) अभिष्वङ्ग वैसा नहीं है। इसे मायाबीज जानो, जिस (ह्रीं) में 'ह' और 'र' गर्भित हैं।] ॥ ३१ ॥

भाष्य—द्वैत परिस्फुट होने पर निर्वचनयोग्य होता है, अन्यथा नहीं। अभिष्वङ्ग में द्वैत परिस्फुट नहीं है। सुतरां अभिष्वङ्ग निर्वचन के अयोग्य, अनिर्वचनीय है। इसे मायाबीज 'ह्रीं' कहकर जानें—जिस बीज में 'ह' कार एवं 'र' कार गर्भित हैं ॥ ३१ ॥

वा० **निःस्पन्दः खनिभो हश्च सस्पन्दो रो हि वह्निवत् ।**
ईकारेण समीक्षेते नादबिन्दू विलक्षणौ ॥ ३२ ॥

अन्वय—निःस्पन्दः हः च खनिभः, सस्पन्दः रः हि वह्निवत् । ईकारेण विलक्षणौ नादबिन्दू समीक्षेते ॥ ३२ ॥

['ह' आकाश की भाँति निःस्पन्द है, 'र' वह्नि की भाँति सस्पन्द है, ईकार से विलक्षण नाद और बिन्दु लक्षित होते हैं ।] ॥ ३२ ॥

भाष्य—स्पन्दहीन आकाश की भाँति 'ह' कार, सस्पन्द वह्नि की भाँति 'र' कार है । यह 'ह' कार एवं 'र' कार नाद एवं बिन्दु द्वारा विशेष भाव से लक्षित होकर 'ई' कार के द्वारा इस विश्व-प्रपञ्च का सम्यक् रूप से ईक्षण कर रहे हैं । अर्थात् 'ह' कार के साथ नादशक्ति एवं 'र' कार के सहित बिन्दुशक्ति संयुक्त होकर जो निःस्पन्द है उसे सस्पन्द बना देते हैं एवं उसीके फलस्वरूप विश्वसृष्टिरूप जो ईक्षण है, वह सम्भावित होता है ॥ ३२ ॥

वा० **आदावसङ्गमद्वैतमवाङ्मनसगोचरम् ।**
बहु स्यामिति कामे त्वसङ्गस्यासङ्गतागतिः ॥ ३३ ॥

अन्वय—आदौ अद्वैतम् असङ्गम् अवाङ्मनसगोचरम्, 'बहु स्याम्' इति कामे तु असङ्गस्य आसङ्गतागतिः ॥ ३३ ॥

[आदि में अद्वैत असङ्ग (और) वाणी मन के अगोचर है, "मैं बहु हो जाऊँ" ऐसे 'काम' में तो असङ्ग को आसङ्गता की प्राप्ति है ।] ॥ ३३ ॥

भाष्य—कहना न होगा कि मूल में असङ्ग अद्वैत है, जो अवाङ्मनसगोचर है । उसमें अनिर्वचनीय रूप में ही फिर 'बहु बनूँगा' इस प्रकार काम उदित होता है—जो काम 'आसङ्ग' इस नाम से अभिहित होता है ॥ ३३ ॥

वा० **कामबीजमेवासङ्गं लीलाबीजविकल्पकम् ।**
विद्धि तस्मादभिष्वङ्गस्ततोऽनुष्वङ्ग इष्यते ॥ ३४ ॥

अन्वय—असङ्गं कामबीजम् एव लीलाबीजविकल्पकं विद्धि, तस्मात् अभिष्वङ्गः ततः अनुष्वङ्गः इष्यते ॥ ३४ ॥

[असङ्ग को ही कामबीज (अर्थात्) लीलाबीज का विकल्प (सम्भावित करनेवाला) जानो, उससे अभिष्वङ्ग (होता है) और उस (अभिष्वङ्ग) से अनुष्वङ्ग माना जाता है ।] ॥ ३४ ॥

भाष्य—यह 'आसङ्ग' है कामबीज 'क्लीं' । इस काम को फिर लीलारूप में देखने पर हम और दो बीज पाते हैं "श्रीं" एवं "ऐं" । लीला की अभिव्यक्ति की दो दिशाएँ हैं—एक है अनन्त ज्ञानैश्वर्य, दूसरी है अपूर्व रचना-सौष्ठव । प्रथम महासरस्वती

हैं, दूसरी हैं महालक्ष्मी। "आसङ्ग" से "अभिष्वङ्ग" एवं "अभिष्वङ्ग" से "अनुष्वङ्ग" एवं "प्रतिष्वङ्ग" होते हैं, यह ध्यान रखना होगा। जिस स्थान में परस्पर के साथ सम्बन्ध गाढ़ एवं परस्पर अनुगत है, उस स्थल में 'अनुष्वङ्ग' समझना होगा। और जिस स्थल में परस्पर के साथ सम्बन्ध गाढ़ होकर भी परस्पर की प्रतियोगिता अथवा प्रतिद्वन्द्विता होती है, उस स्थल में 'प्रतिष्वङ्ग' है। अनेक स्थल में 'अनुष्वङ्ग' एवं 'प्रतिष्वङ्ग' युगपत् विद्यमान रहते हैं। जैसे शिष्य गुरु के समीप में जब कोई मन्त्रदीक्षा-लाभ करता है, तब उस मन्त्र में शिष्य की आग्रह-शक्ति एवं गुरु की अनुग्रह-शक्ति अनुष्वङ्ग सम्बन्ध से विद्यमान रहती है, किन्तु शिष्य के अपने भीतर जो समस्त विरोधी संस्कार हैं, वे शक्ति के साथ-साथ एक प्रतियोगिता (reaction) की भी सृष्टि करते रहते हैं। ये बन्धन-संस्कार, अनादि और प्रबल हैं। इनका भी क्रिया करने का एक निजस्व छन्दः है। वह छन्दः है साधन के सम्बन्ध में विषच्छन्द और अरिच्छन्द। शिष्य की साधनशक्ति के साथ इनका सम्बन्ध गाढ़ है, अथच वह अनुगत, अनुकूल नहीं है, इस प्रकार के सम्बन्ध को 'प्रतिष्वङ्ग' कह सकते हैं। किन्तु पूर्वोक्त 'अनुष्वङ्ग' के बलवान् होने पर इस प्रतिष्वङ्ग के कारण जो बाधा वा अन्तराय उपस्थित होता है, वह अशुभ का निमित्त न होकर शुभ का निमित्त ही हुआ करता है। अर्थात् बन्धन-संस्कारों के वेग से जो बाधा उपस्थित होती है, उस बाधा को दूर करने के निमित्त शिष्य का आग्रह व साधनशक्ति और भी उद्दीपित हो उठती है एवं वह जिस परिमाण में उद्दीपित होती है उस परिमाण में गुरु की अनुग्रह-शक्ति भी सजग होकर उसकी सहायक एवं सुहृत् हो जाती है। इस कारण 'प्रतिष्वङ्ग' मात्र ही अशुभ नहीं, परिपन्थी नहीं ॥ ३४ ॥

वा० **असङ्गे तु न वेधोऽस्ति नाप्यासङ्गे स्फुटक्रियः।**
अभिष्वङ्गे हि वेधस्य प्राप्तावकाशता भवेत् ॥ ३५ ॥

अन्वय—न असङ्गे न अपि आसङ्गे वेधः स्फुटक्रियः अस्ति, वेधस्य प्राप्तावकाशता अभिष्वङ्गे हि भवेत् ॥ ३५ ॥

[न असङ्ग में और न ही आसङ्ग में वेध स्फुटक्रियावाला बनता है, वेध को अभिष्वङ्ग में ही अवकाश मिलता है।] ॥ ३५ ॥

भाष्य—लक्ष्य करें कि आसङ्ग का जो 'स' है, उसमें 'व' का संयोग नहीं है, किन्तु 'अभिष्वङ्ग' इत्यादि में 'स' कार में 'व' का संयोग है। इस 'व' को समझने की चेष्टा करें। 'सः' से 'वह' समझना चाहिए। किन्तु 'स्व' से अपने को समझना चाहिए। प्रथम में अर्थात् आसङ्ग में 'वह' को हम अनेक के भीतर एक मात्र करके देखते हैं, उसे विशेष भाव से या गभीर भाव से यानी गहराई में उतरकर नहीं देखते,

उसका जो निजस्व वा स्वभाव है उसके सम्बन्ध में हम तत्काल उदासीन हैं। किन्तु जब हमने 'स्व' कहा, तब उसका निजस्व वा स्वभाव ही हमारे अभिनिवेश का विषयीभूत हुआ। इस प्रकार 'अयं' एवं 'स्वयं' इन दोनों शब्दों को ही ध्यानपूर्वक देखें। 'आहा' कहने पर मात्र एक विस्मय प्रकाश करता हूँ, किन्तु 'स्वाहा' कहने पर प्राण का वह मुख्य व्यापार समझना चाहिए जिसके द्वारा इस विश्व यज्ञ में सर्वविध आहुति अर्पित होती है। प्रणव के बीच जो 'उ' कार हैं, उनके सङ्कोचन में 'व' कार होता है, सम्प्रसारण में वह फिर 'उ' कार होता है। 'उ' कार के द्वारा यह सङ्कोचन वृत्ति सूचित होती है। 'आसङ्ग' में वकार नहीं है, इसलिए उसमें किसी प्रकार की संकोचन वृत्ति अभी दिखाई नहीं दी है। अभिष्वङ्गादि में 'व' कार है, इसीलिए इन सब क्षेत्रों में संकोचन भी किसी न किसी आकार में होता है। संकोचन के फलस्वरूप जो असीम है उसमें सीमा वा गण्डी दिखाई देती है। सुतरां अखण्ड व्यापक वृत्ति के स्थल में अवच्छिन्न, परिच्छिन्न वृत्ति दिखाई देती है। जब तक कोई सत्ता अथवा शक्ति अखण्ड व्यापक वृत्ति में है, तब तक वह और किसीको विद्ध नहीं करती, अथवा अन्य किसीके द्वारा वह विद्ध नहीं होती। तब तक वह अमृत और वज्र है। असङ्ग अवस्था में वेध ऐकान्तिक नहीं। 'आसङ्ग' अवस्था में वेध की नैकटिक सम्भावना तो हुई, किन्तु वह अब तक वास्तववृत्तिता में स्फुटक्रिय नहीं हुई है। अभिष्वङ्ग में वेध प्रासावकाश होता है, अर्थात् तब फिर वेध वा विद्ध होने अथवा विद्ध करने की सम्भावना तक नहीं है ॥ ३५ ॥

['वेध' क्या वस्तु है। 'पाप्माविद्ध' 'असुरविद्ध' इत्यादि में जो वेध लक्षित होता है, वह असल में क्या है ? दोनों ही वस्तुओं का, मानो, 'क' और 'ख' का, परस्पर निकट सम्बन्ध हुआ। उसके फलस्वरूप 'क' की सत्ता, शक्ति, छन्दः एवं धर्म मानो 'ख' के बीच अपने-आपको 'प्रविष्ट' कर देते हैं। 'क' एवं 'ख' ये दो 'वृत्त' मानो केवल स्पर्श मात्र न करके परस्पर का छेद करते है। फलस्वरूप, 'क' की सत्ता आदि का 'ख' में संक्रमण एवं 'ख' की सत्ता आदि का 'क' में संक्रमण होता है। विपरीत ताड़ितपूर्ण दो मेघों में तड़ित् का आदान-प्रदान हुआ, तत्पश्चात् वे अंशतः वा सर्वतोभाव से मिलकर एक हो गए। रासायनिक संयोगादि के स्थल में भी अणुओं का (इतना ही नहीं, उनके भी सूक्ष्मतर उपादानों का) इस प्रकार परस्पर पुरातन 'व्यूहभेद' एवं नूतन 'व्यूहरचना'—व्यापार होता है, इसमें सन्देह नहीं। उसके अतिरिक्त 'रासायनिक चाप' (Osmotic Pressure) के नाम से एक व्यापार भी लक्षित होता है। प्राणी के राज्य में भी इस प्रकार नूतन व्यूह-सृष्टि-व्यापार अहरहः ही होता है। पुंबीज एवं स्त्रीबीज के सम्मिलन से जो प्रजनन होता है, वह तो इस वेध का ही व्यापार है। मानस क्षेत्र में इस वेध का दृष्टान्त सहज ही मिलेगा। स्पष्ट चेतना में भी जैसे, मग्न

वा अवचेतना में भी वैसे ही वेध (Interference, Penetration इत्यादि रूप में) नियत ही होता है। सत्त्व का काम हुआ भाव और संस्कारों को (क्षुद्र और मलिन दोनों ही) परस्पर से पृथक् करके 'शुद्ध' भाव से पृथक् करना, रजः उन्हें (वक्र गति में) परस्पर को 'घात' एवं 'प्रतिघात' देने में ही प्रवृत्त करता है। फलस्वरूप, वेध एवं परस्पर की ग्रन्थि वा 'गाँठ' की सृष्टि होती है। तमः उन गाँठों को जकड़ करके रखता है, खुलने नहीं देता।

[दो वृत्तों का सादृश्य लेकर वेध को भी हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं : (१) स्पर्शवेध (Touching), (२) अवच्छेद वेध (Intersecting), (३) तादात्म्यवेध (Coinciding), एवं (४) गर्भित वा अन्तर्भाववेध (Falling within)। सभी क्षेत्रों में इनका दृष्टान्त मिलेगा। जैसे, ऊँकार की ध्वनि सुनते हैं। अन्य कोई शब्द या तो (१) उसे स्पर्श मात्र करता हुआ जाता है, अथवा (२) उस ध्वनि का छेद करता है, किंवा (३) उस ध्वनि में ही मिलित होकर एक हो जाता है, अथवा (४) उस ध्वनि के गर्भ में ही मानो स्थान पाता है। शब्दादि के मूल में जो ऊर्मिभङ्गी (Wavepattern) है, उसकी भी चतुर्विध अवस्था हो सकती है। पुनश्च, अभिष्वङ्ग के समय जैसे है, इस स्थल में भी उसी प्रकार 'अनुवेध' और 'प्रतिवेध' को हम समझ सकते हैं। जिस वेध के फलस्वरूप 'क' और 'ख' के सत्तादि की 'पारस्परिक समृद्धि' (Summation and progression) होती है, उसे 'अनुवेध' कहेंगे, और जिसके फलस्वरूप, परस्पर की 'कुण्ठा और कार्पण्य' (Detraction and distortion) होता है, उसे 'प्रतिवेध' कहेंगे। अनुष्वङ्ग एवं प्रतिष्वङ्ग के समय जैसा है इस स्थल में भी उसी प्रकार अनुवेध मात्र ही श्रेयस्कर एवं प्रतिवेध मात्र ही विपरीत है—ऐसा समझने पर भूल होगी। जैसे मानो—मन्त्र जप। वृक्षलतादि की भाँति मन्त्र के भी शैशव, तारुण्य एवं जरा साधक के पक्ष में स्वाभाविक नियम से ही उपस्थित हुआ करते हैं। 'शिशु' मन्त्र का एक स्वाभाविक दौर्बल्य एवं कुण्ठा है। साधन के द्वारा उस (दौर्बल्य) की विवृद्धि होने पर शिशु केवल शिशु नहीं रहेगा, मर जायगा। अतएव साधन के फलस्वरूप मन्त्र के शैशव-दौर्बल्य का प्रतिवेध होना ही आवश्यक है, अनुवेध नहीं। मन्त्र की 'जरा' आ रही है, ऐसा समझने पर भी प्रतिवेध है। बाद में, किसी-किसी सूत्र में तल, लम्ब एवं वेध इन तीनों की हमें सविशेष आलोचना करनी होगी।]

वा० आसङ्गे जायत आविर्द्वन्द्वस्थत्वं ततोऽपि च।
द्वन्द्वान्निरोधिका रात्रिर्या सर्वाम्नायगोपिता ॥ ३६ ॥

अन्वय—आविः आसङ्गे जायते, ततः अपि च द्वन्द्वस्थत्वं (जायते), या रात्रिः सर्वाम्नायगोपिता (सा) द्वन्द्वात् निरोधिका ॥ ३६ ॥

[आविः आसङ्ग में उत्पन्न होता है, उससे भी फिर द्वन्द्व की स्थिति (उत्पन्न

होती है), जो रात्रि सब आम्नाय द्वारा गोपिता (रक्षित) है, वह द्वन्द्व से निरोधिका है।] ॥ ३६ ॥

भाष्य—असङ्ग में आसङ्ग दिखाई देने पर विश्वतोमुख जो आविः है वह दिखाई देती है। किन्तु क्योंकि आविः विश्वतोमुख है एवं विश्व भी द्वैत के बिना संभव नहीं होता, इतलिए आविः के दिखाई देने पर ही उसके साथ-साथ एक द्वन्द्वभाव (Polarity Principle) दिखाई देता है। रहस्य भाषा में, यह 'मिथुन' अथवा युग्म है। इस युग्म तत्त्व (Polarity) के फलस्वरूप 'आविः' फिर केवल 'आविः' नहीं रहती, वह होती है 'आविः' एवं 'रात्रि'। 'आविः' है प्रकाशरूप एवं 'रात्रि' है निरोधरूप। यह निरोधिका रात्रि वेदादि में गोपिता (गुप्ता) हो गई है॥ ३६ ॥

वा० उदारवृत्तितां प्राप्य चैकेनान्यन्निरुध्यते।
स्वेतररोधभेदाच्च रोधिकाऽपि भवेद् द्विधा ॥ ३७ ॥

अन्वय—उदारवृत्तितां च प्राप्य एकेन अन्यत् निरुध्यते। स्वेतररोध-भेदात् च रोधिका अपि द्विधा भवेत् ॥ ३७ ॥

[उदार-वृत्तिता को प्राप्त करके एक के द्वारा दूसरा निरुद्ध होता है। रोधिका भी अपने और इतर (दूसरे) के रोध के भेद से द्विधा होती है।] ॥ ३७ ॥

भाष्य—विश्व में यह विकास एवं निरोधशक्ति परस्पर की अपेक्षा करके क्रिया करती है। विकासशक्ति के फलस्वरूप जिसकी उदार वृत्ति होती है, निरोध शक्ति के द्वारा उसका फिर संकोचादि भी होता है। एकान्त भाव से उदार वृत्ति का कहीं कुछ भी नहीं होता है, पक्षान्तर में कुछ भी फिर विश्व में एकान्त भाव से निरुद्ध होकर भी नहीं है। देश के सम्बन्ध में, काल के सम्बन्ध में एवं निमित्त के सम्बन्ध में इस विकास निरोध का जो अनुपात है, तद् द्वारा ही विश्व का एवं विश्वान्तर्गत यच्चयावत् वस्तु की अवस्थिति, परिस्थिति निरूपित होती है। प्रकाशिका जिस प्रकार अपने को व्यक्त कर सकती है उस प्रकार दूसरों को भी व्यक्त कर सकती है, निरोधिका भी उसी प्रकार अपना निरोध कर सकती है, सुतरां यह भी स्वनिरोधिका अथवा अन्यनिरोधिका, इस प्रकार द्विविध है ॥ ३७ ॥

वा० ब्रह्मास्मीति रुणद्धीमान् बोधः शोकादिविभ्रमान्।
चरमवृत्तिताकारो रुन्धे स्वमपि यः सकृत् ॥ ३८ ॥

अन्वय—ब्रह्मास्मि इति बोधः इमान् शोकादिविभ्रमान् रुणद्धि, यः चरमवृत्तिताकारः सकृत् स्वम् अपि रुन्धे ॥ ३८ ॥

['मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा बोध इन शोकादि विभ्रमों का रोध करता है, जो चरम-वृत्तिता का आकार है, वह एक बार अपना भी रोध करता है।] ॥ ३८ ॥

भाष्य—एक दृष्टान्त लें। जब 'ब्रह्मास्मि' यह बोध होता है तब वह बोध शोकादि विभ्रम-समूह का एकान्त भाव से रोध कर देता है, फिर क्योंकि यह बोध चरम वृत्ति है सुतरां वह उत्पन्न होकर ही स्वयं का भी रोध करता है। जब तक 'मैं ब्रह्म हूँ' यह वृत्ति रहती है, अथवा एवंविध अन्य कोई वृत्ति बनी रहती है तब तक मेरी ब्रह्मरूपता नहीं हुई है। एकान्त भाव से सकल वृत्तियों का निरोध वा शून्यता न होने पर "ब्रह्मैव भवति" यह परम प्राप्ति नहीं होती। "मैं ब्रह्म हूँ" इसे ब्रह्माकारा चरम वृत्ति कहा जाता है; किन्तु साक्षात् ब्रह्म यह नहीं है। अग्नि जैसे इन्धन को निःशेष दग्ध करके स्वयं भी निर्वाण प्राप्त होता है, उसी प्रकार यह ब्रह्माकारा चरम वृत्ति निःशेष रूप से क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय इन चार भवेन्धनों को निःशेष रूप से दग्ध करके स्वयं अस्तमित होती है। नदी जैसे नदीनाथ के सन्धान में चल पड़ी है, ऋजु कुटिल नाना पथ ग्रहण करके। जब सागर-सङ्गम में आकर नदी उपस्थित होती है तब वह सब बन्धन छोड़कर सागर के प्रति मानो कहती है—"हे महान्! तुम ही मैं हूँ और मैं ही तुम हो, हमारा भेद कहाँ है!" अब भी किन्तु नदी सागर के बीच स्वयं को एकान्त भाव से खो नहीं चुकी है। उस असीम अगाध गाम्भीर्य के भीतर अपने को खो डालने पर तब और कोई वृत्ति नहीं रह जाती, कोई भाषा भी नहीं रह जाती ॥ ३८ ॥

वा० रोधप्रसक्तिरासङ्गाद् वेधोऽभिष्वङ्गतः पुनः।
रोधो बोधायते क्वापि वेधो याति विविक्तताम् ॥ ३९ ॥

अन्वय—आसङ्गात् रोधप्रसक्तिः अभिष्वङ्गतः पुनः वेधः, क्व रोधः अपि बोधायते, वेधः विविक्तताम् याति ॥ ३९ ॥

[आसङ्ग से रोध का प्रसङ्ग आता है, अभिष्वङ्ग से फिर वेध होता है, कहीं-कहीं रोध भी बोध बन जाता है (और) वेध विविक्तता या विवेक को प्राप्त होता है।] ॥ ३९ ॥

भाष्य—आसङ्ग से रोध का प्रसङ्ग उपस्थित है एवं अभिष्वङ्ग से वेध आ जाता है। रोध एवं वेध दोनों दो प्रकार के हैं यह हमने देखा है। एक प्रकार को कहा जाता है स्व-प्रतियोगिक। इस स्थल में रोध अथवा वेध स्वयं ही अपने को प्रतियोगी अथवा विषय बना लेता है, अर्थात् रोध अपने को ही रुद्ध करता है, एवं वेध अपने को ही विद्ध करता है। दूसरा प्रकार है इतर-प्रतियोगिक। इस स्थल में रोध अथवा वेध अन्य किसी वस्तु को विषय बनाता है। जिस प्रकार मेघ के द्वारा सूर्य की रश्मि का रोध हुआ अथवा शर के द्वारा कोई लक्ष्य विद्ध हुआ। रोध एवं वेध यह द्विविध वृत्ति है, अतः कहीं-कहीं रोध भी बोध का हेतु हो जाता है एवं वेध के द्वारा भी विवेक एवं कैवल्य सम्भावित हो सकता है। प्रथम का दृष्टान्त हमने ब्रह्माकारा वृत्ति द्वारा अज्ञान

नाश के स्थल में देखा है। द्वितीय का दृष्टान्त विचार करने पर देख सकते हैं। जैसे सांख्य के पुरुष और प्रकृति। प्रकृति के धर्म सुख-दुःख इत्यादि पुरुष में अध्यस्त होने के फलस्वरूप पुरुष अपने को ही सुखी-दुःखी इस प्रकार समझता है। फिर पुरुष का चैतन्य प्रकृति में प्रतिफलित होकर जड़ जो दृश्य है उसे मानो द्रष्टा की भाँति चेतन बनाकर दिखा रहा है। हमारे लक्षण के अनुसार प्रकृति पुरुष के एवंविध संयोग को वेध कहना होगा। समाधि प्रभृति उपाय के द्वारा यह वेध यदि अपने को ही विद्ध करने अथवा निर्मूल करने में समर्थ हो, तब उसके फलस्वरूप विवेकख्याति होती है एवं उसके होने पर प्रकृति-विविक्त-पुरुष-साक्षात्काररूप कैवल्य होता है। पुनश्च, भक्ति-सिद्धान्त में इस वेध का दृष्टान्त विशेषरूप से देखा जा सकता है। भगवान् की अन्तरङ्गा शक्ति एवं बहिरङ्गा शक्ति हैं। बहिरङ्गा शक्ति प्राकृत अथवा मायिक हैं। अन्तरङ्गा शक्ति अप्राकृत एवं निर्मायिक हैं। जीव भगवान् की तटस्था शक्ति है। तटस्था होने से जीव में उसकी स्वरूपगत अप्राकृत, निर्मायिक सत्ता प्राकृत और मायिक धर्म के द्वारा मानो आच्छादित होकर पड़ी हुई है। जीव अपनी अमायिक शुद्ध चिन्मय सत्ता को माया के कवल में मानो खोकर अपने को इस प्राकृत जड़ विश्व के अन्तर्गत समझता है। यह हुआ मायिक और प्राकृत के द्वारा, जो अमायिक और अप्राकृत हैं, उनका 'वेध'। इस वेध से ही जीव का भगवद्-वैमुख्य, भवबन्धन-निमित्त क्लेश है। यह वेध ही उसे एक अनादि, अनन्त प्राकृत धारा के बीच पातित किए हुए है। उसके उद्धार का उपाय, इस वेध को ही फिर विद्ध करना है। पुनश्च, प्रणव धनुः, आत्मा शर इत्यादि श्रुति के प्रसिद्ध मन्त्र में कहा है कि ब्रह्म में ही लक्ष्यवेध करना होगा। किन्तु ब्रह्म तो वेध की वस्तु नहीं, तब उसे लक्ष्य करके शर द्वारा किस रूप में विद्ध करेंगे! कहना न होगा कि ब्रह्म स्वयं वेधयोग्य न होने पर भी उनकी जो अचिन्त्य मायाशक्ति है जिसके द्वारा 'त्वं' पदार्थ का एवं 'तत्' पदार्थ का भेद कल्पित होता है, वह अर्थात् भेद, अवश्य ही वेध-योग्य है। आत्मा स्वरूपतः ब्रह्म होने पर भी 'त्वं' पदार्थ रूप में अपने को अल्पज्ञ, अल्प शक्तिमान् इत्यादि समझता है एवं ब्रह्म को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् इत्यादि समझता है। ब्रह्म के समय उसका इस प्रकार समझना अवश्य ही उसकी अपनी कल्पना नहीं है। शुद्ध, अक्षर ब्रह्म ने स्वयं ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् रूप में अपने को प्रकाशित किया है, यह यदि कल्पना ही है तो भी वह जीव की कल्पना नहीं है, ब्रह्म की ही स्व-कल्पना है। 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च'। इस कल्पना के द्वारा शुद्ध ब्रह्म ने अपने ऐश्वर्य के बीच अपने को प्रकाशित करके भी मानो छिपा दिया है। जैसे फिर भक्ति-सिद्धान्त में भगवत्ता का जो स्वरूप-माधुर्य है वह ऐश्वर्य के भीतर प्रच्छन्न है। 'रसो वै सः' इस परम अनुभूति के द्वारा ऐश्वर्य के भीतर माधुर्य को पाना एवं आस्वादन करना होता है। रसानुग साधन के द्वारा ही यह सम्भव है। सुतरां ब्रह्म का अथवा 'तत्'

पदार्थ का एवंविध एक अनिर्वचनीय 'वेध' हुआ। जीव के पक्ष में उसके स्वरूप का वेध है अविद्या वा अज्ञान के कारण। ब्रह्म अथवा भगवत्ता के साथ जीव का जो प्रकृत सम्बन्ध है उसका अभान होता है इस अज्ञान के कारण। इस वेध को विद्ध करना होगा—वही हुआ 'त्वं' पदार्थ का शोधन। फिर ब्रह्म का जो अपना 'आवरण'—(जैसे अन्तरंग रसाश्रित साधन में भी बहिरंग ऐश्वर्य) है उसे भी वेध करना होगा—यही हुआ 'तत्' पदार्थ का शोधन। यह द्विविध शोधन होने पर वेध स्वयं ही विद्ध हो जाता है एवं 'आत्मा' रूप शर 'प्रणव' रूप धनुः से निक्षिप्त होकर ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेध करता है एवं उसमें ही तन्मय हो जाता है ॥ ३९ ॥

वा० व्याजविद्धत्व आपन्ने छन्दो भ्रश्यति वक्रगम्।
रोधवेधक्षयं स्यात्तु धृतवज्रतनुच्छदम् ॥ ४० ॥

अन्वय—व्याजविद्धत्वे आपन्ने छन्दः वक्रगं भ्रश्यति, धृतवज्रतनुच्छदं तु रोधवेधक्षमं स्यात् ॥ ४० ॥

[छन्द (जब) व्याज द्वारा विद्धत्व को प्राप्त होता है अर्थात् व्याज द्वारा विद्ध होता है, तब वक्रगामी होकर भ्रष्ट होता है। (व्याज से विद्ध न होने पर वह) वज्र तनु का आवरण लेकर रोध के वेध में समर्थ हो जाता है।] ॥ ४० ॥

भाष्य—छन्दः यदि व्याज द्वारा विद्ध हो तब वह ऋजुगति न होकर वक्रगति हो जाता है। व्याज एवं विघ्न के द्वारा विद्ध न होने पर छन्दः होता है वज्रसत्त्व, वज्रायुध एवं वज्रवर्म। सुतरां उस छन्द को (जैसे किरात-वेशी पशुपति को) अन्य कुछ वेध नहीं कर सकता, अथच वह स्वयं रोधजन्य सब प्रकार की बाधा का वेध करने में समर्थ होता है ॥ ४० ॥

वा० वेधमूषिकमन्विष्योरगश्चलति वक्रगः।
अहिञ्च बाधते बर्हीं स्कन्दश्छन्दोगवाहनः ॥ ४१ ॥

अन्वय—वक्रगः उरगः वेधमूषिकम् अन्विष्य चलति। छन्दोगवाहनः बर्हीं स्कन्दः अहिं च बाधते ॥ ४१ ॥

[वेधरूपी मूषिक (चूहे) का अन्वेषण करके सर्प वक्रगामी है, और अहि को मयूर बाधित कर रहा है, स्कन्द ने छन्दोग (छन्द के गायक मयूर) को वाहन बना रखा है।] ॥ ४१ ॥

भाष्य—वेधरूप मूषिक का अन्वेषण करके एक सर्प वक्रगति से चल रहा है। एक बर्हीं, अर्थात् मयूर, सर्प को बाधा पहुँचा रहा है। देवसेनापति स्कन्द ने इस छन्दोग मयूर को अपना वाहन बनाया है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी प्रकार के अशुभ वेध के दूरीकरण के लिए हम जिस उपाय का अवलम्बन करते हैं, वह उपाय यदि ऋजु

न होकर वक्र हो तो वह हेयवेध की अपेक्षा भी गुरुतर अशुभ का कारण हो सकता है। जिस प्रकार मूषिक का वध करके सर्प यदि मूषिक के गर्त में वास करता है, तब वह और भी भय का कारण हो जाता है। इसलिए देखना होगा कि अशुभ निवृत्ति का उपाय कहीं बृहत्तर अशुभ की सम्भावना न करा दे। यदि व्याजविद्ध होकर अवलम्बित उपाय वक्र एवं कुटिल हो जाता है अर्थात् व्याज-व्याल उपस्थित होता है, तब उसके परिहार अथवा संशोधन करने का उपाय क्या है ? कहना न होगा कि छन्द का आश्रय करना ही हुआ वह उपाय। छन्द का प्रतीक हुआ बर्ही, जिसके बर्ह को निखिल छन्द की परम मधुरिमा-मूर्ति श्रीकृष्ण ने अपने चूड़ा में बाँध रखा है। यह बर्ही है छन्दोग, अर्थात्, छन्द ही इसकी गति है, छन्द-रहित होकर इसकी गति नहीं होती। सुरसेनापति स्कन्द ने इस छन्द को ही अपना वाहन बनाया है इसलिए कि सुर के द्वारा असुर की जय छन्द की सहायता से होना सम्भव है। जीव का मन विषयविद्ध है, सुतरां 'रसो वै सः' जो भगवान् हैं उनसे विमुख है। भगवान् का स्मरण, नामकीर्तनादि (जप) हुआ इस वेध-निराकरण का प्रकृष्ट उपाय। किन्तु अवलम्बित उपाय यदि व्याज (अर्थात्, कैतव, कापट्य, कौटिल्य) द्वारा विद्ध हो, अर्थात् व्याज-व्याल हो, तब वह बर्ही न होकर उरग (अर्थात् विषय-विष का वर्धक) हो सकता है। विषयासक्ति के वेध के निराकरण का प्रकृष्ट उपाय ऋजु एवं निर्मल भगवदासक्ति है—भगवान् में रुचि, रति, प्रीति, प्रेम। आत्मेन्द्रिय तर्पण-लालसारूप काम को भी जय करने का प्रकृष्ट उपाय उसे 'भस्म' करने की चेष्टा करना (elimination) नहीं है, किन्तु जो स्वयं 'मन्मथमन्मथ' हैं, उनके काम में 'विवर्तित' (with the sign completely changed) कर लेना (sublimation) है। तथापि किसी प्रतीक (यथा प्राकृत नागर अथवा परकीयाभाव इत्यादि) के आश्रय से इन 'पाँच की पीठ पर शून्य' (५ को ५० बनाना) देने का साधन करने के मार्ग में व्याजव्याल से विद्ध होकर महापराध में निपतित होने का भय खूब ही है। अतएव 'साधु सावधान' ॥ ४१ ॥

सू० १०. विघ्नविद्धस्य छदित्वम्।

विघ्न के द्वारा विद्ध होने पर, वह होता है छदि। (Harmony as veiler)

वा० दैशिकादिविघ्नजालैराच्छादयति छन्दसम्।
चलता-स्तब्धता-भेदाज्जायेते ते छदिश्छदी ॥ ४२ ॥

अन्वय—दैशिकादिविघ्नजालैः छन्दसम् आच्छादयति। चलता-स्तब्धता-भेदात् ते छदिश्छदी जायेते ॥ ४२ ॥

[दैशिक आदि विघ्नजालों के द्वारा छन्द का आच्छादन होता है। चलता-स्तब्धता के भेद से वे दो 'छदि' या आच्छादन होते हैं।] ॥ ४२ ॥

भाष्य—विघ्न की आलोचना में हमने देखा है कि दैशिकादि भेद से चार प्रकार के विघ्न हैं। इन सब विघ्नजाल के द्वारा छन्द का जो स्वरूप है वह यदि आच्छादित हो जाता है तब वह छन्दः फिर नहीं रहता, वह हो जाता है छदि। 'छद्' धातु का अर्थ आच्छादन है। सुतरां छदि हुआ आच्छादित छन्दः। आच्छादन में यदि रजोगुण का प्राधान्य होता है तब वह होता है चल स्वभाव एवं तब उसे कहते हैं 'छदिः' (Dynamic veiler)। और यदि आच्छादन में तमोगुण का प्राधान्य रहे तब वह स्तब्ध स्वभाव होता है। ऐसा होने पर उसका नाम होता है विसर्गविहीन 'छदि' (Static veiler)। एक क्षिप्त है, दूसरा पङ्गु है। इन दोनों को ही (अर्थात् वैगुण्य) वर्जन करके सत्त्वप्रधान जो छन्दः है—जो छन्दः धीर अथच उदात्त; उज्ज्वल अथच स्निग्ध, रमणीय, ऋजु अथच उदार, निरपेक्ष अथच दक्ष है, उसीका समाश्रय लें ॥ ४२ ॥

सू० ११. ओजोराहित्ये छन्दत्वम्।

[छन्दः यदि ओजोरहित है, अर्थात् ओजस्वी नहीं है, तब वह है (विसर्ग-विहीन) छन्द। (Harmony as Pleasure.)]

वा० व्याजविघ्नविहीनस्य सांसिद्धिकं हि छन्दसः।
ओजस्वित्वं वज्रसत्त्वं बाधावेधक्षमं महत् ॥ ४३ ॥

अन्वय—व्याजविघ्नविहीनस्य छन्दसः बाधावेधक्षमं, वज्रसत्त्वं महत् ओजस्वित्वं हि सांसिद्धिकम् ॥ ४३ ॥

[व्याज-विघ्न-विहीन छन्द का वज्रसत्त्व होता है, जो कि बाधा के वेध में समर्थ है, (उसका) ओजस्वित्व सांसिद्धिक है।] ॥ ४३ ॥

भाष्य—व्याल अथवा सर्प हुआ व्याज एवं आखु वा मूषिक हुआ विघ्न। सारी प्रकृति का इलाका व्याप्त करके यह खनन करता है, अतः इस मूषिक का नाम है आखु (आ + खन् + डु)। इस व्याल एवं आखु का सम्पूर्ण रूप से परिहार करता है जो छन्दः उसमें स्वाभाविक ओजस्विता धर्म विद्यमान है एवं वह महत् वज्र सत्त्व है, इस कारण वह सर्वविध बाधाओं के वेध में समर्थ हो जाता है ॥ ४३ ॥

वा० श्रेयसे प्रेयसे छन्दः प्रेयसेऽन्यस्तु केवलम्।
स्वैरच्छन्दः परच्छन्दः स्वच्छन्द इति स पुनः ॥ ४४ ॥
प्रणवपुटितं बीजमोजस्वत्तरतां व्रजेत् ॥ ४५ ॥

अन्वय—छन्दः प्रेयसे श्रेयसे (च), अन्यस्तु केवलं प्रेयसे, स पुनः स्वैर-च्छन्दः परच्छन्दः स्वच्छन्द इति। प्रणवपुटितं बीजम् ओजस्वत्तरतां व्रजेत् ॥ ४४, ४५ ॥

[छन्द श्रेयस् और प्रेयस् के लिये होता है, (इससे) अन्य (छन्द) स्वैरच्छन्द, परच्छन्द और स्वच्छन्द होता है। प्रणवपुटित बीज ओजस्वत्-तरता को प्राप्त हो।] ॥ ४४, ४५ ॥

भाष्य—इस प्रकार जो छन्दः है वह श्रेयः एवं प्रेयः इन दोनों का ही दोहन करने में समर्थ है, पक्षान्तर में विसर्गविहीन ओजोरहित जो छन्द है वह केवल प्रेय के निमित्त ही (agreeable) हुआ करता है। इस द्वितीय प्रकार का जो छन्द है वह त्रिविध है—स्वैरच्छन्द, परच्छन्द एवं स्वच्छन्द। अन्य किसी व्यापक वा बृहत्तर छन्द का शासन न मानकर जो छन्द उच्छृङ्खल गतिवाला होता है उसे कहते हैं स्वैरच्छन्द। फलतः नियमानुगता का अभाव होता है। ऊपर के द्वारा बाध्य जो छन्द है, सुतरां जिस छन्द में आनन्द एवं लीला का कोई लेश नहीं है, उसे कहते हैं परच्छन्द। फलस्वरूप, स्वच्छन्दानुगता का अभाव होता है। स्वैरगति न होकर अथवा ऊपर के द्वारा बाध्य न होकर जो छन्द स्वभाव में रहता है, अथच अपनी ओजस्विता खो बैठता है, उसे कहते हैं स्वच्छन्द। फलतः, बलिष्ठ छन्दानुगता का अभाव होता है। इस क्षेत्र में यथार्थ जो छन्दः है, उसकी आकृति का भ्रंश अथवा विकार तो नहीं हुआ है, किन्तु वह मानो जड़ता को प्राप्त होकर स्तब्धवत् हो गया है, इसीलिए प्रकृतिभ्रष्ट हो गया है। जैसे कोई व्यक्ति कहता है "मैं स्वच्छन्द हूँ"। इस स्थल में "स्वच्छन्द" कहने से समझना होगा कि विशेष कोई झमेला वा झंझट उस व्यक्ति के वर्तमान में नहीं है। किन्तु यथार्थ स्व वा आत्मा का छन्दः होने पर वह फिर 'निर्जीव ढोंड़े (विषहीन) साँप की भाँति कुछ नहीं हो सकता है। कूपमण्डूक की स्वच्छन्दवृत्ति रसायन नहीं होती। आत्मा जिस प्रकार बलहीन के द्वारा लभ्य नहीं है, तद्रूप आत्मा का जो निजस्व छन्दः है, वह भी कभी बलहीन नहीं होता। उस छन्द में जो व्यक्ति सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित हैं, वे हैं स्वराट्, आत्मराट्। किसी बीज मन्त्र के आश्रय से जपादि साधन करते हुए ओजोविहीन छन्द एवं उसके इन तीनों रूपों का ही परिहार करके हमें अग्रसर होना पड़ता है। स्वैरच्छन्द में, किंवा परच्छन्द में जप होने पर वह जप अक्षेमङ्कर होता है, यहाँ तक कि, भयङ्कर भी हो जाता है; जप स्वच्छन्द चल रहा है यह सोचकर भी फिर निश्चिन्त नहीं होना चाहिए। देखना होगा वहाँ छन्द ओजस्वी है अथवा ओजोविहीन है, उसने अपना वीर्य वा 'रोष' कायम रखा है वा नहीं। जिस बीज में वीर्य रहता है उस बीज के द्वारा महाशैलोत्पाटन भी सम्भव हो सकता है। लङ्काधीश दशानन का वीर्य था इसीलिए उसने साक्षात् कैलास का भी उत्पाटन करना चाहा था। जप अपना ओजोगुण खो रहा है ऐसा समझ में आते ही ॐकार का आश्रय लेना होगा, क्योंकि ॐकार ने ही प्राणरूप से इस विश्वभुवन को सजीव कर रखा है। विश्व में जो कुछ स्पन्दित हो रहा है वह प्राण-स्पन्दन के फलस्वरूप ही है। इसलिए

आदि में एवं अन्त में प्रणवपुटित करके किसी बीज का अथवा मन्त्र का जप होने पर फिर उसकी ओजस्विता व्यक्त और वर्धित हो जाती है। यथा भूः, भुवः, स्वः इत्यादि सप्त-व्याहृतियाँ जप में यदि प्रणवपुटित हैं, तब वह जप प्राणवान् होकर हमें इस व्याज-विघ्न-विद्ध संकीर्ण त्रिपुटी वा त्रिपुट से मुक्त करके सप्त महाव्याहृतियों की जो अकुण्ठ, अक्लिष्ट, विराट् अनुभूति है उसमें अपनीत कर दे सकता है ॥ ४४, ४५ ॥

सू० १२. ऊर्जोराहित्ये बन्धत्वम्।

ऊर्जोरहित होने पर छन्द होता है बन्ध। (Enchaining Enslaving Harmony)

वा० ऊर्जस्विता हि धर्मेण सर्वं वृद्धिविकाशभाक्।
साधिष्ठमपि तद्धीनं छन्दोऽपि बन्धनायते ॥ ४६ ॥

अन्वय—ऊर्जस्विता-धर्मेण हि सर्वं वृद्धिविनाशभाक् (भवति) तद्धीनं (तद् + हीनं) साधिष्ठम् अपि छन्दः अपि बन्धनायते ॥ ४६ ॥

[ऊर्जस्विता-धर्म से ही सब कुछ वृद्धि-विनाश-भाजन होता है। उससे रहित साधिष्ठ (श्रेष्ठ) छन्द भी बन्धन बन जाता है।] ॥ ४६ ॥

भाष्य—ऊर्जस्विता धर्म के रहने से ही सभी पदार्थों की विशेष रूप से वृद्धि एवं विकास हुआ करता है, उस धर्म के न होने पर नहीं। ऊर्ध्वग जो रजः है वही होता है ऊर्जः। चलस्वभाव रजोगुण जब निम्नाभिमुख न होकर ऊर्ध्वाभिमुख होता है, तब वह होता है ऊर्जः। तब वह प्रकाशशील सत्त्वगुण का साधक हो जाता है, बाधक नहीं। इस ऊर्जस् का अभाव होने पर श्रेष्ठ छन्द भी बन्धन का हेतु हो जाता है। कल्पवृक्ष का भी यदि एक बीज हम रोपण करें, किन्तु उस बीज में यदि ऊर्जस् का अभाव हो तब वह कल्पबीज ही रह जायगा, उससे वास्तव अङ्कुरोद्गमादि नहीं होगा। ऊर्जः है—वाराही शक्ति, जिस शक्ति द्वारा अवनत अथवा निमज्जित सत्ता उन्नीत एवं उत्तोलित होती है, जिसके द्वारा पदार्थ का Energy level उपचित, वर्धित होता है। किसी एक बीज से जब अङ्कुर, प्ररोह एवं पादप की उत्पत्ति होती है, तब हम स्पष्ट ही देख सकते हैं, कोई एक रहस्य शक्ति मानो पादप के अवयव के उपादान समूह एवं रसधारा को मृत्तिका से मानो ऊर्ध्व में वहन कर रही है, पृथिवी के मध्याकर्षण की विपरीत दिशा में। यह रहस्यशक्ति—ऊर्जः है। अभिज्ञ आचार्य के निकट किसी विशेष साधन की साधिष्ठ विद्या मैंने प्राप्त की एवं उसकी उपनिषद् भी मैंने सुनी। किन्तु यदि श्रद्धा वीर्य का अभाव मुझमें है, तब दिखाई देगा कि पूर्वोक्त ऊर्जस् का अभाव हो गया है। सुतरां वह विद्या मेरे अभ्युदय एवं निश्रेयस का उपाय न होकर प्रकारान्तर से बन्धन का ही कारण होती है। श्रद्धा-वीर्यविहीन साधन— इस प्रकार एक बन्धन-संस्कार की

शृङ्खला में परिणत हो सकता है। किसी न किसी प्रकार के साधन के पेचीदे बन्धन में, किसी न किसी 'विद्या' अथवा 'अनुष्ठान' की 'घानी' में बद्ध हममें से बहुत से लोग आजीवन चक्कर काट-काटकर मर रहे हैं। इस प्रकार की विद्या वीर्य अथवा रस अथवा अमृत-लाभ का हेतु नहीं बनती ॥ ४६ ॥

सू० १३. वर्चोराहित्ये तस्यान्ध्यम् ।

वर्चोरहित होने पर छन्द होता है अन्ध ।
(Harmony as Brute Blind law)

वा० **आदावन्ते च मध्ये च कृत्स्ना संपृक्तशृङ्खला ।**
क्रान्तदृष्ट्या यतो दृष्टा तच्छन्दो जायते कविः ॥ ४७ ॥
ऋतस्याध्वनि पान्थो यः पाथेयदीपवर्जितः ।
अन्धं तमो विशत्येव छन्दःशृङ्खलचालितः ॥ ४८ ॥

अन्वय—यतः कृत्स्ना सपृक्तशृङ्खला आदौ अन्ते मध्ये च क्रान्तदृष्ट्या दृष्टा (अतः) तच्छन्दः कविः जायते ॥ ४७ ॥

यः पान्थः ऋतस्य अध्वनि पाथेयदीपवर्जितः (स) छन्दःशृङ्खलचालितः अन्धं तमः विशति एव ॥ ४८ ॥

[क्योंकि सम्पूर्ण सम्पृक्त-शृंखला आदि, अन्त और मध्य में क्रान्त दृष्टि से देखी गई है, इसलिए वह छन्द कवि बन जाता है ॥ ४७ ॥

जो पथिक ऋत के मार्ग पर पाथेय-दीप-वर्जित है, वह छन्दः की शृंखला से चालित होकर अन्ध तमस् में प्रवेश करता ही है ॥ ४८ ॥

भाष्य—पुराण में अन्धकासुर का उपाख्यान है। इस असुर का प्रादुर्भाव होने पर "जगदान्ध्यं प्रसज्येत"—यह जगत् ही अन्धकार से आच्छन्न हो जाता है। वैसा होने पर विश्व में द्रष्टा, दृश्य वा दर्शन के रूप में कुछ भी नहीं रहता। महादेव ने इस दैत्य का संहार किया था इस कारण महादेव का एक नाम 'अन्धकारि' है। महादेव के त्रिशूल में प्रणव की तीन मात्राओं में इस त्रिविध दृक्शक्ति का सन्निवेश है। पुराण में यह भी कथित है कि अन्धकासुर का एक तनय है, उसका नाम है 'आवि'। ध्यान दें कि यह आवि विसर्गविहीन है, सुतरां उस आवि में ज्योतिः, ओजः एवं वर्चस् का अभाव है। अब विचार करके देखें, विश्व में जो छन्दः ओतप्रोत भाव से है, यह विश्व ही जिस छन्दः का व्यक्त विग्रह है वह छन्दः कैसा है ? वह क्या अन्ध है या चक्षुष्मान् ? चक्षुष्मान् होने पर वह स्वयं को भी देख पाता है एवं अपना अभिव्यक्त जो विश्व है उसे भी देख पाता है। यदि वह अन्ध है तो वह इन दोनों के सम्बन्ध में ही अन्ध है। किसी-किसी मत में, विशेषतः पाश्चात्य जड़ विज्ञान के मत में यह विश्व छन्द की अभिव्यक्ति

है एवं छन्द के द्वारा शासित भी अवश्य है किन्तु वह छन्द अन्ध है, वह अपने को भी नहीं देखता, और इस अपरूप विश्व को भी नहीं देखता। उससे अभिव्यक्त विश्व में जहाँ थोड़ा सा चैतन्य का आलोक फूट पड़ा है वहीं उस आलोक की सहायता से वह स्वयं प्रकाशित हो रहा है एवं उसकी अपरूप रचना भी प्रकाशित हो रही है। जहाँ मस्तक-मणिप्रभाप्रवर्तित वह दीप नहीं है अथवा जहाँ उस दीप का आलोक नहीं पहुँचता, वहाँ अन्धतमिस्रा के अतिरिक्त और कुछ भी विद्यमान नहीं है। एक जड़ परमाणु के भीतर जो अपूर्व छन्द विराजमान है अथवा इस विराट् ब्रह्माण्ड में जिस छन्द का सुसम-ञ्जस शासन दिखाई दे रहा है, उसे देखता है कौन ? फिर मान लें, किसी एक प्राणी देह में बना अपूर्व गठन एवं गतिकौशल है ! मनुष्य के अतिरिक्त इस गठन या गति-कौशल का वेत्ता एवं बोद्धा दूसरा कोई है क्या ? पादप क्या स्वयं ही जानता है कि किस विचित्र छन्द में उसका विकास एवं परिणति होती है ? जड़ विज्ञान इन प्रश्नों का 'हाँ' में उत्तर देने के लिए अभी तक प्रस्तुत नहीं है। उसकी वैज्ञानिक दृष्टि में—अभि-व्यक्ति के किसी एक विशेष स्तर में चढ़कर ही विश्वच्छन्दः मानो आलोक का मुख देख सकता है, आत्मसंवित् लाभ करता है। सुतरां इस दृष्टि से जगत् के आधार रूप में एवं प्रशासन रूप में जो महाछन्दः है, वह चेतनछन्द। नहीं, आनन्दछन्दः भी वह नहीं, प्राण-छन्दः भी नहीं। सत्, चित् एवं आनन्द इन तीनों के बीच सत् का सन्धान वह देता है अथवा देना चाहता है अवश्य, किन्तु चित् एवं आनन्द का सन्धान वह नहीं देता। चित् एवं आनन्द का सन्धान नहीं देता अतः वह छन्दः होकर भी एक विराट् जड़शृंखलमात्र है। इस प्रकार के छन्द को अन्धकासुर का तनय विसर्गविहीन 'आवि' कहा जा सकता है। क्योंकि, प्राण, चैतन्य एवं आनन्द—इनके मूल में रहने पर ही सर्वत्र 'ज्योतिः', ओजः एवं वर्चः सम्भावित हो सकता है, अन्यथा नहीं। सूर्य की वा वह्नि की ज्योतिः है यह हम अवश्य सोचते हैं किन्तु वह ज्योतिः उनकी अपनी ज्योतिः नहीं है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'—चैतन्य के बिना ज्योतिः अथवा प्रकाश की चर्चा ही निरर्थक है।

पक्षान्तर में जो छन्दः क्रान्तदर्शी है वह छन्दः कवि है। इस विश्व के आदि, मध्य एवं अन्त में परस्पर सुषम सम्पर्क में जो अपूर्व घटक-घटित-घटना शृङ्खला है, उसे समग्र भाव से जो देख पाता है उसे कहते हैं क्रान्तदर्शी। सब भूत पदार्थ ही अव्य-क्तादि एवं अव्यक्तनिधन हैं, केवल मात्र व्यक्तमध्य हैं। जन्म एवं मृत्यु की जवनिका हटाकर किसीका भी समग्र चित्र हम नहीं देख पाते हैं, जितना-सा देख पाते हैं वह भी आंशिक, खण्डित, कुण्ठित-गुण्ठित भाव से। इस प्रकार के दर्शन को क्रान्तदर्शन नहीं कहते। जो छन्दः कवि है उसके दर्शन में इस प्रकार की कुण्ठा एवं कार्पण्य नहीं है।

सुतरां छन्द को दो प्रकार से देख सकते हैं, आवि और कवि। यदि आवि का आश्रय लेकर चलें तो ऋत के साधन में, चलते हुए हमने पथ का प्रदीप तो साथ में

लिया नहीं, सुतरां अन्धकासुर का तनय जो 'आवि' है उसके वज्रनिगड़ में बद्ध होकर हम अमरमी-अदरदी-यन्त्र द्वारा ताड़ित होकर घोर तमिस्रा के बीच ही पतित हो जाते हैं ॥ ४७, ४८ ॥

सू० १४. तेजोराहित्ये मान्द्यम् ।

तेजोरहित छन्द को कहते हैं मन्द ।

(छन्दोमान्द्य—Insufficient, Ineffectual Harmony)

वा० **समारम्भकदौर्बल्यात् समवायविलम्बनात् ।**
सहायसमूहाभावात् वैलक्ष्यस्य व्यपाश्रयात् ॥ ४९ ॥
प्रतिबन्धकबाहुल्यात् प्रतिरोधस्य त्वपाटवात् ।
तेजोमान्द्यञ्च कल्प्येत समापकपराभवात् ॥ ५० ॥

अन्वय—स्पष्ट है ।

[समारम्भक की दुर्बलता से, समवाय के विकल्पन से, सहायक समूह के अभाव से और वैलक्ष्य के वि + अप + आश्रय से, प्रतिबन्धक के बाहुल्य से प्रतिरोध के तो अपाटव से, (और समापक के पराभव से) तेजस् की मन्दता की कल्पना करे ।] ॥ ४९, ५० ॥

भाष्य—छन्द के मान्द्य, अर्थात् उसके मन्द होने के कारण अब निरूपित होते हैं । क्रिया मात्र को ही कुछेक हेतुओं की अपेक्षा होती है । अन्य हेतु हैं, किन्तु जिस हेतु के न रहने पर क्रिया का आरम्भ नहीं होता, उस हेतु को आरम्भक हेतु कहा जाता है । क्रियोत्पत्ति के पूर्व जो बाधा वा प्रतिबन्धक रहता है उसकी निवृत्ति होती है इस समारम्भक के द्वारा । जैसे एक काँच के पात्र में दो गैस किसी निर्दिष्ट अनुपात में मिश्रित हैं, किन्तु उनका रासायनिक मिश्रण नहीं होता । वैद्युतिक शक्ति के प्रयोग से वह मिश्रण हो तो पाता है किन्तु जिस परिमाण में शक्ति प्रयुक्त होना आवश्यक है उस परिमाण में यदि प्रयुक्त न हो तो मिश्रण नहीं होगा । इस स्थल में वैद्युतिक शक्ति का प्रयोग रासायनिक मिश्रण का आरम्भक तो है, किन्तु उसके दौर्बल्य के कारण मिश्रण नहीं हो पाया । जपादि साधन के समय साधक की श्रद्धा वा आग्रह-शक्ति हुई समारम्भक हेतु । इसका दौर्बल्य होने पर, अर्थात् श्रद्धा वीर्य, भाव-भक्ति न आने पर, जपादि क्रिया अपना अभीष्ट फल प्रसव नहीं कर पाती । अतएव दिखाई देता है कि छन्द के मान्द्य का एक कारण हुआ समारम्भकदौर्बल्य ।

द्वितीय कारण हुआ समवाय-विलम्बन । आरम्भक हेतु विद्यमान तो है किन्तु अपरापर हेतुओं का समवाय वा समायोग नहीं हुआ वा होने में विलम्ब हो रहा है । जैसे पूर्वोक्त रासायनिक दृष्टान्त में वैद्युतिक शक्ति उपयुक्त भाव से ही जुट रही है, किन्तु

जिनके ऊपर उस शक्ति का प्रयोग होगा वे यथानुरूप भाव से समवेत नहीं हैं। इस क्षेत्र में अभीष्ट मिश्रण नहीं होगा। साधन के समय भी साधक के आग्रह का प्राबल्य रहने पर भी यदि विद्या एवं उपनिषत् (रहस्य-विद्या) उपयुक्त भाव से उपस्थित न रहे, अथवा उस प्रकार की उपस्थिति में यदि विलम्ब हो तो अभीष्ट फल नहीं मिलेगा। अतएव समवाय-विलम्बन हुआ छन्द के मान्द्य का द्वितीय कारण।

प्रत्येक क्रिया में साक्षात् कारणों के अतिरिक्त अनेक सहकारी कारण भी विद्यमान रहते हैं, जिस प्रकार बीज के विकास में आलोक, वायु एवं अनुकूल पारिपार्श्विक अवस्था (environmental conditions) रहती हैं। जपादि साधन में साक्षात् कारण हैं—साधक की अपनी विद्या, श्रद्धा तथा उपनिषत् एवं भगवान् की अनुग्रह-शक्ति जो गुरु-शक्ति के रूप में शिष्य के ऊपर क्रिया करती है। किन्तु इन साक्षात् कारणों के अतिरिक्त अन्य कई एक सहकारी कारणों की भी अपेक्षा रहती है—यथा, देश, काल आदि की अनुकूलता,—संशय स्थल में इतिकर्तव्यता निरूपण के निमित्त उपयुक्त संग एवं उपदेश लाभ इत्यादि। ये सहायक हेतु यदि यथेष्ट भाव से विद्यमान नहीं हैं अथवा उनका जो "समूह" है उसका यदि अभाव है, तब छन्द का मान्द्य होगा। "समूह" यह शब्द केवल मात्र समष्टि अर्थ में लेने पर नहीं चलेगा। 'सम्' अर्थात्, सम्यक् एवं सङ्गत भाव में जो "ऊह" अर्थात्, चेष्टा है उसे कहते हैं 'समूह'। ऋग्वेद के प्रसिद्ध मन्त्र में सुनते हैं—"संगच्छध्वं संवदध्वम्" इत्यादि। इस स्थल में 'सम्' इस उपसर्ग का प्रयोग करके श्रुति ने केवल मात्र मिश्रण अथवा मिलित होने की बात ही नहीं कही है, किन्तु किसी महान् लक्ष्य के उद्देश्य में हमारे वाक्य, मन, क्रियादि को छन्दोबद्ध एवं संहत भाव से शक्तिमान् बना लेने की बात ही कही है। उस प्रकार शक्तिमान् होने पर वे होते हैं 'समर्थ' एवं जिस पारस्परिक व्यवस्था अथवा विन्यास के फलस्वरूप वह फल लाभ होता है, उसे कहते हैं "समूह"। विज्ञान का एक दृष्टान्त लें। प्राण में जो मूल वस्तु वा उपादान है उसकी वैज्ञानिक परिभाषा प्रोटोप्लाज्म—Protoplasm है। रासायनिक विश्लेषण में इस पदार्थ के मूल उपादान एवं उनके मिश्रण का अनुपात हम जान सके तो हैं, किन्तु जिस रहस्य मिश्रण अथवा "समूह" के फलस्वरूप वे सब उपादान प्राणशक्ति का आधार, वाहन एवं यन्त्र बनते हैं, उस 'समूह' को हम अब भी ठीक से पकड़ नहीं पाए हैं। यदि पकड़ पाते तो कृत्रिम उपाय से परीक्षागार में भी सजीव प्रोटोप्लाज्म की सृष्टि हो सकती। जपादि साधन में भी इस "समूह" का अभाव आंशिक अथवा एकान्त भाव से हो सकता है। मन्त्र के जो अक्षर हैं एवं उनका जो मिलन है वह इस समूह स्वरूप में नहीं पहुँचता है इसीलिए मन्त्र सजीव नहीं हो उठता—यथार्थ मन्त्रोद्धार एवं मन्त्रचैतन्य नहीं होता। "समूह" होने पर होता है "समर्थ"। संगीत के क्षेत्र में समूह हुआ स्वरच्छन्दादि का ठीक-ठीक लय। सुतरां मन्त्रादि का साधन 'समूह'

साधन है। श्रद्धावीर्य द्वारा अनुग्रह-शक्ति का प्रसादलाभ करते हुए जपादि का यह 'समूह'—साधन करना होता है। केवल मात्र अपनी चेष्टा से ही यह होने का नहीं है; आग्रह-शक्ति एवं अनुग्रह-शक्ति के पूर्ण सहयोग से ही यह सम्भावित होता है। "समूह" यदि स्तब्ध है तो होता है व्यूह एवं यदि व्याहत हो जाता है तो उसका फल होता है व्यामोह। अतएव हम देखते हैं कि छन्द के मान्द्य का तृतीय कारण है--एवंविध समूह का अभाव, स्तब्ध व्यूह अथवा व्यामोह। अतएव जपादि साधन में विशेष भाव से सतर्क होना होता है जिससे साधन किसी स्तब्ध व्यूह (static habit or complex) में आबद्ध नहीं हो जाय अथवा किसी व्यामोह (morbid functioning or activisation) में पतित न हो जाय। यदि ऐसा हो जाय तो 'समूह' में लौटने के उपाय का आश्रय लेना होता है।

चतुर्थ कारण—वैलक्ष्य व्यपाश्रय। जो लक्ष्य अथवा अभीष्ट है उससे जो न्यून है, एवं उसके लाभ का जो ऋजु ऋत पन्थ है उसके जो आश्रित नहीं है, उससे जो विच्युत है, जो वक्रगामी एवं वक्रताजनक लक्ष्य है, उसे कहते हैं वैलक्ष्य। जैसे अरुन्धती नक्षत्र देखते हुए उसके समीपवर्ती किसी उज्ज्वल ज्योतिष्क में पहले अभिनिवेश करने पर वैलक्ष्य नहीं हुआ; अन्धकार में मणिप्रभा में, मणिभ्रम से धावित होने पर भी वैलक्ष्य नहीं हुआ, किन्तु अन्य कुछ करने पर वैलक्ष्य हो सकता है। जपादि साधन में जो मुख्य लक्ष्य है उसके अनुसरण से 'मार्ग के बीच' कोई-कोई लाभ वा प्राप्ति हो सकती है, किन्तु कोई न्यून अवान्तर प्राप्ति यदि परम प्राप्ति के पथ से भ्रष्ट करने जाय तब समझना होगा कि वैलक्ष्य आ रहा है। किसी प्रबल प्रारब्धवशतः भी वैलक्ष्य आ सकता है—यथा तपस्या में योगेच्छा। समूह के अभाव में जिस प्रकार स्तब्ध व्यूह एवं व्यामोह है, लक्ष्य के व्यतिक्रम में भी उसी प्रकार द्विविध वैलक्ष्य है—एक मूढ़ वैलक्ष्य, दूसरा घोर वैलक्ष्य। मधु और कैटभ। वैलक्ष्य व्यपाश्रय वर्जनीय है।

पञ्चम कारण—प्रतिबन्धक-बाहुल्य। समारम्भक हेतु आरम्भ में प्रतिबन्धक दूर करके क्रिया को आरम्भ तो कर देता है, किन्तु प्रतिबन्धक पद-पद पर उपस्थित होता है। वस्तुतः क्रिया की जो गतिरेखा (Curve) है उस प्रतिबन्धक परम्परा को 'चूर्ण' (blasting the rocks of resistance) बनाकर ही चलना होता है। प्रतिबन्धक भी नानाविध है—(यथा, व्याजविघ्न, अवरोध, प्रतिरोध इत्यादि)। यदि प्रतिबन्धक का बाहुल्य होता है तो वास्तव गतिवेग (momentum) कम हो जाता है। यदि इस वास्तव वेग को न बढ़ाया जा सके तो मान्द्य (slowing down) आएगा ही।

षष्ठ कारण—प्रतिरोध का अपाटव। प्रतिबन्धक परम्परा जिस प्रकार आती है उसका प्रतिरोध ठीक उसी प्रकार न होने पर प्रतिबन्धक का आरम्भ और अन्त रह जाता है एवं इस प्रतिबन्धक के संस्कार एवं अवशेष सम्मिलित रूप से एक प्रबल प्रति-

बन्धक की सृष्टि कर सकते हैं। प्रतिबन्धकों में भी परस्पर मिलकर संघबद्ध रूप से एक प्रबल अन्तराय की सृष्टि करने की 'प्रवणता' है। इस प्रवणता से ही होता हैं राक्षसों का, असुरों का और दैत्यों का व्यूह अथवा दुर्ग। यह व्यूह वा दुर्ग निर्मित न हो सके इसके लिए पूर्वापर दृष्टि रखकर चलना होता है, क्योंकि उसके निर्मित होने पर उसका भेद करना अनेक बार सुर वा देवपक्ष के लिए असाध्य वा दुःसाध्य हो जाता है। इसलिए प्रतिबन्धक के दूरीकरण के निमित्त हमारा जो प्रतिरोध है, उसे भी सङ्घबद्ध, अर्थात् पूर्वोक्त लक्षण की भाँति—'समूह' बना लेना होगा। प्रतिरोध के समूह द्वारा ही प्रतिबन्धक का व्यूह विनष्ट होता है। प्रतिरोधों की इस प्रकार की 'समूहता' (strategic disposition) को कहते हैं पाटव। इसका अभाव होने पर प्रतिबन्धक के उपचय के कारण साधक का तेजोमान्द्य आ उपस्थित होता है।

सप्तम कारण—समापक का पराभव। क्रियामात्र का जैसे कोई आरम्भक है वैसे उसका फिर समापक भी है। इस समापक द्वारा क्रिया की समाप्ति एवं चरितार्थता होती है। किन्तु यह समापक यदि किसी कारण से पराभूत हो जाता है तो क्रिया अन्त तक अग्रसर होकर भी अन्त तक रक्षा नहीं कर पाती। जैसे साधन में प्रवृत्त होकर श्रद्धावीर्यादि के साथ प्रायः अन्तिम सोपान के आस-पास जाकर हम उपनीत हो गए, किन्तु यदि वहाँ दम्भ वा अभिमान आकर धर दबाए, सुतरां साधक की आग्रहशक्ति का एवं भगवान् की अनुग्रह-शक्ति का परिपूर्ण सम्मिलन न होने दे, तब उस साधन का जो समापक है, उसका पराभव हो जायगा। साधन की चरम भूमिकाओं में अहमिका का बीज किसी प्रकार अङ्कुरित होने पर यह महान् अनर्थ होने की आशङ्का रहती है। उस क्षेत्र में 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—आत्मा की यह पूर्णाहुति फिर 'उनमें' समर्पित नहीं हो सकती।

साधन परिपक्व होते-होते फिर कच्चा हो जाता है। मान्द्य का यह अन्तिम कारण है॥ ४९, ५०॥

सू० १५. तेजोयस्त्वे पुनरिद्धत्वम्।

तेज की विवृद्धि होने पर छन्दः होता है इद्ध।
("Kindled Fire or Flame")

वा० सप्तारम्भकमारभ्य सप्त स्थानानि तेजसे।
समिधूरूपाणि कल्पध्वं यानि जाड्याय चासते॥ ५१॥
सप्तव्याहृतिभिस्तानि समिध्यन्ते हि बर्हिषि।
सप्तार्चिषो भवेयुस्तेऽग्नयश्छन्दांसि सप्त वा॥ ५२॥

समारम्भकभूतं भूः समवायकरं भुवः।
सुवः समूहमूलञ्च महति लक्ष्यता महः॥ ५३॥
सर्वजननिधानत्वाज्जनो निष्प्रतिबन्धकः।
तेजसोऽभीद्धतायाश्च प्रतिरोधशूरं तपः॥ ५४॥
सत्यं समापनस्थानं सत्ये नास्ति पराभवः।
भूरादिभिरतो धीर जुहुधि समिधः क्रमात्॥ ५५॥
समारम्भं जगत्या च समवायमनुष्टुभा।
त्रिष्टुभा च समूहञ्च पंक्त्या संलक्ष्यमेव यत्॥ ५६॥
बृहत्याऽव्याजविघ्नत्वमुष्णिगभीद्धतेजसे।
गायत्र्या च समावृत्त्या कल्पयस्व समापनम्॥ ५७॥

अन्वय—समारम्भकम् आरभ्य तेजसे समिध्रूपाणि सप्त स्थानानि कल्पध्वम् यानि च जाड्याय आसते॥ ५१॥ तानि हि सप्तव्याहृतिभिः बर्हिषि समिध्यन्ते। ते सप्त अर्चिषः, अग्नयः, सप्त छन्दांसि वा भवेयुः॥ ५२॥

भूः समारम्भकभूतम्, भुवः समवायकरम्, सुवः च समूहमूलम्, महः महति लक्ष्यता॥ ५३॥ जनः सर्वजननिधानत्वात् निष्प्रतिबन्धकः, तेजसः अभीद्धतायाश्च प्रतिरोधशूरं तपः॥ ५४॥ सत्यं समापनस्थानम्। सत्ये पराभवः नास्ति। अतः धीर! भूरादिभिः क्रमात् समिधः जुहुधि॥ ५५॥

जगत्या समारम्भं, अनुष्टुभा च समवायम्, समूहं च त्रिष्टुभा, पंक्त्या यत् संलक्ष्यम् एव॥ ५६॥ बृहत्या अव्याजविघ्नत्वम्, अभीद्धतेजसे उष्णिक्, गायत्र्या च समावृत्त्या समापनं कल्पयस्व॥ ५७॥

[समारम्भक को आरम्भ करके तेजस् के लिए समिध् रूप सप्त स्थानों की कल्पना करो, जो कि जाड्य (जड़ता) के लिए रहते हैं॥ ५१॥ वे सप्त व्याहृतियों के द्वारा बर्हिष् (कुश) में समिधा बनते हैं। वे सप्त अर्चिः (किरणें), सप्त अग्नि या सप्त किरणें बनें॥ ५२॥ 'भूः' समारम्भकभूत है, 'भुवः' समवायकारी है, और 'सुवः' समूहमूल है, 'महः' 'महत्' में लक्ष्यता है॥ ५३॥ 'जनः' सर्व-उत्पत्ति का निधान होने से निष्प्रतिबन्धक है, 'तपः' तेजस् और अभीद्धता के प्रतिरोध में शूर है। 'सत्य' समापनस्थान है। सत्य में पराभव नहीं है। अतः है धीर! भूः आदि (व्याहृतियों) के द्वारा क्रम से समिधाओं का होम करो॥ ५४,५५॥ 'जगती' से 'समारम्भ', अनुष्टुभ् से 'समवाय', त्रिष्टुभ् से 'समूह', पङ्क्ति से जो संलक्ष्य ही है॥ ५६॥ 'बृहती' से अव्याज-विघ्नता, अभीद्ध तेजस् के लिये 'उष्णिक्', 'गायत्री' से 'समावृत्ति' के द्वारा समापन की कल्पना करो॥ ५७॥]

भाष्य—समारम्भक-दौर्बल्य से आरम्भ करके समापक-पराभव पर्यन्त पूर्वोक्त सात हैं जाड्य अथवा मान्द्य के स्थान। इन सात स्थानों में छन्द की जो शक्ति है उसका अपचय होता है। किन्तु शक्ति वा तेज का उपचय साधित होगा किस प्रकार ? अपने बीच जो प्राण-ब्रह्म के रूप में रहते हैं उन्हें 'बर्हि'—अग्निरूप समझें। 'ब्रह्म' एवं 'बर्हि' एक ही 'बृह' धातु से निष्पन्न हैं। 'बृह' धातु के आदि में 'बकार' बिन्दु है एवं अन्त में 'हकार' महाप्राणरूप नाद है, एवं मध्य में ऋकार है 'ऋतम्'। नाद-बिन्दु मिथुन एवं अभिन्न रूप से 'सत्यम्' है। ब्रह्म में यह ऋतम् एवं सत्यम् एक अखण्ड अभिन्न आधार रूप में वर्तमान हैं, किन्तु बर्हिः में ऋकार 'इद्ध' (इकार विशिष्ट) हुआ है एवं उसने विसर्ग को (विशेष भाव से सर्ग वृत्ति को) आश्रय किया है। इस कारण बर्हिः हुए प्राण ब्रह्म। श्रुति की रहस्य वाणी में यह अग्नि हैं। क्रिया-कारक फल के रूप में यह यज्ञ हैं। यज्ञ शब्द का 'य' (वायुबीज) हुआ गति अथवा क्रिया; 'ज' (जनि बीज—'जन्माद्यस्य यतः') हुआ कारक अर्थात् जिसके साथ क्रिया का अन्वय है, और 'न' (दान) 'ज'कार के योग से 'ज्ञ' होकर होता है 'मखद' अर्थात्, मख अर्थात् यज्ञ जिसका दान करता है, अतएव उससे फल ही विदित हुआ।

प्राण की अग्निभावना करके उसमें अग्निहोत्र हवन करें। इस हवन में समिध् रूप से कल्पना करें इस सप्तविध मान्द्य, जाड्य के स्थान वा आश्रय को। अर्थात् मान्द्य वा जड़ता के इन सात रूपों को ही सप्त समिध् समझें। सप्त समिध् को यथाक्रम ॐ भूः, ॐ भुवः इत्यादि प्रणवपुटित सप्त व्याहृति के योग से हवन करने पर फिर मान्द्य वा जाड्य का स्थान नहीं रहता, वे 'समिद्ध' अर्थात् सम्यक् रूप से इद्ध हो उठते हैं। सम् + इन्ध् धातु + क्विप् = समिध् तो है किन्तु उस अवस्था में समिद्ध, अर्थात् उद्दीपित होने की सम्भावना मात्र उसमें विद्यमान है, वस्तुतः समिद्ध होकर वह नहीं है, उसमें प्रतिबन्धक वर्तमान है। सप्त व्याहृति में जो सात प्रकार के तेजः (बाद में निरूपित) विद्यमान हैं, वे प्रणव के सहयोग से 'ब्रह्मभावता' (सुतरां अबाधित, अकुण्ठित सत्यप्रकाश) लाभ करते हैं, सुतरां वे मान्द्य के समिध् बनाने और ब्रह्मवर्चस् द्वारा उसे समिद्ध करने में समर्थ होते हैं। अतएव प्राणात्मा का जो शाश्वत सन्दीपन ज्योतिः (unkindled Flame) है उसमें ही आहुति दो इस जड़ समिध् की। फलतः वह भी उद्दीपित होगा (Kindled Flame)। इस प्रकार आन्तर अग्नि में हवन ही हुआ सब कुछ को अग्नीन्धन एवं अग्निवीर्य बनाने का उपाय। उपक्रमणी के सप्तम श्लोक की व्याख्या में हवन मन्त्र का रूप दिखाया है। ऐसा होने पर यह सप्त समिध होती हैं सप्तार्चिः—"Seven Flames or Seven-fold Flame" सप्त अग्नि, सप्तार्चिः एवं सप्त छन्दः—इन तीनों रूपों में प्राणयोग के क्रिया-कारक-फलरूप त्रय की भावना करें। कारिका के श्लोक में किस व्याहृति एवं किस छन्द के साथ किस मान्द्य वा जाड्य-

रूप समिध् का विशेष उपयोग है यह प्रदर्शित हुआ है। 'भू' यह मूलतः समारम्भ का सूचक है—'होओ' यह अनुज्ञा इसमें निहित है। 'भुवः' यह समवाय का सूचक है—जो अव्यक्त (unmanifest) है एवं जो अभिव्यक्त है उन दोनों के बीच सेतुरूप यह है; इसे आश्रय करके ही अभिव्यक्ति का अवकाश मिलता है। 'सुवः' है पूर्व व्याख्यात समूह का मूल। 'महः' हुआ महत्, महत्तर, महत्तम, प्रकाश-विकास के अभिमुख प्रवणता का सूचक। 'जनः'=जिससे सब जात होते हैं, उससे निःसृत जो मूल आवेग (Original urge) है, इसलिए यह निष्प्रतिबन्धकता का सूचक है। तपः=अभीद्ध तेज की प्रकर्ष भूमि, सुतरां सर्वव्याज विघ्न के प्रतिरोध में शूर' है। अन्त में 'सत्यम्'= सर्वविध प्रकर्ष (Ascending Process) का समापन स्थान, सुतरां सत्य में फिर पराभव नहीं है। अतएव हे धीर साधक, भूरादि व्याहृतियों के योग से क्रमान्वय से हवन करो। हवनकाल में उनका यह रहस्य संकेत अवश्य स्मरणीय है। बाद में विशेष-विशेष सूत्र में व्याहृति सप्तक सविस्तर व्याख्यात हुए हैं।

इस प्रकार, समारम्भ में जगती, समवाय में अनुष्टुप्, समूह में त्रिष्टुप्, संलक्ष्य में पंक्ति, अव्याजविघ्नत्वहेतु बृहती, अभीद्ध तेज के निमित्त उष्णिक्, एवं समापन के निमित्त समावृत्तिमूर्ति गायत्री छन्दः की भावना करें।

ये भी इस ग्रन्थ में यथास्थान सूत्रित एवं व्याख्यात हुए हैं।

पूर्वोक्त प्राण होम क्रियाङ्ग रूप में प्रदर्शित हुआ तो है किन्तु भावाङ्ग एवं ज्ञानाङ्ग रूप में भी प्रदर्शित हो सकता है। भाव और ज्ञान के भी सात मान्यों के स्थान हैं एवं उन्हें भी पूर्वोक्त क्रम से समिध् बनाकर श्रद्धा, निष्ठा, रुचि आदि एवं शुभेच्छा, विचारणा तनुमानसादि से सहकृत सप्त व्याहृतियों द्वारा शुद्ध भाव एवं शुद्ध ज्ञानाग्नि में हवन करना होगा। यथा, श्रद्धाहानिस्थल में—"ॐ यदिदं मयि अश्रद्दधानत्वरूपं मान्द्यं तदहं हव्यं कल्पयामि, तच्च श्रद्धामयोऽयं पुरुष इति—(श्री श्री इष्ट देवता) श्रद्धारूपोपलक्षित परमज्योतिषि जुहोमि—'या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥'—ॐ भूः स्वाहा॥ ५१-५७॥

सू० १६. आभिमुख्ये चाभीद्धत्वम्।

अभिमुखीन होने पर अभीद्ध होता है।

(Leaping and Aspiring Flame)

वा० नैर्लक्ष्यं चापि वैलक्ष्यं चोपलक्ष्यं ततः परम्।
विहाय चापलक्ष्यञ्च संलक्ष्ये धीरवृत्तिता॥ ५८॥
न्यासेन मुञ्च नैर्लक्ष्यं चापेतं प्राणकर्मणा।
भूतशुद्धचा च वैलक्ष्यं चोपलक्ष्यं गुरुं श्रयात्॥ ५९॥

आद्या मात्रा हि नैर्लक्ष्यं वैलक्ष्यं मध्यमा जयेत् ।
तृतीया चार्धमात्रा हि द्वेऽपरे जयतस्ततः ॥
इति प्रणवमाश्रित्य संलक्ष्यस्थितिमिच्छत ॥ ६० ॥
चतुर्णां प्रतिषेधार्थमभ्यासञ्च विचारणाम् ।
बुद्धियोगञ्च भावञ्च ह्याश्रयत यथाक्रमम् ॥ ६१ ॥
मणिसरोजविलाससमुत्सुकोऽटसि वृणोषि विषादमितस्ततः ।
विषवितानशुचा न सुधाकरोऽवति भुजङ्गभियोऽपि सरोरुहम् ॥ ६२ ॥
जहत् कर्मोपात्तं फलमुपरि किञ्चान्तरतृषो
जहत् तृष्णामुर्वीमहमिति तनुग्रन्थिमजहत् ।
न जह्यास्ते ज्योतीरसमिथुनयागे जपहुतं
यतो धर्माः कर्माण्यखिलमियुरिष्टैकशरणम् ॥ ६३ ॥

अन्वय—नैर्लक्ष्यं च अपि ततः परं वैलक्ष्यं च अपलक्ष्यं च विहाय संलक्ष्ये धीरवृत्तिता (भाष्य में स्पष्ट) ॥ ५८ ॥ न्यासेन नैर्लक्ष्यं, प्राणकर्मणा च अपेतं (अपलक्ष्यं), भूतशुद्ध्या च वैलक्ष्यं मुञ्च, उपलक्ष्यं च (उत्तीर्य) गुरुं श्रयात् । आद्या मात्रा हि नैर्लक्ष्यं जयेत्, मध्यमा वैलक्ष्यं जयेत्, ततः तृतीया च अर्धमात्रा हि द्वे अपरे जयतः ॥ ५९, ६० ॥ चतुर्णा प्रतिषेधार्थं अभ्यासं च विचारणां बुद्धियोगं च भावं च हि यथाक्रमं आश्रयत ॥ ६१ ॥ मणिसरोजविलाससमुत्सुकः इतः ततः अटसि, विषादं वृणोसि, विषवितानशुचः भुजङ्गभियः सुधाकरः अपि सरोरुहम् न अवति ॥ ६२ ॥ उपरि कर्मोपात्तं फलं जहत् किञ्च अन्तरतृषः, उर्वीं तृष्णां जहत्, अहमिति तनुग्रन्थिम् अजहत्, ज्योतीरसमिथुनयागे ते न जह्याः, यतो धर्माः कर्माणि अखिलं जपहुतं (च) इष्टैकशरणम् इयुः ॥ ६३ ॥

['नैर्लक्ष्य' को भी और फिर 'वैलक्ष्य' को और 'अपलक्ष्य' को छोड़कर 'संलक्ष्य' में धीरवृत्तिता (होती है) ॥ ५८ ॥ न्यास से 'नैर्लक्ष्य' को, प्राणकर्म से 'अपेत' (अपलक्ष्य) को, और भूतशुद्धि से 'वैलक्ष्य' को छोड़ो । 'अपलक्ष्य' के पार जाकर (साधक) गुरु का आश्रय ले । अर्थात् न्यास से 'नैर्लक्ष्य' का, प्राणायाम से 'अपलक्ष्य' का और भूतशुद्धि द्वारा वैलक्ष्य का परिहार करें एवं उपलक्ष्य को पार करके गुरु का आश्रय लें ॥ ५९ ॥ आद्या मात्रा 'नैर्लक्ष्य' को जीते, मध्यमा 'वैलक्ष्य' को जीते, उससे तीसरी जो अर्धमात्रा है, वह दूसरे दो 'अपलक्ष्य' और 'उपलक्ष्य' को जीते ॥ ६० ॥ इन चारों के प्रतिषेध के लिए अभ्यास और विचार, बुद्धियोग और भाव का यथाक्रम से आश्रय ले ॥ ६१ ॥ तुम मणिपद्म के साथ विलास के लिए समुत्सुक हो (और) इधर-उधर घूम रहे हो, विषाद का वरण कर रहे हो । विष-विस्तार के शोक से, भुजङ्ग के भय से सुधाकर (चन्द्र) भी कमल की रक्षा

नहीं करता ॥ ६२ ॥ ऊपर से कर्मोपात्त फल को छोड़ते हुए, (किन्तु) भीतर से सतृष्ण, उर्वी (बड़ी) तृष्णा को छोड़ते हुए, (किन्तु) अहरूपी सूक्ष्म ग्रन्थि को न छोड़ते हुए (तुम हो) । ज्योतिः + रस के मिथुन याग में उन दोनों (भीतर की तृष्णा और अहंरूपी ग्रन्थि) को भले हो न छोड़ो, क्योंकि धर्म-कर्म और अखिल जपरूपी होम एकमात्र इष्ट की ही शरण में आ जाएँगे ॥ ६३ ॥

भाष्य—नैर्लक्ष्य, वैलक्ष्य, उपलक्ष्य एवं अपलक्ष्य—इन चारों के परिहारपूर्वक संलक्ष्य में धीरवृत्तिता होना आवश्यक है । [ऐसा होने पर समझें कि आपके उद्देश्य का उपकारक (अभिमुखीन) जो छन्द है, वह छन्द 'अभीद्ध' हुआ है ।] जपादि साधन में अङ्गन्यासादि क्रिया द्वारा नैर्लक्ष्य का परिहार करें; भूतशुद्धि द्वारा वैलक्ष्य का; प्राणायाम द्वारा अपलक्ष्य का (अपेतं); एवं ध्यानयोग में श्री गुरु के समाश्रय द्वारा उपलक्ष्य से उत्तीर्ण हो जाएँ । प्रणव की जो आद्या मात्रा (अकार) है उसके व्याहरण से नैर्लक्ष्य दूरीभूत होता है अर्थात् लक्ष्याभिमुखीनता का अनुक्रम आ जाता है । मध्यम मात्रा (उकार) वैलक्ष्य (विरुद्ध, व्यर्थ लक्ष्य) का निरसन करके अभिमुखीनता को ऋजुगामिनी और सतेज करती है । तृतीया (मकारमात्रा) एवं अर्धमात्रा अन्य दोनों (अपलक्ष्य—अपकृष्ट हीन लक्ष्य एवं उपलक्ष्य—कथञ्चित् समीपवर्ती अथच वस्तुतः अवान्तर लक्ष्य) का जय करती हैं (जयतस्ततः) । अतएव प्रणवादि बीज अर्थात् महानाम के समाश्रय द्वारा संलक्ष्य में स्थिति की इच्छा करें (इच्छत) । सहकारी उपाय के रूप में इन चारों (नैर्लक्ष्य आदि) के प्रतिषेधार्थ यथाक्रम अभ्यासयोग, विचारणा, बुद्धि-योग ('बुद्धौ शरणमन्विच्छ') एवं भाव (भक्तियोग—'मामेकं शरणं व्रज') का यथा-साध्य समाश्रय करें ।

अच्छा, तम तो ('सहस्रारे कर्णिकारे' इत्यादि 'रहसि' ध्यान की वस्तु) मणि-सरोज (मणिपद्म) के विलास में समुत्सुक हो, अर्थात् वही तो तुम्हारा संलक्ष्य है; किन्तु वही यदि है तो इधर-उधर क्यों चक्कर काटते हो ? (अटसि इतस्ततः)—लक्ष्यहीन की तरह क्यों भटकते हो ? केवल वही नहीं, जिससे आत्मा का सम्प्रसाद न होकर निश्चित विषाद ही होगा, उसे ही केवल क्यों वरण करते हो ? (वृणोषि विषादम्)—यह वैलक्ष्य तो है ही । उसके बाद देखो, सुधांशु की स्निग्ध किरण में अपना अङ्गसन्ताप तुम ठडा कर लोगे ऐसा तुमने सोचा तो है अवश्य, किन्तु (पूर्व-संस्कारकल्पित) विषवितान (विषविकिरणकारी विषचन्द्रातप) को छोड़कर बाहर तो आज भी नहीं निकले हो; इसलिए स्वयं सुधाकर विषचन्द्रातप दुःख (शुचः) से तुम्हारी किस प्रकार रक्षा करेंगे (अवति न) ? यह अपलक्ष्य है । शेष काल में देखिए कोई व्यक्ति सरोवर में प्रस्फुटित एक कमल को दिखाकर कहता है, "इस कमल-मृणाल

*

के मूल में ऐसी एक निधि है, जिसके पा लेने पर सर्वभूत में 'अभीः' (भयहीन) हुआ जा सकता है। तुम वही सुनकर पद्म को लेने सरोवर में उतरे। किन्तु वहाँ था एक हिंस्र कृष्णसर्प—उसने तुम्हें भगाया। तुम यदि पद्म-मृणाल के मूल में मणि को हाथ में धारण न करके पद्म को ही धारण करते हो तो उद्यतफण कृष्णसर्प तुम्हें छोड़ देगा क्या ? यह समीपवर्ती अथच अवान्तर लक्ष्य (उपलक्ष्य) का दृष्टान्त है। (न अवति भुजङ्गभियोऽपि सरोरुहम् ।)

(और समझकर देखिए—इष्ट में एकान्ताभिमुख्यरूप जो संलक्ष्य है उसमें स्थिति न जाने कितने साधनों से अर्जित करनी होती है ।) कर्म के द्वारा उपात्त जो फल (कर्मफल) है, तुमने उसे भले ही (उपरि, बाह्यतः) त्याग कर दिया है (जहत्), किन्तु तुम अन्तरतृष जो रह गए हो। और, उरुरूपा (उर्वीम्) तृष्णा को यद्यपि छोड़ सके हो तो भी उसके सूक्ष्म (तनु) बीजभूत 'मैं' रूप मूल ग्रन्थि को तो नहीं छोड़ सके (अजहत्) हो। अच्छा, यह तनुग्रन्थि तो थोड़े में जानेवाली नहीं है। (इस ग्रन्थि को लेकर अधिक हलचल न करें।) उसे यदि नहीं छोड़ सकें, तब भी ज्योति एवं रस का मिथुन-याग तो श्री गुरु ने तुम्हें प्राप्त करा दिया है, उस याग में (निष्ठापूर्वक) जपरूप हवन को चलाते जाओ (न जह्याः) । इस एक उपाय से ही (अतः) तुम्हारे धर्मकर्मादि अखिल रूप में ही (क्रियाकारक फलसम्भारसह) इष्टैक-शरणागति में समापन लाभ करेंगे (इयुः)। सुतरां ईदृश संलक्ष्य साधन दूसरा और क्या है ? (इसे छोड़ दिया है, किन्तु उसे तो नहीं छोड़ पाया हूँ, यह सोचकर नैर्लक्ष्यादि में विमूढ़ न रहो) ।

सू० १७. तेजसस्तथात्वे तपस्त्वम् ।

[तेज यदि 'अभीद्ध' हो तब वह 'तपः' होता है। (Power as directed to and realising an end) ।]

वा० तपसा चीयते ब्रह्म ब्रह्म खल्विदमञ्जसा ।
ब्रह्मणोऽनु प्रवेशादधि सर्वतोऽस्ति तपो ध्रुवम् ॥ ६४ ॥
ख्यातयो भूर्भुवःपूर्वाः सप्त सर्वेषु निष्ठिताः ।
तद् व्याप्य वृत्तिमत्त्वेऽपि न सर्वं व्यक्तवृत्तिमत् ॥ ६५ ॥
अग्निस्तेजः पुनश्चार्चिर्वर्चश्चोर्जो यथान्वयम् ।
ओजश्च भर्ग इत्येवं भूरादौ तपसो गतिः ॥
एकस्मिन्नेकमुख्यत्वेऽपरेषां गुणता स्थिता ॥ ६६ ॥

प्रतिमखेषु जुहोषि हुताशनं
प्रतिजपेषु जुहोषि परां गिरम् ।
प्रतिभवेषु जुहोषि भवोद्भव-
मिति करोषि तदेव परं तपः ॥ ६७ ॥

गीतादिषु तपस्त्रैधं श्रौतं ज्ञानमयादिकम् ।
महाव्याहृतिभिः सर्वं संगृह्यते हि मूलतः ॥ ६८ ॥
प्रणवादिषु बीजेषु भूर्भुवःसुवरोमिति ।
त्रयी हि शिरसा कल्पा तस्माज् जपः परं तपः ॥ ६९ ॥
जपन् मन्त्रं बाढं मनसि यदि तुच्छं निजकृतं
श्रयन् न्यासं ध्यानं हवनमपि चेन्नैषि शरणम् ।
स्तुवन् स्तोत्रं हृद्यं हृदि विगुणतां चेदुपगतः
स्मर ज्ञानप्रेमाग्नियजनपरं द्व्यक्षरजपम् ॥ ७० ॥
मन्त्रं भूरिति सन्धेयं भुवश्च दैक्षचोदना ।
स्वरितोष्ट-समापत्तिर्येनात्मा सम्प्रसीदति ।
तेजस्त्रैधं तपस्त्रैधं यो वेद वेद सोऽखिलम् ॥ ७१ ॥

अन्वय—सं० ६४ से ६९ तक के श्लोकों में ही अन्वय स्पष्ट है ।

यदि निजकृतं मन्त्रं जपन् तुच्छं मनसि, बाढम्, न्यासं ध्यानं हवनमपि श्रयन् शरणं न एषि चेत्, हृद्यं स्तोत्रं स्तुवन् हृदि विगुणताम् उपगतः चेत्, ज्ञानप्रेमाग्नियजनपरं द्व्यक्षरजपं स्मर ॥ ७० ॥

मन्त्रं भूरिति सन्धेयं, भुवश्च दैक्षचोदना, स्वरिति इष्टसमापत्तिः येन आत्मा सम्प्रसीदति त्रैधं तेजः त्रैधं तपः यः वेद सः अखिलं वेद ॥ ७१ ॥

[तपस् से ब्रह्म का 'चयन' (राशिकृत या सघन होना) होता है, '(सर्वं) खल्विदं ब्रह्म' की ठीक से (स्पष्ट अनुभूति हो पाती है), ब्रह्म के 'अनुप्रवेश' से ही तप सर्वतः 'ध्रुव' है ॥ ६४ ॥ 'भूर्भुवः' जिनके पूर्व (आदि) में हैं, ऐसी सप्त ख्यातियाँ सर्वत्र निहित हैं । वह (सब कुछ) इन (ख्यातियों) के द्वारा व्याप्य होकर वृत्तिमत् होने पर भी व्यक्त या प्रकट वृत्ति से युक्त नहीं है ॥ ६५ ॥ अग्नि, तेजः, फिर अर्चिष्, वर्चस्, ऊर्ज, ओजस् और भर्गस्—ये क्रमशः भूरादि (सप्त व्याहृतियों) में तपस् की गति या व्याप्ति (के रूप) हैं । एक-एक (व्याहृति) में एक-एक (तपस् के रूप) का मुख्यत्व होने पर भी अन्यों की गौणता है अभाव नहीं ॥ ६६ ॥ (हे साधक !) तुम प्रत्येक (द्रव्य-) यज्ञ में हुताशन का हवन करते हो, प्रत्येक जप में परा वाणी का हवन करते हो, प्रत्येक 'भव' (जन्म) में भवोद्भव (जन्म के उद्भव) का हवन कर

रहे हो, इस प्रकार वही परम तप है ॥ ६७ ॥ गीतादि में श्रौत, ज्ञानमय आदि तीन प्रकार का तप (कहा गया है) । वह सब (प्रकार का तप) महाव्याहृतियों में संगृहीत हो जाता है ॥ ६८ ॥ प्रणवादि बीजों में भूः, भुवः, सुव. + ओम्, इस प्रकार त्रयी (ऋक्, यजुः, साम) को शिरःस्थानीय माना गया है; इसलिए जप ही परम तपस् है ॥ ६९ ॥ (हे साधक !) मन्त्र का सचमुच जप करते हुए यदि अपना कर्म तुच्छ (बेकार) लगे, यदि न्यास, ध्यान, हवन का आश्रय लेने पर भी ऐसा लगे कि शरणागति नहीं हो रही है, सुन्दर स्तोत्र का स्तव करते हुए भी यदि हृदय में विगुणता को प्राप्त हो रहे हो (ऐसा तुम्हें लगता हो) तो ज्ञान-प्रेम की अग्नि में यजन-रूप 'जप' के दो अक्षर ('ज' 'द') का स्मरण करो ॥ ७० ॥ मन्त्र का 'भूः' इस प्रकार सन्धान करना चाहिए, 'भुवः' दीक्षा की चोदना है, 'स्वः' यह इष्-समापत्ति है, जिससे आत्मा का सम्प्रसाद होता है । जो तेजस् की त्रिविधता और तपस् की त्रिविधता को जानता है, वह सब कुछ जानता है] ॥ ७१ ॥

भाष्य—'तपसा चीयते ब्रह्म', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' एवं 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'—तप द्वारा ब्रह्मतत्त्व मानो उच्छ्वसित हुए हैं। उन्होंने अपना चयन अथवा व्याहरण किया है; यह सभी ब्रह्म तत्त्व है और कुछ नहीं; ब्रह्म ने जो सृष्टि की है उसीमें वह अनुप्रविष्ट हुए हैं। इन वाक्यों का मर्म समझने की पहले चेष्टा हुई है, बाद में और भी होगी। हाँ, इन तीन सूत्रों से निगमन हुआ कि सृष्टि के सर्वावयव में ही ब्रह्म तपोरूप में हैं। अर्थात् तपः विश्वानुस्यूत सत्य है–(Immanent Cosmic Principle)। एक प्रकार से तपोरूप में ब्रह्म जिस प्रकार सर्वग हैं, अन्य प्रकार से भूर्भुवरादि सप्त 'ख्याति' रूप में वे सर्वत्र 'निष्ठित'—निगूढ़ भाव में एवं निश्चित रूप में स्थित हैं। (जैसे, एक बीज में अथवा एक धूलिकणा में भी ये सातों निगूढ़ नियामक भाव से विद्यमान हैं।) इस सप्तक के द्वारा व्याप्य होकर ही (अन्तर्बहिः विश्व में) सब कुछ वृत्तिमत् हो रहा है इसमें सन्देह नहीं (तद्व्याप्यवृत्तिमत्त्वेऽपि), किन्तु सचराचर व्यवहार में सब कुछ में इस सप्तक को व्यक्त, प्रकट अवस्था में रहते नहीं देखा जाता (न सर्वं व्यक्तवृत्तिमत्) । (जैसे, सूर्य-रश्मि में जो सप्त वर्णालि है) तपः एवं व्याहृति उभयथा सर्वत्रग हैं, अतः भूरादि प्रत्येक व्याहृति में तप का एक-एक 'रूप' अवश्य रहेगा। वे ये हैं—भूः में अग्नि, भुवः में तेजः, स्वः में अर्चिः, महः में वर्चः, जन में ऊर्जः, तपः में ओजः एवं सत्य में भर्गः। एक विशेष सूत्र (Principle) का आश्रय लेकर इस प्रकार विशेष-विशेष निर्देश हो रहा है ऐसा समझना होगा। वह सूत्र आगे परिस्फुट होगा। यहाँ लक्ष्य करें कि अग्नि प्रभृति परस्पर के व्यावर्तक नहीं हैं। एक-एक ख्याति में एक-एक की मुख्यता है, किन्तु गौण भाव में प्रत्येक ही अन्यत्र रहता है (अपरेषां गुणता स्थिता)।

अब देखिए—द्रव्य यज्ञादि विविध यज्ञों में भौमाग्नि से आरम्भ करके अपरापर ऊर्ध्वभूमिक हुताशन में (गायत्री में साक्षात् भर्गः हो तुम्हारा हुताशन है) हवन करते हो (जुहोषि)। जप काल में किस अग्नि को उद्देश्य करके हवन करते हो ? वह अग्नि है 'तनूनपात्'—साक्षात् परा वाक् उस अग्नि की शाश्वती तनु (प्रति परां गिरम्) है। और जन्म-जन्म में लोक-लोक में किसे उद्देश्य करके जीवन का हवन करते चलते हो, कहो तो ? वेद की यह चिरन्तनी जिज्ञासा है—'कस्मै देवाय हविषा विधेम !' वह कौन देवता है ! वह देवता—'भवोद्भव' है—'यत इमानि भूतानि' इत्यादि। वह निखिल सृष्टि, स्थिति, लय के मूल में जो परम रहस्य आवेग है वही है—जिसे 'आनन्द' भी कहते हैं। श्रुतिप्रसिद्ध जो पंचाग्नि है उसका मूल तो यहीं है ! अच्छा, यह सब कर लेने पर कौन सा कर्म करते हो, कहो तो ? 'परं तपः'। ब्रह्म के तपः से उत्पन्न अणु, महान् सब कुछ उस आदिम ब्रह्म के तपः को विभिन्न रूप से उद्देश्य करके परोक्ष परम में पुनर्मिलन का जो अपना तपः है उसे ऋजु, कुटिल नाना छन्दों में करता चलता है। कब उसका ऋतच्छन्दः, मधुच्छन्दः मिल जाएगा, अभी उसका कौन ठिकाना दे सकता है, कहो तो ? उसका ठिकाना पाने के लिए 'तपस्' के साथ 'मेधस्' को भी मिलाना होता है। अर्थात्, तपस् को व्याहृतिसप्तक की चरम भूमि जो 'सत्यं' है वहाँ तक स्फुट कर लेना होता है—'भर्गो देवस्य धीमहि' के रूप में अभिव्यक्त होना होता है।

गीता जिस वाचिकादि त्रिविध तप की बात कहती है, श्रुति में 'तस्य ज्ञानमयं तपः' इत्यादि जो सब रूप कथित हुए हैं, उन सभी को भूर्भुवः स्वः इस महाव्याहृतित्रय द्वारा समासतः संगृहीत समझें। अर्थात् तपस् की मूल आकृति 'भूर्भुवः स्वः' है।

'गायत्रीशिरः' कहते हैं—'भूर्भुवः सुवरोम्'। सुतरां ॐकार (एवं अपरापर बीज मन्त्र में) उक्त त्रयी व्याहृतित्रय एवं यथाक्रम (ऋक्, यजुः, साम) कल्पित हुए हैं। अतएव प्रणवादि जप ही 'परं तपः' है।

पुनश्च, मन्त्र को 'भूः' इस रूप में समझें ! श्री गुरु मन्त्र में जो शक्ति-सञ्चार करते हैं दीक्षा दान काल में विशेषतः (दैक्षचोदना), वह 'भुवः' है। और, इष्ट में जो अनन्त ज्योति रस है, उसका धारा रूप में अविच्छिन्न रूप से 'दोहन' (इष्ट-सभापत्ति) —इसे 'स्वः' समझें। इस प्रकार तेज के त्रिधात्व एवं तपः के त्रिधात्व को जो यथार्थ जानता है उसे और क्या जानना बाकी रहता है ? दृढ़ भाव से मन्त्रजप करने पर भी यदि मानो (मनसि) कि हमारे कर्म (निजकृतं) किसी काम के ही नहीं होते हैं (तुच्छं); यदि न्यास, ध्यान, होम इन सबका आश्रय करने पर भी (श्रयन्) ऐसा लगता है कि मेरा शरण लेना ही तो नहीं हुआ है (न एषि शरणम्); यदि हृदय के अनुकूल (हृद्यं) स्तोत्र गान करके भी (स्तुवन्) आप सोचें कि कहाँ मेरे हृदय की विगुणता तो गई

नहीं (विगुणतां चेदुपगतः), तब अरे भावविधुर (जप-साधक) स्मरण करो कि 'जप' ये दोनों अक्षर मानों तुम्हें पुकारकर कह रहे हैं कि तुम अपने सब कर्म (जपादि) को 'यजन' के रूप में भावना करने का अभ्यास करो (यजनं परं)—'ज'कार और 'प'कार अच्छा, किन्तु किस अग्नि में ? ज्ञानाग्नि और प्रेमाग्नि (यथाक्रम जकार और पकार ग्रहण करो) ! [यथा, ज्योंही कहा "ॐ आत्मने नमः", त्योंही आत्मा को स्थूलाभिमानी व्यष्टि-समष्टि चैतन्य-रूप में विश्वविराट् समझें; 'ॐ अन्तरात्मने नमः' कहकर सोचिए सूक्ष्माभिमानी व्यष्टि-समष्टि चैतन्य को तैजस हिरण्यगर्भ; 'ॐ परमात्मने नमः' कहकर सोचिए कारणाभिमानी व्यष्टि-समष्टि चैतन्य प्राज्ञ ईश्वर । प्रेमयोग में भी अनुरूप भावना करें—जीवात्मा की सन्धिनी, संवित्, ह्लादिनी—इन तीनों को यथाक्रम 'पूर्णैक-सच्चिदानन्द स्वरूप में आहुति दे रहा हूँ' इत्यादि ।]

अन्त में इस कारिका के अर्थ की भावना करते हुए इन दोनों सूत्रों (१६,१७) का अर्थ विस्तार से ध्यान में रखिए—

वा० **बीजमुच्छूनतां याति विश्वञ्चापि तथागति ।**
ऋध्यति प्रणवे मात्रा तपसा तद्धि चीयते ॥ ७२ ॥

अन्वय—स्पष्ट है ।

[बीज उच्छूनता को प्राप्त होता है, विश्व भी वैसी ही गतिवाला है (उरु में भी उच्छूनता है) । प्रणव में मात्रा ऋद्ध होती है और तपस् से उसका 'चयन' होता है] ॥ ७२ ॥

बीज को बोकर देखते हैं कि वह अङ्कुरोद्गम के पहले फूल उठता है, क्षुद्र क्षुद्र बीजाणु, बीज कोष प्रभृति में भी वही देखते हैं (Swelling before all division); जड़ाणु प्रभृति में भी बहुत सम्भवतः वही है । उच्छूनता, बढ़ना-घटना दोनों ओर हो सकती है । फिर विराट् विश्व को भी उच्छून-धर्मी (Expanding) देखा जाता है । प्रणवादि में अर्धमात्रा रूप में मात्रा की ऋद्धि होती है—नाद और बिन्दु इन दो परम सीमाओं की दिशा में; ऐसा क्यों ? क्योंकि (हि) मूल में जो (तत्) ब्रह्मवस्तु (उपादान का उपादान, निमित्त का निमित्त) है, वह 'तपसा चीयते' ।

व्याहृतिसप्तकसूत्राणि

सू० १८. अयमिति-प्रत्ययप्रतियोगित्वं भूरिति ।
१९. असाविति-प्रत्ययप्रतियोगित्वं स्वरिति ।
२०. उभयप्रत्ययाप्रतियोगित्वं भुवरिति ।
२१. उभयप्रत्ययप्रतियोगित्वं महरिति ।
२२. असीति-प्रत्ययप्रतियोगित्वं जन इति ।
२३. अस्मीति-प्रत्ययप्रतियोगित्वं तप इति ।
२४. अस्तीति-प्रत्ययप्रतियोगित्वं सत्यमिति ।

['यह है' ऐसे प्रत्यय का प्रतियोगित्व भूः है ।] ॥ १८ ॥
['वह है' ऐसे प्रत्यय का प्रतियोगित्व स्वः है ।] ॥ १९ ॥
[उभय प्रत्ययों का अप्रतियोगित्व भुवः है ।] ॥ २० ॥
[उभय प्रत्ययों का प्रतियोगित्व महः है ।] ॥ २१ ॥
['तुम हो' इस प्रत्यय का प्रतियोगित्व जन है ।] ॥ २२ ॥
['मैं हूँ' इस प्रत्यय का प्रतियोगित्व तपस् है ।] ॥ २३ ॥
['वह है' इस प्रत्यय का प्रतियोगित्व सत्य है ।] ॥ २४ ॥

अथ कारिकावली

(सामान्यतो दिग्दर्शनी)

वा० विधूय क्षिप्रं धूलिकणमवरं ब्रह्म दहरं
पदा पिष्टां वल्लीं शबलकुसुमां वोपनिषदम् ।
सकृत् त्यक्तं पत्रात् पृषदपि बृहच्छान्दसमृतं
न मन्ये गुल्मे गुञ्जितमशरुतं साम सुमहत् ॥ ७३ ॥
महाव्योम्नि व्यक्तं नयनपथगं चित्रमखिलं
तदप्यास्ते सर्वं रहसि कणिकायां निपुटितम् ।
इहास्ते यत्तस्य क्वचिदपि विसृष्टो न विरहोऽ-
त एकार्णं विद्धि श्रुतिनिवहवाचो विविदिषुः ॥ ७४ ॥
ब्रह्मार्णं तं परिगणय यो ब्रह्मरूपैकवर्णो
ब्रह्माण्डे यत् तदपि तदतीतं निधत्ते महिम्नि ।
एकार्णं तं प्रथयति बहिश्छन्दसा बह्वृचां वाक्
साम्नोद्गीतः स्वर इति यजुर्याजयेद् भूर्भुवः स्वः ॥ ७५ ॥

अन्वय—अवरं धूलिकणं क्षिप्रं विधूय दहरं ब्रह्म (न मन्ये) पदा पिष्टां शबलकुसुमां वल्लीम् उपनिषद्म् वा (न मन्ये) पत्रात् सकृत् त्यक्तं पृषद् अपि बृहत् छान्दसम् ऋतं (न मन्ये) गुल्मे गुञ्जितमशरुतं सुमहत् साम न मन्ये ॥ ७३ ॥ नयनपथगम् अखिलं चित्रं महाव्योम्नि व्यक्तं, तद् अपि सर्वं रहसि कणिकायां निपुटितम् । इह आस्ते यत् तस्य विसृष्टौ क्वचिद् अपि विरहो न आस्ते, अतः श्रुतिनिवहवाचः विविदिषुः एकार्णं विद्धि ॥ ७४ ॥ यः ब्रह्मरूपैकवर्णः तं ब्रह्माणं परिगणय । यत् ब्रह्माण्डे तत् महिम्नि तदतीतम् अपि निधत्ते । बहुऋचां वाक् छन्दसा बहिः एकार्णतं प्रथयति । साम्ना उद्गीतः स्वरः भूः भुवः स्वः इति यजुः याजयेत् ॥ ७५ ॥

['अवर' (अधम, नगण्य) धूलिकण को झट से झटककर फेंक देता हूँ (किन्तु वह) दहर ब्रह्म है, ऐसा नहीं समझता हूँ । पैर से कुचली हुई, रंगबिरंगे फूलोंवाली लता को उपनिषद् (नहीं समझता हूँ), पत्ते पर से एक बार गिरी हुई बूँद को बृहत् छान्दस् ऋत नहीं समझता हूँ, गुल्म में गूँज रहे मच्छर के रव को सामगान नहीं समझता हूँ ॥ ७३ ॥ नयनपथ में जो अखिल चित्र महाव्योम में व्यक्त है, वह भी सारा (ही) कणिका में, एकान्त में सिमटा हुआ है । यहाँ जो है, उसका इस विलक्षण सृष्टि में कहीं भी विरह (अभाव) नहीं है, इसलिए 'श्रुति' की समग्र वाणी को (यदि) जानना चाहते हो (तो) एक वर्ण को जानो ॥ ७४ ॥ जो ब्रह्मरूप एक वर्ण (प्रणव का अकारादि) है, उसे 'ब्रह्माणं' (ब्रह्म-वर्ण) समझो; 'ब्रह्माणं' अपनी महिमा से जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, उसे और जो उस (ब्रह्माण्ड) के अतीत है, उसे भी धारण करता है । 'एकार्ण' के ऋत या यथार्थ को बहु ऋचावाली वाक् छन्द के द्वारा बाहर विस्तृत करती है । (वर्ण का) स्वर साम द्वारा गाया जाता है (और) यजुष् 'भूर्भुवः स्वः' इस प्रकार याग कराए] ॥ ७५ ॥

भाष्य—भूरादि व्याहृति अथवा प्रणवादि बीज के अवयव तो मात्र कुछेक अक्षरों से गठित हैं । उनके भीतर इतने तत्त्व, शक्ति और आकृति की व्यञ्जना आविष्कार करने जायँ तो क्या कल्पना की 'कसरत' मात्र नहीं है ? अच्छा, आकार में छोटा होने से तो किसीने आज तक एक क्षुद्र वटकणिका अथवा मातृजठर में एक जीवाणु को 'नगण्य' नहीं समझा और आजकल का विज्ञान तो एक धूलिरेणु, जलबिन्दु अथवा तदपेक्षा लक्ष-लक्ष-गुण क्षुद्र पदार्थ में भी महाविस्मयकर ब्रह्माण्ड का दर्शन करा रहा है, केवल 'थ्योरी' में नहीं, वास्तव प्रयोग में भी । इसलिए प्रथम कारिका में कहा है—पदसंलग्न धूलिकण को तो शीघ्र ही झाड़कर फेंक देता हूँ (क्षिप्रं विधूय), किन्तु एक बार भी मन में नहीं सोचता हूँ (न मन्ये) कि यह नगण्य धूलिकण दहर (सूक्ष्म रूप)

ब्रह्म ही है। पथ में चलते हुए नवोद्गत शष्पराजि (नया घास) के बीच छिपे नाना वर्ण के क्षुद्र-क्षुद्र पुष्पों से अलङ्कृता किसी लतिका को (वल्लीं शबलकुसुमां) पैर से मसल डालता हूँ (पदा पिष्टां), किन्तु एक बार भी मन में नहीं सोचता हूँ (न मन्ये) कि यह पिष्ट लतिका एक महती मौन-उपनिषद् (मौपनिषदम्) है। और जो यह पत्रच्युत (पत्रात्) एक बिन्दु जल (पृषत्) मेरे अङ्ग पर एक बार (सकृत्) पतित हुआ, कभी तो नहीं सोचता हूँ (न मन्ये) कि यह क्षरित बिन्दु हंसवती ऋक् में उद्दिष्ट (छान्दस) जो 'ऋतं बृहत्' है, उससे एक कणा भी कम नहीं है। पुनश्च, यह जो गुल्म में मशक गुन्-गुन् रव करता है (गुञ्जितमशरुतम्) वह सुमहान् साम गान (साम सुमहत्) है, यह भी तो किसी दिन हमने नहीं सोचा !

क्षुद्र की ओर से देख लेने पर विराट् की ओर से भी देखिए। महाव्योम हमारे नयन के समक्ष प्रसारित है (व्यक्तं नयनपथगं)। जो अखिल की छवि (चित्रमखिलं) है, वह महाविपुल की छवि है, वह सब कुछ ही (तदप्यास्ते सर्वं) है सूक्ष्म, गुप्त चित्र की भाँति सिमटा हुआ (रहसि निपुटितं) एक कणिका के भीतर ही। और, यहाँ जो है (इहास्ते यत्) इस विचित्र सृष्टि के बीच (विसृष्टौ) कहीं भी (क्वचिदपि) उसका विरह (अभाव) नहीं है। 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'। इसलिए (अतः) वेदागमादि की निखिल वाणी (श्रुतिनिवहवाचः) को यदि जानना चाहते हो (विविदिषुः) तो क्या करोगे ? एक अक्षर वा वर्ण को ही तत्त्वतः जानो (एकार्णं विद्धि)।

अतएव प्रणव के अकारादि, व्याहृति के वकारादि एक-एक वर्ण को 'ब्रह्मार्ण' कहकर परिगणना करो। प्रत्येक वर्ण ही ब्रह्मरूप है, इसलिए निखिल शक्ति और व्यञ्जना उसमें निहित है। ब्रह्मार्ण अपनी महिमा में (महिम्नि) के बल से व्यक्ताव्यक्त-रूप ब्रह्माण्ड का निधान है (निधत्ते) ऐसा नहीं, ब्रह्माण्ड का भी अतीत (Transcendent) जो कुछ (तदतीतं) है उसका भी निधान है। इस निमित्त मन्त्र की ब्रह्माण्डपाटनी शक्ति है। हमने देखा है कि विशेषतः अनुच्चार्या चो अर्धमात्रा है, उसके आश्रय से ही यह सम्भावित होता है। एक अर्ण का जो ऋतं, या यथार्थ गति-स्थिति-परिणति रूप है, उसे बहुमन्त्रमयी छन्दोग्रथिता जो ऋक् (बह्वृचां वाक्) है, उसी ऋङ्मन्त्र ने मानों बाहर (स्थूल वैखरी रूप में) विस्तार किया है (प्रथयति बहिः)। वर्ण का जो स्वाभाविक स्वर है, उसका उद्गान साम करता है। और, उसी ऋतं एवं स्वरसमन्वित अर्ण द्वारा 'भूर्भुवः स्वः' इस प्रकार याग करता है (यजुर्याजयेद् भूर्भुवः स्वरिति)।

वा० ध्रुवस्वराद् यथा रागास्तायन्ते भैरवादयः ।
सिताद् वा वर्णवैचित्र्यं संख्यानमेकतो यथा ॥ ७६ ॥
एकस्मादेव मुख्याच्च प्राणाः पञ्च दशापि वा ।
चैकस्मान्महतस्तद्वद् ब्रह्मार्णाद् वाङ्मयं जगत् ॥ ७७ ॥
रसायने यथा संख्या कृत्यादिभिर्निरूप्यते ।
मौलिकस्पन्दरूपाणां संघातस्य विशिष्टता ॥ ७८ ॥
ब्रह्मार्णानां तथा संख्याकृत्याकाङ्क्षाः प्रसज्यता ।
व्यावृत्ति-व्याहृती षड्भिरेताभिरिदमर्थता ॥ ७९ ॥

अन्वय—यथा ध्रुवस्वरात् भैरवादयः रागाः तायन्ते । यथा वा एकतः सिताद् वर्णवैचित्र्यं संख्यानम् ॥ ७६ ॥ एकस्मादेव च मुख्यात् पञ्च दश अपि वा प्राणाः, तद्वत् एकस्मात् च महतः ब्रह्मार्णाद् वाङ्मयं जगत् ॥ ७७ ॥ यथा रसायने संख्या + आकृत्यादिभिः मौलिकस्पन्दरूपाणां संघातस्य विशिष्टता निरूप्यते ॥ ७८ ॥ तथा ब्रह्मार्णानां संख्या + आकृति + काङ्क्षाः प्रसज्यता, व्यावृत्ति-व्याहृती एताभिः षड्भिः इदमर्थता ॥ ७९ ॥

[जैसे ध्रुव (स्थायी) स्वर से भैरव आदि रागों का विस्तार किया जाता है, या जैसे एक सित (श्वेत) से वर्ण-वैचित्र्य की अभिव्यक्ति होती है, जैसे एक ही मुख्य (प्राण) से पाँच या दस भी (प्राण) [उद्भूत होते हैं] वैसे ही एक ही महान् 'ब्रह्मार्ण' से सारा वाङ्मय जगत् [प्रकट होता है] ॥ ७६, ७७ ॥

जैसे रसायन में संख्या, आकृति आदि से मौलिक स्पन्द रूपों के सङ्घात की विशिष्टता निरूपित होती है, वैसे (ही) ब्रह्मार्णों की संख्या, आकृति, आकांक्षा, प्रसज्यता, व्यावृत्ति, व्याहृति—इन ६ के द्वारा इदं (यह) अर्थ वा भाव निष्पन्न होता है ॥ ७८,७९ ॥

अनुवाद—किसी ध्रुव-स्वर को आधार बनाकर भैरवादि रागों का जिस प्रकार तायन (विस्तार, रूपायण) होता है, उसी प्रकार अ, उ प्रभृति एक-एक वर्ण को आधार बनाकर शक्ति, आकृति और भाव (अर्थ) की अशेष विचित्र अभिव्यक्ति सम्भावित होती है । (यह एक ध्रुव-स्वर वा अकारादि एक वर्ण आधार तो हुआ, किन्तु 'आकर' हुआ क्या ? इसीलिए कहा है–) एकमात्र शुभ्र वर्ण जैसे पीतलोहितादि अशेष वर्णालि का आकर होता है, अ, उ प्रभृति एक-एक वर्ण भी उसी प्रकार हैं । (अच्छा, आधार और आकर ये दोनों मान लें हो गए, किन्तु आपूरक ?) 'एक' यह आदिम संख्या जैसे अपना पूरण-हरण करते हुए अनन्त संख्या का विस्तार करती है, अकारादि एक-एक वर्ण भी उसी प्रकार हैं । सुतरां आधार-आकर-आपूरक सर्वतोभाव में ही एक महान् ब्रह्मार्ण से लेकर

यह अशेष वैचित्र्यमय वाङ्मय (अर्थप्रत्ययसह जगत् प्रपञ्चित हुआ है, ऐसा समझें। [अच्छा, इन तीन कर्मों को छोड़ 'व्याहरण' (विविच्य आहरणं) रूप सृष्टि का असल कर्म भी तो चाहिए ?] इसीलिए एक मुख्य प्राण जैसे अपने को पाँच, दश इत्यादि रूप में अभिव्यक्त करता है, अकारादिवर्ण भी तद्रूप मुख्य प्राणधर्मी हैं। [अच्छा, एक वर्ण किस प्रकार बहु होता है, और वह बहु भी (मूल वर्ण) अशेष यौगिक (संयुक्त) आकार क्यों प्राप्त करता है ? उपमा के सिवाय इस 'क्यों' का उत्तर नहीं है।] जैसे, रसायन विज्ञान में देखते हैं—मूल में कतिपय स्पन्द आकृति (Vibratory Pattern) से संख्या आकृति (Number and form) इत्यादि की विचित्रतावशतः अशेष पदार्थ वैचित्र्य (संघात) सम्भावित होता है। यहाँ जैव-विज्ञान की अनुरूपता दिखाई देती है। इस दृष्टान्त में जिस प्रकार है, दार्ष्टान्तिक भी उसी प्रकार है—कोई एक वर्ण (मान लीजिए अ, इ, उ, क) कहाँ कैसी शक्ति (अभिधादि) अभिव्यक्त करेगा, यह निर्भर है इन ६ लिङ्गों पर—संख्या, आकृति, आकांक्षा, प्रसज्यता, व्यावृत्ति (प्रतिषेध) एवं व्याहृति इन ६ में से अन्तिम ही मुख्य है, उसीमें अन्य पाँचों का अन्तर्भाव है। इन ६ के द्वारा निरूपित होगा--इस स्थल में इस वर्ण द्वारा यह अर्थ वा भाव (इदमर्थता)। इन ६ का परिचय पहले कुछ मिला है, बाद में भी मिलेगा।

(विशेषतो विश्लेषणी)

वा० शक्त्याकृतिक्रियाभिर्हि पूर्णाभिर्बिन्दुरूपतः।
ब्रह्मानुप्राविशत् प्राणांस्ततोऽर्णा असुभृद्वराः॥ ८०॥
हंसो हंस इति शश्वदवशो यो जपोऽसुभिः।
एष जागर्ति तेनार्णः स्वापे विश्वस्य वै पुमान्॥ ८१॥
असून् बिभर्ति चार्णोऽयमस्वन्योरप्यनन्यता।
प्राणाग्निहोत्रनिष्पत्तेर्वाचोऽग्निर्दैवतं ह्यतः॥ ८२॥
प्रणवश्च रसो वाचामग्निर्दैवतमुच्यते॥ ८३॥
अप्रमेयानिरुक्तस्यादिमेयं मानदा यतः।
व्यञ्जनादिस्वरादिभ्यामतोऽपि मातृका मता॥ ८४॥
मेति चिच्छक्तिराद्या या कार्यकारकता च 'का'।
तृकाराद् दन्त्यमूर्धन्यात् द्वयोर्व्याप्रियमाणता।
'का' भूः 'मा' स्वरिति द्वन्द्वे तृभुवरिति योजना॥ ८५॥

अन्वय—पूर्णाभिः शक्त्याकृतिक्रियाभिः हि बिन्दुरूपतः ब्रह्म प्राणान् अनुप्राविशत् ततः असुभृद्वराः अर्णाः॥ ८०॥ हंसः हंसः इति यः असुभिः अवशः शश्वद् जपः, तेन एष अर्णः पुमान् वै विश्वस्य स्वापे जागर्ति॥ ८१॥

अयम् अर्णः असून् च बिभर्ति असु=अग्न्योः अनन्यता अपि (बिभर्ति)। अतः हि प्राणाग्निहोत्रनिष्पत्तेः वाचः अग्निः दैवतम् ॥ ८२ ॥ वाचां रसः प्रणवः अग्निः च दैवतम् उच्यते ॥ ८३ ॥ यतः इयं अप्रमेयस्य + अनिरुक्तस्य आदिमा, व्यञ्जनादिस्वरादिभ्याम् अपि [आदिमा] अतः [इयं] मातृका मता ॥ ८४ ॥ या आद्या चिच्छक्तिर् [सा] 'मा' इति, 'का' च कार्यकारकता, दन्त्यमूर्धन्यात् 'तृ'-कारात् द्वयोः व्याप्रियमाणता, 'का' भूः 'मा' स्वः—इति द्वन्द्वे तृर्भुवः इति योजना ॥ ८५ ॥

[पूर्ण शक्ति, आकृति, क्रिया—इन तीनों द्वारा ब्रह्म बिन्दुरूप से प्राणों में अनुप्रविष्ट हुआ, उससे (फिर) प्राणों का भरण करनेवाले अर्ण हुए ॥ ८० ॥ 'हंसः हंसः' इस प्रकार जो प्राणों के द्वारा 'अवश' (स्वयंचालित) शश्वत् (निरन्तर) जप है, उससे यह 'अर्ण' रूपी पुरुष विश्व की सुप्त दशा में जागता है ॥ ८१ ॥ यह अर्ण प्राणों का भरण करता है, और प्राण एवं अग्नि (इन दोनों) की अनन्यता का भी (भरण करता है) अतः प्राण और अग्नि के 'होत्र' की निष्पत्ति होने के कारण वाक् का दैवत अग्नि है ॥ ८२ ॥ वाणी-मात्र का रस प्रणव है, और अग्नि उनका दैवत कहलाता है ॥ ८३ ॥ क्योंकि यह अप्रमेय-अनिरुक्त (तत्त्व) को आदिमा है, और व्यञ्जन आदि-स्वर आदि से भी आदिमा है, अतः यह मातृका कही जाती है ॥ ८४ ॥ जो आद्या चित्-शक्ति है वह 'मा' है, और 'का' है कार्यकारकता। दन्त्य + मूर्धन्य 'तृ'-कार से उन दोनों को व्यापारशीलता (व्यक्त होती है)। 'का' भूः है 'मा' 'स्वः' है इस द्वन्द्व में 'तृ' = भुवः योजक है। दोनों के बीच में रहता हुआ जोड़ता है ॥ ८५ ॥

भाष्य—ब्रह्म ने अपने प्राणरूप में भी अनुप्रवेश किया है। हमने देखा है कि अनुप्रवेश बिन्दु पर अधिकार करते हुए ही होता है। क्रिया, शक्ति और आकृति—तीनों में ही पूर्ण (अर्थात् किसी प्रकार भी जहाँ न्यूनता वा परिच्छेद नहीं है ऐसे) बिन्दुरूप में वे प्राण में अनुप्रविष्ट हुए थे। इस प्रकार प्राण में ब्रह्म का अनुप्रवेश ही अर्ण है। सुतरां अर्ण ही प्राणसमूह का मुख्य भर्ता है। अन्नरसादि गौण हैं। अर्ण ही प्राण का मुख्य अन्न है।

'हंसः हंसः' यह जो निरन्तर (शश्वत्) अजपा जप प्राणों को अवश जैसा बनाकर चल रहा है, (सकल मातृकावर्ण सम्पुटित) उस जप द्वारा यह 'अर्ण' रूप पुरुष (पुमान्) जागता रहता है (जागर्ति)। (अजपा जप प्रकृत प्रस्ताव में मातृका माला जप है; 'हंसः' इसका सम्पुटित रूप है। विसर्ग इस माला का 'मेरु' है। इस 'मेरु' का लङ्घन करते हुए ही हमारा साधारण अजपा जप (श्वासक्रिया) हो रहा है। फलतः हरण का आधिक्य है—running down. मेरुलङ्घन न करके जप में क्या होता है ? 'हंसः सोऽहम्'।) इस प्रसंग में इस कारिका को स्मरण रखें—

वा० हंसो हंस इति श्वासेऽजपां जप्त्वा मुमूर्षसि ।
रुमेरुं चाप्यनुल्लङ्घ्य जिजीविषेः शतं समाः ॥ ८६ ॥

अन्वय—श्वासे हंसः हंसः इति अजपां जप्त्वा मुमूर्षसि, रुमेरुं च अपि अनुल्लंघ्य शतं समाः जिजीविषे ॥ ८६ ॥

[श्वास में 'हंसः हंसः' ऐसा जप कर तुम मुमूर्षु हो रहे हो । [हंसः के रु (:) रूपी] मेरु का उल्लंघन न करते हुए शत वर्ष जीने की इच्छा करो ॥ ८६ ॥

भाष्य—अपनी श्वासक्रिया में 'हंसः हंसः' अवश रूप से करते हुए तुम मरना चाहते हो, किन्तु विसर्ग (रु) रूप मेरु का लंघन न करके (श्रीगुरुदत्त उपाय से) इस अजपा जप में शत वर्ष (समाः) बचने की (अर्थात् 'इच्छामृत्यु' बनने की) इच्छा करते हो ।

वाक् का देवता अग्नि क्यों है, यह कहा जा रहा है । अर्णरूपी पुमान् 'असून्' प्राण-समूह का भरण करता है (हरण पूरण के अनुपात की रक्षा करके) एवं असु को अन्नरूप में वरण करते हुए वर्ण भी हो रहा है । असु एवं अग्नि इन दोनों की अनन्यता (मूलतः अभेद) भी श्रुति, अनुभव एवं विचारसिद्ध है । प्राणाग्निहोत्र (ॐ प्राणाय स्वाहा) इस अभेद-भावना के बिना निष्पादित नहीं होता । सुतरां मूल में जाकर सन्धान लेने पर समझा जाता है कि—वाक् का दैवत अग्नि है । [इस स्थल में कारिका का अनुवाद मात्र दिया है, किन्तु इस प्रसंग में दूसरे एक कारिकार्थ की भी भावना करें—]

वा० ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीदग्निर्दिवौकसां मुखम् ।
मुखं समाश्रितो वर्णो ह्यतोऽग्निर्दैवतं गिराम् ॥ ८७ ॥

अन्वय—'ब्राह्मणः अस्य मुखम् आसीत्' (इति—) 'दिवौकसां मुखम् अग्निः' । वर्णः मुखं समाश्रितः अतः गिरां दैवतम् अग्निः ॥ ८७ ॥

['ब्राह्मण इसका मुख था' 'देवताओं का मुख है अग्नि' । (ऐसा कहा गया) । वर्ण मुख में समाश्रित है । इसलिये वाणी का देवता अग्नि है ।] ॥ ८७ ॥

अनुवाद—वेद में पुरुषसूक्त कहता है—'ब्राह्मण' उनका मुख हुए । वेद में अग्नि देवताओं के पुरोहित (ब्राह्मण) एवं मुख के रूप में बहुधा श्रुत हैं । वर्णमयी जो वाक् है वह विशेष भाव में 'मुख' का ही आश्रय करती है । सुतरां, ('मुख' इस तत्त्व को गम्भीर और अभेद दृष्टि से देखने पर) अग्नि ही वाक् के (गिरां) देवता हैं ।] [पूर्व की एवं इस कारिका के बीच यथाक्रम 'असु' (प्राण) एवं 'मुख' इन दोनों शब्दों को गम्भीर भाव में ग्रहण करते हुए वाक् एवं अग्नि की सम्बन्ध-योजना की गई, इस पर ध्यान दें । मुख का नामान्तर 'आस्य' है । यह भी स्मरण रखें । इसीलिए 'असु' एवं 'आस्य' ये दोनों हैं यथाक्रम योजक लिङ्ग ।] पुनश्च—

वा० सूर्याग्निसोमलिङ्गाभिर्मन्त्र्यते मातृका परा।
ऋग्भिर्हि त्रिपुरा वाचामग्निर्देवस्त्रिरूपकः ॥ ८८ ॥

अन्वय—सूर्य + अग्नि + सोमलिङ्गाभिः ऋग्भिः हि परा मातृका त्रिपुरा मन्त्र्यते, त्रिरूपकः अग्निः वाचां देवः ॥ ८८ ॥

अनुवाद—क्योंकि (हि) परमा मातृकारूपिणी त्रिपुरा सूर्य (सविता), अग्नि एवं सोम (सोमार्द्धधारि—त्र्यम्बक)—इन तीनों के निरूपक तीन ऋङ्मन्त्रों के द्वारा मन्त्रिता हैं, सुतरां इन तीन रूपों में अभिव्यक्त अग्नि सभी वाक् का देवता है ऐसा जानें। और—

वा० चेतोऽधरारणिं कृत्वा प्राणांश्चोत्तरारणिम्।
वाचो हि मन्थनं तस्माद् देवस्तुल्यभवोऽनलः ॥ ८९ ॥

अन्वय—चेतः अधरारणिं प्राणान् च उत्तरारणिम्, मन्थनं कृत्वा हि वाचः तस्मात् तुल्यभवः देवः अनलः ॥ ८९ ॥

[चेतस् को नीचे की अरणि और प्राणों को ऊपर की अरणि बनाकर जो मन्थन होता है उससे ही वाणी (प्रकट होती है) इसलिये समान उत्पत्तिवाला देव अनल है] ॥ ८९ ॥

भाष्य—उत्तर एवं अधर अरणिद्वय के मन्थन से अनल उत्पन्न होता है। उसी प्रकार चेतः और प्राण इन दो अवर और उत्तर अरणियों के मन्थन से वाक् उत्पन्न है। वाक् और अग्नि की इसी प्रकार 'तुल्यभवता' होने से, अर्थात् दोनों के ही, योग्य अरणिद्वय मन्थन से, आविर्भूत होने से, अग्नि को वाक् को देवता कहा जाता है। 'अरणिद्वय' एक साधारण आकृति (generic pattern) है, इनका मन्थन एक साधारण क्रिया (generic function) है; अग्नि का आविर्भाव इसका साधारण परिणाम (generic resultant) है। चेतः एवं प्राण, उनका मन्थन एवं मन्थनोत्पन्न वाक्—इन तीनों के विशेष-विशेष रूप हैं। सामान्य अधिकारी के लिए विशेष के सम्बन्ध में 'देवता' भावना करना प्राचीन शिष्टकल्पनाजुष्ट है। यथा, आदित्य दर्शनेन्द्रिय का देवता है। पुनश्च—

वा० अग्निर्यथा विश्वचक्रस्य नाभि-
ररांश्च नेमिञ्च धत्ते विसृज्य।
तथा प्रपञ्चं हि वाचां परा वाक्
सूते विधत्ते च बीजात्मशक्त्या ॥ ९० ॥

अन्वय—यथा अग्निः विश्वचक्रस्य नाभिः अरान् च नेमिम् च विसृज्य धत्ते, तथा हि परा वाक् बीजात्मशक्त्या वाचां प्रपञ्चं सूते विधत्ते च ॥ ९० ॥

[जैसे अग्नि (जो) विश्वचक्र की नाभि है (वह) अरों को और नेमि को पृथक् बनाकर धारण करता है, उसी प्रकार परा वाक् बीजात्मशक्ति के द्वारा वाणी के विस्तार को उत्पन्न करती है, और धारण भी करती है ॥ ९० ॥]

अनुवाद—श्रुति ने अग्नि को इस विश्वचक्र की नाभि में बिठाया है; अग्नि ने नाभि में रहकर इस विश्वचक्र के अरसमूह का विस्तार किया है; एवं अर और नेमि इन दोनों को ही धारण किया है। परमा जो वाक् (यथा, ॐकार) हैं, उन्होंने भी क्या वाक्प्रभव इस विश्व को उसी प्रकार निखिल की नाभिस्थिता अपनी बीजशक्ति के द्वारा प्रपञ्चित नहीं किया है? अवश्य ही उन्होंने वैसा किया है। सुतरां विश्व की नाभिरूपता अग्नि के समान वाक् में भी है। विशेष यह है कि जब 'रूप' की विसृष्टि और विधान करते हैं, तब उन्हें कहते हैं अग्नि; और 'नाम' की विसृष्टि और विधान-कारिणी होने पर वही वाक् हैं।

ॐकार के और अग्निदेवता के सम्बन्ध में नीचे की कारिका पर ध्यान दें—

वा० अकारपूर्वो म उकारमध्यो
नादश्च बिन्दुश्च कला च चोर्ध्वम्।
एताः शिखाः सप्त तथा च धाम्नां
छन्दांसि सप्तेति विदुस्तमग्निम् ॥ ९१ ॥

अन्वय—अकारपूर्वः उकारमध्यः मः, नादः च, बिन्दुः च, कला च, ऊर्ध्वं च एताः सप्त शिखाः, तथा च धाम्नां सप्त, सप्त च छन्दांसि इति तम् अग्निम् विदुः ॥ ९१ ॥

[जिसके पूर्व में अकार है, मध्य में उकार है ऐसा 'म' तथा नाद, बिन्दु, कला और ऊर्ध्वं (कलातीत)—ये सात शिखायें हैं; धामों (भूः आदि) का सप्तक है, और सात ही छन्दस् हैं ऐसा उस अग्नि को (ऋषियों ने) जाना।] ॥ ९१ ॥

अनुवाद—पहले अकार एवं मध्य में उकार को लेकर प्रणव का मकार—यह त्रिमात्रा है; नाद, बिन्दु, कला एवं कलातीत (चोर्ध्वं); प्रणव के ये सप्त अवयव ब्रह्म-रूप अग्नि की सप्तशिखा (सप्तधा विच्छुरित ज्योतिः) हैं। अग्नि भूरादि सप्तधाम (ख्याति) के रूप में अभिव्यक्त है; प्रणव के ये सप्त अवयव इन सप्त धाम में अन्वित (अर्थात् अकार भूः, उकार भुवः, मकार स्वः, नाद महः, बिन्दु जन, कला वा कलन-शक्ति तपः एवं तदूर्ध्व सत्य) हैं। और अग्नि का सप्त छन्दों के रूप में जो प्रकाश है, उसके साथ भी इन सप्त अवयवों का अन्वय है (बाद में यह विशेष रूप से देखा जायगा)। सुतरां इस अग्नि को (ऋषिगण) प्रणव के भी देवता के रूप में जानते हैं।

प्रणवमूला वाक् का देवता अग्नि कैसे है, इस सम्बन्ध में ऊपर की कारिकाओं में रहस्य का दिग्दर्शन मात्र किया गया है। बाद में इस सम्बन्ध में विशद आलोचना का

अवकाश आएगा। बृहदारण्यकादि श्रुति में 'पञ्चाग्निविद्या' प्रपञ्चित है। वाक् का देवता अग्नि है—इस प्रसंग में भी प्रकारान्तर से उसी पञ्चाग्नि की भावना करें।

वा० आदौ वागिन्धने तेऽलसितहुतभुजं दीपयेर्मन्थनेन
स्वाकूत्या श्रीगुरोर्वाक् स्फुरदनिलसखैर्मोचयेद्धूमजालम्।
श्रद्धावेदौ निधाय ध्रुवय च हविषा बीजरूपेण वाचं
भस्मन्यङ्गारशेषे भवसि न मणिकृद् वह्निपञ्चाविदग्धः॥ ९२॥
(वह्निपञ्चारसज्ञः)

अन्वय—आदौ स्वाकूत्या वागिन्धने मन्थनेन ते अलसितहुतभुजं दीपयेः, स्फुरदनिलसखैः श्रीगुरोः वाक् धूमजालम् मोचयेत् वाचं बीजरूपेण श्रद्धावेदौ निधाय हविषा प्रथय च, अङ्गारशेषे भस्मनि वह्निपञ्चाविदग्धः मणिकृत् न भवसि॥ ९२॥

[पहले अपनी आकूति (आन्तर स्पृहा) के द्वारा वाणी-रूप इन्धन में मन्थन से तुम्हारे अलसित (अनुज्ज्वल, बुझती हुई-सी) अग्नि को दीप्त करो; (फिर) श्रीगुरु की वाणी स्फुरित होते हुए अग्नि और वायु के द्वारा धूमजाल को हटाये। वाणी (रूप) अग्नि को बीजरूप से श्रद्धावेदी पर रखकर हविष् के द्वारा समृद्ध करो। वह्निपञ्चक में (यदि तुम) अविदग्ध हो तो अङ्गारशेष भस्म में (से) मणि (हीरा) न बना सकोगे।]॥ ९२॥

भाष्य—वृथा भाषण, मृषाभाषण इत्यादि—अनृत आचरण के फलस्वरूप तुम्हारे वाक्रूप इन्धन में अग्नि (तेजः, ऊर्ज्जः, ओजः, इत्यादिरूपा शक्ति का उत्स) अलसित (निर्वापितप्राय) होकर पड़ा हुआ है! इसीलिए तुम्हारी वाक् निःसत्त्वा अर्थात् तुच्छसत्त्वा होकर पड़ी हुई है। उसकी स्तिमित अग्नि (वीर्य) को यदि उद्बुद्ध करना चाहो तो पहले क्या करोगे, कहो तो? अपनी जो आकूति (ऋत सत्य छन्द में प्रतिष्ठित होने की जो आन्तर आस्पृहा) है, उसके द्वारा ही अपने वाक्रूप इंधन को सयत्न मन्थन करने में प्रवृत्त हो जाओ। अर्थात् ऋत से, सत्य से, प्रमाद में पतित न होऊँ—इस शुभ एवं दृढ़ सङ्कल्प द्वारा तुम अपनी वाक् को संस्कृत करो। यही तुम्हारे वागिन्धन का प्राथमिक अग्निकर्म है। इस प्रथम कर्म का समारम्भ तुम्हें स्वयं ही करना होगा। इसका समापन अवश्य ही बाद की बात है। प्रथम की ठीक-ठीक सूचना होने पर ही तो श्रीगुरु-शक्ति का ठिकाना मिलता है न! ठिकाना मिलने पर आरब्ध होता है द्वितीय पर्व (इस वाक्रूप इधन से अग्निमन्थन कर्म में)। तुम्हारी वाक् अपने शुभाग्रह एवं प्रयत्न में संस्कृत होकर थोड़ा उद्बुद्ध तो हुई है, एवं उससे कुछ-कुछ शक्ति का स्पन्द (अग्निस्फुलिग) तो तुम अवश्य पा रहे हो, किन्तु उस अग्नि का आविर्भाव तो नियत नहीं, सम्यक् भी नहीं; और तदुपरि तुम्हारी 'भोगी

लकड़ी' की आग तुम्हें धुएँ से आकुल बना रही है ! उस आग के जलाने से भी प्राणान्त है, बुझाने में भी प्राणान्त है ! इसीलिए—श्रीगुरुवाक्य के द्वारा तुम्हारे आत्मेन्धन में शक्तिसञ्चार होना ही चाहिए। श्रीगुरुवाक्य से स्वतःस्फूर्त जो दिव्य अग्नि है, वह अग्नि एवं अग्निसखा जो वायु है इन दोनों का कर्म-निर्वाह किया करता है—तुम्हारे अग्नि को अनिर्वाण उद्दीपित करता है, एवं उसके धूमजाल (तामस-राजस मल) को भी विदूरित करता है (श्रीगुरोर्वाक् स्फुरदनिलसखैर्मोचयेद्धूमजालम्)। श्रीगुरुवाक्य से जो वाक्‌रूपी अग्नि निर्गत होती है, वह अग्नि और वायु का सम्मिलित रूप है; इसलिए 'अनिलसखैः'।

अब उस श्रीगुरुकृपासञ्जात अग्नि का तुमने श्रद्धावेदी पर स्थापन किया है (श्रद्धावेदौ निधाय), एवं श्रीगुरुदत्त बीजरूप हविः को निष्ठा के साथ अपनी जप-यागाग्नि में प्रक्षेप करके उसे उत्तरोत्तर समृद्ध कर रहे हो (प्रथयसि)। यह तुम्हारे अग्नि-कर्म का तृतीय पर्व है।

किन्तु यहीं क्या शेष है ? इन्धन हविः की सहायता पाकर अच्छा ही तो जल रहा है ! किन्तु क्रियामात्र को ही अपनी प्रतिक्रिया का सम्मुखीन होना ही जो पड़ता है ! इन्धन तो परिमित है, परिणामी पदार्थ है ! वह जलकर भस्म के बीच अङ्गार होकर पड़ा रहना चाहता है। यह प्रकृति की अपनी प्रवणता है। तुम इससे किस रूप में रिहाई पाओगे ? भस्म के बीच जो अङ्गार शेष है, उसे किसी अद्भुत आन्तर रसायन में यदि हीरा बना लेने का उपाय कर सको तभी न प्रकृति की प्रवणता का पाश तुम एकान्त भाव से काट सकोगे ? अङ्गार को परम रसायन में हीरा बनाना होगा। हीरा होने पर वह स्वतः समुज्ज्वल, क्षयहीन, च्युतिहीन हो जायगा।

किन्तु, उस निमित्त पूर्वोक्त ये तीन ही नहीं, और भी दो पर्वों (ज्योतिः एवं रस, विज्ञान एवं विभाव) में तुम्हें अपने वह्निकर्म का समापन करना होगा। अर्थात् वह्निपञ्चक में तुम्हें रसज्ञ (वह्नि-रसायन-पारग) और विदग्ध बनना होगा, अन्यथा 'भवसि न मणिकृत्'। अच्छा, यह परम वह्नि रसायन कौन मिलाएगा ? श्रीगुरु ही मिलाएँगे। तुम तृतीय पर्व में आकर अपनी क्रतुसिद्धि के अभिमान में अपने को 'भस्म में अङ्गारशेष' बनाकर फेंक मत रखना। इस श्लोक को प्रणवादि जप में आवश्यक पञ्च-मात्रा रूप में भी समझकर देखना होगा। छन्दःपञ्चक को शेष दो बातें भी ध्यान में रखो।

वागिन्धन के मन्थन एवं उद्दीपनरूप वह्निकर्म में प्रवृत्त होकर इस तृतीय पर्व में (अर्थात् समन्वयि छन्द में) आकर विशेषतः सावधान होना पड़ता है। इस स्थल में तुम्हारा जो इतने साधन का अग्नीन्धन है उसमें भस्म और अङ्गाररूप होने के लिए प्राकृत प्रवणता है ऐसा समझना। तुम्हारे अपने भीतर (Subjectively) प्रायशः

अभिमान के आकार में इसकी सूचना मिलती है। किन्तु यह केवल तुम्हारे घरेलू कारण से ही नहीं घटित होता। इसके पीछे एक दुरतिक्रम्य प्राकृत प्रवणता भी है। वैज्ञानिक लोग 'जड़शक्ति' की तरफ से Entropy वा Cosmic Running down कहते हैं। ऊर्ध्वग्राम में शक्तिपुञ्ज इसके फलस्वरूप अधोग होना चाहता है; शक्ति के उन्नयन और घनीभाव के स्थल में अवनयन और विरलभाव दिखाई देता है। यह Objective law है, जो तुम्हारे कर्म में, साधना में भी उदाहृत हो रहा है। इसीलिए समिद्ध अग्नि, अग्नीन्धन भस्म और अङ्गार हो जाता है। उसे काटने के लिए तुम्हें 'आङ्गिरस रसायन' में श्री गुरुप्रसाद से विदग्ध होना होगा। सब कुछ का जो-जो 'अङ्ग' (Constituent) है उसके रस (Essence together with basic pattern) का निष्कर्ष जिस प्रकार निकाल सको वैसा ही करना होगा। विशेष भाव से अनुग्रह शक्ति का एकान्त समाश्रय लिये बिना यह होने का नहीं। छन्द के शेष दो पादों में तुम्हें लेकर जायेंगे वे ही जिनका 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।' उन्हें छोड़कर जरा-सा भी 'मैं बड़ा हूँ' ऐसा भाव रहते इस अङ्गार-परिणाम से बचने का कोई उपाय नहीं है॥ ९२॥

यदिन्धनं तदङ्गारः स्वभावस्वाङ्गधर्मतः।
अङ्गारे मणिवज्रत्वमाङ्गिरसरसायनात्॥ ९३॥

अन्वय—यत् इन्धनं तत् स्वभावस्वाङ्गधर्मतः अङ्गारः आङ्गिरसरसायनात् अङ्गारे मणिवज्रत्वम्॥ ९३॥

[जो इन्धन है, वही अपने स्वभाव के अङ्गभूत धर्म से अङ्गार बनता है, आङ्गिरस-रसायन के बल से अङ्गार में मणिवज्रता आती है।]॥ ९३॥

भाष्य—स्वभाव का स्वाङ्ग, अर्थात् अपने अङ्गीभूत जो कुछ हैं उन सबका धर्म ही यह है कि जो इन्धन है, वह अङ्गार बनेगा। किन्तु अङ्गार मणिवज्र (हीरक) होगा किस उपाय से, कहिए तो ? इसी आङ्गिरस रसायन द्वारा। इस आङ्गिरस रसायनशाला में प्रवेश करके अपने को इस प्रकार क्रमशः 'परखते' (test करते) चलें—॥ ९३॥

किमधुना मधुना मधुरा गिरो-
ऽविसदृशा सदृशा दृशिगा दृशा।
अपहृतं सुहृदापि हृदाहृतं
चिररुचौ चिति चारु विचारणा॥ ९४॥

अन्वय—गिरः किम् अधुना मधुना मधुराः, दृशा (किम्) अविसदृशा सदृशा दृशिगा, अपहृतं हृत् अपि (किम्) सुहृदा आहृतम्, (किम्) चिररुचौ चिति चारु विचारणा॥ ९४॥

[वाणी क्या अब मधु से मधुर हो गई है ? दृष्टि अविसदृशा होकर सदृशा दृशिगा (दृश्यगा नहीं) हुई है क्या ? अपहृत हृत् (हृदय) क्या सुहृत् द्वारा आहृत हुआ है ? चिररुचि चित् में लगने से विचारणा क्या चारु बनी है ?] ॥ ९४ ॥

भाष्य—हमारे जप एवं भजनादि की जो वाणी (गिरः) है, वह क्या मधुच्छन्द में एवं वाक् के निगूढ़ आन्तर मधु रस में (मधुना) अब मधुर, सुमधुर हो रही है ? हमारे नयन की दृष्टि (दृशा) क्या अपने (इष्टच्छन्दः—आदि विषय में) विसदृश-भाव का परिहार करते हुए इष्टैकसदृश भाव में आ रही है एवं नित्यप्रकाश-रूप जो श्रीगुरु एवं शास्त्र (दृशि) हैं, उनके ही ऐकान्तिक अनुगमन में समर्थ हो रही है ? अब तक दृष्टि ने तो दृश्य में ही गमन किया है, इसीलिए दृशि सम्पर्क में वह विसदृशा थी, किन्तु इस बार केवल दृश्यगा वह दृशिगा हुई क्या ? हृदय भी तो इतने दिन तक अपहृत ही था, इस बार हृदय का स्पर्शमणि होकर उसके चिरसुहृत् क्या उसे समस्त खोई हुई निधियों को मिलानेवाले अपने वक्षःस्थल के पास लौटाकर ला रहे हैं ? बाह्य एवं तुच्छ विषय में अशोभन विचारणा में व्यापृत जो तुच्छ बुद्धि है उसने क्या अब नित्यप्रकाश चिरसुन्दर (चिररुचि) जो चिदानन्द सत्ता (चिति) है, उसकी ही विचारणा में अपने को सुशोभन (चारु) बना लिया है ?

इन कुछेक आत्मजिज्ञासाओं का निःसन्दिग्ध उत्तर यदि न भी मिले तब भी दुर्मनाः मत होना । श्रीगुरुरूपी महत् का एक कृपास्पर्श जब तुमने लाभ किया है, तब जो कुछ तुम असम्भव समझते हो वह भी एक दिन हो ही जायगा—इसी भरोसे से हिम्मत बाँधकर साधन में तत्पर बनो । देखो—॥ ९४ ॥

न दृषदि पृषदेकं शीतलं प्रज्वलन्त्यां
न च तमसि तडित्त्विड् विस्फुरन्ती मुहूर्त्तम् ।
न च मरुसिकतासु प्रावृषां दूरवातो
मनसि सुमनसां स्पृक् शान्तयैका त्वशान्ते ॥ ९५ ॥

अन्वय—प्रज्वलन्त्यां दृषदि एकं शीतलं पृषद् न (शान्तये) न च तमसि मुहूर्त्तं विस्फुरन्ती तडित्-त्विट् (शान्तये) न च प्रावृषां दूरवातः मरुसिकतासु (शान्तये) अशान्ते मनसि सुमनसां एका स्पृक् तु शान्तये ॥ ९५ ॥

[जलते हुए पाषाण पर एक शीतल बूँद शान्ति नहीं लाती, न ही अन्धकार में बिजली की क्षणिक कौंध (चमक) शान्ति लाती है । न ही सुदूर वर्षा की वायु का एक झोंका मरुभूमि की बालू में शान्ति लाता है, किन्तु अशान्त मन में सुमना जनों (अथवा पुष्पों) का एक स्पर्श अवश्य शान्ति लाता है ।] ॥ ९५ ॥

भाष्य—ज्वलन्त पाषाण में (दृषदि) एक बूँद शीतल वारि (पृषदेक) पड़ने पर शान्ति नहीं होती, घोर अन्धकार में एक निमेष की विद्युत् चमक में भी वह नहीं

होती। मरु की तप्त वालुका-राशि में किसी सुदूर वर्षा के एक पथभूले स्निग्ध वायु का स्पर्श मात्र लगने से भी वह नहीं होती। ठीक तो है, किन्तु (तु) तुम्हारे अधीर अशान्त मन में (मनसि अशान्ते) जो लोग सुमनाः हैं, उनका एकमात्र (एका) करुणास्पर्श (स्पृक्) शान्ति-सुधा ढाल देगा ! उनके करुणास्पर्श मात्र से अन्तर में चिर शान्ति के उत्स का मुख खुल जायगा ! सुमनस् का अर्थ यदि 'फूल' लें तब वह फूल एवं उसका स्पर्श क्या वस्तु है, वह भी सोचकर देखना ॥ ९५ ॥

पूर्वोक्त सूत्र-द्वय का भावार्थ-विस्तार
आभिमुख्य किसे कहते हैं ? संलक्ष्य का लक्षण
१६. अभिमुखीन होने पर अभीद्ध होता है।

नैर्लक्ष्य, वैलक्ष्य, उपलक्ष्य एवं अपलक्ष्य—इन चारों का वर्जन करके संलक्ष्य में जो धीरवृत्तिता है, उसे कहते हैं अभिमुखीनता। गति यदि किसी निर्दिष्ट लक्ष्य से विहीन हो, तब होता है नैर्लक्ष्य। "जपादि साधन करता हूँ किन्तु ठीक धारणा नहीं है किसके लिए, किस उद्देश्य से करता हूँ। शायद और दस जने कर रहे हैं, इसीलिए मैं भी करता हूँ।" इस प्रकार की लक्ष्यहीनता का परिहार करना होगा। तत्पश्चात् वैलक्ष्य है। लक्ष्य एक तो है, किन्तु उसके अनुसरण में ऋजु पथ छोड़ हमारी वक्र गति है, सुतरां लक्ष्य से न्यून, अपकृष्ट, अवान्तर, यहाँ तक कि विसदृश कोई कुछ हमारा लक्ष्य-स्थानीय हो उठता है। इस वैलक्ष्य के ही अपर दो प्रकार हैं—उपलक्ष्य एवं अपलक्ष्य। प्रथम में जो हमारा प्रकृत लक्ष्य है, उसके विसदृश, विपरीत अथवा विरुद्ध किसी लक्ष्य का अनुसरण मैंने भले हो नहीं किया, किन्तु जो मुख्य लक्ष्य है उसके स्थल पर किसी गौण अवान्तर लक्ष्य को बैठा दिया, किन्तु उसके फलस्वरूप मुख्य का जो साधन है वह गोण के साधन में पर्यवसित हो गया। यह भी लक्ष्य-हानि है। द्वितीय में अर्थात् अपलक्ष्य में, मुख्य के साथ विरोधी, विसंवादी किसी एक लक्ष्य का आश्रय कर बैठता हूँ। जैसे जपादि-साधन द्वारा काय, वाक् एवं चित्त को संयत एवं शान्त करूँगा, यही हुआ मेरा मुख्य लक्ष्य। किन्तु इसके साधन के साथ-साथ यदि दूसरे ऐसे किसी एक लक्ष्य का मैं आश्रय करता हूँ जिसके फलस्वरूप मेरे काय, वाक् एवं मन की अस्थिरता एवं उसका संस्कार वर्धित होता रहता है, तब समझना होगा कि मैंने एक अपलक्ष्य का आश्रय लिया है। वैलक्ष्य एवं उसके इन दो रूपों का यत्नपूर्वक परिहार करना होगा। इन चारों के परिहारपूर्वक जिसे सर्वतोभाव से आश्रय करना होगा, उसका नाम है संलक्ष्य। 'सम्' इस उपसर्ग द्वारा यह समझना होगा कि लक्ष्य के सम्बन्ध में हमारा अभिनिवेश एवं यत्न सम्यक् रूप से एवं संगत भाव से हो हो रहा है। पहले जो 'समूह' एवं 'समर्थ' का लक्षण हमने किया है, हमारे साधन में एवं हमारे लक्ष्य में वह लक्षण पूरा-पूरा लगेगा। वैसा होने पर ही लक्ष्य बनता है संलक्ष्य। जिस छन्द के द्वारा

इस संलक्ष्य में हम धीर भाव से स्थित हो सकते हैं, उसी छन्द को कहते हैं अभीद्ध। ब्रह्म के अभीद्ध तपः से ही ऋत एवं सत्य उत्पन्न हुए, यह बात श्रुति ने कही है। ब्रह्म का जो अभीद्ध है, उसमें अवश्य ही नैर्लक्ष्यादि-चतुष्टय की कोई सम्भावना नहीं। ब्रह्म सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प है। हम लोगों को नैर्लक्ष्यादि-चतुष्टय का आयास के साथ परिहार करते हुए संलक्ष्य में प्रतिष्ठित होने के लिए यत्न करना होता है। संलक्ष्य में प्रतिष्ठा का संस्कार जब दृढ़ होता है तभी हम बनते हैं धीर, उससे पहले नहीं।

तपः किसे कहते हैं ? सृष्टि में तप का स्थान मूल में क्यों है ? तेजः यदि अभीद्ध हो तब वह होता है तपः

श्रुति ने कहा है—'तपसा चीयते ब्रह्म'। और भी कहा है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। पुनश्च, 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'। ब्रह्म ने तप द्वारा अपने को सञ्चित अथवा उपचित अर्थात् वर्धित किया है। किन्तु निरतिशय भूमा जो वस्तु है, वह फिर अपने को आहृत, सञ्चित, वर्धित कहाँ करे, किस प्रकार करे ? उसकी तो धारणा नहीं की जा सकती। हाँ, अवश्य ही ब्रह्म में यह विश्व अव्याकृत बीज के रूप में रह सकता है और उससे व्यक्त विश्व के रूप में आविर्भूत हो सकता है। विश्व की सृष्टि के सम्बन्ध में किसी प्रकार की कल्पना करने जायँ तो हमारी बुद्धि को ऐसी कल्पना ही करनी होती है। ब्रह्मरूप अधिष्ठान में विश्व की जो अव्याकृत अवस्था (Undifferentiated Condition) है, उसे कहते हैं अदिति। इसका अब तक छेद नहीं हुआ, किन्तु यही फिर अपना, अन्न एवं अन्नाद इत्यादि रूपों में, छेद करेगी। यह छेदन चैतन्य की अध्यक्षता में ही अवश्य घटित हो सकता है, क्योंकि चैतन्य के बिना भोक्ता एवं भोग्य एवं अन्य किसी सम्पर्क का कोई अर्थ नहीं होता। अदिति में उपहित जो चैतन्य है, जिस चैतन्य की अध्यक्षता में अदिति से निखिल सृष्टि होती है, उसी चैतन्य को कहते हैं कश्यप। कश्यप की दो भार्या हैं—अदिति और दिति। जो अभी विभक्त (Differentiated) नहीं हुआ है, वह भी चैतन्य की अध्यक्षता में है। चैतन्य के बाहर एवं चैतन्य से निरपेक्ष रूप में किसीकी भी सत्ता अथवा वृत्ति नहीं है।

कश्यप—अदिति और दिति

अब देखिए कि अदिति और दिति—जो अविभक्त एवं जो विभक्त है—इन दोनों में ही जो 'त' एवं 'द' वर्ण-द्वय है, उनका उच्चारण-स्थान है दन्त। दन्त एवं दत् मूलतः एक ही शब्द हैं। वैयाकरण लोगों ने दन्त शब्द की द्वितीया के बहुवचन में 'दन्त' के स्थान में विकल्प से दत् आदेश भी किया है। दन्त की मुख्य वृत्ति यह है कि जो अन्न है, उसका छेदन करना। सुतरां तकार का प्रयोग करने से यह सूचित होता है कि जो वस्तु अदिति अथवा अव्याकृत रूप में विद्यमान है, वह अब मानो अपना छेदन

करने में प्रवृत्त होती है। वह मानो अपनी बलि देगी। किन्तु बलि या छेदन-कर्म अभी भी हुआ नहीं है।

तपस् शब्द का वर्ण-विश्लेषण एवं व्यञ्जना

तत्पश्चात् 'प' इस वर्ण का विचार कीजिए। यह है ओष्ठ्य वर्ण। अन्न-ग्रहण के काल में अथवा वाक्य-प्रयोग के काल में हम ओष्ठ को कभी व्याकृत वा व्यादित करते हैं, कभी आवृत वा संवृत करते हैं। सुतरां ओष्ठ है द्विविध क्रिया का प्रतीक—जो आवृत हैं उसका व्याकृत-करण एवं जो व्याकृत है उसका आवृत-करण। अर्थात् कूर्म की जो वृत्ति, संकोच और प्रसार है, उसे ओष्ठ निर्वाह करता है—'Cosmic Valve'। सुतरां 'प' इस वर्ण के द्वारा विश्व-सृष्टि की मूलीभूत जो कूर्मवृत्ति है उसे हम पाते हैं। दन्त जिसे छिन्न, विभक्त करेगा, ओष्ठ उसे या तो आवी रूप में प्रकाशित करेगा अथवा रात्रि-रूप में आवृत करेगा। सृष्टि के अविभक्त मूल से जब विभाग के फलस्वरूप सृष्टि का परिणाम प्रवर्तित होता है, तब वह ओष्ठ्य अर्थात् कूर्मशक्ति को मध्यस्थ बनाकर ही प्रवर्तित होता है। इस सृष्टिधारा के बीच चाहे जिस स्थल पर हो हम दृष्टि निरुद्ध करें, उसी स्थल पर देख पाएँगे कि यह संकोच-विकाशरूप कूर्म शक्ति बीच में रहकर परिणाम-प्रवाह को ऊर्मि-भङ्गी में (Wave Pattern में) नियन्त्रित कर रही है। सब घटना ही अव्यक्त से अभिव्यक्ति में धीरे-धीरे आकर फिर शनैः शनैः अव्यक्त की कुक्षि में लीन हो जाती हैं। प्राकृतिक अथवा कृत्रिम यन्त्रादि में वाल्व (Valve) की भाँति यह ओष्ठ्य ('ओष्' = बहिर्भाव वा अन्तर्भाव वृत्ति + स्थ = जो स्थिर वा नियन्त्रित, 'कण्ट्रोल' करता है)।

शेष काल में है 'स'कार अथवा विसर्ग। 'स'कार का उच्चारण स्थान भी दन्त है। 'तपः' इस शब्द के अन्त में हसन्त रूप में अथवा विसर्ग रूप में 'स'कार रह-कर यह सूचित करता है कि छेदन अथवा विभाजन कर्म फिर सम्भावना मात्र नहीं है, किन्तु वस्तुतः ही वह हुआ है और हो रहा है। अव्याकृत के भीतर जो कुछ दिया था,—परस्पर ओतप्रोत अभिन्नभाव में ही था—जिस प्रकार हमारी सुषुप्ति में चित्त के संस्कार रहते हैं—वे अब परस्पर विच्छिन्न होकर विश्व की विपुल अभिव्यक्ति के बीच मानो अपने को विक्षिप्त कर देते हैं, जिस प्रकार फिर से सुषुप्ति से जाग्रत् में लौट आने पर हुआ करता है, सुतरां सकार द्वारा यह विपुल विसर्ग विदित होता है। 'तपस्' इस शब्द के तीन वर्णों में हम पाते हैं अव्याकृत से व्याकृत जो विश्व है, उसके आविर्भाव का पूर्ण रहस्य-चित्र (inside picture of cosmic emergence)।

मूल कारण के सत्ता, ज्ञान एवं आनन्द इन तीन प्रकार से आविर्भाव का मूल प्रयास और आकूति है तपः।

केवल मात्र सत्ता की ओर से ही नहीं, ज्ञान और आनन्द की ओर से भी तपः

को देखिए। ज्ञान की ओर से जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय ये चार अवस्थाएँ प्रसिद्ध हैं। तुरीय तो नित्य है किन्तु सृष्टि के सम्बन्ध में सुषुप्ति के समान एक अव्यक्त अव्याकृत अवस्था है, जिसे 'अदिति' कहा जा सकता है। जिसके द्वारा विश्वसुषुप्ति से विश्वजाग्रदादि सम्भावित होते हैं—acosmicity से cosmicity दिखाई दे सकती है, वह है तपः। पुनश्च, विश्व एवं विश्वबोध के मूल में जो अखण्डाधाररूप आनन्द है, जिस आनन्द के सम्बन्ध में श्रुति ने कहा है 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि' इत्यादि, वह आनन्द भी जिसके द्वारा विश्व एवं विश्वच्छन्द की अभिव्यक्ति में उल्लास-विलास में लीलायित होता है, वह भी है 'तपः'।

सुतरां 'तपः' है मूल वस्तु का आवीरूप में आविर्भाव का संकल्प, शक्ति एवं प्रयास। संकल्प, शक्ति एवं प्रयास के रूप में वह मूल कारण ही है तपः।

'दन्त', 'ओष्ठ', 'तपः' प्रभृति को स्वारसिक रहस्य के रूप में देखने के सिवाय उपाय नहीं है। 'स्वारसिक' कहने से यह समझना चाहिए कि इनका जो 'रस' अर्थात् तात्पर्य-निष्कर्ष है, वह इनके अपने-आपमें ही—जैसे पद्मकोरक में, मधुचक्र में—निहित है; बाहर से उसका अध्याहार नहीं करना पड़ता।

[यह निश्चय ही स्मरण रखना होगा कि 'तपः' 'ऋतम्' 'सत्यम्' इत्यादि शब्द कुछेक यदृच्छा-कल्पित वस्तुओं अथवा व्यापारों के संकेत (Symbol) मात्र नहीं हैं। इनमें से प्रत्येक एक-एक प्राणन (Prānic function) है—जो आगे विवेचित होगा। प्रत्येक की केवल मात्र अर्थव्यञ्जना (Connotation) है, ऐसा नहीं, शक्ति और भावव्यञ्जना (dynamic, creative import and impetus) भी है, जिस प्रकार गणित शास्त्र में और विज्ञान में व्यवहृत 'आन्तराकृति' (formulae) एवं समीकरणों (equations) की हैं। dy/dx की अथवा Fdx की बाह्यतः कोई भी व्यञ्जना नहीं है। प्रत्येक में एक-एक 'निर्वहण-सूत्र' (index or sign of operation) है। निर्वाहण के द्वारा ही इनका निर्वाचन होता है। मन्त्रविधान में (वेद में एवं तन्त्र में) शब्द का (अक्षर स्वरच्छन्दः इत्यादि के साथ) प्राधान्य इसीलिए है। शब्दयोग (सुतरां नादानुसन्धान) का मुख्य भाव से ही समाश्रय करना होता है। जप-विज्ञान की प्रतिष्ठा की अन्यतम भूमि यही है। इसे आदि में मुख्यतः आश्रय करते हुए अर्थभावना एवं परिपक्वभूमि में 'अर्थभावन' करना होगा। इस प्रकार की निष्ठा के फलस्वरूप 'नाम की कृपा' होती है एवं नाम और नामी का अभेद भी प्रतिपादित होता है।]

सृष्टि का मूल तपः एवं सप्तव्याहृति सृष्टि के सब कुछ में अनुस्यूत हैं।

"यह समस्त ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही इन सबकी सृष्टि करके इनके बीच अनुप्रविष्ट

हुआ है।"—एवंविध वाक्य द्वारा यही समझना होगा कि ब्रह्म केवल मात्र निर्विशेष सच्चिदानन्द रूप में सकल का अधिष्ठान नहीं हैं, परन्तु ब्रह्म पूर्वालोचित) तपोरूप में भी सर्वत्र हैं एवं सब कुछ हुए हैं। श्रुति ने जो कहा है "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" यह तप की मूर्ति जो अग्नि है, उसके सम्बन्ध में ही है। भूः, भुवः, स्वः इत्यादि जो सप्त व्याहृति हैं, उनके बीच तपः है षष्ठ व्याहृति। किन्तु यहाँ हम जिन तपोब्रह्म का प्रसंग उठा रहे हैं, वे इन सातों के मूल में हैं एवं उनसे ही इन सातों की अभिव्यक्ति है। इन सातों के बीच प्रथम तीन हैं उनकी अवम (अवर) अभिव्यक्ति, उसके पश्चात् तीन हैं उनकी मध्यम अभिव्यक्ति एवं स्वयं सत्य है उनकी उत्तम अभिव्यक्ति। वेद का "ऋतञ्च सत्यञ्च" तुलनीय है। अब समझना होगा कि यह तपःसप्तक, अर्थात् सप्त-व्याहृति विश्व के सभी पदार्थों में ही निहित हैं। सकल पदार्थ की जो-जो कुछ वृत्ति है वह इस तपःसप्तक के द्वारा व्याप्त एवं व्याहृत (विशेष रूप से आहृत) है, इसी कारण सप्त महाव्याहृति नाम पड़ा है। एक शुद्ध धूलिरेणु की जो वृत्ति है, उसे सर्वतो-भाव में व्याप्त करके एवं आहरण करके सप्त व्याहृति विद्यमान हैं। सुतरां एक धूलि-रेणु के भीतर भी सत्ताशक्ति एवं वृत्ति के सात लोक वा स्तर हैं। किन्तु इन सातों में से कोई-कोई केवल किसी-किसी पदार्थ में उन्मीलित हैं अर्थात् व्यक्त भाव से वृत्तिमान् हैं, बाकी उन-उन स्थानों पर निमीलित अव्यक्त की भाँति विद्यमान रहते हैं। मनुष्य की भाँति जीव के बीच भी सचराचर—भूः, भुवः, स्वः ये तीन मात्र 'लोक' वा स्तर प्रकाशित रूप से रहते हैं। इन तीनों के बीच भी फिर साधारणतः प्रथम अर्थात् भूः का गुरुत्व ही अधिक होता है। इस कारण इन्द्रियजन्य जो स्थूल वृत्ति है, उसके स्तर में ही मनुष्य साधारणतः बाध्य होकर विचरण करता है। 'पराञ्चि खानि' इत्यादि। सुतरां मनुष्य की जो समग्र सत्ता एवं शक्ति एवं चेतना है, उसका एक सामान्य भग्नांश मात्र मनुष्य के साथ प्रकाश्य व्यवहार में मेल खाता है। मनुष्य इसीलिए अल्प लेकर ही रहता है। उसी अल्प में से यदि कणा मात्र भी खो जाता है तब वह 'हाय' 'हाय' करके मरता है। अल्प में सुख नहीं और उस अल्प की यदि हानि होती है तो दुःख होता है। सुख ही जहाँ स्वभाव और स्वरूप है वहाँ अल्प को लेकर व्यस्त रहनेवाले मनुष्य का नैराश्य घिरकर बोलता है 'सर्वं दुःखं दुःखम्'। अपने भीतर थोड़े से में ही उसका अभिनिवेश है, इसीलिए अन्य सब कुछ में भी वह अल्प ही देख पाता है। जैसे देखते हैं, वैसा ही दिखता है। इस कारण एक धूलिरेणु उसकी दृष्टि में क्षुद्र नगण्य रेणुमात्र है, किन्तु ब्रह्म नहीं। यह दृष्टि-कार्पण्य दूर होने पर देखेंगे कि जो साक्षात् भूमा हैं, जो ब्रह्म हैं, वह हमारे अल्प के खेल के कारण मानो स्वयं ही अल्प का स्वांग धरे हुए हैं। अपने भीतर ब्रह्म के इस महा सप्त व्याहृति रूप को जब मैं स्पष्ट रूप से देख सकूँगा तब उपलब्धि करूँगा कि विश्व में क्षुद्र वा महान् ऐसा कुछ नहीं, जिसमें यह

सप्त महाव्याहृति अधिष्ठित नहीं हैं। इस दृष्टि से सब कुछ क्षुद्रत्व वा अणुत्व की ओर भी अनन्त है और महत्त्व की ओर भी अनन्त है। यह अनन्त भाव ही उसका ब्रह्मत्व है।

तप की ज्योती-रूप में सप्तधा अभिव्यक्ति

क्योंकि तपः शक्तिस्वरूप, शक्ति के आरम्भ का रूप है, सुतरां सृष्टि में सब कुछ ही, यहाँ तक कि एक जड़ अणु भी—अनन्त शक्ति का भाण्डार है। सप्त व्याहृति उसमें रहती हैं, अतः शक्ति का भाण्डार (Magazine of Power) है 'सात महल'। इस अनन्त शक्तिराशि का सामान्य एक रत्ती मात्र काम में लगा हुआ है। (Kinetic Energy) ; प्रायः पूरा ही 'केन्द्रीण' होकर मानों स्तब्ध होकर पड़ा हुआ है। इसे कहते हैं कुण्डली शक्ति। 'कु' अर्थात् ब्रह्म में लीन होकर, 'शयन' करके रहती है अतः, यह कुलकुण्डलिनी है। सात व्याहृति, 'चक्र' अथवा केन्द्र में यह वृत्तिमती है। विज्ञान ने सम्प्रति 'एटम्' को विदीर्ण करके उसकी कुण्डलिनी शक्ति को अंशतः जागरित किया है, फलतः वर्तमान युग में एक महामारणास्त्र की सृष्टि हुई है। हर जटाजाल में जड़ित कालभुजंग को अब मानो जगा दिया गया है। उसके उद्यत फणा से प्रलय कालाग्नि भी निःसृत हुई है। किन्तु हर जटाजाल के अभ्यन्तर में निगूढ़ सञ्चारिणी सुरशैवलिनी अभी तो जागी नहीं हैं ? अर्थात् हम भूर्लोक की शक्ति अथवा उसके कुछ अंश को ही अब भी व्यवहार में ले रहे हैं। अपरापर 'लोक' में 'तपः' शक्ति का जो और भी महीयान्, और भी वरीयान् रूप है उसका सन्धान अभी भी नहीं मिला है। 'Energy level' अभी तक के अवम वा अधम ग्राम में ही अर्वाङ्मुख पड़ा हुआ है। अर्जुन ने तपस्या द्वारा मन्त्रसहित पाशुपत अस्त्र का लाभ किया था। कठोर ब्रह्मचर्य एवं तपस्या से जिसे प्राप्त करना होता है एवं सिद्ध समर्थ मन्त्र द्वारा उद्दीपित एवं प्रतिसंहृत करना होता है जिस अस्त्र को, वह अस्त्र क्या आणविक बम-जातीय है ? उसका Energy level कहाँ है, किस ग्राम में है ? वशिष्ठ ने ब्रह्मतेज के द्वारा विश्वामित्र के समस्त आयुधों को निवृत्त किया था। यह ब्रह्मतेज किस जाति का है, किस स्तर का है ? मृत्युञ्जय महादेव ने सृष्टिविनाशी कालकूट को अपने कण्ठ में धारण किया—यह 'कण्ठ' कहाँ है, क्या वस्तु है ? इसीलिए विज्ञान द्वारा जड़ाणु की केन्द्रीण शक्ति बाहर निकाली गई है, इसी कारण हम ऐसा न समझें कि कुलकुण्डलिनी का यथार्थ जागरण हो गया है। कुण्डली शक्ति = Static or Potential energy है। यह कुछ परिमाण में जागी है इसमें सन्देह नहीं; किन्तु कुलकुण्डलिनी साक्षात् ब्रह्मरूपिणी है, साक्षाद् ब्रह्मवचः ही उसका वपुः है। उसका जागरण कब किस उपाय से होगा ? इसका जागरण होना हो तो पहले अपने भीतर (मूलाधार में) मनुष्य के उस महारहस्य का जागरण होना आवश्यक है। मनुष्य अपने में 'कुल' अर्थात् ब्रह्म को

(शक्ति-शक्तिमान् के अभेद में) उपलब्धि करेगा—'कौल' होगा, 'अवधूत' होगा—तब वह जीवन्त, जाग्रत्, स्फुरत् कुण्डलिनी तत्त्व को सब कुछ में देखेगा। सात का आधा साढ़े तीन—'सार्द्धत्रि' है। सात के बीच जो 'मिथुन तत्त्व' (Polarity Principle) रहकर उन्हें अभिव्यक्त करता है, उस मिथुन का 'अभिष्वङ्ग' (Coalescence) होने पर सात होता है साढ़े तीन। मूलाधार में तपःसप्तक इस प्रकार सार्द्धत्रिवलयाकारा कुलकुण्डलिनी बना है। जपसूत्र में ये सभी बातें यथास्थान आलोचित होंगी। भूरादि सप्त स्तरों में या लोकों में ज्योतिः ने (एक अद्वितीय होकर भी) सात रूपों का परिग्रह किया है :—ताप (अग्नि), तेजः, अर्चिः, वर्चः, ऊर्जः, ओजः एवं भर्गः। तपः अथवा ज्योतिः (तपोज्योतिः) सप्त रूपों में सर्व स्तरों में ही विद्यमान है अवश्य, किन्तु एक-एक में एक-एक की मुख्यता है। जैसे भूस्तर में ताप की मुख्यता है। अपर रूप साथ रहकर भी मानों नेपथ्य में रहते हैं। सप्त लोक द्वारा सप्तधाकृत यह ज्योतिः है 'आलोकज्योतिः' (अर्थात् जहाँ तक लोक हैं वहाँ तक)। और, जो इस प्रकार व्याकृत अर्थात् रूपायित नहीं, वह अलोक ज्योतिः हैं। किन्तु सर्व स्तरों में ही आधाररूप में 'अलोकज्योति' विद्यमान हैं। सन्धि में जो है, उसे कहते हैं 'लोकालोकज्योतिः'।

सुतरां तपोयोग—यह सप्तार्चिः शिखा में हवन है

ज्योतिः की इस सप्तार्चिः वा सप्त शिखा में आहुति दें, पूर्वोक्त सप्त मान्द्य समिध् की, अथवा व्याधि, स्त्यान, दौर्मनस्यादि अन्तरायों की; अथवा, जड़ता (अवसन्नता), अलसता, अरोचकता, असारता, अनिर्विण्णता, अनृजुता, अनृतता—इन सातों को समिध् बनाते हुए हवन करें। मन्यु से जात जो सब कायिकादि पाप हैं उनका भी हवन करें। 'सूर्ये-ज्योतिषि परमात्मनि जुहोमि स्वाहा' एवं 'सत्ये ज्योतिषि परमात्मनि जुहोमि स्वाहा' इसी यन्त्र से हवन करें इस सप्तार्चिः ज्योति में ही। ध्यान दें कि जो मनु = मन्त्र इत्यादि है, किन्तु मन्यु ('य'कार युक्त मनु) इस 'य'कार के द्वारा व्याजविद्ध विद्ध हुआ है, सुतरां मनु फिर ऋजुगति नहीं है, वक्रगति व्याल हो गया है। उसी कारण जहाँ 'य' है, वहीं वक्रता एवं व्याल है—ऐसा सोचने पर भूल होगी। जहाँ 'य' है, वहीं पर साँप का भय नहीं है। 'ज्योति' 'ज्योग् जीवति' इत्यादि में तो 'य'कार को वृत्ति व्यालवृत्ति नहीं है। जड़ रसायन-विज्ञान में जैसे, प्राण रसायन-विज्ञान में भी वैसे ही जो 'मौलिक' (elements) हैं, उनके मिश्रण के स्थान, क्रम अनुपात आदि के ऊपर जो 'यौगिक' (Compound) है, उसका स्वरूप एवं गुण-कर्म सम्बन्ध निर्भर रहता है। 'Biochemic Function' की बात हम इस प्रसंग में व्यवहार कर सकते हैं, किन्तु विज्ञान के संकीर्ण में अर्थ नहीं। इसीलिए, 'Pranic Function' यह शब्द ही व्यवहार करेंगे। 'ज्योतिः' शब्द में वर्गीय एवं अन्तःस्थ दो 'ज य' का समवाय घटित

होता है। 'ज य' दोनों ही तालव्य एवं घोषवत् हैं, किन्तु 'ज' महाप्राण है, 'य' अल्पप्राण। इस तालव्य (ऊर्ध्वाभिघातजन्य) घोषवत् वा सघोष वर्ण-द्वय के बीच एक के महाप्राण एवं अपर के अल्पप्राण होने के कारण इनका 'साजात्य' (Compatibility) ही मुख्य है। जो वैजात्य (incompatibility) है, वह गौण एवं मुख्य का उपकारक है, सुतरां वास्तव में उसका अनुपयोग नहीं, उपयोग ही है। दो महाप्राण में अथवा दो अल्पप्राण में, अनेक क्षेत्रों में विषम द्वन्द्व (antipathy relation) होता है यह ध्यान रखना होगा।

ज्योतिः शब्द का विश्लेषण और व्यञ्जना

'ज्योतिः' शब्द के 'ज य' इस मिथुन (Phonetic Couple) में समझना होगा कि महाप्राण किसी निर्दिष्ट स्तर वा लोक में (given plane में) जिस संख्यान में (Energy value में) 'भूमिष्ठ' देखा जाता है, उस संख्यान को ह्रस्व वा खर्व बनाकर ही उसे अधः वा ऊर्ध्व किसी भी स्तर में 'प्रकट' होना होगा। इ + अ = य। 'इ' का अर्थ है गमन। अ = अग्रतः, आगे। एक ऊर्मि पर ध्यान दीजिए। 'क' बिन्दु में ऊर्मि चूड़ा है, यदि ऊर्मिचूड़ा 'क' से 'ख' में जाय, तब उसे 'उपत्यका' में (Wave Valley में) उतरकर फिर उठना होगा। यह प्राणन व्यापार है 'ज य' अथवा 'ज्य' यह 'रूप' (formula)। 'मन्यु' के समय 'य'—निमित्त वक्रता अन्य कारण से है एवं वह साधक नहीं, बाधक है। 'न' वर्ण दन्त्य (सुतरां मध्याभिघात एवं अर्वागभिघातजन्य) अघोषवत् एवं अल्पप्राण है, इसके साथ 'य'कार के उक्त भाव से मिश्रण के कारण विषमताजन्य वक्रता हुई है। तत्पश्चात् ज्यो = ज् + य् (= इ + अ) + ओ (अ + उ) है। इस समीकरण (equation) की परीक्षा करके देखेंगे कि 'इ अ' एवं 'अ ओ' होते हैं एक पूर्ण ऊर्म्मि रूप (complete wave pattern), जिसके चूड़ाबिन्दुद्वय हुए 'इ' एवं 'उ', और उपत्यका हुई 'अ, अ'। गत्यर्थ 'इ' द्वारा प्राण का इद्ध होना, एवं 'उ' द्वारा ('उदेति')—उदित होना सूचित होता है। सुतरां, वेदमन्त्र में 'उदुत्यं जातवेदसं' अथवा 'उदगादनीकं' इत्यादि रूप में मित्र, वरुण एवं अग्नि का चक्षुःस्वरूप एवं स्थावर-जङ्गम की आत्मा जो सूर्य ज्योतिः उद्गीत होती है, वही 'ज्यो' इस राहस्यिक शब्द द्वारा वाच्य होती है। यह 'ज्यो' एवं गायत्री मन्त्र के 'धियो यो नः' के अन्तर्गत 'यो' तुलनीय हैं। शेष को 'इ-ओ' अथवा 'इ-अ-उ' भाव से ही उच्चारित करना होगा। अन्यथा जो 'ज्यो' वरेण्य भर्गोरूप में सर्वतः हैं, वे अपनी स्वतःसिद्ध महाप्राणता द्वारा 'धियो नः', हमारे बुद्धिरूप आधारों को अनुगृहीत, अभिषिञ्चित कर रहे हैं—यह अवतरण सूचित नहीं होता। 'य' का 'ज' की तरह उच्चारण करने पर, हमारी बुद्धि मानों 'अल्पप्राण' होकर भी महाप्राणता के दम्भ से

फूल उठी। विन्ध्यगिरि ने जिस प्रकार सिर उठाकर सूर्य ज्योति की गति का रोध करना चाहा था, हमने भी मानों वैसा ही किया। प्रपत्ति,—Surrender होने पर महाप्राण जो ज्योतिः है, उसका अवतरण किसी घट में घटित नहीं होता। घट की वस्तु ढालकर ही घट भरना होता है। यह आवश्यक (necessary pre-condition) है।

अपर दृष्टान्त

पुनश्च, 'धियो यो नः' एक सुषम क्रम--homogeneous function है। इसके बीच 'यो' को 'ज'कार की भाँति बनाकर कहने पर सुषम क्रम-हानि होती है—प्राण की एवं स्वर की स्वच्छन्द गति के बीच मानों एक 'उत्पात' आकर उपस्थित होता है, सुतरां छन्दः क्षुण्ण होता है।

तत्पश्चात् 'ज्योति.' शब्द के शेषार्ध का विचार प्रसंग क्रम में अन्यत्र हम करेंगे एवं यह भी हम देखेंगे कि शब्दनिष्ठ 'प्राणिक' व्यापारों का विश्लेषण (analysis) करना हो तो प्राण की स्वरूप-प्रक्रिया एवं अभिव्यक्ति-समूह का एक आलेख्य सम्मुख रखकर ही करना होता है, नहीं तो, अवास्तव (अवस्तुतान्त्रिक)—Conventional and arbitrary होने की आशङ्का है। जैसे—'त्र्यम्बकं यजामहे', इस स्थल में 'त्र्य' वर्ण का 'त्रिय' इस प्रकार क्यों उच्चारण करना होगा ? और, सर्वदा उच्चारित 'गोविन्द' वा 'हरिबोल' नाम में 'ग' एवं 'ब' में जो ओकार है उसे विशेष भाव से घोषवत्, महाप्राण क्यों करेंगे ? शिव का जो 'बम् बम्' है, उसमें 'ब' का भी एक विशेष भाव में क्यों उच्चारण करें ? ॐकार के अनुग्रह लाभार्थ ? यह सब विशेष भाव से अनुसन्धान करना चाहिए।

अब भूः, भुवः प्रभृति सप्त व्याहृतियों का लक्षण दिया जाता है—

व्याहृति-सप्तक का भावार्थ-विस्तार

'अयम्' वा 'यह' कहकर जो प्रत्यय होता है, उस प्रत्यय का जो प्रतियोगी या विषय है, वह है 'भूः' ॥ १८ ॥

सर्वविध सृष्टि को 'यह' रूप में अपना प्रकाश करने के निमित्त 'भूः' इस आदिम व्याहृति की अपेक्षा है।

भूः शब्द से जो क्रिया समझ में आती है उसके साथ 'र'कार का योग करके 'भूः' यह अव्यय मिलता है। मुख्य प्राण 'भूः' इस क्रिया को आश्रय करके ही सब कुछ हुआ है, हो रहा है और होगा। 'भूः' यह शब्द प्राण के समग्र सृष्टि-व्यापार में जो रहस्य है उसे सूचित करता है। 'भ'कार हुआ 'प'कारादि ओष्ठ्य वर्ग का चतुर्थ वर्ण। 'ओष्ठ' किसका सङ्केत है, यह हमने पहले ही दिखा दिया है। जो अव्याकृत है उसे व्याकृत करता है, ज अ क मौन ; , उसे व्यक्तमुखर करता है यह ओष्ठ। उत्तर एवं अधर

ओष्ठ यावत् परस्पर संलग्न हैं, तावत् कोई 'वाक्' निर्गत नहीं होती, सुतरां कुछ भी व्यक्त नहीं होता। किन्तु ओष्ठाधर जब वियुक्त होते हैं, तब समझना होगा कि शब्द एवं शब्दजन्य जो सृष्टि है, वह हुई। 'प' वर्ग का चतुर्थ वर्ण जो 'भ'कार है वहाँ आकर ही अपने को शब्द-रूप में अभिव्यक्त करने की प्राण की चेष्टा सर्वाधिक वेगवती हो जाती है। 'भ'कार के साथ 'उ'कार के (यह भी ओष्ठ्य वर्ण है) संयोग में यह संवेग इतने परिमाण में ऊर्जित हो जाता है कि सृष्टि की ओर कोई कुछ भी होने के मार्ग में कोई भी बाधा फिर उसे अटकाकर रख नहीं पाती। ध्यान दें कि संयोग सुषम है, विषम नहीं (homogeneous, sympathetic relation)। उकारयुक्त 'भ'कार एक चरम वेग (Critical efficiency) का प्रतीक है। जैसे जल का उत्ताप क्रमशः कम होता जाता है, किन्तु उत्ताप शून्य डिग्री पर्यन्त जब तक नहीं पहुँच जाता तब तक जल किसी प्रकार बर्फ में परिणत नहीं होता। जल का बर्फ के आकार में रूपान्तर एक निर्दिष्ट परिमाण में शैत्य के ऊपर निर्भर करता है; शैत्य की शक्ति ठीक उतनी न होने पर जल किसी प्रकार बर्फ नहीं होगा। सब कुछ के आविर्भाव के पूर्व ही शक्ति की एवं उसके वेग की निर्दिष्ट मात्रा की अपेक्षा होती है। जप कब वैखरी से मध्यमा में जायगा, कब फिर मध्यमा से पश्यन्ती में जायगा, यह निर्भर है एक न एक समर्थ एवं साधक मात्रा पर।

'भूः' इस अव्यय की व्याप्ति द्विविध है—साधारणी और असाधारणी

'भूः' शब्द है उस निर्दिष्ट समर्थ साधक मात्रा की रहस्यवाक्। 'भू' के साथ 'र' अथवा विसर्ग का योग करने पर वही 'र'कार क्रिया को रूपायित करता है एवं बहिः प्रसारित करता है। विसर्गविहीन जो 'भू' है वह क्रिया है एवं तिङन्तादि प्रत्यय में उसके विविध रूप होते हैं। किन्तु विसर्गयुक्त जो 'भूः' है, वह अव्यय है—सब कुछ होने के लिए एवं रूपान्तर प्राप्त होने के लिए समर्थ बीज यह है, किन्तु सब कुछ होने के बीच 'बीजमव्ययं' रूप में यह ठीक ही रहता है। जैसे किसी पेड़ वा लता के मूल या जड़ से अनेक शाखा-प्रशाखाएँ निकलती हैं, उन्हें काट देने पर मूल रह जाता है एवं उससे फिर नई-नई शाखा-प्रशाखाएँ निकलती हैं।

जो नेपथ्य में, अन्तराल में रहता है इसीलिए जो अब तक प्रत्यक्षगोचर नहीं हो रहा है उसे साक्षात् अनुभव के बीच हाजिर कर देता है यह अव्यय भूः'। इसके द्वारा जो 'नहीं' है वा 'वह' है, वह बन जाता है 'यह'। सुतरां 'अयं' प्रत्यय के—अर्थात् 'यह हुआ है, हो रहा है, पड़ा हुआ है'—एवंविध अनुभव के मूल में है 'भूः'। केवल क्या जाग्रत् हो 'भूः' है ? वैसा तो नहीं है। स्वप्न एवं सुषुप्ति भी तत् तत् काल में भूः है। बाद में अवश्य स्मृति में वह सब 'यह' न होकर 'वह' हो जाता है, यहाँ तक

कि 'नहीं' भी हो जाता है। सकल स्तरों की अनुभूति में जो गोचरता है वह भूः के द्वारा व्याप्त तो है, किन्तु इसकी व्यावहारिक, चालू व्याप्ति है इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में ही। सब स्तरों में जो व्याप्ति है, वह साधारणी है और स्तरविशेष में जो व्याप्ति है वह असाधारणी है। जैसे, जप जब तक वैखरी भूमि में चलता है, तब तक वहीं पर भूः असाधारणी व्याप्ति में रहता है। जप जब मध्यमा में रहेगा तब मध्यमा में ही भूः भी रहेगा इत्यादि। 'भूः' की जो सर्व भूमि में साधारणी व्याप्ति है वह सार्वभौम जो अनुभूति है उसमें प्रतिभात है, अन्य क्षेत्र में वह अवरोध-प्रतिरोधादि बाधा के कारण अवगुण्ठित, आवृत है। जप करते हैं वा जप हो रहा है—इस स्थल में—'यह जो हो रहा है' इस भाव में भूः को हम पाते तो हैं किन्तु जप क्रिया द्वारा जो 'संस्कार' उत्पन्न होता है, जो अपूर्व सृष्टि होती है, अथवा जिस संस्कार समूह के आश्रय में वर्तमान जप क्रिया हो रही है—एक शब्द में, उक्त क्रिया रेखा का आदि और अन्त—इस ओर उस ओर—मैं नहीं देखता; सुतरां जप में 'ऐसी धारा' क्यों घटित हो रही है, यह समझ में नहीं आता, एवं जप से क्या हुआ अथवा होगा, उसे भी हम नहीं जानते हैं। किन्तु गुरु शायद उसे देख रहे हैं अथवा अन्य किसी 'आनत दृष्टि' में भी वह छिपा हुआ या ढँका हुआ नहीं है। इसलिए हमारे समीप 'भूः' की व्याप्ति एवं शेषोक्त दृष्टि में 'भूः' की व्याप्ति एक नहीं है।

'असौ' प्रत्यय कहने पर क्या समझेंगे ?

१९. "असौ", अर्थात् 'यह' प्रत्यय का जो प्रतियोगी, अर्थात् विषय है वही है स्वः।

निखिल चराचर विश्व 'इदं' अथवा 'अयं' रूप में ज्ञान का विषय तो होता है, किन्तु इस इदन्ता द्वारा सीमाबद्ध जो अनुभव जगत् है वही क्या एकमात्र जगत् है ? एक अदृष्ट अजाना जगत् अवश्य ही पड़ा हुआ है जहाँ से यह जाना-देखा जगत् आता है एवं जहाँ जाकर फिर लय होता है। यह अदेखा और अजाना के बीच जो वस्तु पड़ी हुई है, वह अदेखा-अजाना होने पर भी उसे हम किसी प्रकार अस्वीकार नहीं कर सकते। यह सब कहाँ से आया है एवं कहाँ जायगा—यह प्रश्न करने पर इसी ओर हमें उँगली से दिखाना होगा। हमें मन में सोचना होता है कि 'उस' से 'यह' हो रहा है वा आ रहा है एवं 'यह' फिर 'उस'में जाकर ही नेपथ्य (लीन) हो रहा है। सुतरां 'यह' को प्रसव करके, इसके प्रभव, आधार एवं निलय के रूप में जो विद्यमान है, वही है स्वः वा सुवः। स्व शब्द में जो 'सु' धातु है उसका अर्थ प्रसव करना है। स्वयं नेपथ्य में रहकर भी यह प्रसव करता है। पहले जैसे 'भू' है वैसे ही यहाँ 'सू' है। 'भू' की तरह 'सू' का शाब्दिक विश्लेषण करके अन्तर्निहित रहस्य का दोहन किया जा सकता है।

'स्व' शब्द का विश्लेषण और व्यञ्जना। 'व'कार और 'उ'कार। संकोच और प्रसार का रहस्य।

"सू" शब्द में दन्त्य सकार है एवं 'ऊ'कार है। इन दोनों के संयोग से यह समझ में आता है कि प्राण मानों कहीं से भी वेगवान् होकर बहिर्देश में उत्सारित हो रहा है। एक बीज के भीतर से जब प्राण इस प्रकार वेगवान् होकर अपने को बाहर उत्सारित करता है तभी बीज से अङ्कुरादि प्रसूत होते हैं। किन्तु प्राण इस प्रकार बाहर वेग के साथ दौड़कर कहाँ से आता है? वह स्थान अवश्य अदेखा स्थान है, नेपथ्य है। जड़ परमाणु के भीतर से इस प्रकार के एक तेजोनिःसरण के फलस्वरूप विश्व को आलोक तापादि-शक्तिधारा का विकिरण हो रहा है। हमारी चेतना के बीच से भी जो समस्त वृत्तियाँ समुत्थित हो रही हैं, वे भी इस प्रकार एक अव्यक्त की भूमि से प्रकाश की भूमि में चली आ रही हैं। सृष्टि में सर्वत्र ही इस प्रकार है। सर्वत्र ही एक नेपथ्य से प्रकाश्य में आगमन होता है। 'सू' इस शब्द द्वारा बाहर सवेग निर्गत होना यह सूचित तो होता है, किन्तु जो नेपथ्य है, जो प्रकाश के अन्तराल में है, उसकी व्यञ्जना इसमें नहीं है। 'व'कार को सम्प्रसारित करने पर होता है 'उ'कार एवं 'उ'कार के संकोचन में होता है 'व'कार। 'इग्यणः सम्प्रसारणम्'। संकोचन कहने से क्या समझेंगे? एक पेड़ अपने बीज के भीतर संकुचित होकर रहता है अथवा एक atom में उसकी सत्ताशक्ति (mass energy) केन्द्र में अथवा Nucleas में मानों संकुचित होकर पड़ी हुई है। हमारे एक संस्कार में वा संकल्प में न जाने कितनी शक्तियाँ इस प्रकार संकुचित होकर पड़ी हुई हैं। सुतरां सम्प्रसारित 'उ' वर्ण में जो प्राणशक्ति तल एवं लम्ब को आश्रय करके काम करती है, संकुचित 'व'कार में वह शक्ति अपने को तल एवं लम्ब की ओर से मानों समेटकर वेध अथवा depth dimension में घनीभूत करना चाहती है। एक वृत्त के जो व्यास हैं, उन्हें ह्रस्व करते चलें। इस स्थल में वृत्त के ऊपर जो शक्ति सक्रिय रूप में (Kinetic) विद्यमान है, उस शक्ति का परिमाण-ह्रास यदि न हो, अथवा वृत्त का आयतन यदि क्षुद्र से क्षुद्रतर होता चले तब यह अवश्य समझना होगा कि अवयव-संकोच के फलस्वरूप शक्ति की निबिडता वा गाढ़ता (density) वर्धित हो रही है। पहले वृत्त के किसी एक निर्दिष्ट स्थल में शक्ति को जो मात्रा थी, वर्तमान में आयतन-संकोच के फलस्वरूप वृत्त के किसी स्थल में शक्ति की वह मात्रा वर्धित हुई है। इस प्रकार शक्ति के घनत्व अथवा वेधाभिमुख (depth dimension) में चाप की वृद्धि को हम प्राण की 'व' इस शब्द-प्रक्रिया द्वारा सूचित कर सकते हैं। सुतरां 'सू' जब 'स्व' आकार ग्रहण करता है तब पूर्वोक्त प्रक्रिया संघटित होती है। प्रकाश्य में जिसका गुरुत्व कम हो गया नेपथ्य में उसका गुरुत्व बढ़ गया। इस 'स्व' शब्द के साथ 'र'कार अथवा विसर्ग का योग करके यह

समझाया जाता है कि प्राण नेपथ्य में जाकर केवल कूर्मवत् स्थिर हो गया है ऐसा नहीं, किन्तु 'र' अर्थात् अग्नि की भाँति सृष्टि के मुख में सकल प्रतिबन्धक दग्ध करके अपने महीयान् तेज में अपने को विसृष्ट कर रहा है। यह 'स्व' है सप्त महाव्याहृति की तृतीय व्याहृति। 'असौ' है इसका दिग्दर्शन। ये अव्यय हैं।

स्वाभाविक शब्द, स्वाभाविक रूप, स्वाभाविक क्रिया—मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र

सुतरां जो स्वयं अदृष्टधामा हैं, अर्थात् अप्रकट प्रभाव होकर भी अपने 'धाम्ना' अर्थात् प्रभाव के द्वारा इस चराचर का प्रसव करते हैं, उनका स्वाभाविक नाम है 'स्वः'। 'व'कार एवं 'उ'कार का उच्चारण-गत वैलक्षण्य एवं उसका रहस्य हमने पहले देखा है। इन दो वर्णों का जो फिर चाक्षुष रूप, 'आकृति' वा शरीर है उसमें भी यह वैलक्षण्य परिस्फुट हुआ है। 'व'कार स्वयं को संवृत करके मानों ढँके हुए है, किन्तु 'उ'कार में उसका वह रूप नहीं है। 'उ'कार में वह अपने को मुक्त करता है, बाहर अपने को प्रसारित करने के लिए। प्रसंग क्रम में यह ध्यान देने का विषय है कि प्रत्येक पदार्थ में जैसे एक स्वाभाविक शब्द-रूप है, उसी प्रकार उसका फिर एक स्वाभाविक काय-रूप है। इन दो के सिवाय उसका फिर एक स्वाभाविक क्रिया-रूप भी है। प्रथम है उस पदार्थ का मूल मन्त्र, द्वितीय है मूल यन्त्र, अन्तिम है मूल तन्त्र। 'स्वः' इस मन्त्र द्वारा जो व्यक्त होते हैं उनका एक निजस्व यन्त्ररूप अथवा काया भी है। एवं एक निजस्व तन्त्ररूप अथवा क्रिया-समभिव्याहार रूप भी है। प्रथम हुआ उस पदार्थ का मूलमन्त्र दूसरा मूलयन्त्र, अन्तिम मूलतन्त्र। हम मुख से 'स्वः' यह शब्द उच्चारण करते हैं, अथवा उसे श्रवण करते हैं। यह कथित एवं श्रुत शब्द क्या स्वाभाविक 'स्वः' इस शब्द का स्वभाव वा प्रकृति है? ऐसा तो नहीं है। यदि वैसा होता तो फिर स्वाभाविक शब्द का एवं उसका जो वाच्य है उसका अविनाभाव होने के कारण 'स्वः' इस शब्द के साथ-साथ ही 'स्वः' पदार्थ भी विद्यमान रहता। महाकवि कालिदास ने वाक् एवं अर्थ का अविनाभाव सम्पर्क कहते हुए जगत् के जो माता और पिता हैं, उन पार्वती और परमेश्वर की उपमा दी है। अर्थात् शिव-शक्ति जैसे अभेद में वर्तमान हैं, उसी प्रकार वाक् एवं अर्थ भी, नाम और नामी भी अभेद में विद्यमान हैं। तब 'स्वः' यह शब्द उच्चारित अथवा श्रुत होकर उसका अपना वाच्य जो पदार्थ है उसे तत्क्षणात् प्रत्यक्ष का विषयीभूत क्यों नहीं बना देता? निश्चय ही हमारा उच्चारित वा श्रुत 'स्वः' यह शब्द एवं उसका जो वाच्य है इन दोनों के बीच एक व्यवधान (hiatus) न जाने किस कारण से हो गया है। जिसके द्वारा व्यवधान होता है उसे कहते हैं अन्तरीक्ष। यह अन्तरीक्ष की बात बाद के सूत्र में आलोचित होगी। यहाँ हम पाते हैं कि 'स्वः' प्रभृति स्वाभाविक शब्द का ठीक यथार्थ उच्चारण वा

श्रवण नहीं होता है। हमारे उच्चारणादि के यन्त्र के एवं यन्त्र-व्यवहारी चित्त के कार्पण्य के कारण ही ऐसा होता है। श्रद्धावीर्यपूर्वक निरन्तर साधन के द्वारा यह कार्पण्य विदूरित होगा। विदूरित होने पर हमारे आह्वान में जो आहूत हैं, वे साथ-साथ ही आकर हाजिर होंगे। वर्तमान में वे 'स्वाहूत' हैं, किन्तु 'समाहूत' अर्थात् सम्यक् रूप से समादर के साथ आहूत कहाँ हो रहे हैं? मन्त्र के सम्बन्ध में जो बात हैं, यन्त्र और तन्त्र के सम्बन्ध में भी वही बात है। जिस यन्त्र की सहायता से अथवा जिस क्रियाकलाप के द्वारा उसे अधिगत करने का यत्न करता हूँ, वह यन्त्र वा तन्त्र अब तक यथार्थ रूप में उन्हें प्राप्त करने के लिए उपयोगी नहीं हुआ है। विद्या, श्रद्धा के साथ व्यवहार से ही उनका उपयोग साधित होगा।

स्वः एवं सुवः इन दोनों का तत्त्वगत एवं प्रयोगगत वैलक्षण्य। 'व', 'उ' और 'उव्'—ये तीन आकृतियाँ।

'स्वः' इस शब्द की भाँति वेदादि मन्त्रशास्त्र ने 'सुवः' इस शब्द का भी व्यवहार किया है। जैसे गायत्री का जो शिरः है उसमें है "ब्रह्मभूर्भुवः सुवरोम्।" किन्तु सृष्टिसूक्त में है—'यथापूर्वमकल्पयत् दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरीक्षमथो स्वः" इन दोनों शब्दों का वाच्य एक होने पर भी प्रयोग (application) में किञ्चित् वैलक्षण्य है। 'स्वः' इस शब्द का जो वकार है वह 'उव्' यह रूप धारण करता है ऐसा देखते हैं। वैयाकरण लोग 'उ' वर्ण के स्थल में स्वरादि विभक्ति आगे रहने पर अनेक स्थलों पर 'उव्' यह विधान करते हैं, ऐसा भी देखने को मिलता है :—यथा स्तु + अन्ति = स्तुवन्ति, नु + अन्ति = नुवन्ति इत्यादि। किन्तु प्राण-प्रक्रिया की ओर से देखते हुए इस 'उव्' को हम किस प्रकार देखेंगे? 'उव्' है 'उ' वर्ण एवं 'व' वर्ण का मिथुन। इसके द्वारा यह समझेंगे कि 'व'कार में अथवा 'उ'कार में जो समस्त (undifferentiated) भाव था उसने 'उव्' इस आकार में आकर अपने को व्यस्त (differentiated) किया। अर्थात् संकोचन एवं प्रसारण में फिर केवल वे दो ही नहीं रहे, उन्होंने अपने को मानों एक परस्परापेक्षी युग्मक (Polarity) में सजा लिया। इसके फलस्वरूप जो 'सङ्कुचत्' मात्र था, वह हुआ संकुचत्-प्रसरत्'। 'सुवः' इस शब्द में महाप्राण जो 'स'कार है—उसका यह 'संकुचत्-प्रसरत्' है।

सुवः 'संकुचत्-प्रसरत्' आकृति है

'सुवः' इस शब्द में जो महाप्राण 'स'कार है—उसका यह 'सङ्कुचत्-प्रसरत्' रूप विशेष भाव से स्पष्ट हो उठा है। जिस अदेखी सत्ता एवं शक्ति के भाण्डार को हम 'स्वः' कहकर अभिहित करते हैं उसे 'सुवः' इस नाम से अभिहित करने पर उसका एवंविध कूर्मवत् 'संकुचत्-प्रसरत्' रूप विशेष भाव से परिस्फुट हो उठता है। 'सुवः' की

अन्तर्निहित कूर्मवृत्ति इस दृश्य जगत् में सर्वत्र, क्या स्थूल में, क्या सूक्ष्म में, परिदृष्ट होती है। यह विराट् ब्रह्माण्ड समग्र भाव से प्रसरत् (expanding) है, इस बात को वैज्ञानिक लोग सम्प्रति नाना युक्तियों के बल से स्थापित करना चाह रहे हैं।

किन्तु केवल क्या प्रसरत् ही है, संकुचत् (Contracting) नहीं है क्या ? जिन सब युक्तियों के बल से हम ऐसा समझ रहे हैं कि ब्रह्माण्ड मे प्रसारण है, उन्हीं सब अथवा तदनुरूप युक्तियों के बल से यह प्रतिपादित होगा कि ब्रह्माण्ड संकुचत् भी हो सकता है। विराट् की बात छोड़कर क्षुद्र-क्षुद्र निखिल सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों में यह कूर्मवृत्ति स्पष्टतः ही देख पड़ती है। सुतरां हम देखते हैं कि इस दृश्य जगत् की उत्पत्ति एवं विवृति के निमित्त अदृश्य को केवल मात्र 'स्वः' कहने से ही नहीं चलेगा। उसे हमें 'सुवः' भी कहना होगा। आरोह की ओर से देखने पर 'उव्' यह मिथुन दृश्य-अदृश्य दोनों के व्यवधान को मानों क्रमशः खोकर एक अभिन्न 'व'कार में पर्यवसित होना चाहता है। किन्तु फिर अवरोह की ओर से देखने पर वह 'व'कार अपने को मानों द्विधा विभक्त करके 'उ'कार एवं 'व'कार इस मिथुन में परिणत हो रहा है। जप आदि सब साधनों में भी इस स्वः एवं सुवः—दोनों का अन्वेषण करना होगा। इन दोनों का अन्वेषण करके जो साधक अग्रसर होता है वही कुशल साधक है। जपादि क्रिया में वाक् की, चित्त की एवं प्राण की एक कूर्मवत् प्रवृत्ति होती है। क्रिया का कियदंश स्पष्ट चेतना के आलोक में अपने को मानों प्रसारित करता है—तब दिखाई देता है कि क्रिया इस प्रकार, इस आकार में चल रही है। किन्तु दूसरे मुहूर्त में ही क्रिया कूर्मवत् अपने को अदृश्य के अन्तराल में समेट लेती है—तब फिर देख नहीं पाते कि क्रिया किस प्रकार, किस रूप में चल रही है। अन्धकार में खद्योत की भाँति एक बार ज्वलित होकर एक क्षण के लिये अपने को प्रकाशित करके वह मानों फिर बुझ जाती है। फिर जप-काल में जो प्रकट है, जप-समापन में वह अचानक अथवा शनैः शनैः अप्रकट हो जाता है। केवल जप-क्रिया के सम्बन्ध में ही नहीं, वह क्रिया जिस संस्कार अथवा फल का निर्माण करती चलती है, उसके सम्बन्ध में भी यह भेद ध्यान में रखना पड़ता है। किसीका भी पूर्ण रेखाचित्र हमारे सामने प्रतिभात नहीं होता। उस रेखाचित्र के—यहाँ थोड़ा सा, वहाँ थोड़ा सा, अब थोड़ा सा, तब थोड़ा सा—इस प्रकार विच्छिन्न खण्डों को हम साधारणतः अपने चक्षु के सामने भासित देख पाते हैं। जिस प्रकार हवा में अदृश्य जलीय बाष्पराशि को हम खण्ड-खण्ड आकार में देख पाते हैं, जब वह मेघरूप में यहाँ-वहाँ उड़ती हुई तैरती फिरती है। जो समग्र है, जो महान् है, उसे देख न पाकर खण्ड-खण्ड अनुभूति लेकर ही हम पड़े रहते हैं अतः हमारी बुद्धि-विवेचना को पद-पद पर इतना विभ्रान्त होना पड़ता है। जिस अनुभूति के स्तर पर उठने से जो महान् है वह महान् रूप में ही अपने को प्रतिभात करेगा, उस अनुभूति के स्तर का नाम ही है 'महः' अथवा

'महर्लोक', जिसकी बात हम बादवाले सूत्र में कहेंगे। इस स्थल में 'स्वः' एवं 'सुवः' इन दो शब्दों का तत्त्वगत एवं प्रयोगगत वैलक्षण्य स्मरण रखना होगा।

'अयं' एवं 'असौ' एतदुभय प्रत्यय का जो अप्रतियोगी, अर्थात् विषयीभूत नहीं है उसे कहते हैं 'भुवः'। 'यह' एवं 'वह' के भीतर जो व्यवधान है किस प्रकार उसकी भावना करनी होगी? 'व्यवधान' क्या उदासीन (Neutral) है?

'अयं' एवं 'असौ'—यह एवं वह—ये दो प्रत्यय परस्पर के बीच एक व्यवधान की अपेक्षा रखते हैं अर्थात् एक व्यवधान बीच में रखकर ही 'यह' एवं 'वह' ने परस्पर को पृथक् कर रखा है। व्यवधान स्थूल हो अथवा सूक्ष्म हो, उसमें आपत्ति नहीं है, किन्तु कुछ न कुछ व्यवधान रहना ही चाहिए। व्यवधान देशगत, कालगत, वस्तुगत अथवा सम्बन्धगत हो सकता है। यथा—यह जहाँ है, वह वहाँ नहीं है; यह जब हो रहा है, वह तब नहीं हो रहा है; यह एक वस्तु है, वह अन्य वस्तु है; यह जिस सम्बन्ध से रहता है, वह उस सम्बन्ध से नहीं रहता है। सुतरां व्यवधान कहने पर केवल मात्र देश का व्यवधान (Space interval) नहीं समझना चाहिए। यद् द्वारा व्यवधान होता है अर्थात् जो 'यह' को 'वह' से देश में, काल में, वस्तु में अथवा सम्बन्ध में पृथक् करके रखता है, उस व्यवधान का 'यह' अथवा 'वह' इन दोनों में से कोई-सो भी आख्या नहीं दी जा सकती। अवश्य, एक व्यवधान के साथ अन्य व्यवधान को तुलना करते हैं (जैसे किसी एक त्रिभुज के तीन कौणिक बिन्दुओं का परस्पर व्यवधान), वहाँ यह व्यवधान एवं वह व्यवधान इस प्रकार व्यवहार सम्भावित होता है। किन्तु क एवं ख दो बिन्दुओं के बीच जो व्यवधान है उसे जब तक व्यवधान कहकर देखते हैं, अन्य किसी कल्पित वा वास्तव व्यवधान के साथ उसकी तुलना नहीं करते हैं, उस समय वह 'यह' भी नहीं है, अथवा 'वह' भी नहीं है। इस व्यवधान के निमित्त ही 'क' एवं 'ख' का परस्पर दूरत्व एवं तन्निबन्धन उनका पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित होता है। जैसे सूर्य एवं पृथ्वी के बीच जो वर्तमान व्यवधान है, वह मोटामोटी एकरूप रहकर ही सूर्य एवं पृथ्वी के परस्पर सम्बन्ध को 'प्रायः' एकरूप ही बनाए हुए है। 'प्रायः' इसलिए कहा जाता है कि सूर्य के चारों ओर पृथ्वी का आवर्तन ठीक वृत्त नहीं है, किन्तु वृत्ताभास (Ellipse) है। सुतरां दूरत्व सब समय एक-सा नहीं रहता एवं उसके फलस्वरूप पृथ्वी पर सूर्य का प्रभाव भी सब समय ठीक एक प्रकार का नहीं रहता। एक अणु के भीतर भी किसी nucleus वा केन्द्र को आश्रय करके एकाधिक 'इलक्ट्रॉन्' चक्कर खा रहे हैं। उस स्थल में देश का परिमाण इतना सामान्य है कि कल्पना में भी लाना कठिन है। स्थान अल्प होने पर भी वेग भीषण है। इतना भीषण

कि आलोक की गति के साथ वह तुलित हो सकता है। एक 'इलक्ट्रॉन' के गतिवेग की तुलना में पृथिव्यादि ज्योतिष्कों को प्रायः पङ्गु कहने पर भी अत्युक्ति नहीं होती। किन्तु महाश्चर्य रहस्य यह है कि इस आणविक देश में (Atomic space में) केन्द्र के साथ इलक्ट्रॉनों का एवं इलक्ट्रॉनों के परस्पर के बीच प्रचुर व्यवधान विद्यमान रहता है। कोई एक निर्दिष्ट इलक्ट्रॉन केन्द्र के चतुर्दिक् जो व्यवधान बनाये रखकर प्रदक्षिणा कर रहा है, उस व्यवधान की यदि ह्रास-वृद्धि हो तब उस आणविक जगत् में एक विप्लव हो जायगा। अर्थात् व्यवधान ही है जगत् में पदार्थ-समूह के पारस्परिक सम्पर्क का नियामक।

प्रणव के बीच भी उदाहृत

प्राण एवं चेतना के राज्य में आकर भी इस व्यवधान तत्त्व (Integral Principle) को सम्पर्क के नियामक के रूप में ही हम देख पाते हैं। अथच यह है स्वयं उदासीन। प्रणव के 'अ'कार एवं 'म'कार के बीच 'उ'कार के रूप में यह वर्तमान है। यह हुआ 'भुवः'।

अन्तरीक्ष—शून्य मात्र नहीं है

अतएव हम देखते हैं कि व्यवधान स्वयं उदासीन होकर भी शून्य मात्र नहीं है। व्यवधान को व्याप्त करके 'ईश्वर' की भाँति कोई सूक्ष्म पदार्थ है अथवा नहीं यह हमारे विचार का विषय नहीं है। ईश्वर' यदि न भी हो तो व्यवहित पदार्थों के परस्पर प्रभाव एवं सम्बन्ध की नियामक कोई एक प्रकार की संस्था विद्यमान है ही, यह हमें समझना होगा। जिस प्रकार आइन्स्टाइन के 'आपेक्षिकतावाद' में जहाँ कोई जड़ पदार्थ विद्यमान रहता है, (यथा सूर्य) वहीं उसके समीपवर्ती देश में किसी एक निर्दिष्ट आकार एवं प्रकार की वक्रता (Curvature) पड़ी हुई है। इस कारण जब किसी दूरवर्ती नक्षत्र से सूर्य के निकट होकर कोई रश्मि हमारी पृथ्वी पर आकर पड़ती है, तब वही ठीक 'युक्लिड' को ज्यामिति की सरल रेखा में आकर नहीं पड़ती, रश्मि वक्र होकर उपस्थित होती है। नक्षत्र से सूर्य एवं सूर्य से हमारी पृथ्वी तक जो अन्तरीक्ष वा व्यवधान हैं वह यदि शून्य मात्र होता तब रश्मि को वक्रता होने का कोई हेतु नहीं रहता। किन्तु अन्तरीक्ष तो शून्य वस्तु नहीं है, उसकी एक निजस्व आकृति-प्रकृति है।

वैखरी, मध्यमा एवं पश्यन्ती इस त्रिविध जप में तीन व्याहृतियाँ किस प्रकार उदाहृत हैं? मध्य में व्यवधान-सेतु और सन्धि है। व्यवधान में नियामकत्व है।

वैखरी जप में मन्त्र का जो यथार्थ स्वरूप है—वह हमारे समीप प्रकाशित नहीं रहता एवं मन्त्र के जो लक्ष्य अथवा देवता हैं, वे भी हमारे समीप अप्रकट हैं। पश्यन्ती

स्तर में जा पाने पर मन्त्र एवं मन्त्रार्थ का स्वरूप दर्शन का विषय बन जाता है। किन्तु इन दोनों के बीच एक व्यवधान वा अन्तरिक्ष रहता है जिसे कहते हैं मध्यमा। वैखरी यदि 'भूः' हो एवं पश्यन्ती यदि 'स्वः' हो, तब यह मध्यमा होगी 'भुवः'। किन्तु यह 'भुवः' एक शून्य व्यवधान मात्र तो नहीं है। 'भूः' एवं 'स्वः' इन दोनों के परस्पर प्रभाव एवं सम्बन्ध को निर्दिष्ट कर देता है यह 'भुवः'। अर्थात् बीच में यह मध्यमा का व्यवधान ही निर्धारित करता है कि पश्यन्ती की तुलना में हमारा जप वैखरी की ठीक किस अवस्था-विशेष में चल रहा है अथवा नहीं चल रहा है। किसी-किसी भाग्यवान् की जप-क्रिया वैखरी की इतनी उच्च भूमि में चलने लगती है कि उससे पश्यन्ती का दूरत्व फिर अधिक नहीं रहता। पश्यन्ती के निकट होने के कारण पश्यन्ती का प्रभाव वैखरी जप पर घनिष्ठ से मानों घनिष्ठतर होता रहता है। पश्यन्ती की ज्योतिः एवं रस वैखरी के बीच मानों अपने को ढाल देना चाहते हैं। उसके फलस्वरूप वैखरी का मन्त्र एवं वैखरी का देवता पश्यन्ती की ज्योति में इतना उज्ज्वल एवं रस में इतना मधुर हो उठता है कि हमारे जप में मानों आलोक-पुलक का अन्त नहीं रहता। मैं भावना करता हूँ—'हे हमारे इष्ट मन्त्र! यही तो तुमने अपना उज्ज्वल रूप मेरे सामने प्रकट किया, देखो इस रूप को कहीं मैं खो न बैठूँ।' केवल इष्ट मन्त्र ही नहीं, अपने अभीष्ट देवता को भी तब मानों मैंने देख लिया, ऐसा सोचता हूँ। किन्तु वैखरी स्तर में यह अनुभूति कदाचित् आने पर भी स्थायी नहीं होती। क्योंकि तब भी कुछ व्यवधान अवशिष्ट रह जाता है। अतएव देखते हैं कि वैखरी जप में भी साधक की जो संस्था है, वह एकरूप नहीं होती वा नहीं रहती। उत्तम, मध्यम, अधम भेद से संस्था को त्रिविध समझा जा सकता है। इन तीनों संस्थाओं में ही मध्यमा-रूप व्यवधान एक-सा नहीं हो सकता, यह ठीक है। इसीलिए भुवः, 'यह' एवं 'वह' इन दोनों में से कोई-सा भी न होकर भी उन दोनों का जो पारस्परिक संस्थान है, उसका संस्थापक है।

भुवः शब्द का विश्लेषण और व्यञ्जना

'भुवः' इस शब्द में भी देखते हैं 'उ'कार ने 'उव्' यह रूप ग्रहण किया है। अर्थात् 'भूः' में जो 'ऊ'कार मात्र है उसने भुवः में 'उ'कार एवं 'व'कार, यह मिथुन रूप प्राप्त किया है। इस मिथुन रूप का जो तात्पर्य है, उसे हमने पहले समझा है। 'भुवः' शब्द में—'उव्' इस युग्मक के रहने से यह सूचित होता है कि अन्तरिक्ष अचल, निष्क्रिय अवस्था में विद्यमान नहीं है। उसका संकोच एवं प्रसार हो रहा है एवं उसके फलस्वरूप पदार्थ-निचय की जो संस्था (ensemble) है वह परिवर्तित हो रही है। प्रणव के 'अ'कार एवं 'म'कार के बीच 'उ'कार रूप में भुवः विद्यमान रहकर अन्तरिक्ष के इस समर्थ शक्तिविग्रह को हमारे सामने प्रकाशित कर रहा है।

'अयं' एवं 'असौ'—एतदुभय प्रत्यय का ही जो विषय है, वही महः है।

'यह' एवं 'वह' मिलकर बृहत्तर अनुभूति किस प्रकार हो सकती है? अन्धकार में वन में पथ पर चलने का दृष्टान्त। अंशतः और क्रमिक ख्याति एवं समग्र अक्रमिक ख्याति।

हमारी साधारण अनुभूति में जो 'यह' है, वह तत्काल 'वह' नहीं होता। और जो 'वह' रूप में रहा है, वह तत्काल 'यह' नहीं है। 'यह' रूप में जो अब प्रत्यक्ष-गोचर हो रहा है, वह किसी न किसी प्रकार दूर वा अन्तराल में जब तक सरक न जाय तब तक उसे 'वह' नहीं कहा जा सकता। जिस वृक्ष को देखते हैं वह वृक्ष 'यह' वृक्ष न होकर 'वह' वृक्ष बनता है किस प्रकार? जब उसे फिर नहीं देखता हूँ, किन्तु उसकी बात स्मरण करता हूँ तब। किन्तु 'यह वही देवदत्त है' इस प्रकार जब प्रत्यय होता है, तब उस प्रत्यय में 'यह' एवं 'वह' दोनों को ही एकत्र होते देखता हूँ। इन दोनों प्रत्ययों की तुलना करने पर दिखाई देता है कि द्वितीय प्रत्यय प्रथम की अपेक्षा अधिक व्यापक है—वर्तमान में दृष्ट देवदत्त को यह जैसे विषय बना रहा है, वैसे ही फिर अतीत में दृष्ट देवदत्त को भी यह विषय बना रहा है।

दूसरा एक और दृष्टान्त लीजिए। मेघाच्छन्न अन्धकार-रजनी में हम पथ पर चल रहे हैं। हाथ में एक 'टार्च' है। उसे बीच-बीच में जलाकर चलने के मार्ग में ठीक सामने क्या है अथवा उसके आसपास में क्या है, देख लेते हैं। जब जहाँ टार्च का आलोक पड़ता है, तब वह स्थान हमारे समीप 'यह' रूप में प्रतिभात होता है। 'टार्च' का आलोक जब अन्य जगह जाकर पड़ा तब पहले का 'यह', 'वह' बन गया—अर्थात् जो दृश्य रूप में विद्यमान था, वह अदृश्य रूप को प्राप्त हुआ। किन्तु इस प्रकार पथ पर चलते-चलते यदि एक बार मेघ में विद्युत् चमक उठे, तब उस विद्युत् की छटा में हमारा समस्त पथ एवं पथ की परिस्थिति एक-साथ ही प्रत्यक्षगोचर होकर 'यह' रूप में प्रतिभात होती है। इस विपुल 'यह' के बीच कितने ही छोटे-छोटे 'यह' 'वह' स्थान पाए हुए हैं, उनकी इयत्ता कौन करेगा? इस प्रकार जो विपुल अनुभूति है, जिसमें बहुत क्षुद्र-क्षुद्र 'यह' एवं 'वह' एकत्र सम्मिलित होकर प्रकाशित होते हैं, उसका नाम है महः। बृहदारण्यक में कथा है कि ऋषि वामदेव ब्रह्मज्ञ होकर अपने पूर्व के सभी जन्मों का स्मरण कर रहे हैं—'मनुरभवम्' इत्यादि। इस स्थूल में उनकी इस विराट् अनुभूति में—कितने अयुत जन्मों के 'वह' आकर 'यह' के बीच अपने को मिला दे रहे हैं, जिस प्रकार नाना दिग्देश से सरित् दौड़ आकर एक सिन्धु में अपने को मिला देती है। सुतरां यह 'महः' हुआ ऐसा एक महान् प्रत्यय जिसके बीच 'यह' एवं 'वह' आकर इस प्रकार सम्मिलित हो जाते हैं।

वस्तु-शक्ति और अनुभूति की ओर से महर्लोक की व्यञ्जना। महः कोई स्थाणु (Static) सामग्री नहीं है, किन्तु विवर्द्धिष्णु (Dynamic) है।

कहना न होगा कि 'महः' एक रहस्य परिभाषा है। जहाँ किसी एक व्यापक एवं समृद्ध ज्ञान में विभिन्न देश में, विभिन्न काल में एवं विभिन्न अवस्था में लब्ध क्षुद्र-क्षुद्र ज्ञान समाहृत होकर रहते हैं, सुतरां जहाँ 'वह' एवं 'यह' परस्पर आलिङ्गनाबद्ध होकर ही मानों विद्यमान हैं, वहीं पर महर्लोक है। विशेष-विशेष अनुभवों के सामानाधिकरण्य होकर तत्तत्-विशेष-सहकृत सामान्य ज्ञान जिसके द्वारा होता है, वह हुआ महः। छोटे-छोटे नियमों को एक बड़े नियम के अन्तर्भुक्त करके यह 'महः' दिखाता है। केवल मात्र अनुभव की ओर से नहीं, वस्तु एवं उसकी शक्ति की ओर से भी महः को समझने की चेष्टा करनी होगी। जिस प्रकार जड़-जगत् के अशेष प्रकार के पदार्थों का विश्लेषण करके हम कितने ही मौलिक उपादान पाते हैं। उन्हें फिर विश्लेषण करके पाते हैं शक्ति वा 'इनर्जी'। इस प्रकार विश्लेषण एवं समीकरण के फलस्वरूप हम महर्लोक की ओर ही अग्रसर हो रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं। यात्रा शुरू तो हुई, किन्तु चलने का पथ अभी भी बहुत सा बाकी है। कीट-पतङ्ग आदि की तुलना में मनुष्य का ज्ञान 'महः' है और साधारण मनुष्य के ज्ञान की तुलना में विज्ञान का ज्ञान 'महः' है। सुतरां जो 'महः' है, उसकी एक क्रमोन्नत धारा को हम पाते हैं। इस धारा का शेष अथवा काष्ठा कहाँ है? जो 'महतो महीयान्' है, उसी निरतिशय पूर्ण ज्ञान में ही इसकी पराकाष्ठा है। हाँ, निम्न स्तरों में भी पूर्वोक्त लक्षणों का विचार करते हुए 'महः' शब्द का प्रयोग हो सकता है।

महर्लोक के ज्ञान का असाधारणत्व कैसे है?

हमारे साधारण ज्ञान क्रमिक अर्थात् एक के बाद एक होते हैं। इस मुहूर्त में जिस ज्ञान को 'यह' कहकर पाते हैं, दूसरे मुहूर्त में ही वह 'वह' होकर स्मरण का विषय हो जाता है। अपि च, भविष्यत् में जो अनागत रूप में रहता है, वह शायद इस मुहूर्त में समागत होकर 'यह' बन रहा है। ज्ञान की यह क्रमिकता होने पर भी वर्तमान मुहूर्त में हमारे अतीत के 'वह' को स्मरण करके एवं भविष्यत् के 'वह' की कल्पना अथवा अनुमान करके वर्तमान के 'यह' में उन्हें मिला ले सकते हैं। एवंविध मिलन में महर्लोक का एक छायाचित्र तो हमें अवश्य मिल जाता है, किन्तु यथार्थ महर्लोक अन्य प्रकार का है। हमने पहले अन्धकार में पथ पर चलते समय बीच-बीच में 'टार्च' का व्यवहार करके एक प्रकार की अभिज्ञता प्राप्त की है, किन्तु जब विद्युत्-प्रकाश हो जाने पर समस्त परिस्थिति हमारे सम्मुख प्रतिभात हो उठती है, तब फिर एक स्वतन्त्र प्रकार की अभिज्ञता हमें हुआ करती है। उस अभिज्ञता में पूर्व-पूर्व के 'वह' केवल मात्र स्मृति

रूप में उपस्थित होकर 'यह' के साथ मिलित नहीं होते, परन्तु अतीत के सब 'यह' एवं भविष्य के सब 'यह' वर्तमान के एक विपुल 'यह' के ज्ञान में सम्मिलित होकर स्वयं भी 'यह' बन जाते हैं। किन्तु स्मरण अथवा कल्पनादि के समय ऐसा नहीं होता। सिद्धों एवं ऋषियों का जो भूत-भविष्यत् ज्ञान है, वह अस्मदादि की भाँति स्मृति और कल्पना से संवलित ज्ञान नहीं है। प्रत्यक्ष ज्ञान में जो सुस्पष्टता प्रभृति लक्षण विद्यमान रहते हैं, वे स्मृति में, अनुमान में अथवा कल्पना में नहीं रहते। वैज्ञानिक लोग जगत् की वर्तमान अवस्था को देखकर अतीत की अवस्था-परम्परा का बहुत दूर तक अनुमान कर सकते हैं, एवं तद्रूप भविष्यत् के सम्बन्ध में भी कुछ कल्पना कर सकते हैं। किन्तु एवंविध ज्ञान सुस्पष्ट, असन्दिग्ध ज्ञान नहीं है। सिद्ध अथवा ऋषि का जो ज्ञान व्यवहित, विप्रकृष्ट आदि वस्तुओं के सम्बन्ध में है, वह ऐसा ज्ञान नहीं। अन्धकार में विद्युद्-विकास का जो दृष्टान्त हमने लिया है, उस दृष्टान्त के द्वारा, आर्षज्ञान किस प्रकार का है, यह समझना होगा। हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान की तुलना में आर्षज्ञान केवल-मात्र अधिक व्यापक एवं अक्रमिक है ऐसा नहीं, किन्तु उस ज्ञान की सुस्पष्टता एवं सौष्ठव अधिक है। मैं अपने इस सामने के वृक्ष को जिस प्रकार प्रत्यक्ष करता हूँ, ऋषि किसी अतीत अथवा अनागत वस्तु को उसकी अपेक्षा अधिक सत्य भाव से प्रत्यक्ष करते हैं, इसमें सन्देह नहीं, जिस प्रकार हमारे चर्मचक्षु में दृष्ट कोई पदार्थ अणुवीक्षण अथवा दूरवीक्षण यन्त्र के साहाय्य से और भी सुस्पष्ट एवं यथार्थ भाव से दिखाई देता है। सुतरां देखते हैं कि महर्लोक स्तर में न जा सकने पर एवंविध अक्रमिक सुस्पष्ट, यथार्थ ज्ञान-लाभ की सम्भावना नहीं होती। इस स्तर में पहुँचने पर जो ज्ञान होता है उसे बोधि, सम्बोधि, प्रातिभ ज्ञान इत्यादि पर्याय में डालना ही संगत है।

महः इस शब्द का विश्लेषण और व्यञ्जना

महः इस शब्द के आदि में मकार है एवं बाद में 'हः' यह 'र'कारयुक्त 'ह'-कार है। इसके द्वारा समझना होगा कि 'अ'कार, 'उ'कार एवं 'म'कार के बाद एक सन्धिरेखा है। हमारी साधारण वाक् एवं साधारण अनुभूति इस सन्धिरेखा के पार होकर नहीं जा पाती; उसके इस ओर ही उनकी वृत्ति सर्वत्र हुआ करती है।

वाक् की ओर से इन तीन मात्राओं के बाद जो अर्धमात्रा, नाद, बिन्दु एवं अमात्र हैं, उनका उन्मेष सर्वत्र नहीं होता, जब हम प्रणव अथवा अन्य किसी शब्द का उच्चारण करते हैं। अनुभूति की ओर से जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति इस अवस्थात्रय के ऊर्ध्व में जो है, उसकी खोज हमें नहीं मिलती। सुतरां 'म'कार के बाद मानों एक बाँध दिया हुआ है, जिसका अतिक्रम करने में हमारे वाक्य एवं मन सर्वदा असमर्थ होते हैं। इस नैसर्गिक बाँध को तोड़ देता है महाप्राणस्वरूप जो 'ह'कार है वह। 'म'कार में

आकर जो प्राणवृत्ति मानों समाप्त हो हो गई, 'ह'कार उसे महाप्राणमय करके ऊर्ध्व-लोक में उत्सारित कर देता है। 'ह'कार के साथ जो 'र'कार युक्त रहता है, वह अग्नि का वाचक है। 'म'कार में आकर जो अग्निशिखा निर्वापित-प्राय हो गई थी, उस अग्निशिखा ने 'ह'कार के द्वारा विशेष भाव से उद्दीपित होकर असीम ऊर्ध्वलोक की ओर अपनी शिखा का विस्तार किया। जहाँ अन्त हुआ, ऐसा सोचा था, वहाँ आरम्भ हुई नव नव महान् से महत्तर ज्ञानराशि। महः इस रहस्य-शब्द द्वारा यह अभिनव आरम्भ और प्रकाश सूचित होता है।

जनि प्रत्यय को किस प्रकार समझना होगा? विश्व व्यवहार का मूल कहाँ है?

२२. असि अथवा जनि प्रत्यय का जो प्रतियोगी अर्थात् विषय है उसे कहते हैं जन।

जनि प्रत्यय कहने से क्या समझना होगा? विश्व में अहरहः सब कुछ जन्म लेता है। जन्म लेकर किन्तु एक भाव से नहीं रहता, नियत परिवर्तित होता रहता है। इस अविराम परिणाम-धारा में जीव की बुद्धि अपना व्यवहार चलाने के निमित्त छह भाव वा अवस्था की कल्पना कर लेती है। कोई जन्म लेता है, उसके बाद वह है इस प्रकार समझ में आता है, किन्तु तत्पश्चात् साथ-साथ ही देखते हैं कि वह एक भाव में स्थिर नहीं रहता, परिवर्तित होता है, तत्पश्चात् कुछ समय के लिए ऐसा लगता है कि उसका परिवर्तन वृद्धि की ओर है, अर्थात् वह बढ़ता है, तत्पश्चात् देखते हैं वह फिर नहीं बढ़ता है, ह्रास की ओर जाता है, अर्थात् क्षीण होता है, तत्पश्चात् देखते हैं कि वह नष्ट हो गया वा मर गया। जन्म से आरम्भ करके मृत्युपर्यन्त इस परिणाम-धारा में मोटा-मोटी ६ स्तर देखने को मिले। परिणाम को छह भाव में देखने पर भी वह एक का ही भाव है। 'होना' यह एक भाव ही अपने को ६ प्रकार का बनाकर दिखाता है। 'होना' आरम्भ होते ही यदि 'होना' व्यापार बन्द हो जाय तब तो परिणाम के नाम से कुछ भी घटित नहीं हो सकता, सुतरां ३, ५ अथवा ६ संख्यक अवस्थाओं में से किसी प्रकार भी उसे समझना सम्भव नहीं होगा। अतएव 'होना' को अविच्छिन्न रूप से रहना ही होता है। इसे कहते हैं Continuity of Becoming। Being अथवा अस्तिता की जैसी अखण्डता है, Becoming वा 'होना' की ठीक इसी प्रकार अखण्डता न रहने पर भी प्रवाहरूप में अखण्डता अवश्य ही रहती है, ऐसा समझना होगा। किसी-किसी दृष्टि में यह गति वा धारारूप सत्य है; अक्षर, अपरिणामी, नित्य कहकर कुछ भी नहीं है। इस देश में क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध एवं अपरापर देशों में भी प्राचीन एवं अर्वाचीन किसी-किसीने ऐसी दृष्टि से जगत् को देखा है। पक्षान्तर में, अन्य दृष्टि में अक्षर

नित्य ही सत्य वस्तु है, उसमें जन्मादि जो परिणाम होते हैं, ऐसा लगता है वे कल्पित हैं। किन्तु कल्पित होने पर भी वह व्यावहारिक भाव से सत्य हैं अर्थात् यावत् यह जगत् प्रपञ्च का ज्ञान होता है, तावत् 'होता है' इस प्रकार ही ज्ञान होता है। सुतरां यावत् व्यवहार है, तावत् 'होना' वा 'होता है' इसे छोड़ने का उपाय नहीं है। व्यवहार के मूल में हो यह विद्यमान है। इसके न रहने पर सब अव्यवहार्य हो जाता है। निखिल व्यवहार का मूलीभूत यह जो 'होना' वा 'होता है' बोध है, इसे कहते हैं जनि प्रत्यय; इस जनि प्रत्यय का विषय है जन। इस जनलोक में उपस्थित होकर हम जगदनुभूति की पञ्चम भूमि में उपनीत होते हैं। प्रथम में 'यह', तत्पश्चात् 'वह', तत्पश्चात् न 'यह' न 'वह', तत्पश्चात् 'वह एवं यह'—इन चार भूमियों का अतिक्रम करके यह सर्वविध व्यवहार जिसे आश्रय करके हो रहा है, उस तत्त्व में आ पहुँचते हैं। वही तत्त्व है 'होना' वा 'होता है' अर्थात् जनि।

'जनि' वा मूल 'होना' किस अधिकरण में सम्भावित हो सकता है? अस्ति और अस्मि।

'एकोऽहं बहु स्याम्' इस वाक्य का मौलिक विश्लेषण देखें।

किसी एक लता को छिन्न करके भी यदि उसका मूल बचा रखें तो उस मूल से फिर लता का उद्गम हो जाता है, ऐसा हम देखते हैं। यह व्यापार बार-बार संघटित हो सकता है। सुतरां बार-बार लता ऐसी कुछ बनी रहती है, जिसके द्वारा यह बार-बार होना सम्भावित होता है। हमारे चित्त में सर्वदा अशेष वृत्तियों का उदय एवं लय हो रहा है, किन्तु उसके मूल संस्काररूप में रहते हैं, इसीलिए इस प्रकार उदय एवं लय होता है। सुतरां सब प्रकार के विशेष होने के मूल में एवं आधाररूप में एक सामान्य भाव में 'होना' रहना चाहिए। जैसे जलाशय बना हुआ है; इसलिए उसमें विशेष-विशेष समय पर एवं स्थान पर तरंग, फेन, बुद्बुदादि का उद्भव होता है। और जलाशय बना हुआ है इसी कारण कि उसके पूर्व जल नामक वस्तु बनी हुई है। इस प्रकार परम्परा-क्रम से हम एक मूल 'होना' में जाकर उपनीत हुए। सर्वविध 'होना' ही हुआ उस मूल 'होने' के विशेष-विशेष रूप। जिस व्यापार को नष्ट होना वा लय होना नाम देते हैं वह भी इस मूल 'होने' का एक प्रकार का भेद मात्र है। सुतरां 'जन्माद्यस्य यतः' इस ब्रह्मसूत्र का तात्पर्य यह है—मूल, देशकालादि—परिच्छेदहीन जो "होना" है वही। सृष्टिसूक्त में वेद ने जो कहा है—'अभीद्धतपः' से ऋत एवं सत्य "अध्यजायत", अर्थात् तदधिकरण में जात हुए, वह इस मूल 'जनि' अथवा 'होने' को उद्देश्य करके ही कहा गया है। 'तदधिकरण में' कहा गया इसलिए एवं विध होने के भी मूल में एवं उसके आधाररूप में 'अस्ति' एवं 'अस्मि' इन दो भावों के रहने की

अपेक्षा रहती है। हम बाद के दो सूत्रों में सत्य एवं तपः इन दो रूपों में इन दोनों का परिचय पायेंगे। "एकोऽहं बहु स्याम्" इत्यादि श्रुति में भी सप्तव्याहृति की ये तीन मूल व्याहृतियाँ हम देख पाते हैं। जो मूल वस्तु 'अस्ति' मात्र रूप में चिर विद्यमान है, उसने 'एकोऽहं' इस भाव में स्वयं अपने को 'अस्मि' प्रत्यय का विषय बनाया। यह उनका ज्ञानमय तपः है। तत्पश्चात् "बहु होऊँ" इस प्रकार संकल्परूप उन्होंने धारण किया। यह हुआ उनका मूल 'होना' रूप, जिससे सब कुछ हो हुआ है, होता है एवं होगा। 'अस्तिता' एवं 'अस्मिता' के अधिकरण में एवंविध 'होना' हुआ करता है। अर्थात् 'है' एवं 'हूँ' इन दो भावों को आधार करके ही 'होगा' यह भाव सम्भावित होता है। इस अपेक्षा को स्मरण रखकर ही "असदेव इदमग्र आसीत्" इत्यादि श्रुतियों का तात्पर्य समझने की चेष्टा करनी होगी। 'असत्' का अर्थ ऐकान्तिक शून्य नहीं हो सकता।

'जन' के बाद के चार लोकों में चार प्रकार का रूपायण

शब्द की ओर से यह लक्ष्य करना होगा कि भूरादि चार तत्त्वों के जो नाम हैं उनके अन्त में 'र' से उत्पन्न विसर्ग पड़ा हुआ है, किन्तु 'जन' इस तत्त्व में वह फिर नहीं है। पहले चार तत्त्वों में मूल 'होना' अपने को चार आकारों में रूपायित करके परस्पर के साथ शक्ति का आदान-प्रदान कर रहा है। इस प्रकार रूपायण एवं शक्ति-विनिमय 'र' से उत्पन्न विसर्ग द्वारा सूचित होता है। 'र'कार अग्नि का बीज है, सुतरां पूर्वोक्त चार तत्त्वों में अग्नि को विशेष एवं व्यक्त रूप में देखा जा सकता है। किन्तु 'जन' इस तत्त्व में अग्नि का यह विशेष एवं व्यक्त रूप-चतुष्टय अभी भी आविर्भूत नहीं हुआ है। हम अग्नि के जिन चार रूपों के साथ परिचित हैं, उनके द्वारा इसकी धारणा कुछ-कुछ हो सकती है। जड़ ब्रह्माण्ड में अग्नि का जो सूक्ष्म व्यापक रूप हम जान पाये हैं, विज्ञान ने उसका नाम दिया है तड़ित् शक्ति। इस शक्ति का स्वरूप क्या है, यह विज्ञान भी नहीं जानता। किन्तु जिन सब नियम वा पद्धतियों के अनुसार इस शक्ति का जागतिक विकास होता है, उनमें से कुछ-कुछ को विज्ञान जान पाया है। जड़ वस्तुमात्र में ही इस शक्ति का एक-एक विग्रह एवं उनका सर्वविध व्यवहार इस शक्ति का ही आदान-प्रदान मात्र है। जागतिक शक्ति के रूप में देखने पर यह हुआ महः। एक महान् समुद्र की भाँति यह शक्ति जड़ जगत् में सर्वत्र केवल मात्र विद्यमान है, ऐसा नहीं; परन्तु सर्वदा सक्रिय है। तत्पश्चात् इस तड़ित् शक्ति को और भी विशेष एवं व्यक्त आकार में जब हम देखते हैं, तब होता है आलोक। आलोक कहने पर केवल आँख से दृश्य प्रकाश समझना होगा ऐसा नहीं; किन्तु किसी निर्दिष्ट पथ में रेणु की भाँति अथवा ऊर्मि की भाँति शक्ति का सूक्ष्म विकिरण (Radiation) समझना होगा। जागतिक शक्ति की ओर से यह हुआ 'स्वः'। इस विकिरण-व्यापार को ठीक प्रकार से समझना हो तो एक

चक्र की कल्पना करनी होगी। चक्र में जिस प्रकार नाभि, अर एवं नेमि ये तीन अङ्ग होते हैं, उसी प्रकार शक्ति के विकिरण-स्थल में इन त्रिविध अङ्गों का रहना आवश्यक होता है। विकिरण होता है, ऐसा कहने पर किस केन्द्र से विकिरण, किसके बीच से विकिरण एवं किसके ऊपर विकिरण—इन तीन स्थानों की अपेक्षा अवश्य होती है। विकिरण को नाभि वा केन्द्रस्थल में देखने पर वह होता है 'स्वः', अवकाश अथवा अन्तरिक्ष में देखने पर वह होता है 'भुवः' एवं जिस आधार पर वह विकिरण आकर क्रिया करता है एवं प्रतिक्रिया पाता है, वह है 'भूः'। यहाँ आकर जागतिक शक्ति पार्थिव अग्नि के रूप में प्रकाशित होती है। सुतरां ये चार लोक हुए अग्नि की ही चार भूमियाँ एवं चार रूप। अवश्य, हमने देखा है कि ये चार तत्त्व केवल-मात्र बहिर्जगत् के तत्त्व नहीं हैं, तथापि बहिर्जगत् की जो कार्यकरी शक्ति है, उसके चार भाव लेकर इन चार तत्त्वों को हम विश्व के एकांश में उदाहृत देख पाते हैं। शक्ति के विकास एवं विन्यास की ओर से संक्षेप में कहते हुए यह कहना होता है कि जड़ में हो, प्राण में हो, अथवा मन में हो, जिस केन्द्र वा नाभि का आश्रय करके शक्ति उत्सारित होती है, वह है 'स्वः' अथवा 'सुवः' का स्थान; और जिन सब निर्दिष्ट धाराओं को सृष्टि करके वह केन्द्रशक्ति विकीर्ण होकर अन्य किसी वस्तु अथवा आधार पर आघात करती है एवं उससे प्रतिघात को प्राप्त होती है, वे जिस व्यवधान वा अन्तरिक्ष का आश्रय लेती हैं, वह हुआ 'भुवः' एवं व्यवधान का अतिक्रम करके वे जिसके ऊपर आकर गिरती हैं एवं क्रिया-प्रतिक्रिया-रूप धारण करती हैं, वह हुआ 'भूः'।

तान्त्रिक दीक्षा का दृष्टान्त

तान्त्रिक दीक्षा में त्रिविध दीक्षा का प्रसंग है। प्रथम शाम्भवी दीक्षा है। इस दीक्षा में शिष्य की सत्ता में जो महाकुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में पड़ी हुई है, उसे साक्षाद्भाव से चैतन्यरूपिणी बना दिया जाता है। हमारे लक्षण के अनुसार हम इस दीक्षा को स्वर्दीक्षा कह सकते हैं; क्योंकि जिस परम केन्द्र में शिवशक्ति अभिन्न रूप से विराजमान है, वह सहस्रार ही इस दीक्षा का स्थान है। तत्पश्चात् होती है शाक्ती दीक्षा। इस दीक्षा में शिष्य के मूलाधार में जो व्यष्टि कुण्डलिनी शक्ति सार्धत्रिवलयाकार रूप में पड़ी हुई है, उसे जागरित करके सुषुम्णा मार्ग में उसका अभ्युत्थान सहस्राराभिमुख में संघटित करना होता है, अर्थात् 'वह' एवं 'यह' के बीच जो व्यवधान वा अन्तरिक्ष है, एक के बाद एक चक्र का भेद करके उस व्यवधान को दूर करना होता है। सुतरां इस दीक्षा को हम भुवर्दीक्षा कह सकते हैं। तत्पश्चात् है मान्त्री दीक्षा। यह साधारण दीक्षा है। शिष्य के कर्ण में मन्त्र उच्चारण करके यह दीक्षा-दान करना होता। शिष्य अपने ज्ञान में सहस्रार अथवा मूलाधार इन दोनों में से किसी-

को भी आपाततः नहीं पाता है। बाह्य रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शादि को लेकर उसकी जो प्रचलित अभिज्ञता है जिसे वह 'यह मेरा ज्ञान है' कहकर समझता है, उस ज्ञान को आधार बनाकर ही मान्त्री दीक्षा होती है, किन्तु दीक्षा यदि यथार्थ शक्तिसञ्चारिणी हो, तब अवश्य वह इस स्तर में अपने को आबद्ध अथवा समाप्त करके नहीं रख सकती। इसे हम कहेंगे भूर्दीक्षा।

मन्त्र-जप में ये तीनों किस प्रकार उदाहृत हैं?

मान्त्री दीक्षा-लाभ के बाद जो जप आरम्भ होता है, वह वैखरी जप है। उसे हम भूर्जप कह सकते हैं, क्योंकि इस जप में 'यह जो जप चलता है, अच्छा ही चलता है अथवा अच्छी तरह से नहीं चलता है, इस जप में विच्छेद वा विरति हो गई है'—इस प्रकार का अनुभव हुआ करता है। 'यह' प्रत्यय को आश्रय करके ही यह अनुभव होता है। किन्तु जप का लक्ष्य किस ओर है, उसका आदर्श कहाँ है? उसने अवश्य अब तक इस अदृश्य के बीच ही अपने को ढँक रखा है। वह है पश्यन्ती एवं वैखरी; जप में वह 'वह अदृश्य' कुछ-कुछ इस प्रकार रहती है, इसीलिए वह है 'स्वः'। वही वैखरी जप के सब कुछ को अपने से प्रसव करके हमारे साधारण ज्ञान के समक्ष हाजिर कर देती है। साधारण ज्ञान के दोषबहुल होने के कारण उसकी दी हुई सामग्री को स्वभाव और स्वच्छन्द से हम दोहन नहीं कर पाते हैं। पश्यन्ती में जो प्रणव नाद बिन्दु-कलात्मक रूप में पूर्ण विराजमान है, उसने वैखरी में अवतीर्ण होकर अपने नादबिन्दु रूप को संवृत कर लिया है। जिस कलारूप को प्रणव ने विवृत कर रखा है वह भी विकृत भाव से ही विवृत किया गया है ऐसा दिखाई देता है। सूर्य का जो वरेण्य भर्गः है, वह अन्तरिक्ष पथ में हमारे समीप आते हुए रजस्तम की एवं तन्निमित्त संस्कारों की विविध बाधाओं से मानों बहुत कुछ बाधित हो गया है। अतएव वैखरी में जिस प्रणव को हम जपते हैं अथवा सुनते हैं वह फिर मानों स्वमहिमा में विद्यमान नहीं है। 'यह' एवं 'वह' के बीच यह वैयर्थ्य व्यवधान हो गया है।

इस व्यवधान के दूरीकरण के निमित्त ही जपादि साधन हैं। वैखरी वा भूर्जप सीधे पश्यन्ती अथवा स्वर्जप में अपने को परिणत नहीं करते। व्यवधान वा अन्तरिक्ष के दूरीकरण के निमित्त जो मध्यमा जप है वह बनता है उभय के बीच सेतु। हम बाद में देखेंगे कि इस सेतु की फिर दो ओर दो सन्धियाँ हैं—एक भूःसन्धि अथवा व्यञ्जन-सन्धि, दूसरी स्वःसन्धि अथवा स्वरसन्धि। बीच में मध्यमारूप सेतु भी स्वयं सन्धि-रूप है एवं वह है विसर्गसन्धि।

कुछेक साधारण तत्त्वों का सूत्राकार में निर्देश

भुवर्जप के द्वारा इस सन्धित्रय का अतिकम करके तब पश्यन्ती में पहुँचना होता है। कुछेक साधारण तत्त्वों और तथ्यों पर प्रसंगक्रम से ध्यान दें—

१. भूरादि सप्त महाव्याहृतिरूप में सृष्टि में सर्वत्र अनुस्यूत है—Basic Scheme, Pattern, Frame—मूल विनियोग, मूल आकृति एवं मूल संस्था—इन तीन रूपों में।

२ सुतरां जपादि साधन की जो वैखरी प्रभृति भूमियाँ हैं, उनमें से प्रत्येक उक्त 'सप्तक' स्तर के रूप में वर्तमान है। जैसे, गान में प्रधानतः तीन ग्राम एवं प्रत्येक में सप्तसुर रहते हैं।

३. सुतरां वैखरी प्रभृति प्रतिभूमियों में प्रधानतः अवम (अधम), मध्यम और उत्तम वा परम ये तीन संस्थाएँ रहती हैं।

४. जप जब तक अवम (अधम) संस्था में है तब तक वह संस्था 'यह' रूप में वृत्तिमती होने से लक्षण के अनुसार भूः है। उत्तम संस्था स्वः है एवं मध्यम है भुवः।

५. अर्थात् उक्त संस्थात्रय के अनुरोध में व्याहृतिसप्तक अपने को व्याहृतित्रय में समाहृत कर लेता है।

६. जप जब वैखरी में रहता है, तब समग्र वैखरी की तुलना में पश्यन्ती 'स्वः' है और मध्यमा 'भुवः' है।

७. वैखरी की अपनी उत्तम संस्था वा भूमिका में जो स्वः है, उसमें जप के पहुँचने पर वैखरी के बाहर मध्यमा के उस पार जो पश्यन्तीरूप स्वः है, इन दो स्वः के साजात्यवशतः इनके परस्पर नैकटिक आलिङ्गन की सम्भावना होती है। जैसे, किसी दूरवर्त्मचारी धूमकेतु के, वितत व्योम में तुहिनतमिस्रा में चलते-चलते, किसी भास्वर ज्योतिष्क के सन्निकट आने पर हो सकता है।

८. इस प्रकार नैकटिक साजात्यसम्पर्क के फलस्वरूप मध्यस्थल में भुवः रूप में जो मध्यमा वर्तमान (अचल, निष्क्रिय, शून्यभाव में नहीं) है, उसको (अर्थात् उस सेतु की) त्रिविध परिणति होती है। (क) व्यवधानत्व का अपचय, (ख) आधानत्व का उपचय एवं (ग) सन्धानत्व का सञ्चय। दो तडिद्गर्भ मेघों के बीच जो व्यवधान है उसकी बात सोचें, जब एक मेघ से दूसरे में विद्युत् चलकर खेलती है। उक्त तीन परिणामों की एक निर्दिष्ट मात्रा न आने पर्यन्त विद्युत् का विनिमय उस प्रकार नहीं होता।

९. सुतरां उक्त स्थल में, वैखरी जप को उत्तम भूमिका में पश्यन्ती को—'स्पर्श' एवं 'आवेश'—पञ्चगङ्गा को प्रतिग्रहा धारा की जो दो वृत्तियाँ हैं, वे सम्भावित होती हैं।

१०. जप के मध्यमा ग्राम में आने पर भी साधारण भाव से उक्त व्याहृतिसप्तक एवं विशेष भाव से उक्त व्याहृतित्रय का अन्वेषण करके ही हमें चलना होगा। जब जिस

भूमिका वा संस्थाविशेष में जप चलता है, तब वही है भूः । और 'वह' रूप में जो उसका लक्ष्य है वह है स्वः । व्यवधान वा hiatus है भुवः ।

११. मध्यमा में प्रविष्ट होकर जप साधारणतः फलरूप धारण करना चाहता है—अर्थात् कारबारी चेतना के आधाररूप में जो विराट् चेतना पड़ी हुई है, उसमें ही प्रविष्ट, संगृहीत, सुरक्षित होना चाहता है । जप की 'माला' तब बहिर्जापक के हाथ से अन्तर्जापक के हाथ में चली जाती है । मध्यमा संग्रह, संचय, उपचय कराती है, किन्तु नेपथ्य में । मध्यमा को जो उत्तम संस्था वा स्वः है, वहाँ आने पर, पश्यन्तीरूप जो स्वः है, उसके साथ अतिनिबिड साजात्यवशतः मध्यमा (सेतु) की शेष सन्धि अपने दुर्लंघ्य 'प्रान्तप्राचीर' रूप में नहीं रहती—पश्यन्तीरूप में 'महेरणाय चक्षसे' वह महासन्धान-सुहृत् हो जाती है । 'सन्धि का पकड़ो'—यहाँ इस महासन्धान-सुहृत्-सन्धि को ही विशेष भाव से समझना होगा ।

१२. पश्यन्ती में भी सप्तव्याहृति एवं विशेष भाव में व्याहृतित्रय है ।

१३. सुतरां जपयज्ञ सभी भूमियों में व्याहृतिहोम है ।

१४. जपसूत्र में प्रज्ञा की पाँच भूमियों का प्रसंग है—(क) विशारदी, (ख) ऋतम्भरा, (ग) सत्यम्भरा, (घ) विवेकपीवरी (कैवल्यगर्भा) एवं (ङ) पारदृश्वरी । साधारणतः व्याहृतिसप्तक के चतुर्थ स्तर में (महः में) प्रज्ञा विशारदी होती है । जन से सत्यपर्यन्त इन तीनों 'आलोक स्तरों' में ऋतम्भरा, सत्यम्भरा, कैवल्यगर्भा पर्यन्त होती है । इन तीनों के 'अतिग' 'अलोकधाम' में प्रज्ञा होती है 'पारदृश्वरी'—विश्व और विश्वोत्तीर्ण दोनों ही उस प्रज्ञा में अकुण्ठ रूप से प्रतिभात होते हैं ।

१५. वैखरी-सिद्ध जप में प्रज्ञा अणु-विशारदी अथवा अन्वग्विशारदी है । 'अणु' द्वारा अनुकूलता, अनुग्रह एवं अन्वय—इन तीन का निर्देश है । मध्यमा की सिद्धि में सद्योविशारदो अथवा उदग्विशारदो है । तत्पश्चात् पश्यन्तो में प्रत्यग्विशारदी अथवा सम्यग्विशारदी, ऋतम्भरा इत्यादि हैं ।

१६. हम बाद में देखेंगे कि सप्तव्याहृति के भी संवत्सरों की भाँति द्वादश विभाग हैं । प्रत्येक में अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ एवं अध्यात्म (अथवा, 'आयतनवत्त्व', 'प्रकाशमत्त्व', 'अनन्तवत्त्व' एवं ज्योतिष्मत्त्व'), ये चार प्रकार हैं । एवं ये प्रत्येक फिर सांसिद्धिक, सांस्थानिक एवं सांसर्गिक भेद से त्रिविध हैं । 'जन' इस शब्द के साथ 'यज्ञ' शब्द को तुलना करके शब्द का जो प्राण है, उसे समझने की चेष्टा करें । यज्ञ के आदि में जो वायुबीज 'य' है (अर्थात् जिसमें सब कुछ क्षरणशील होता है) वह इसके ('जन' के) आदि में नहीं है । अक्षर का मूल जो अकार है वह उसके दोनों वर्णों को आश्रय दान करता है । अथ च, भूरादि की भाँति यह अव्यय नहीं है । सब

कुछ होने के मूल में आकूति और आवेग रूप (Primordial Pattern and Impetus) यह है, Foundational Becoming.

शेष की दो व्याहृतियों में विश्लेषण को और भी गम्भीर रहस्य स्तर में उतरना होगा।

२३. अस्मि प्रत्यय का जो प्रतियोगी अर्थात् विषय है उसका नाम है तपः।

'ऊस्मि' और 'मैं हूँ' इन दो बोधों का पार्थक्य

प्रणिधान करने पर समझा जा सकता है कि 'जनि' वा 'होना' इस प्रत्यय के मूल में और एक प्रत्यय है जिसका नाम 'अस्मि' प्रत्यय है–'हूँ' अथवा 'मैं हूँ'। यह बोध भाषा में व्यक्त करने जायँ तो इसे क्रियाकारक रूप में व्यक्त करना पड़ता है अवश्य, किन्तु प्रकृत प्रस्ताव में 'अस्मि' इस बोध में क्रियाकारक रूप अपरिस्फुट होकर ही रहता है। 'मैं कहता हूँ' 'मैं सुनता हूँ'—इस प्रकार प्रत्यय के साथ इसे एक पर्याय में डाल देने पर भूल होगी। इस प्रत्यय में क्रिया और कारक, प्रमाता और प्रमेय, 'मैं' एवं 'हूँ' ये दो पक्ष परस्पर को ऐसे निबिडभाव से जकड़े हुए रहते हैं (in intuitional coalescence) कि एक को दूसरे से पृथक् करना सम्भव नहीं होता। एक ही अभिन्न सत्ता के ये दो पक्ष हैं। उन दोनों पक्षों को हम बुद्धिविमर्श द्वारा पृथक् कर लेते हैं। रहने के बारे में कहने के बाद जो समझ में आता है वह 'मैं' मात्र है—इस प्रकार अपने को उपनीत करता है, पक्षान्तर में 'मैं' कहने पर जो समझ में आता है वह अपने को 'रहना' अथवा 'हूँ' मात्र इस प्रकार दिखाता है। दोनों के वृत्त परस्पर को एकांश में छेदन करके, परस्पर को मिलाए रहते हैं।

अस्मि और भान का सम्बन्ध। भान और भास

हमारी अभिज्ञता में सुषुप्ति अथवा गाढ निद्रा का आरम्भ एवं शेष इन दो सन्धियों में एवम्प्रकार परस्पर अभिष्वक्त 'मैं' और 'हूँ' रूप जो 'अस्मि' प्रत्यय है उसका परिचय मिला करता है। इन दोनों सन्धियों में 'रहना' अपने यह-वह-इत्यादि सब विशेष को खो देता है, एवं मैं' अपनी यह-अहं, वह-अहं, अब का-अहं, तब-का-अहं इत्यादि सभी प्रकारताएँ त्याग कर देता है। एवं 'रहना' एवं 'मैं' दोनों मिलकर 'अस्मि' वा 'हूँ' मात्र इस भान का रूप धारण करते हैं। जपसूत्र के इस पाद के शेष के एक सूत्र में तत्त्व का जो लक्षण है, उस प्रसंग में एवं अन्यत्र भान का लक्षण करते हुए कहा गया है कि भान प्रत्यय (Experience) के रूप में वृत्तिमान् होने पर भी उसमें, यह अंशी है यह उसका अंश है, यह धर्मी है यह उसका धर्म है, इत्यादि रूप में ख्याति (Logical discrimination, judgment) स्फुट नहीं हुई है; पुनश्च उसमें

यह यह सत्य है अथवा मिथ्या है यह विकल्पना भी स्पष्टतः उदित नहीं हुई है; अथच साक्षादपरोक्ष रूप सामग्री (Given whole) के रूप में यह प्रतिभात है। सुतरां 'भान' कहने पर चार लिङ्ग समझने होंगे :—(१) समग्रत्व (whole-ness), (२) साक्षादपरोक्षत्व (immediate given-ness), (३) सत्यमिथ्यादिविकल्पना शून्यत्व (neutral as regards validity or invalidity, etc.), एवं (४) अंशांशित्वाद्यख्यातिमत्व (indiscriminated by logical categories)। हमारी अनुभूति-मात्र में ही साक्षात् एवं समग्र भाव से इस प्रकार का भान रूप है। तत्त्व को यदि 'Thing-in-itself' कहें तो भान (given whole of Experience or Presentation Continum) को कहना होता है Fact। भान अपने स्वरूप में और स्वभाव में बुद्धिव्यापारव्याप्य नहीं है, logical नहीं है, alogical है। बुद्धिविमर्श द्वारा (अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्मादि 'पदार्थ'—categories—प्रयोग करते हुए भान-सामग्री बुद्धिव्यवहाराहं (Thinkable Fact, Reviewing Fact इत्यादि) बन जाती है। तब यह होती है प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय-रूप इत्यादि। पदार्थ के रूप में भान अपनी समग्रता प्रभृति उक्त चतुर्लक्षण खो बैठता है। तब भान होता है 'भास'—Fact-section or 'Factual'; अथ च, भान-समष्टि निर्विशेष रूप में शुद्ध ब्रह्म एवं समष्टि-सविशेष रूप में जगद् ब्रह्म (Universe or Perfect Experience) है; और, व्यष्टि-निर्विशेष रूप से साक्षिचैतन्य एवं व्यष्टिसविशेष रूप से अस्मदादि का अनुभव जगत् बोधविश्व है। इस प्रकार समष्टि-व्यष्टि, सविशेष-निर्विशेष भाव से भान को लेने पर भी भान का जो निर्व्यूढत्व (absoluteness) है, उसकी कथञ्चित् हानि होती है; तथापि मुख्य अन्य लक्षणों के अनुरोध से 'भान' यह संज्ञा चलती है।

बोधविश्व और विश्वबोध

तत्त्वसूत्र में विशेष भाव से इस प्रसंग का अनुसरण चलेगा। वहाँ देखेंगे कि बुद्धि व्यापार का मूल निर्वहण जिसके द्वारा होता है उसका नाम विमर्श है, एवं इस विमर्श के परामर्शादि अन्य वृत्तिचतुष्टय हैं। फलतः, बौद्ध व्यापार में (in the logical appreciation of the alogical) अवभासादि भासपञ्चक उत्थित होते हैं। एवं इसके फलस्वरूप अस्मदादि का भान-रूप बोधविश्व अवभासादि रूप में विश्वबोध होता है।

भान के सम्बन्ध में बौद्ध विवृति किस प्रकार होती है ?

हमने यहाँ तप के लक्षण में जो अस्मि-प्रत्यय कहा है वह भान रूप में ही पड़ा हुआ है, भास-पञ्चक के अन्यतम रूप में अभिव्यक्त नहीं हुआ है। सुतरां उसकी बौद्ध विवृति (logical description) वस्तुतः नहीं दी जा सकती। अवश्य, साक्षादनुभव

(प्रत्यय) को जो विवृतिविहीन मौनमग्नता है, उससे 'उतरकर आकर' उसे समझने और कहने का यत्न करना होता है। 'अकथ्य' वस्तु को 'कथ्य' बनाना हो तो दूसरी गति नहीं है।

"अननद्यानुवाद-निबन्धन"

सुतरां तत्त्वतः 'अस्मि' को अस् धातु के उत्तमपुरुष एकवचन न समझें। जिस रूप में समझा और कहा गया है वह अननूद्य (unrenderable) का अनुवाद (render) करने का प्रयास मात्र है। बुद्धि के पक्ष में यह प्रयास स्वाभाविक है। इसके फलस्वरूप व्यवहार में अर्थ निर्वहण और निर्वचन दोनों ही सिद्ध होते हैं।

केवल मात्र, यह सृष्टिमूल अस्मि है इसीलिए नहीं, बल्कि सकल साक्षात् अनुभव ही समग्र भाव से (in its entireness) भानस्वरूप है, भासरूप नहीं। भासरूपता आती है पूर्वोक्त अननूद्यानुवाद के कारण।

इसीलिए 'अस्मि' को 'मैं हूँ' कहकर अनुवाद करते तो हैं किन्तु असल में 'अस्मि' अननूद्य है।

हमारे साधारण बौद्ध बोध के 'मैं हूँ' और ब्रह्म के 'एकोऽहं बहु स्याम्' रूप ज्ञानमय तपः को हम एक पर्याय में न डाल दें।

द्वितीय में (क) अहं वा अस्मि का कोई स्वगत, स्वजातीय अथवा विजातीय द्वितीय नहीं है,—हम लोगों के अहं का जिस प्रकार रहता है।

(ख) उसमें अस्तिता की भी अव्याप्ति-अतिव्याप्ति नहीं है, व्याप्ति-समता ही है। हम लोगों के पक्ष में अहमस्मि, त्वमसि, इदमस्ति इत्यादि है।

(ग) उसमें अस्मिता और अस्तिता की जो केवल समव्याप्ति है ऐसा नहीं, उनकी समव्याप्ति एवं समवृत्ति (identity in extension, in expression and in function) हैं।

इसे श्रुति ने किसी-किसी स्थल में रहस्य-भाषा में 'महान् आत्मा' (कठक के 'यच्छेद्वाङ्मनसि' इत्यादि मन्त्र में) कहा है। किन्तु विज्ञान की भी आहुति इसमें होती है इसलिए एवं इसकी अपनी आहुति 'शान्त आत्मनि' होती है इसीलिए यह बना है एक महान् आनन्दोल्लासरूप (Immense Joy of Creation)।

निखिल सृष्टि के मूल में यही है।

सृष्टि के मूल में जो वस्तु है उसका स्वाभिनिवेश मौन आनन्द की मुखररूपता है।

यही 'महत् अस्मि' है—इसीकी एक अभिव्यक्ति है षष्ठव्याहृति तपः। ज्ञानमय तपः विपुल सीमाहीन है, शान्त मौन आनन्द में अपने को मानो 'यह तो मैं हूँ, मेरे

सिवाय और कुछ नहीं है, मैं ही सब कुछ बनूँगा' इस प्रकार जानता है, आविष्कार करता है, उल्लसित करता है। यह हुआ भूमा का स्वाभिनिवेश।

[मूल यह जो अस्मि और तपः है, उसे स्वरूप में प्रत्यय नहीं कहा जा सकता, इसीलिए उस प्रकार वह 'अस्मि प्रत्यय' का प्रतियोगी या विषय नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म के आदि तपः एवं षष्ठ व्याहृति तपः को एक समझने से भूल होगी। प्रथम 'आविः' है, द्वितीय 'व्याहृति' है। मूल जो तपः है, वह व्याहृति सप्तक में ही प्रकृति के रूप में अनुस्यूत है।]

यहाँ आकर हम तपः को ब्रह्म के मूल आवीरूप में पाते हैं—जिसके फलस्वरूप अधिष्ठान में अखण्ड 'सत्यम्' के, अपने को 'ऋतञ्च सत्यञ्च' रूप सृष्टिधारा के मूल मिथुन में, अभिव्यक्त करने पर 'अस्ति' के आधार में 'अस्मि' दिखाई दिया और परस्पर दोनों अभिव्यक्त हो गए।

अधिष्ठान में शान्त, प्रपञ्चोपशम, अद्वैत सत्य ज्ञान आनन्द (अस्ति भाति प्रियं) आवीरूप में तपः होकर आनन्द की मौनमग्न समाधि को मानो भग्न करता है। क्योंकि सृष्टि मूलतः आनन्द की ही अभिव्यक्ति है ('आनन्दाद्ध्येव—' इत्यादि) इस 'मौन-भंग' से क्या समझेंगे ?

शान्त अधिष्ठान में सत्य-ज्ञान-आनन्द एकान्त अभेद में विद्यमान हैं। वहाँ तीन नहीं है, एक है। अथवा अनिरुक्त अलक्षण जो है उसे एक भी कैसे कहें ? सुतरां मौन—चुप।

किन्तु आवीरूप में जब तपः है तब मौनभंग हो गया है, बीच में ज्ञान में मानो सुप्तोत्थित होकर दोनों ओर सत्य और आनन्द—इन दो 'साथियों' को देख लिया है। यह स्वाभिनिवेश, स्वात्मसंवित् है। एक ओर के साथी ने 'अस्ति' से कहा—'तुम हो, ठीक ही रहो, सब कुछ का अधिष्ठान होकर रहो, शव-शिव के रूप में ही पड़े रहो।' दूसरे साथी आनन्द को देखकर कहा—'उठो, उठो, तुम्हारा मौन अबकी बार मुखर हो, तुम्हारी समाधि अबकी बार छन्दः हो, तुम्हारी शान्ति अबकी बार उल्लास-विलास हो।' इसके फलस्वरूप आनन्द को मिली वाणी, मिला छन्द, मिला सुर, जिसके फलस्वरूप यह अपूर्व विश्वसंगीत है। इस महासंगीत के जो नायक हैं, वे तब शुद्ध अधिष्ठान मात्र नहीं, वे तब 'कविः पुराणः अनुशासिता च' हैं। तब वे स्वयं तपोनाथ हैं। उनका ज्ञानमय तप है आनन्द की रासलीला। अस्ति का शयन, प्रिय का उत्थान। सत्य के आधार पर आनन्द का उल्लसितत्व-विलसितत्व है। इसीलिए न अनवद्य अपरूप विराट् छन्दोमयी प्रकृति है।

सर्वविध सृष्टि प्रयास के मूल में क्या है ? वस्तु Elan Vital

गान गाऊँगा, गाने से पहले अन्तर के किसी मौन प्रकोष्ठ से, एक वेदना, एक पुलक बाहर निकलकर कहता है—'यह देखो, मेरी ओर मुड़कर देखो। किसी अतल अँधेरे में आत्मसंवित्-सा होकर मैं लिपटा पड़ा था। दुहाई है तुम्हारी, तुम मुझे दो वाणी, दो छन्दः, दो सुर' यही तो, वही चिरन्तन तपोनाथ मेरे भीतर मेरे आनन्द की सृष्टि के नव-नवविकाश में स्फुटित होने के लिए मोहन स्पर्श दे रहे हैं।

केवल क्या गान ही में ? प्रयास मात्र ही शक्ति की भूमि में निगूढ़ गोपन केन्द्र में इस प्रकार के कुहक स्पर्श की अपेक्षा रखता है। अन्तर के किसी अजाने कक्ष में आनन्द समाधि है। स्तब्ध मौनभाव है। बाहर वेदनाविधुर है। वह चाहता है रस, आनन्द। किन्तु आनन्द की संवित् कब होगी ? आनन्द की संवित् का अर्थ ही है आनन्द का उल्लास। तब आनन्द फिर गोपन में नहीं रहता, जीवन में उत्सारित होता है, भाव में, कर्म में, आशा में, आकांक्षा में। तब होती है सृष्टि। आनन्द को स्वसंवित् दान करके उसकी प्रगाढ़ सान्द्रता को जो सत्वलील बनाकर क्लान्तिहीन, विरामहीन सृष्टि की प्रेरणा देता है, वह है अग्निरूप तपः। जो Joy congealed है वह उसके फलस्वरूप होता हैं Joy out flowing and overflowing.

सर्वविध प्राण के विकास के मूल में भी यह नहीं है क्या ? उस प्रेरणा का नाम Vital Impetus अथवा Bergson की और भी व्यापक संज्ञा में Elan vital दे सकते हैं, किन्तु प्राण के मूल में जो आनन्द है वह 'अस्मि' रूप में—'यह तो मैं हूँ' इस रूप में—अपने को 'आविष्कार' करता है—यही क्या प्रेरणा का प्रेरयिता नहीं है ? जो सत्य है वह ऋत (dynamic; प्राणधर्मी) होता है, इस स्वसंवित् के फलस्वरूप।

जड़ में भी जितना शक्ति विकिरण (विशेष भाव से; स्वतोविकिरण) है वह भी हो रहा है किस गोपन 'अस्मि' वा आत्मसंवित् के फलस्वरूप, उसकी खबर क्या विज्ञान रखता है ? Whitehead 'Primordial Creativity' कहकर किसका आभास देना चाहते हैं ?

तपः जीव में एवं ब्रह्म में। आनन्दसंवित्ति

विज्ञान अथवा बौद्ध विमर्श जड़ की प्रान्तभूमि में आकर स्वयं मानो जड़मूढ़वत् ही हो जाता है, अनन्योपाय होकर कहता है—स्वभाव (Naturalism), अथवा यदृच्छा (Indeterminism), अथवा अजाना रहस्य (Agnosticism)।

जड़ासङ्गविमूढ़ इस बौद्ध विज्ञान को समिध् रूप में कल्पना करते हुए आहुति दें। किसमें ? 'यह मैं महान् आनन्दरूप में हूँ'—इस आनन्द संविद् में। यह जो

महान् 'अस्मि' है यह किन्तु आनन्द की महोल्लास मूर्ति है। विश्व भुवन इसमें स्फुटित होता है, नाचता है, लय होता है।

साध हो तो इसे भी आहुति दें—'शान्त आत्मा में'। ज्ञान फिर एक ओर सत्य वा अस्ति, अन्य ओर आनन्द वा प्रिय के साथ जभिन्न वा एकरस हो जाय। तब निर्विशेष भाव मात्र है, भास की कोई गन्ध नहीं।

किन्तु अस्मि में एक ओर 'अस्' है, अन्य ओर प्रियम् वा आनन्द का 'म्'—इन दोनों का एक अव्यक्त मिथुनरूप होता है। एवं वह आवीरूप है अर्थात् सकल सविशेष भान और भास के आविर्भाव का मूल बनता है इसीलिए 'आविः' का 'इ' (गति एवं इद्धत्व) उसे ('अस्मि' को) प्राप्त होता है। अतएव वह है—अस् + म + इ = अस्मि।

जीव की एवं जड़ की जो प्रेरणा एवं प्रयास है वे भी इस अस्मि रूप तपः को आश्रय किये हुए हैं ऐसा ही दिखाई देता है। समग्र सृष्टि के समय तो "सोऽतप्यत"।

यह जो मूल तपः है उसे सांसिद्धिक (अथवा, नित्य) भाव में देखने पर भी विचारणा का प्रयोजन है।

क्योंकि, जीव के या जड़ के प्रयास में जो तपः है और ब्रह्म का जो तपः है उस मूल लक्षणगत मेल के रहने पर भी स्पष्टतः पार्थक्य दिखाई देता है।

प्रथम, जीव के या जड़ के पक्ष में तपः स्पष्टतः ज्ञानमय तपः नहीं है। कृच्छ्र तपः आकार धारण करके रहता है। अन्तःस्थल में आनन्द संवित् होता है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु जीव की अपनी चेतना में वह सर्वक्षेत्र में प्रतिभात नहीं होता। दुःख वा क्लेश-निवृत्ति—इस ऋणात्मक (Negative) भाव से ही प्रायशः उसका बोध होता है।

द्वितीय, परम्परा क्रम में बाधा वा रोध के निवर्तक के रूप में ही यह प्रकाश पाता है। रोध का रोध चूर्ण और दग्ध करके ही तपः को इस क्षेत्र में अपना तोड़ना अथवा गढ़ना कर्म करना होता है। एवं पहले तोड़कर ही फिर गढ़ना होता है, ढालकर ही तब सजाना होता है।

तृतीय, लीलास्वरूप आनन्द का निजस्व है। जो, किसी क्षेत्र में—यहाँ तक कि जड़ के क्षेत्र में भी—एकान्त भाव से बाधित तो नहीं है किन्तु बाध्यता (determinism) एवं परस्परापेक्षिता में (Correlativity) बन्धन विशेष भाव से दृढ़ है।

चतुर्थ, सुतरां जीव का तपः सापेक्षत्वधर्मी कार्यतः हुआ है। पक्षान्तर में, ब्रह्म का तपः (१) सत्य के अधिष्ठान में आनन्दज्ञानमय; (२) अबाधित; (३) लीला कैवल्यधर्मी; एवं (४) निरपेक्ष वा स्वतन्त्र है।

इस निमित्त सांसिद्धिक के तीन रूप हमें समझने हैं—

१. परम सांसिद्धिक—यथा तपो ब्रह्म।

२. सामान्य सांसिद्धिक—भूरादि सप्त व्याहृति के सर्वतः ओतप्रोत स्व-स्वलक्षणाक्रान्त रूप (or cosmic Pattern and Impetus)।

३. विशेष सांसिद्धिक—सृष्टि की विशेष-विशेष अभिव्यक्ति में उक्त व्याहृति-सप्तक की जो विशेष-विशेष आकृति एवं प्रत्यय है। प्रकृति ठीक ही रहती है, सुतरां विशेष-विशेष होकर भी सांसिद्धिक है। प्रकृति, आकृति, प्रतिकृति, प्रत्यय—इन सबके लक्षण 'जपसूत्र' में यथास्थल मिलेंगे।

तपोरूप में आनन्द की जागृति एवं छन्दोरूप में आनन्द का सर्वत्र प्रकाश और लीलायन

अस्ति वा सत्य के आधार पर यह अपरूप छन्दोलीलायित आनन्द-जागृति ही तप का मूल आलेख्य है—इसे भूलकर जपादि साधन में प्रवृत्त होना विडम्बना है। क्योंकि सत्य को उक्त आनन्द-जागृति ही समावृत्ति का सार, निष्कर्ष है। सृष्टि में प्रपञ्चित होने के लिए आनन्द-जागृति एवं आनन्द के उल्लास ने, तदीय अपरूप छन्दोरूप को अन्तर्बहिः, सूक्ष्म में, स्थूल में सर्वत्र ही उदाहृत किया है। फलतः विराट् नक्षत्र जगत् से क्षुद्ररेणु पर्यन्त, चेतन में प्राण में जड़ में ऐसा कुछ नहीं जो छन्द (Law and Harmony) का मूर्त विग्रह नहीं है। तृण के ऊपर यह मणिप्रभा प्रभात शिशिरकणा है ? वही न एक मूर्तिमान् उपनिषद् है ! यह क्षुद्र कुसुम कोरक ? एक निगूढ़ रस और छन्द में समृद्ध महाकाव्य है ! यह विहग काकली ? एक अपूर्व संगीत की मनोज्ञ एक तान है !' यह सब क्या अलङ्कार, अतिशयोक्ति है ? इस युग के वैज्ञानिक आणविक बम की सृष्टि करके महात्रास के हेतु बन गये हैं। किन्तु उनके सिवाय और किसने इस प्रकार विश्व के अन्तर में, बाहर में, स्थूल, सूक्ष्म, सर्वत्र सत्य के आधार पर आनन्दजागृति-रूप तपो ब्रह्म को इस प्रकार अपरूप छन्दोनिपुण नृत्यपरायण नटराज के रूप में देखा है ? हम छान्दोग्य पढ़ते हैं, किन्तु जिस छन्दोग के न होने पर छान्दोग्य नहीं होता, उस छन्दोग को हमने तो नहीं पहचाना ! छन्दः शब्द का उत्तर केवल गानार्थ गै धातु नहीं है, गमनार्थ गम् धातु द्वारा छन्दोग की व्युत्पत्ति सर्वथा करने में तो हम समर्थ नहीं हो रहे हैं।

प्रकट विश्व के छन्दोग रूप में पथ-प्रदर्शक नव विज्ञान

वर्तमान युग की वैज्ञानिक मनीषा अणु से आरम्भ करके विराट् ब्रह्माण्ड सर्वत्र ही छन्दोग रूप को ओतप्रोत देखती है। एक अणु की निजस्व आकृति (Pattern) क्या है—यह पूछने पर वह कहेगी—''क्या जानूं, उसे तो ठीक से नहीं पकड़ पाई हूँ।

यह देखो, उसका छन्दोग रूप। जिस तडित् शक्ति का घनविन्यस्त रूप उसे (अणु को) समझ रही हूँ, उसको भी प्रकृति नहीं जान पाई हूँ, किन्तु उसे छन्दोग रूप में ही मैंने जाना है एवं उसका विनियोग कर रही हूँ 'सर्वकर्मसु।" विराट् के सम्बन्ध में भी वही है। एक ओर Nuclear physics, अन्य ओर Astral physics–सर्वत्र छन्दोगत्व रूप में ही ज्ञेयत्व, मेयत्व और व्यवहार्यत्व है। सूक्ष्म के क्षेत्र में Quantum और Ware Mechanics, और स्थूल के क्षेत्र में Relativity–सर्वत्र ही, जो छन्दोग है उसके पाद और मात्रा का विश्लेषण एवं समीकरण है। सुतरां, उसकी दृष्टि में आपाततः छन्दोगत्व को छोड़कर विश्व को और जो कोई विवृति दिखाई देती है उसका प्रमाण द्वारा अभ्युपगम हो गया है, ऐसा नहीं समझा जा सकता। उस प्रकार विवृति अब तक प्रमाण की सीमा में खड़ी हुई है, अनुमति-पत्र की अपेक्षा में। इसीलिए विश्व के पीछे यदि किसी विश्वकर्मा को मानना ही हो तो उसे महासंख्यान-कुशल एक अतिमानस (Mathematical Supermind) के रूप में ही स्वीकार करने पर विज्ञान राजी हो सकता है।

केवल क्या जड़ के क्षेत्र में ? जड़ तो अपना पूर्व प्रख्यात जड़त्व ही खो बैठा है–वह बन गया है एक विराट् समीकरण (Equation) का एक 'करणीय' (Unknown Term) मात्र। उस प्रकार के समीकरण की समाधान-परीक्षा एवं अन्वीक्षा में जितना ही अग्रसर हो रहे हैं उतना ही देखते हैं कि वह 'करणीय' पूर्व-पूर्व स्वीकृत मान (Values) को अंशतः त्यागकर नूतन-नूतन मान ग्रहण कर रहा है। बाध्यता और निश्चितता (determinatness and certainty) ये दोनों वृद्ध-शिष्टों के स्वीकृत लिङ्ग वह छोड़ बैठा है। सुतरां उसका छन्दोगत्व आनन्द जागृति के फलस्वरूप जो छन्दोगत्व (अर्थात्, जिसमें लीलाबीजत्व निहित है), वह हो भी सकता है।

प्राण के एवं अन्तर के क्षेत्र में भी महाछन्दोग का कैसा अपूर्व विश्वरूप वह हमें दिखाता है ! जो मिथुन तत्त्व (Polarity Principle) सृष्टि के मूल में है, उसका सत्य परिचय जडाणु के मध्य ऊर्मि-समीकरण के पारिभाषिक शब्द (terms) की Positive अथवा Negative विवृति के भीतर छिप गया है। जीवकोष और जनिकोष (germplasm) एवं वर्तमान अवमानस तत्त्व (Psychology of the subconscious) के विश्लेषण में उस परिचय को पाकर, संवित् को फिर से पाकर तब न हम कहते हैं––यही तो वह है ! मिथुन की संपरिष्वक्त, संष्वक्त, अभिष्वक्त, अनुष्वक्त और प्रतिष्वक्त––ये पाँच अवस्थाएँ प्रत्यक्ष प्रमाण के क्षेत्र में इस नवविज्ञान के अनुसार और कौन हमारी पकड़ में ला देता है ?

किन्तु 'इस' और 'उस' के बीच, विज्ञान और प्रज्ञान के बीच व्यवधान दूर नहीं हुआ है।

विश्व में ऋति और यदृच्छा–वैज्ञानिक दृष्टि से

विश्व छन्दोग है इसमें सन्देह नहीं—अनिश्चय वा Probability को भी इस विश्वमहानटन के सूत्रधार बनाकर भी छन्दः को छोड़ने का उपाय नहीं है, क्योंकि अनिश्चय का भी निश्चायक छन्दः (Law of Probability) जो पड़ा हुआ है ! एक कौड़ी या पासा फेंकने पर उसकी कौनसी पीठ सम्मुखीन होगी, यह अवश्य ही अनिश्चय कोटि में है, किन्तु बारंबार कौड़ी वा पासा फेंकते रहने पर उसकी 'यह पीठ' या 'वह पीठ' के ऊपर दिखाई देने का एक निश्चायक छन्दः पकड़ में आ जाता है, यह हमने पहले देखा है। आँकड़ा विज्ञान (Statistics) इस अनिश्चय के निश्चायक छन्दों पर निर्भर रहकर ही गठित होता है।

विश्व के मूल में ऋति (law) अथवा यदृच्छा (chance) को लेकर विज्ञान की विकल्पना अब भी चल रही है। Heisenberg का अनिश्चय सूत्र (Principle of uncertainty) प्रमाणित होने के बाद भी Plank, Einstein प्रभृति विज्ञानाचार्य ऋति वा law को ही मूल में रखने की बात सोचते रहे हैं। यदृच्छा तब क्या आभास-मात्र है ? हमारे ज्ञान में पूरा चित्र प्रतिभात नहीं होता है, इसीलिए क्या यह अनिश्चय, यदृच्छा है ? उन्नीसवीं शताब्दी में यही समझा जाता था। किन्तु वर्तमान में प्रमाण की गति को अन्य ओर समझने का हेतु मिल रहा है। प्रयोग के स्थल में अर्थात् मूल का मामला मुल्तवी रखकर, Nature is a mixture of law and chance–प्रकृति के राज्य में ऋति एवं यदृच्छा दोनों मिलकर आपस में गृहस्थी चला रहे हैं—सांख्य के पुरुष और प्रकृति जैसे पङ्ग्वन्ध न्याय से रहते हैं—यही सोचकर विज्ञान का व्यवहार चलता है।

निखिल विज्ञान का ध्यान-विग्रह छन्दोग विश्वरूप
(Cosmic Harmony)

किन्तु यहाँ विश्व की छन्दोगमूर्ति विकल नहीं हुई है। क्योंकि, यदृच्छा भी तो निर्ऋति (Negation of Law) है, ऋति का निषेधात्मक नहीं है। व्यष्टि भाव से किसी भी घटना में यदृच्छा का अवकाश रहने पर भी गुच्छ (group), श्रेणी (series) एवं समष्टि (totality) भाव से सब कुछ विधिविहित भाव में ही घटित हो रहा है, विधि-बहिर्भूत भाव में नहीं, एवं व्यवस्थित भाव में ही पड़ा हुआ है, अव्यवस्थित भाव से नहीं।

वर्तमान युग में गणित एवं पदार्थ विज्ञान (Physics) ने प्रमेय विचार का जो प्रामाणिक ढाँचा तैयार किया है, उसी ढाँचे को आदर्श रूप में रखकर अपरापर विज्ञान (यथा, Biology, Psychology, Sociology, Economics प्रभृति) अपने को

रूप देने का प्रयास कर रहे हैं। अर्थात्, जो जितना सम्भव है अपने को प्रमाण द्वारा साक्षात् अभ्युपगन्तव्य विद्या (Positive Science) के आकार में लाने की चेष्टा कर रहा है। सभी के ध्यान में है—छन्दोग का यह विश्वरूप। सहस्रशीर्ष सहस्रपाद के दो-एक पाद मात्र दृष्टि में आने पर भी ध्यान विश्वरूप का—Cosmic Harmony का है।

ऋति और यदृच्छा का सम्बन्ध सन्धिमुख्य है अथवा विग्रहमुख्य है ?
(Sympathetic or Antipathestic)

किन्तु ऋषियों के प्रज्ञान में जो छन्दः है—जिस छन्दः को मूल में रखकर यह विश्व-सृष्टि होती है ऐसा वेद ने बारंबार कहा है—वह छन्दः ठीक क्या वस्तु है, यह विज्ञान के ज्ञान में अभी भी सम्यक् प्रतिभात नहीं हुआ है। विज्ञान के Law or chance–किसी मूल मिथुन की प्रतिध्वक्त अवस्था, परस्पर प्रतियोगी और प्रतिद्वन्द्वी भाव है। उसमें केवल मात्र द्वैत (duality), द्वन्द्व (Polarity) है ऐसा नहीं, प्रतिद्वन्द्व (antithesis) भी है। प्रतिध्वङ्ग के सन्धिमुख एवं विग्रहमुख्य दो भाव हैं। प्रथम में द्वन्द्व के रहते हुए भी समानार्थता वशतः सहयोगिता विद्यमान है (Sympathetic Polarity); द्वितीय में उनकी विरोधिता (antipathy) प्रबल हो उठती है। वैज्ञानिक प्रकृति में Law and chance ठीक सन्धिमुख्य होकर भी नहीं हैं, विग्रहमुख्य होकर भी नहीं हैं। व्यक्ति (individual) में द्वितीय, अर्थात् यदृच्छा, अपना अधिकार बनाए हुए है अवश्य, किन्तु संघ में, श्रेणी में, समष्टि में प्रथम (ऋति) के समीप वह अपने अधिकार से त्यागपत्र दे रही है। इसीलिए, विश्व में ऋति का ही राजत्व है। यह ऋति और भी व्यक्त रूप में होती है—रीति, विधि, धारा, धर्म।

छन्द के रूप—विज्ञान और प्रज्ञान में

ऋति एवं यदृच्छा के प्रतिध्वंग में विग्रहमुख्यत्व घटने पर ऋति को कहते हैं नियति (Determinism)। नियति फिर पूर्वभवीय (Pre-determinism) एवं परभवीय (Post-determinism or Finalism) इन दो रूपों में विवेचित हो सकती है। शेष के कल्प में, सब कुछ पहले से ही निर्धारित तो नहीं है अवश्य, किन्तु भावी किसी लक्ष्यानुरोध में (with respect to a given End) निर्धारित हो जाता है।

इन दोनों प्रकार की नियति का विपक्ष (antithesis) है यदृच्छा।

इन दो परस्पर विपक्ष (thesis and antithesis) रूप नियति एवं यदृच्छा के प्रतिध्वङ्ग के ऊर्ध्व में अनुध्वङ्ग (Synthesis) की भूमि कहाँ है ?

वही है छन्दः। विज्ञान परोवरीयान् भाव से विश्व में सर्वत्र छन्द को अनुस्यूत दिखाता तो है, किन्तु यथार्थ छन्दः जो है वह अभी उसकी दृष्टि में प्रकट नहीं हुआ है।

सुतरां प्रज्ञान का जो छन्दोग है, उसका दृष्टान्त स्थूल में, सूक्ष्म में विज्ञान जिस प्रकार दिखाता है, वैसा और कोई नहीं दिखाता यह ठीक है, किन्तु जो स्वयं दार्ष्टान्तिक है वह छन्दः—अभी भी पूर्णावयव रूप में प्रकट नहीं हुआ है।

वह छन्दः सर्वभूतों में गूढ़ हो गया है; आनन्द की 'मात्रा' सब कुछ में हो है, एवं वही उसका जीवन है—यह आनन्द ब्रह्म की जो पाद मात्रा है—निखिल प्राण का जो 'व्याकरण' है—वह है छन्दः। जपसूत्र में कहा है—'छन्दो व्याकरणं प्राणानाम्।' सुतरां आनन्द एवं प्राण के आधार पर ही छन्दः की अभिव्यक्ति है एवं छन्दः द्वारा ही अभिव्यक्ति है।

मौलिक छन्द का लौकिक प्रत्यय की भूमि में अवतरण

सत्य के आधार पर आनन्द की आवीरूपता (अथवा 'जागृति') से ही इस प्रकार की अभिव्यक्ति सम्भावित है। अर्थात्, महासांसिद्धिक जो तपः है उसीसे।

तब तपः होता है 'ऋतञ्च सत्यञ्च'।

'ऋतं' एवं 'सत्यं' के मिथुनरूप में सम्परिष्वक्त से लेकर अनुष्वक्त पर्यन्त चार भूमियों में छन्दः है।

प्रतिष्वङ्ग के सन्धिमुख्यत्व में भी वह छन्दोऽनुग है। किन्तु विग्रहमुख्यत्व में, अर्थात् दो पक्षों के समन्वयापेक्षा बाधितत्व में (in the case of unworkable Synthesis), वह अपने छन्दोरूप को खोकर भ्रष्ट हो जाता है।

सत्य के अधिष्ठान में ऊर्जित 'अस्मि' रूप जो आनन्द है वही सृष्टिधारा में सर्वत्र अपने को छन्दोरूप में लीलायित करता है। हमने देखा है कि 'ऋतञ्च सत्यञ्च' छन्द की आदि मिथुनाकृति (Primordial Polarised Prototype) है। यहाँ देश काल, यहाँ तक कि, वस्तु-परिच्छेद भी अब तक परिस्फुट नहीं हुआ है। अर्थात्, सत्यं और ऋतं दो वस्तु भी नहीं हुई हैं। सृष्टि धारा के अवतरण में 'समुद्रोऽर्णवः' इत्याकार विविध आकृतियों (patterns) को प्रकाशित करते-करते छन्दः जहां लौकिक अभिज्ञता के क्षेत्र में उपनीत होता है तब उसे देखते हैं 'नियति और यदृच्छा' इस युग्मरूप में, —सम्प्रति विज्ञान जिस प्रकार देख रहा है। कहा है विज्ञान की दृष्टि में यदृच्छा (chance वा Probability) छन्दोहीनता मात्र नहीं (negation of Law नहीं)। तथापि, इस आकार में आकर छन्द की यथार्थ जो प्रकृति है (सत्य के अधिष्ठान में ऊर्जित 'अस्मि' रूप आनन्द की पाद-मात्रादि क्रम में अभिव्यक्ति) वह अवलुप्त हो गई है। 'अव' अवधारणे, निश्चये। सुतरां अवलुप्ति में छन्द की जो यथार्थ

प्रकृति एवं जो यथार्थ प्रत्यय है, इन दोनों के निश्चय की हानि होती है, जैसे 'नियति और यदृच्छा' इस युग्म में हुई है।

अवतरण तल से उत्तरण का क्रम

यहाँ से उत्तरण, अधिरोहण अथवा अभ्यारोह की धारा का आश्रयण करना होगा। वही व्यावृत्ति से समावृत्ति, अवलुप्ति से अवज्ञप्ति (realisation) है।

समावृत्ति अथवा अवज्ञप्ति की प्रत्यग्धारा के ('परांचि खानि' के विलोम क्रम से) प्रवर्तित होते रहने पर, विश्व की नियति एवं यदृच्छा अपने 'पराक्त' (Exteriorisation) का परिहार करते-करते क्रमशः 'अन्वक्त' (Interiorisation) रूप परिग्रह करती रहती है। अर्थात्, आदि में जो 'अविभूत' रूप था वह क्रमशः अधिदैव, अधियज्ञ एवं अध्यात्म हो उठता है। यह धारा चलते रहने पर छन्दः बाहर से 'व्यूढ़' (imposed and ordained) न होकर क्रमशः भीतर से व्यक्त (evolved, manifested) होने का रूप ग्रहण करता रहता है।

अभ्यारोही क्रम—अहल्या की पाषाणी तनु

जपसूत्र में सब भूतों का जो 'स्थेष्ठ नेदिष्ठ मर्मौकः' है उसे कहा गया है—हृत्। इस हृत् या हृदय में कौन वस्तु विद्यमान है—केवल तुम्हारे-हमारे नहीं, एक धूलि-कणा में भी ? आनन्द।

जपसूत्र की दृष्टि से आनन्द चार मात्रा में रहता है यथा प्रणव :-(१) अमात्र तुरीयानन्द (शान्त = स्वयंललित, जैसे प्रकाश की ओर स्वप्रकाश); (२) घनमात्र आनन्दतपः—यह उल्लसित आनन्द है; (३) अन्तर्मात्र आनन्दच्छन्दः—यह विलसित आनन्द है; (४) बहिर्मात्र, (क) आनन्दपिण्ड एवं (ख) आनन्द ब्रह्माण्ड—यह अलसित आनन्द है।

वाक् की ओर से—(१) मग्न मौनानन्द, (२) ऊर्जित स्फोटानन्द, (३) व्याकृत मुखरानन्द, (४) व्याकृत मूकानन्द।

जिसे शिला प्रस्तर आदि समझते हैं उसका भी हृत् आनन्द ही है, किन्तु वह अलसित, अर्थात् अतद् रूप में प्रतिभात, जड़वत्, आत्मसंमूढ़वत् आनन्द है। वहाँ आनन्द संवित् आते ही अहल्या फिर पाषाणी नहीं, 'मा-टि' (माँ) फिर माटी नहीं रह जाती। तब केवल आणविक शक्ति और उसकी नियति और यदृच्छा को लेकर ही पदार्थ-विज्ञान नहीं रहता।

तब अभ्यारोह रीति से उसका उत्तरोत्तर आनन्दोन्मेष और उसके छन्द का भी बन्धादि शापमोचन दिखाई देता रहेगा।

तब उसमें और अपने में सात्मता की उपलब्धि होगी, जिसके फलस्वरूप, 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' । सर्वत्र आनन्द-संवेदन एवं समानच्छन्दः संवेदन न होने तक केवल मात्र अस्तिभातिता में इसकी परिसमाप्ति नहीं होती।

हमारे बीच आनन्द को आधार और उत्स रूप में रखकर 'पांक्तकर्म'--'अधिष्ठानं तथा कर्ता' इत्यादि चल रहा है। उसके भीतर यह नहीं, केवल अन्धनियति और खयाली यदृच्छा ही है--ऐसा क्या हो सकता है ?

मेरे जैसे अदृष्ट और कर्म हैं उसके भी वैसे ही हैं । किन्तु उसके सम्पर्क में हमारा वर्तमान वा क्रियमाण अदृष्ट (प्रारब्ध), एवं मेरे सम्पर्क में उसका क्रियमाण अदृष्ट वा प्रारब्ध, उसे मेरे वर्तमान 'व्यवहार' में जड़मात्र बनाये हुए है—यही अहल्या का शाप है।

इस शाप के मोचन के लिए उसके और मेरे बीच अदृष्ट और कर्म के वर्तमान क्रियाकारक फलानुपात को बदलना होगा।

कर्म द्वारा ही यह सम्भावित हो सकता है । 'कर्मेति मीमांसकाः'--कर्म ही प्रभु है।

किन्तु कर्म भी तो शापग्रस्त--अदृष्ट है, विशेषतः प्रारब्ध के पाश में वह आबद्ध जो है।

विशेषतः, वह कर्म 'अहंकारविमूढात्मा' जो कर्ता है उसका कर्म है। तब फिर उपाय क्या है ?

प्रसङ्गतः अहल्या का शाप एवं शाप-विमोचन रहस्य

यदि सर्वतन्त्र-यन्त्रस्वतन्त्र आनन्द ही आधार एवं उत्स में न रहता, यदि तपः एवं छन्दः ही आनन्द की अपनी अभिव्यक्ति न होते, तब उपाय नहीं था। कर्म की जो पाशबद्धता है वह कल्पित, आरोपित है और उसके आनन्दोल्लासविलासरूप जो स्वच्छन्दता है वही उसका स्वरूप है। अतएव, आरोप से स्वरूप में जाओ। यही तो अभ्यारोह है।

जिस परिमाण में परच्छन्दता से स्वच्छन्दता में, परवशता से स्ववशता में अग्रसर होगे, उसी परिमाण में तुम्हारा कर्म होगा छन्दोग एवं विश्व भी होगा छन्दोग।

अतएव 'नियति और यदृच्छा' इस विराट् अथ च कल्पित बहिःपाश का सर्वत्र मोचन करते-करते अग्रसर होओ।

अभ्यारोह के प्रथम सोपान में हों--'अदृष्ट और कर्म'। द्वितीय सोपान में--'दैव और पुरुषकार'। तृतीय सोपान में--'रीति (Behaviour) और नीति (principle)'। चतुर्थ सोपान में--'परधर्म और स्वधर्म'। पञ्चम में ऋति और

धृति। षष्ठ में तपः और संकल्प या काम। सप्तम में--तावकीन और मामकीन; अष्टम में--भूमैवैकः।

सात के अतीत धाम में, अलोक धाम में, जो है, उसके उद्देश्य में ही पहले के सातों की फिर सप्तान्नानि के रूप में कल्पना करें।

शाप एवं शाप-विमोचन का रहस्य इस प्रकार अवगत होओ।

तप में कृच्छ्र से आरम्भ करके क्रमोन्नत धारा-अलसित आनन्द-जागृति है

जपसूत्र के परिशिष्ट में ३४ संख्यक सूत्र है-"क्रियाकर्मभ्यामदृष्टदृष्टफलवत्वम्।" इस सूत्र पर जो कारिकाएँ वहाँ हैं उनमें से कुछेक इस प्रसंग में उद्धृत करते हैं—

स्थूलसूक्ष्मादिसंव्यूढभुवनचक्रनेमिषु ।
अदृष्टनिर्मिता संस्था ह्याब्रह्मस्तम्बदेहिनाम्॥

अन्वय--स्थूलसूक्ष्मादिसंव्यूढभुवनचक्रनेमिषु हि आब्रह्मस्तम्बदेहिनां संस्था अदृष्टनिर्मिता।

[स्थूल-सूक्ष्म आदि रूपों में सुव्यवस्थित भुवनचक्र की नेमियों में अदृष्ट से बनी हुई संस्था ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त सब देहियों को लेकर है।]

भाष्य—एक तृण से लेकर ब्रह्मापर्यन्त सभी प्राणियों की जो संस्था (The given status or place in the scheme of beings) है वह अदृष्ट द्वारा ही निर्मित है; कहाँ की संस्था ?--स्थूल-सूक्ष्मादि रूप में संव्यूढ (organised, systematized) यह जो भुवनचक्र (The cosmic cycle of events) है उसके नेमि-समूह में (in its component orbits--जैसे, हमारे सौर जगत् में सीमित जो भुवनचक्र है, उसके अन्तर्गत प्रत्येक ग्रहोपग्रहादि के); आणव देश में भी उसी प्रकार। ऐसा होने पर the laws or principles of cosmic statics द्वारा ही भुवनान्तर्गत प्रत्येक वस्तु की संस्था विधृत है। अब, इस भुवनादृष्ट को व्यष्टि और समष्टि दो प्रकार से देखें--

व्यष्टिसमष्टिभेदेन चादृष्टं गण्यते द्विधा।
वस्तूनामिह प्रत्येकं चादृष्टकर्मसम्पुटम्॥

अन्वय—अदृष्टं च व्यष्टिसमष्टिभेदेन द्विधा गण्यते। वस्तूनां च इह प्रत्येकं अदृष्टकर्मसम्पुटम्।

[अदृष्ट दो प्रकार का गिना जाता है--व्यष्टि और समष्टि भेद से। यहाँ (इहलोक में) वस्तुओं में से प्रत्येक अदृष्ट कर्म से सम्पुटित है।]

भाष्य—व्यष्टि एवं समष्टिभेद से अदृष्ट को द्विधा देखने पर, यह भी देखते हैं कि—प्रत्येक वस्तु अदृष्ट एवं कर्म, इन दो का सम्पुट है, क्योंकि, वस्तु केवल स्थित्यात्मक नहीं, गत्यात्मक (changing evolving) है। अदृष्ट और कर्म ने अपने बीच 'भाग या बन्दोबस्त' (division of function) कर लिया है—

संस्थाऽवस्थे ह्यदृष्टेन व्यवस्था कर्मणा भवेत्।
चक्रनेमिस्थिते कीटे न कर्मानवकाशता॥

अन्वय—संस्थाऽवस्थे हि अदृष्टेन, व्यवस्था कर्मणा भवेत्। चक्रनेमिस्थिते कीटे कर्मानवकाशता न।

[संस्था और अवस्था अदृष्ट से होती हैं, व्यवस्था कर्म से होती है। चक्रनेमि में स्थित कीट में भी कर्म का अवकाश न हो ऐसा नहीं है।]

भाष्य—चक्रनेमि में स्थित एक जो तृण है, उसके भी अदृष्ट और कर्म दोनों ही हैं ऐसा समझें। उसकी संस्था एवं अवस्था (किसी एक नाभि के उद्देश्य में संस्था; किसी एक नेमि के उद्देश्य में अवस्था—(nuclear relation and orbital Position) अदृष्ट के कारण हैं। किन्तु उसकी व्यवस्था कर्म साध्य है! कर्म उसकी व्यवस्था (जो विशेष भाव से 'अर' को विषय बनाता है) ठीक करता है। यह नेमि (actual orbit), और यह नाभि (nuclear control), इन दोनों की व्यवस्था (interval) का निरूपण करता है अर। सुतरां, अर (lines of links of correlation) यदि बदल जाय तो केवल नेमि नहीं, नाभि के साथ संयोग भी बदल जाता है (विराट् एवं आणव में इसे ध्यान देकर देखें)। इसे कहा जाता है व्यवस्थान। कर्म के द्वारा यह साधित होता है।

कर्म को यह अधिकार किसने दिया है ?

ब्रह्मत्वादपि सर्वस्य न स्वभावापमर्दनम्।
सर्वं संस्थावशत्वेऽपि ह्यात्मवशं स्वभावतः॥

अन्वय—सर्वस्य ब्रह्मत्वाद् अपि स्वभावापमर्दनं न। संस्थावशत्वे अपि सर्वं स्वभावतः आत्मवशम्।

[सब कुछ ब्रह्मरूप होने पर भी किसीके स्वभाव का अपमर्दन (छूटना) नहीं होता। सब कुछ संस्था के वश में रहते हुए भी स्वभाव से आत्मवश है।]

भाष्य—ब्रह्मा से लेकर तृण तक किसीका भी जो स्वभाव है, उसका अपमर्दन (आमूल अन्यथा—Complete Contradiction) नहीं होता है। सभी व्यवहारतः संस्थावश होने पर भी, स्वभावतः अवश्य ही आत्मवश हैं। क्योंकि, देखा गया है कि,

परमात्मा ही अपना आत्मा है, लीला कैवल्यरूप जो आनन्द है, वह आनन्द ही उसका 'हृत्' है। स्वरूप में, स्वभाव में सब कुछ ही आत्मराट् है।

तथापि, व्यवहार में—

अदृष्टचालितं सर्वं चक्रेष्विह भ्रमत् भ्रमत्।
ह्यवशमिव कर्माणि कुर्वददृष्टमश्नुते॥
अदृष्टाज्जायते कर्म कर्मणाऽदृष्टमूर्जितम्।
कर्मादृष्टकृते घूर्णिपाके सर्वं निपातितम्॥
तथापि कर्मणां मूले मात्राऽऽनन्दस्य निश्चिता।
ह्यवशं प्लवमानस्य मोक्षसम्भावना यतः॥

अन्वय—सर्वं अदृष्टचालितम् इह चक्रेषु भ्रमत् भ्रमत् अवशम् इव हि कर्माणि कुर्वत् अदृष्टम् अश्नुते।

अदृष्टात् कर्म जायते, कर्मणा अदृष्टम् ऊर्जितम्। कर्मादृष्टकृते घूर्णिपाके सर्वं निपातितम्।

तथापि कर्मणां मूले आनन्दस्य मात्रा निश्चिता। यतः अवशं प्लवमानस्य हि मोक्षसम्भावना।

[सब कुछ अदृष्टचालित होकर यहाँ चक्रों में घूमते-घूमते अवश की भाँति कर्म करते हुए अदृष्ट को प्राप्त करता है।]

[अदृष्ट से कर्म उत्पन्न होता है, और कर्म से अदृष्ट ऊर्जित होता है। कर्म और अदृष्ट से बने हुए 'घूर्णिपाक' (चक्कर) में सब कुछ डाल दिया गया है या पड़ा हुआ है।]

[तथापि कर्मों के मूल में आनन्द की मात्रा निश्चित है, क्योंकि अवश होकर बहते हुए के भी मोक्ष की सम्भावना होती है।]

भाष्य—सब कुछ आत्मवश स्वभावतः होने पर भी, अदृष्टचालित होकर अवश की भाँति चक्कर खाता रहता है; और चक्कर खाते-खाते जो कर्म करता है, इसीलिए फिर अदृष्टलाभ करता है। अदृष्ट से जन्म होता है कर्म का, कर्म द्वारा अदृष्ट ऊर्जित होता है; इस प्रकार कर्मादृष्टकृत जो घूर्णिपाक है, उसमें ही सब कुछ आ पड़ा है। यद्यपि इसी प्रकार का दृष्ट होता है, तथापि कर्म के मूल में, आधार, प्रेरणा एवं लक्ष्यरूप में, आनन्द की मात्रा अवश्य ही है। एवं क्योंकि आनन्द ही मूल में है, इसीलिए चक्र के बन्धन से मुक्ति भी सम्भावित होती है। कर्मादृष्ट के दुर्निवार स्रोत में असहाय की भाँति जो भासित हुआ है, उसका भी उपाय इस आनन्दलीलास्वरूप आत्मसंवित् में है।

आदौ मयि ततो बाह्ये वैराजे कर्मकर्तृता।
अन्तर्यामी ततः स्वामी ततश्च परमेश्वरः॥
परमात्मा प्रभुस्तस्माद् योऽभिन्नश्चान्तरात्मनः।
एवं प्रारब्धपाशाद् वै कर्मविमोचनं कुरु॥

अन्वय—आदौ मयि, ततः बाह्ये वैराजे कर्मकर्तृता, ततः अन्तर्यामी स्वामी, ततः च परमेश्वरः।

तस्मात् प्रभुः परमात्मा, यः च अन्तरात्मनः अभिन्नः। एवं वै प्रारब्ध-पाशाद् कर्मविमोचनं कुरु।

[कर्मकर्तृता पहले मुझमें है, फिर बाहर के वैराज (विराट्) में है। फिर स्वामी अन्तर्यामी हैं, और फिर परमेश्वर है। इसके बाद प्रभु परमात्मा है, जो कि अन्तरात्मा से अभिन्न है। इस प्रकार प्रारब्धपाश से कर्मविमोचन करो।]

भाष्य—आदि में भ्रमवशतः 'अपने में' कर्म का कर्तृत्व आरोप करता हूँ; तत्पश्चात्, आरोप होता है एक बाह्य, विराट् नियति में; तत्पश्चात् हमारे अन्तर्यामी मानों उसमें लौट आते हैं। तब वे ही स्वामी हैं। तब भी मैं उन्हें नहीं पहचानता हूँ—भीतर से सब पर नियन्त्रण करते हैं, यहीं तक। तत्पश्चात् बोध उत्पन्न होता है—उन परमेश्वर का ('ईश्वरः सर्वभूतानां····')। तब भी वे 'मानों' बाहर में (Objective) कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् पुरुष हैं। तत्पश्चात्, दृष्टि और भी स्वयं घूम जाती है—वे परमात्मा हैं, एवं अन्तरात्मा से वह अभिन्न हैं। इस बोध में भीतर-बाहर, आत्म-पर द्वन्द्व का अवसान हो गया। और, इसके साथ, कर्म का भी प्रारब्ध-पाश-विमोचन हुआ। आत्मा एवं परमात्मा का समीकरण न होने तक यह सर्वथा सम्भावित नहीं होता है।

इसे दृष्टान्त में समझ लें—

यावन्नद्या नदीनाथे नैकान्तिकसमर्पणम्।
मामकस्तावकस्तावदुच्छ्वासो वेति जल्पना॥

अन्वय—यावत् नद्या; नदीनाथे ऐकान्तिकसमर्पणं न, तावत् मामकः तावकः इति उच्छ्वासः जल्पना वा।

[जब तक नदी का नदीनाथ (समुद्र) में ऐकान्तिक समर्पण नहीं होता, तब तक 'मेरा' 'तेरा' ऐसा उच्छ्वास या जल्पना बनी रहती है।]

अनुवाद—नदी चल पड़ी है नदीनाथ के अभिसार में। जब तक उसका नदीनाथ में ऐकान्तिक समर्पण नहीं होता, तब उसकी यह जल्पना चलती रहती है—मेरे वक्ष में यह जो उच्छ्वास है, यह मेरा है या तुम्हारा है।

महा वा परम सांसिद्धिक रूप में तपः ही सप्त-महाव्याहृति है । सामान्य सांसिद्धिक रूप में भी सप्त-व्याहृति है ।

अर्थात् भूस्तपः, भुवस्तपः इत्यादि । भूरादि के लक्षण के अनुसार यह तपः-सप्तक समझना होगा । इनके बीच प्रथम तीन कृच्छ्रतपः हैं, महस्तपः एवं जनतपः ये दो वीर्यतपः हैं एवं तपस्तपः और सत्यतपः ये दो दिव्य वा ऊर्जस्तपः हैं ।

कृच्छ्रभूमि में रोधप्राबल्य है (Dominant Resistance Factor) है । फलस्वरूप तपः को 'रोधस्' अर्थात् तटसीमा मानकर ही आयास में कुछ स्तब्ध भाव से चलना होता है । यहाँ अर्थात् विशेष सांसिद्धिक स्थल में तपःशक्ति को Canalisation–ताटस्थ्य गति है, एवं वह शक्ति कृच्छ्राध्वगा है । उक्त 'रोधः' (Constraining Factor) जिस परिमाण में 'कृतवेध' (Pierced) होता है, तटस्था तपः शक्ति उसी परिमाण में उदार स्वच्छन्दता प्राप्त होती है । तब वह बनती है प्रकृत प्रस्ताव में महाध्वगा और मूलाध्वगा । जहाँ 'यह' एवं 'वह' उभयधारा-सम्मिलित (महः) हैं, एवं सब कुछ होने का मूल जहाँ (जन) है, तपःशक्ति 'रोधस्' को काटकर उसी मूल प्रभाव में उपनीत होती है ।

तपः जिस आनन्द की जागृति है उस आनन्द का स्वरूप (स्वलसितादि भेद)

इसके भी बाद की दो भूमियों में तपः अस्मि एवं अस्ति को आश्रय करके स्वभाव उल्लास एवं स्थिति प्राप्त होता है । ये दोनों यथाक्रम से ऊर्जोऽध्वगा एवं सदध्वगा हैं । इसके भी परे जो ऊर्ध्व है उसे 'कोऽद्धा वेद' ? इस पञ्चाध्वगा तपोगङ्गा का समाश्रय लें ।

बोलचाल में कहते हैं—तपजप वा जपतप । जप को तप का अनुग्रह लाभ करते हुए छन्दोऽनुग, छन्दोग एवं छन्दोरूप में स्वयं तपोमय होकर ही तप का स्वभाव-स्वाच्छन्द्य, गति-स्थिति लाभ करना होगा । अर्थात् आनन्द की मूढ़ अलसितता से आनन्द की अबाधित स्वयंलसितता में जाना होगा । वहाँ ज्योतिः एवं रस अभिन्न हैं । वहाँ आनन्द अपर किसीका (यहाँ तक कि, साक्षी का भी) प्रकाश्य नहीं है । वह स्वप्रकाश है । आनन्द की स्वप्रकाशता ही उसका स्वलसितत्व है । 'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्', यह श्रौत आनन्द ब्रह्म ही है, सुतरां उसमें इतरापेक्षा की गन्ध भी नहीं है । अर्थात् 'अस्तिभाति' होने पर तब न आनन्द है, यह दृष्टि ठीक नहीं । स्वरूप में आनन्द ही अस्ति है, आनन्द ही भाति है और सविशेष भाव से आनन्द ही उल्लसित, विलसित, अलसित है । आनन्द स्वयं स्वलसित है । उल्लसित रूप में अस्मि-प्रत्यय-प्रतियोगी षष्ठ व्याहृति तपः है, विलसित रूप में छन्दः (विशेष भाव से गायत्र्यादि) हैं,

और अलसित रूप में विसर्गहीन छन्द दक्ष है, छदि एवं बन्ध है, जिनके लक्षण पहले दिए जा चुके हैं। वर्चः, तेजः, ऊर्जः प्रभृति लसितत्व को ही मात्रा हैं।

तप की आलोचना में जो 'गहन गाढ़ता' है वह 'गहनतर' एवं 'गाढ़तर' होती है सत्य की आलोचना से। सत्योन्मुखी 'तापसी' बुद्धि को पथ-प्रदर्शिका बनाकर प्रविष्ट होना होगा। वह प्रयास भी विशेषतः फलप्रद है।

२४. अस्ति प्रत्यय का जो प्रतियोगी अर्थात् विषय है, उसका नाम है सत्य। बुद्धि और उसका विमर्श। सप्त व्याहृतिरूप सप्त ख्याति किस प्रकार सम्भावित होती है?

यह सत्य सप्त महाव्याहृतियों का जो अन्तिम 'सत्य' है, वह सत्य है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'—इस स्वरूप लक्षण का जो 'सत्य' है, उसके साथ पहलेवाले सत्य को हम अभिन्न न मान लें। वह सत्य इसके बाद के सूत्र में 'सत्' के रूप में लक्षित हुआ है। यह सत्य 'अस्ति' वा 'है' इस प्रत्यय का विषय है, वह सत्य किसी भी प्रत्यय का विषय नहीं है। प्रति + गमनार्थ 'इ' धातु 'प्रत्यय' है। किन्तु उस सत्यय के सम्बन्ध में 'प्रति' अथवा 'इ' इन दोनों में से किसीकी भी सावकाशता नहीं है। जो स्वयं ब्रह्म है, उसका 'प्रति' वा प्रतियोगी होकर और क्या है? एवं अपर ऐसा क्या है; जिसकी अथवा जिससे ब्रह्म की गति हो सकती है। बुद्धि-विमर्श के प्रान्त में आकर तत्त्व होता है भान। बुद्धि-विमर्श के बीच आकर भान होता है भास। सप्त महाव्याहृतियों में भासोन्मुख भानरूपता है। अर्थात् ये बुद्धिविमर्श की प्रान्तभूमि में रहकर भी बुद्धिविमर्श के बीच प्रविष्ट होकर कुछेक विशेष-विशेष लक्षण-धर्म-सम्बन्ध स्वीकार करती हैं।

वैसा न करने पर जो आनन्द संवित् स्वरूप है, उसका 'अस्ति' के आधार पर 'अस्मि' रूप जागृति का अर्थ-निर्वाह कैसे होगा?

जो स्वयं अपाङ्क्त, अमात्र, निष्कल, अनन्त है उसमें पाद मात्रा कला काष्ठा कल्पित होकर छन्दोरूप कैसे बनता है?

जो आनन्द साक्षात् अमेय और असंख्येय (पाद) है, वह मानार्ह (मात्रा) और संख्येय कैसे होता है?

बुद्धि-विमर्श (logical appreciation) की जो प्रान्तभूमि है, वहाँ जाकर वाक् और मन दोनों 'न पाकर' (अप्राप्य) लौट आते हैं (निवर्तन्ते)।

किसे न पाकर? समग्र भान को (Factor or Given as a whole)।

विमर्श-पञ्चक का भास-पञ्चक को लेकर ही व्यवहार है। अथ च बुद्धि एवं बुद्धिविमर्श एक नहीं हैं। विमर्श की जहाँ सीमा है, बुद्धि की वहाँ सीमा नहीं है। बुद्धि बोधि एवं बोध रूप में उसके अपने विमर्श की पारगा है।

बुद्धि बोधि (as Intuition, सहज अथवा योगज) के रूप में भान को 'ग्रहण' एवं बोधरूप में तत्त्व में (The thing-in-itself) अवगाहन करना चाहती है। भानग्रहण में उसके आदि में 'उ'कार के स्थल में 'ओ'कार होता है, एवं 'क्ति' प्रत्यय का 'इ'कार रहता है, किन्तु 'त' चला जाता है। तत्त्वावगाहन में 'इ' चला जाता है, तत्स्थल में 'अ' होता है। विश्व-बोधादि से इस बोधविश्व, अवबोध शुद्धबोध एवं निजबोध की विलक्षणता की भावना करें। इस बोध-पञ्चक के ज्ञान में निर्मल बोध समुदित होता है।

परिमाण में लाना और अनुभव में आना क्या एक ही वस्तु है ?

Process और Perception कहाँ मिल जाते हैं ?

इस वर्णगत परिवर्तन की व्यञ्जना समझकर देखें।

अन्तिम में, अर्थात् बोध में, 'अवगाहन' है। बोधि में 'इ-कार गति सम्भावना (Or Possibility of Becoming) रूप में विद्यमान है। बोध में वह 'अ'कार होकर अक्षर मात्र (Changeless Being) होता है। अर्थात्, बोध में आकर बुद्धि अपने तीन मूल व्यवहार-निर्वहण लक्षणों का परिहार करती है—(१) 'उ'कार = ओष्ठ्य = व्याकरण और व्याहरण; (२) 'ध'कार = दन्त्य = छेदन वा विश्लेषण एवं (३) 'इ'कार = तालव्य = निम्नतल से उच्चतल में गति (जो 'मात्रा-स्पर्श' मात्र है उसे मात्रा पादादि क्रम से मेयता और ज्ञेयता के एवं परीक्षा-समीक्ष्यक्रम से प्रमेयता के उच्चस्तर में ले जाना है)।

बोध में जो 'ओ'कार है वह प्रणव को आश्रय करता है। क्योंकि प्रणव के बिना और किसीका भी तत्त्व में प्रविष्ट होने के लिए साक्षात् उपयोग नहीं है। 'ज्ञातुं द्रष्टुं' पर्यन्त उपयोग अन्य का भी है, किन्तु 'प्रवेष्टुं' का उपयोग प्रणव में ही परिनिष्ठित है।

परिमेयत्व एवं संख्येयत्व (measurability and knowability) इन दोनों का भेद और व्यवधान दृष्ट हुआ करते हैं। जो परिमेय है, वह ज्ञेय है एवं जो ज्ञेय है वह परिमेय नहीं होता है। जगत् में जिनका माप लेते हैं (यथा आणविक विकिरण, ताड़ित चौम्बक शक्ति इत्यादि) वे वस्तुतः अथवा तत्त्वतः क्या हैं यह हम नहीं जानते हैं। पक्षान्तर में, सुख दुःख इच्छादि रूप में जिन्हें साक्षात् हम जानते हैं उनका माप लेना सम्भव नहीं होता। Science is measurement—विज्ञान परिमाण-विज्ञान है, यह सूत्र स्वीकार कर लेने पर यह स्वीकार करना होता है कि पदार्थ-विज्ञान मान-कुशली है, किन्तु भानकुशली नहीं। दक्ष मापक है, किन्तु भासक और ज्ञापक नहीं। अर्थात्, सब कुछ का सूक्ष्मादपि सूक्ष्म परिमाण लेने में विज्ञान का कार्य-कौशल एवं ध्यान-कौशल असाधारण है; किन्तु निर्दोष रूप से परिमित होने पर भी कोई वस्तु यह नहीं

कहती—'यह देखो मैं यह वस्तु हूँ, यह तत्त्व हूँ। और तुम जो मुझे माप रहे हो, तुम्हारे साथ मेरा ठीक यह सम्पर्क है।' वस्तुतः अजाना को माप के और हिसाब के बीच ही विज्ञान ने जनाने का एक अद्भुत कौशल आविष्कार कर रखा है। जैसे किसी गुणी कलावन्त का संगीतालाप। आलाप स्थायी, अन्तरा, सञ्चारी एवं आभोग—इन चार पादों में सम्पाद्य है। गणितवित् मैं सम्भवतः उस आलाप का जो राग है उसे नहीं जानता; आलाप के पादचतुष्टय में प्रकृति और योजना के सम्बन्ध में भी अनभिज्ञ हूँ। तथापि आलपन की गति गिनते हुए कोई एक कालिक छन्दः आविष्कार कर लेता हूँ, एवं उस छन्द का नाम दिया है चौताल।

यदि फिर कम्पनादि के माप के निमित्त वैज्ञानिक मन्त्र व्यवहार करें तब इस चौताल को छोड़कर आलाप के स्वर-कलाप के कम्पनगत और भी सूक्ष्म छन्दः सम्भवतः आविष्कार करें। अन्य किसी राग के आलाप के साथ उसकी तुलना करके उनके कम्पनमानगत साजात्य-वैजात्य आदि भी समझ सकूंगा। किन्तु इतना करके भी राग की जो वाणी है, जो मूर्च्छना है, जो अनुभवसिद्ध रस है, उसे मैं नहीं जान पाऊँगा।

पाद और मात्रा

जैव धातु और प्रोटोप्लाज्म का विश्लेषण करके उसके उपादानभूत अणुओं की संख्या एवं सम्मिश्रण का अनुपात मैंने जान लिया है। अर्थात् वह परिमेय हुआ है किन्तु ज्ञेय नहीं हुआ है, क्योंकि तदधिष्ठान में जो प्राण अभिव्यक्त हैं उसे नहीं जान सका हूँ। सुतरां जानने में अक्षम हूँ कि उस उपादान-समूह ने उक्त अनुपात में सम्मिश्रित होकर प्राण नामक धर्म वा गुण को सृष्टि की है, अथवा प्राण नामक किसी एक पूर्वसिद्ध वस्तु ने ही अपने प्रयोजन-अनुसार अपने उपयोगी उक्त सम्मिश्रण बना लिया है। प्रथम पक्ष अवश्य ही अब तक अन्वय-व्यतिरेक से प्रतिपन्न नहीं हुआ है। प्रथमतः जैव वस्तु को निर्जीव बनाकर तब रासायनिक-परीक्षा-पात्र में उसका विश्लेषण सम्भावित होता है, सजीव प्रोटोप्लाज्म विश्लेषण के योग्य वस्तु नहीं बना है। द्वितीयतः, उपादानों के यथानुरूप सम्मिश्रण के फलस्वरूप भी सजीवता नहीं आती ऐसा देखते हैं। क्योंकि एक अजाना घटक (unknown eactor) के उपस्थित न होने तक यह अघटन घटता ही नहीं, ऐसा लगता है। सुतरां द्वितीय पक्ष में भी कल्पनालाघव एवं सम्भावनागौरव अधिक है।

मस्तिष्क वा Brain एवं हमारी चेतना के सम्बन्ध में भी इस अनिश्चय कोटि को हम अभी भी काट नहीं सके हैं। Brain के गठन एवं गति के सम्बन्ध में ज्ञान अर्थात् 'ताल' वा मात्रा-ज्ञान हमारा कुछ नितान्त अल्प नहीं हुआ है।

इस कारण मात्राज्ञान एवं पादज्ञान दो वृत्तों की भाँति परस्पर के बाहर न

रहने पर भी, परस्पर को अंशतः छेद रहे हैं, परस्पर मिल नहीं जा रहे हैं। मात्रा और पाद की परस्पर अव्याप्ति सभी क्षेत्रों में हमारे बुद्धि-व्यामर्श का हेतु बन रही है।

पाद किसे कहते हैं ?

'येन पद्यते'—जिसके द्वारा सम्पादित होता है, समग्र भाव से ज्ञात होता है, उपलब्धि होती है—वही पाद है।

तीन तरह से कहा गया, क्योंकि पाद को क्रियाङ्ग, ज्ञानाङ्ग एवं भावाङ्ग—इन तीनों रूपों में देखना होगा।

अथवा, श्रुति की रहस्य भाषा में एक 'सम्पन्न' (अथवा कहीं 'अभिनिष्पन्न') शब्द के बीच क्रिया, ज्ञान, भाव का अन्तर्निवेश करने पर, कहते हैं—सम्पाद्यता वा अभिनिष्पाद्यता का जो आवश्यक अंग है (inseparable or constituent) वही पाद है।

सुतरां पादसमूह का स्वतन्त्र, स्वच्छन्द संहतत्व (incongruent composition) न होने पर उक्त सम्भावना नहीं होगी।

अनुष्टुप् छन्द कारिका लिखेंगे। किन्तु उसका पादचतुष्टय स्वच्छन्दसंहत न होने पर कारिका, श्लोक सम्पन्न नहीं होगा। जप यागादि क्रिया के समय भी वही है।

तत्पश्चात् आत्मा को जानकर उसमें 'अभिनिष्पन्न' होऊँगा। व्यष्टिभाव में जाग्रत् (विश्व), स्वप्न (तैजस), सुषुप्ति (प्राज्ञ) एवं तुरीय एवं समष्टिभाव से विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर एवं शुद्ध चैतन्य—इस प्रकार पादचतुष्टय की स्वच्छन्द संहति न होने तक आत्मा को जानकर उसमें अभिनिष्पन्न होना नहीं बनेगा।

जो सपाद है उसका पादचतुष्टय के रूप में अङ्गीकार आवश्यक है

जो पुरुषसूक्त के 'सहस्रपात्' हैं वे 'एतावानस्य महिमा' रूप से उक्त होकर भी 'सम्पन्न' नहीं हुए, 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इस लोकोत्तर अमृत रूप में त्रिपाद की अपेक्षा रहती है। सम्पन्न का अर्थ है कि वे तो नित्य सम्पन्न हैं ही, केवल हमारा ज्ञान उनमें सम्पन्न हो गया। भाव की ओर से भी जिसके द्वारा समापत्ति वा सम्पन्नता घटित होगी, उसी पाद में उसकी अपेक्षा है।

पाद स्वयं चतुष्पात् है—उपपाद्यता, प्रतिपाद्यता, सम्पाद्यता एवं निष्पाद्यता भेद से।

'उप' समीप वा तटस्थ बना देता है; 'प्रति' साक्षात् सम्बन्ध का प्रतियोगी है और सम्मुखीन बना देता है; 'सम्' तत्त्व में सम्परिष्वक्त (existence in coalescence) बना देता है। 'निः' तत्त्व में तादात्म्य सम्बन्ध में निविष्ट कर देता है—यथा 'नद्या नदीनाथे'। तब फिर सम्पाद्यता नहीं रह जाती।

क्रिया, ज्ञान और भाव—यथाक्रम से इन तीनों के सम्बन्ध में पाद के पाद-

चतुष्टय को निष्पत्तिचतुष्टय, सम्पत्ति वा अभिनिष्पत्तिचतुष्टय एवं प्रपत्ति वा समापत्ति-चतुष्टय रूप में देखेंगे।

जो अमात्र एवं अपाद है उसके सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं है, किन्तु जो कुछ सपाद है उसे क्रिया में, ज्ञान में एवं भाव में सर्वथा अङ्गीकार करना हो तो पाद के द्वारा ही, एवं पाद के फिर पादचतुष्टय के क्रम से अङ्गीकार करना होगा।

ज्ञान में और आनन्द में इन चार पादों का किस प्रकार समापन करना होगा ?

पुनश्च, अन्वय एवं व्यतिरेक एतदुभय रीति से सिद्ध न होने पर किसीको भी निर्व्यूढ सिद्धि हुई; ऐसा नहीं समझा जा सकता।

जहाँ 'ख ग घ' हैं (यथा, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) वह 'क' अर्थात् तुरीय है, और जहाँ 'ख ग घ' (यथा, बहिःप्रज्ञ, अन्तःप्रज्ञ, घनप्रज्ञादि रूप भास) नहीं हैं, वहाँ भी सर्वप्रपञ्चोपशम में भी 'क' अर्थात् तुरीय है—इस प्रकार 'क' का (तुरीय का) अङ्गीकार न होने पर 'क' की (तुरीय की) निर्व्यूढ सिद्धि नहीं हुई।

यह अङ्गीकार (निजबोधरूप अवबोध) फिर साक्षात् एवं क्रमिक इस प्रकार द्विविध है।

क्रमिक स्थल में, श्रवण में उपपत्ति (अर्थात्, तटस्थ ज्ञान), मनन में प्रतिपत्ति (विचार, दृढ़ सिद्धान्त रूप में ज्ञान), निदिध्यासन में सम्पत्ति (तत्त्व के साथ 'सम्पन्न' जो ज्ञान, अर्थात् पारदृश्वरी अवधि प्रज्ञा है) एवं साक्षात्कार में निष्पत्ति (अर्थात्, निः = निर्गत वा निर्गलित हुआ है, पत्ति अर्थात् जहाँ पदत्व है, अर्थात् यहाँ पाद की पद्यता का अवसान है)।

इस प्रकार आनन्द है। आनन्द स्वरूप में (अर्थात्, अपाद अमात्र रूप में) स्वलसित है। किन्तु उसका भान होकर भी नहीं होता है जो ! बाहर एवं अन्तर में आनन्द के अलसित भाव में ही विमूढ़ रहा है जो ! विलोक में इस विमूढ़ता को समाप्त करके स्वरूप में उपनीत हो ! आदि में, अलसित का आनन्द-ख्यापन करो। यह आनन्द की उपपत्ति वा तटस्थापत्ति है। उसके बाद, विलसित (छन्दोग) को आनन्दख्याति हो। छन्द आनन्द का ही विलसन है—यह भान हो। यह प्रतिपत्ति है। क्योंकि, विश्वच्छन्दता का आनन्द विलास रूप ही आनन्द की प्रतिपत्ति है। तत्पश्चात् विश्व की आधार शक्ति जो आनन्दरूपिणी है, मुख्य प्राण जो आनन्द का ही उल्लसित, ऊर्जित रूप है, इसकी धारणा में सम्पत्ति है। तत्पश्चात्, स्वलसित आनन्द में निष्पन्न हो। तब 'कः केन कथं वा पद्यते ?'

अक्षर वस्तु के साथ अधिगम अधिभूतादि पाद-चतुष्टय में ही सम्पाद्य हैं। इस कारण श्रुति, प्रकाशमत्त्व, आयतनवत्त्वादि की बात कही गई है।

जप में पादचतुष्टय

जप-साधना में वैखरी से मध्यमा में प्रविष्ट होने पर जप उपपन्न होता है। तब जप अपने test वा proving को देख पाता है। क्योंकि तत्काल केवल वाक् और मनः नहीं, उभय की सन्धि और सेतु जहाँ है वह प्राण जपक्रिया के छन्द को स्वयं ग्रहण करता है। जप सचमुच श्वास-श्वास में होता चलता है। जो प्राणन वृत्ति के फलस्वरूप इच्छा से अनिच्छा से श्वास चलता है, अनिच्छा से वक्षः एवं नाड़ी-समूह स्पन्दित होता है, जपच्छन्दः उस प्राण के साथ संयुक्त हो जाता है। सुतरां तब 'कमली को छोड़ने पर भी कमली नहीं छोड़ती'—'जपो जागर्ति'।

तत्पश्चात् मध्यमा और पश्यन्ती की सन्धि में जाकर जप को 'प्रतिपत्ति' (आपयिता, संवर्द्धयिता के रूप में) होती है।

पश्यन्ती में सम्पत्ति एवं पश्यन्ती के पार निष्पत्ति है। सम्पत्ति में भी अशनाया (तृष्णा) है, सुतरां भय का बीज दूर नहीं हुआ है। निष्पत्ति में फिर कोई भी बाधा नहीं है।

ज्ञेय और मेय की अन्योन्य एषणा

'ॐकार एवेदं सर्वम्'—यह जब सत्य है, तब कहना होगा कि ॐकार पाद और मात्रा अपने इन दो रूपों में सर्वत्र अनुप्रविष्ट है। अर्थात् पाद और मात्रा विश्व में सर्वत्र अनुस्यूत हैं— Cosmic functions.

पाद और मात्रा यथाक्रम से सम्परिष्वक्त 'सत्यञ्च ऋतञ्चं' सत्य एवं ऋत की अभिव्यक्ति के कारण, विश्व में वस्तुतः पाद और मात्रा की परस्पर विधुरता वा अव्याप्ति नहीं है। किन्तु हमारी अभिज्ञता में है, इसका हमने दृष्टान्त लेकर देखा है। जो सर्ववित् हैं, वे विश्व में सब कुछ में पाद और मात्रा को परस्पर ओतप्रोत मिथुन रूप में जानते हैं। वे संगीत के राग जानते हैं, ताल नहीं जानते हैं अथवा ताल जानते हैं, राग नहीं जानते हैं, ऐसा नहीं हो सकता।

सत्य अर्थात् 'अस्ति' अपने को पाद रूप में, एवं ऋत अर्थात् 'ऋच्छति' अपने को मात्रा रूप में अभिव्यक्त करते हैं। सुतरां सत्य को यदि पाना हो तो पादाश्रय में एवं ऋत को मात्राश्रय में पाना होगा।

पाद और मात्रा दोनों मिलकर छन्दः हैं। एक प्रस्फुटित पुष्प लें। फूल के अवयवादि विन्यास में जो छन्दः (structural symmetry etc) है वह एक दिशा

है और उसके खिलने में जो छन्दः रूपायित होता है (functional congruity) वह है दूसरी दिशा।

हमारी अभिज्ञता में इन दोनों की अंशतः समव्याप्ति है, किन्तु सर्वतः नहीं। फूल का स्थूल और सूक्ष्म गठन भानयोग्य होता है, किन्तु उसके गुण-क्रियादि समग्र और मौलिक भाव से भानयोग्य नहीं होते।

उसके अतिरिक्त, हमारे ज्ञान में मेयता और ज्ञेयता परस्पर से दूर रहकर परस्पर के निकट से अभिन्न होने के लिए प्रयास करती हैं। दूर रहकर उन्हें मानों स्वस्ति नहीं है। मूल में वे अभिन्न हैं, पूर्ण ज्ञान में भी वे अभिन्न हैं।

जिस स्तर में जाकर ज्ञेय समझता है वह ज्ञेय ही है, परिमेय नहीं, वहाँ परिमेय दौड़कर जाकर कहता है—'तुम क्या केवल ज्ञेय ही हो, यह देखो तुम परिमेय भी तो हो, विज्ञान में इस प्रकार ज्ञेय और मेय का आँखमिचौनी खेल देखकर हम अवाक् हो रहे हैं। विज्ञान ने सूक्ष्म की ओर एटम पर्यन्त जाकर मेय से कहा—'बस, यहीं तक तुम्हारी गति है। बाद में अविभाज्य एटम भी विभक्त हुआ, इलक्ट्रनादि आये, तब एटम के भीतर का माप लेने के लिए ही नूतन विज्ञान तैयार हुआ–Atomic Physics इलॅक्ट्रान का अपना माप अवश्य है किन्तु वह भी माप की प्रान्त सीमा है। अब, Wave Mechanics इलेक्ट्रनादि के भी आभ्यन्तरीण survey में प्रवृत्त हैं। फलतः, इलेक्ट्रान एक 'ऊर्मि-गुच्छ' (wave packet) है, एवं ऊर्मि भी कोई 'वास्तव ऊर्मि' नहीं हो सकती, सम्भाव्यता की ऊर्मि (Wave of probability) है। अर्थात् रहना एवं न रहना—इन दो सम्भावना-कोटियों के बीच जिस स्थल में पूर्वोक्त सम्भावना का घनत्व अधिक है वहीं पर समझ सकते हैं कि 'क' नामक वस्तु वा धर्म विद्यमान है। ठीक कहाँ यह नहीं जानते किन्तु ०-बिन्दु में न रहने की अपेक्षा रहने का 'ऊर्मिगाढत्व' अधिक है। अतएव कहते हैं 'क' पदार्थ P. Q इत्यादि बिन्दु में न रहकर ० बिन्दु में है।

ज्ञेय (संख्येय) एवं परिमेय इस प्रकार अन्योन्यैषणा उचित ही है, क्योंकि ॐकार में ज्ञेय और मेय तादात्म्य सम्बन्ध से रहते हैं।

अर्च और अर्चिः

इन दो धाराओं को (संख्येय परिमेयता को) मिलाने का प्रयास ही केवल विज्ञान नहीं है, सभी साधन वही है।

अतएव जप का साधन भी वही है। जप में स्थूल संख्या एवं सूक्ष्म स्पन्दादि-रूप में जो परिमेय है वह प्रथमतः वाक् और मन के मिथुनीभूत प्राणरूप में, तत्पश्चात् प्राण और महद्बुद्धि के मिथुनीभूत विज्ञानरूप में, अन्त में विज्ञान भी संवेदन के

मिथुनीभूत आनन्दरूप में संख्येय (सम्यक् ख्यातिमान्) होगा। इस निगूढ़ 'फल्गु' क्रम की भावना करें। पूर्व-पूर्व मिथुन को पर-पर मिथुन में हवन करें।

'अर्च' शब्द से 'पूजा' कहने पर तो असली बात अनकही ही रह गई। अशनाया-जप 'महाग्रास' है उसने (श्रुति ने यह शब्द भी प्रयोग किया है, यह मृत्यु को भी ग्रास करता है—'मृत्युर्यस्योपसेचनम्') तो कुछ भी नहीं छोड़ा है।

यज्ञ का तो अश्व है वह तो अ + श्वः है, अब है, कल नहीं रहेगा। इसका जो मेध है वह महाग्रास में पड़कर बन गया है मा + दूध् (इन्ध), अर्थात् इन्धनत्व तिरोहित हो गया है, जैसे भस्मीभूत इन्धन में देखते हैं। उस विश्व अथवा अश्व का इन्धनत्व कैसे होगा ? मेध किस प्रकार होगा मेधस् (मेधाः)—जिस तपसा एवं मेधसा महाग्रास से फिर सृष्टियज्ञ प्रवर्तित है ? यह स् अथवा विसर्ग कैसा है ?

वह होता है इस 'अर्च' द्वारा। अर्च से अर्चिः एवं अर्क दो ही बनते हैं।

अर्च को प्राण को एक मुख्य वृत्ति के रूप में समझने की चेष्टा करें। तब न तद् द्वारा 'उपासना' होगी, आत्मन्वी, मनस्वी इत्यादि अस्ति-प्रत्यय का प्रतियोगी जो सत्य है उससे पाद और मात्रा में प्रतिष्ठित होगा, महाग्रास कवलमुक्त होकर।

अर्क, अप् प्रभृति कुछेक शब्दों का विश्लेषण और व्यञ्जना। सब कर्मों में अप् को अपेक्षा क्यों है ?

ऋ धातु का अर्थ है गति, व्यञ्जना है ऋतम्। ऋ के गुण में अर् है, (अदेङ् गुणः)। इस गुण के फलस्वरूप क्या हुआ ? ऋ मूर्द्धन्य मात्र था, वह कण्ठ-मूर्द्धन्य हुआ; अर्थात् 'जो चरम व्याहृति मूल अस्ति रूप में (अथवा नास्ति रूप में) आत्मसंवृत थी उसने अपने को सप्तव्याहृति की (कण्ठ से मूर्द्धा तक सकल भूमियों को) सम्भावना बना लिया। सम्भावना, किन्तु कार्यतः क्या है ? इस अर्च का 'च' तालव्य है। अर्थात् सम्भावना रूप में अस्तिता रूप सप्तख्याति की प्रसज्यमानता होने पर भी कार्यतः आती है चरम के ठीक निम्न की व्याहृति वा ख्याति। वह क्या है ? तपः। इस तप में आकर ही अर्च हुआ अर्चिरादि (वर्चः, तेजः, ऊर्जः इत्यादि)। 'कं' किसे यह अर्चिः वरण करेगी ? आत्मसंवेदन रूप जो सुख है उसे ही। यही मूल अर्क वा अग्नि है जिसमें अश्व का मेध निखिल सृष्टि के आरम्भ में मेधस् और मेधा रूप में परिणत होगा।

सुषुप्ति से जब जागरण में आए तब अश्व का मेधसमूह हुआ अव्यक्त अविविक्त संस्काररराशि। किस अर्चिः वा अर्क को वरण करके इस अनिन्धन मेधसमूह को इन्धन बनाकर अपना जागर यज्ञ तुम आरम्भ करते हो, यह सोचकर देखो। सुषुप्ति का भङ्ग होने पर तुम आत्मन्वी होते हो, मनस्वी होते हो, कैसे ?

आत्मसंवेदन (जो कं रूप में सुषुप्ति की घनप्रज्ञ अवस्था में सम्पन्न हुआ था), उसे जागृति में अर्क रूप में कैसे पाया ?

तुमने एक बार में नहीं पाया है ! मध्य में अप् है, जो इस घनीभूत 'क' को रस रूप में 'ऋतायित' करता है। अप् क्या जल है ? तेज के बाद तो अप् की उत्पत्ति सुनते हैं। तब ?

यह अप् पञ्चभूत का अप् नहीं है। व्याकरण की रीति में इस शब्द का स्त्रीलिङ्ग बहुवचन में प्रयोग करते हैं, किन्तु असल में यह भी है रहस्य संकेत।

अ + प् = कण्ठ्य + ओष्ठ्य। वाक् रूप प्राण-अग्नि जिस आधार पर उत्थित होकर समन्तात् विस्तारित होने गया, 'प' उसे संवृत, रुद्ध करने गया। इसके फलस्वरूप मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र की सृष्टि हुई। जो शक्ति समन्तात् विकीर्ण होकर अपने को लुटा देना चाहती है, मन्त्र उससे कहता है—'तुम इस बीज के बीच संहत हो, घनीभूत बनो; यन्त्र कहता है—'तुम मेरे बीच गाढ़ बनो वा वेगवती बनो;' तन्त्र कहता है—'तुम मेरे बीच छन्दःशासित बनो।'

इस अप् को पाये बिना तो कोई भी यन्त्र नहीं चलता, कोई मन्त्र सिद्धिद नहीं होता, कोई तन्त्र कुशल नहीं होता।

सुतरां, इस अप् को पाकर ही अश्वमेध का जो अर्क है उसका अर्कत्व है।

'तपः' एवं 'सत्यं' इन दो व्याहृतियों के भान में, ख्याति के जिस ग्राम में वा भूमि में जाना होता है वह भूमि महासमन्वयी छन्द के अधिकार में है। 'महा' और 'परम' का सिवाना भी यहाँ है। सिवाने के पार फिर भाषा नहीं है। महासमन्वयी का स्थान होने से सत्य में सब कुछ भेद एवं द्वन्द्व अविरोध से, परस्पर सन्धि करके विद्यमान (अस्ति) है। अथ च, प्रत्येक का पूर्ण और शुद्ध रूप वहाँ है। पूर्ण और शुद्ध होने से ही सब भेद और द्वन्द्व का सन्धि-समन्वय है। नीचे की भूमि में असङ्गति और विरोध है, इस कारण से किसीका भी पूर्ण और शुद्ध रूप वहाँ की ख्याति में नहीं मिलता। गुलाब मुझे प्रिय है, उसका काँटा अप्रिय है, काल वैशाखी का वर्षण अच्छा लगता है, आँधी बुरी लगती है, पूर्ण चित्र में गुलाब का काँटा वैशाखी की आँधी बहुत सुख स्वच्छन्द में पड़े हुए हैं। उन्हें बाद देने का कोई उपाय नहीं है। इन कुछेक बातों को विस्तार से समझना होगा।

वृत्तिरूप और स्मृतिरूप

विश्व व्यापार का स्थिर लेख रूप आधार तो है ही। 'सर्वं क्षणिकं' समझ लेने पर भी रिहाई नहीं है। इसीलिए 'छायारूपेण संस्थिता' के साथ आधार रूप में 'शक्तिरूपेण संस्थिता' है; 'वृत्तिरूपेण संस्थिता' के साथ 'स्मृतिरूपेण संस्थिता' है।

क्या विज्ञान, क्या प्रज्ञान उभय दृष्टि में ही अतीत अनागत विश्व का ध्रुव लेख रूप 'सत्य-लोक' आवश्यक है। नहीं तो दोनों में से किसीकी भी सम्यक् उत्पत्ति नहीं होती। विज्ञान के Principle of conservation का मूल यहाँ है। जड़ की मूल वस्तु में Memory वा स्मृति जैसा कुछ अवश्य है। प्रज्ञान में महान् और सूक्ष्म, समूर्ध्व और समकालिक वा अक्रमिक ज्ञान की भूमि भी यही है। यह उस युग का ईथर अवश्य ही नहीं है। लोक वा 'ख्याति' इसे कहा गया है। गणित में 'Locus' के साथ तुलना करें। जैसे, मान लें दो बिन्दु हैं। एक मानों स्थिर ध्रुव है; दूसरा चल रहा है। यदि वह इस प्रकार चले कि ध्रुव बिन्दु के साथ उसका दूरत्व बराबर एक-सा ही रहे, तब उस सचल बिन्दु का गतिपथ क्या है? वृत्त, जिसका केन्द्र वह ध्रुव बिन्दु है। यदि कहते—अच्छा, यह अचल बिन्दु एक ध्रुव बिन्दु एवं एक ध्रुव रेखा के साथ दूरत्व को समान बनाए रखकर चलेगा, तब उसका गतिपथ वृत्त न होकर parable हो जाता। अब, इस लोकस के भाव को काष्ठा में ले जायँ। प्रश्न करें—विश्व का सब कुछ चल रहा है, आ रहा है, जा रहा है, नहीं भी होता है, किन्तु ऐसा कुछ क्या नहीं है, जिसके सम्पर्क से वह सब कुछ है? रवीन्द्रनाथ का वह 'कणाटुकू जेथा ना हाराय' (जहाँ वह कणा न खो जाय) ऐसा कोई विपुल अव्यय धाम नहीं है, क्या? इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' देना होगा। अन्यथा विश्व व्यवस्था ही अचल है।

सत्यलोकख्याति

और वे (सत्यलोक) किस प्रकार हैं? 'बीज', 'संस्कार', उन्हें Potential ये सब नाम दिये जाते हैं। क्योंकि, हमारी 'ख्याति' (Experience) वहाँ तक नहीं जाती। बीज को बीज ही क्यों कहते हैं? बीज के बीच पादप की आकृति, शक्ति, छन्दः और सत्ता—इनमें से किसी का भी प्रत्यक्ष हम नहीं करते हैं इसलिए। प्रत्यक्ष यदि कर पाते तो शायद बीज ही न कहते। निखिल के बीज या आधार रूप में वह 'जनि प्रत्यय' का विषय है। यह हमने पहले देखा है। किन्तु 'अस्ति' इस ख्याति (Actual experience) के रूप में 'सत्यम्'—पूर्वालोचित 'ध्रुवलेखाधार' है। 'लेख' शब्द को भी व्यापक अर्थ में (आकृति, छन्दः प्रभृति अर्थ में) लेना चाहिए। हमारी ख्याति में जिसका अनुमान करते हैं, ऊर्द्ध्वतन ख्याति में उसे पूर्ण, पूर्णतर रूप में प्रत्यक्ष करते हैं। जो सत्यलोक ख्याति में अधिष्ठित हैं, उनके सम्पर्क में उनके लोक के केवल बीज ही हैं, ऐसा मत समझना, बीज-अङ्कुर-प्ररोह-पादप सब कुछ ही है। प्रथम खण्ड के द्वितीय परिशिष्ट का चित्र भी इस प्रसंग में आलोच्य है।

लोक और लोकस—दृष्टान्त

अब ध्यान देकर देखिए—'अस्ति प्रत्यय का प्रतियोगी' कहने से ठीक क्या

समझना होगा। मान लीजिए, इस क्षण कोई अनुभव हुआ। दूसरे क्षण फिर वह नहीं है। जो 'अस्ति' था वह हो गया 'नास्ति'। ठीक है, किन्तु उसे बाद में किसी समय स्मरण कर सकते हैं। इसीलिए, वह बिलकुल तो नहीं चला गया है, किसी न किसी प्रकार 'अस्ति'। उस प्रकार उसे संस्कार इत्यादि जो कहेंगे कहें। प्रश्न—कहाँ है अस्ति! इस मस्तिष्क के उपादान में है? (Brain substance) में है? वैसा कहने से तो अनेक मारात्मक दोष आते हैं। जन्मान्तर स्मृति इत्यादि की तो कोई उपपत्ति ही नहीं होती। 'संयम' के द्वारा पूर्व जाति-स्मरण, प्रकृत्यापूरण प्रभृति अनेक कुछ ही इस 'मस्तिष्कवाद' में छूट जाता है। सुतरां अवश्य ही समझना पड़ता है कि कोई एक ऐसा महाविपुल लोक (Lacus) एवं 'ख्याति' (Ground Experience) है, जहाँ सब घटना, अनुभूति, कल्पना (सत्य-मिथ्या के विचार बिना) अपना-अपना 'बीज' वा संस्कार रखती हैं। मन में अथवा बाहर जो कुछ घटा है, घट रहा है और घटेगा, वह सब ही (सत्य हो मिथ्या हो) इस महाविपुल लोक में बीज रूप से अस्ति। जैसे बायस्कोप की छवि की रील। रील में सूक्ष्मभाव से समग्र भूत, वर्तमान और अनागत छवियाँ जुड़ी हैं। आकाशकुसुम, वन्ध्यापुत्र, स्क्वेयर (चतुष्कोण), triangle (त्रिकोण) इत्यादि भी अस्ति—क्योंकि, कल्पना में, अथवा शब्दों में वे आ गये हैं, आ सकते हैं। इस लोक को महाविपुल इसीलिए कहा है कि सृष्टि के आदि में भी 'यथापूर्वमकल्पयत्' जैसे पूर्व में था उसी प्रकार सृष्टि कल्पित हुई। वह सब कहाँ था, जहाँ से स्मृति में वा ध्यान में पुनः आ रहा है? इसीलिए, अस्तिता का—जो चले गये उनका भी किसी न किसी प्रकार रहने का—एक आधारपट (Back ground) अवश्य ही मानना पड़ता है। पिछले दिनों के वैज्ञानिक लोग एक perfectly elastic ether मानते थे। उस प्रकार का ईथर वर्तमान में प्रायः नहीं चलता। किन्तु हम जिस लोक की बात कह रहे हैं उसकी Elasticity वा स्थितिस्थापकता अद्भुत है! सम्भव-असम्भव ऐसा कुछ भी नहीं, जो अपनी 'स्थिरलेखा' को इस अद्भुत आधारपट पर नहीं रख रहा है। यहाँ वास्तव-अवास्तव, सम्भव-असम्भव का द्वन्द्व नहीं है। मन में हो, बाहर, हो, कल्पना में हो, किंवा केवल वाक्य में ही हो यहाँ सब कुछ अस्ति। विश्व तो अतीत, वर्तमान, अनागत भाव से चल रहा है। किन्तु उसका एक एवंविध 'स्थिर समग्रलेख' एक अस्तिता का लोक (यथार्थ अर्थ में) है तभी न रक्षा है! न रहने पर नियतपरिणामिनी विश्वपरम्परा अपने ढाँचे को वहाँ कैसे बनाए रखती? उसके अन्तर्गत घटनापुञ्ज (Events) अपनी 'छाप' (Impression record) कहाँ रखता? कर्म का संस्कार, अपूर्व इत्यादि कैसे सम्भावित होते? रील में छवि, रेकर्ड में गान, जर्मप्लाज्म में संस्कार—यह सब इस अस्तिता लोक के ही अधिकार में हैं एवं उसके ही दृष्टान्त हैं।

जप अनुध्यानादि का समग्र लेख

जप अनुध्यानादि में क्रिया का समग्र लेख (complete picture) हम नहीं देखते। उसी से हताश (despondent) होते रहते हैं, नहीं तो मूढ़ाश (Complacent) वा स्फीताश (over-confident) हो जाते हैं। जप कर्म का समग्र चित्र दृष्टि में यदि स्फुटित होता तो देखते कि—एक अक्षर, एक क्षुद्र स्पन्दन भी निःशेष नहीं हुआ है, वह है, सञ्चित, रक्षित होकर है। रहने का स्थान—यह सत्यलोक है। वह मानो स्थान एक Eternal Now है, जिसकी कुक्षि में अतीत अनागत सम्प्रविष्ट हैं। अच्छा, वह मान लें हो गया। किन्तु इस विपुल अस्तिता के जठर में अच्छा-बुरा, मित्र-वैरी, कल्पना-जल्पना, असम्भव-अद्भुत—सब ही तो है! वहाँ भी क्या भूसे के ढेर में दो-चार दाने बेमालूम मिले हुए हैं। सत्यलोक तो देखता हूँ एक निरपेक्ष 'अस्ति वा 'है' का देश है; वह देश neutral (निष्पक्ष) है—अच्छा-बुरा छाँटकर तो वह स्थान नहीं देता!

तब ? वहाँ जाने का लाभ क्या है ? अपने जप कर्म का आद्योपान्त पूरा चेहरा मैंने पा लिया। किन्तु अन्तरात्मा जानता है—इतने दिन जप पर बैठकर मन के घर में क्या-क्या पाप नहीं किए ? उस पाप भरे नरक को देखने से क्या लाभ ?

समग्र लेख देखकर क्या लाभ है ?

'मा भैः'-आश्वस्त हो जाओ। भूलो मत कि सत्यलोक व्याहृति की चरम भूमि है। इसीलिए श्री श्री धूमावती ने अपने हाथ का सूप वहाँ फेंका तो नहीं है वरन् सूप का कर्म वहाँ अपने सामर्थ्य की पराकाष्ठा को प्राप्त हो गया है। अर्थात्, वहाँ सस्य भी है, भूसा भी है, किन्तु दोनों मिले हुए नहीं हैं। दाने शुद्ध अविमिश्र भाव से 'व्याहृत' हैं, दाने और भूसी के मिल-जुल जाने की सम्भावना बिलकुल नहीं है। अर्थात् सङ्कर—जो संकर 'नरकायैव' है—उसकी समाप्ति हो गई है। संकर होने से ही तो सब गोल-माल है, सब आपद्-विपद् है! सत्य ख्याति में पहुँचकर देखता हूँ—यह मेरे जप का नाम अस्ति-शुद्ध स्वमहिमा में अस्ति; और यह मेरा अपराध भी अस्ति; वह भी महाबल असुर विक्रम से है ? नहीं, उसका विक्रम उस संकर में ही है जो दूर हो चुका है—Completely isolated हो चुका है। शुद्ध में वह 'अपास्त' है। यदि भागकर निकल जाय तो उसके प्राण बचें, किन्तु अस्ति की कुक्षि में से उसे मुक्ति जो नहीं मिल रही है। पहले इस लोक के सम्बन्ध में दो निरूपक विशेषण दिये गये हैं—स्थिर और समग्र। और भी एक दें—अमिश्र वा तन्मात्र। अविमिश्र नाम क्या अद्भुत वस्तु है, वह शुद्ध रूप से तभी समझ में आता है जब यहाँ पर (इस लोक में) साधन पहुँचे।

एक नामाक्षर में पर्वत प्रमाण अशुभ संस्कारादि रुई की भाँति निःशेष दग्ध हो जाते हैं। श्रीभगवान् के नामाष्टक में एक नाम है—सत्य। इस नाम की कृपा होने

पर, समझ में आता है—नाम ही सत्य है, और विरोधी जो कुछ है वह सब रहकर भी असत्य है। वस्तुतः इस ख्याति में न आने तक कुछ भी सचमुच सत्य नहीं होता, मिथ्या भी नहीं होता। सुतरां सत्य एक ऐसी ख्याति है जहाँ सब कुछ अपने शुद्ध और पूर्णरूप में ध्रुव (=अस्ति) है। इन तीन निरूपकों की परीक्षा बाद में सविशेष होगी। ध्रुव का लक्षण और प्रकार भेद (यदि है तो) विचार करना होगा। तब 'अस्तिप्रत्यय' पद को लक्ष्य करें। इसलिए अस्ति में जो पड़ा हुआ है एवं जो जा रहा है—इन दोनों भावों का ही अन्तर्भाव उसमें है। सत्यलोक static (अचल) है अथवा dynamic (सचल) —इस समस्या का विचार भी प्रसंग-क्रम से आ जाता है।

सत्यलोक किस अर्थ में स्थिर है ? Basic Brain : Cosmic Memory

सत्यलोक का जो 'चित्रलेख' है वह स्थिर इस अर्थ में है कि वहाँ जो 'रेखापात' हो जाता है, वह रेखा रह जाती है, कदापि मिटती नहीं। यह एक Cosmic Reservoir of Picture and Patterns, impressions and vestiges, seeds and potentials experienced as existent है, हमारे इस Brain की भाँति है, इसीलिए इसे एक Cosmic Brain अथवा Basic Brain एक प्रकार से समझा जा सकता है। हमारा Brain तो static नहीं है; नूतन 'रेखापात' उसमें सर्वदा ही हो रहा है। सत्यलोक के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की भावना होना स्वाभाविक है। वह शेषहीन, अन्तहीन नित्यनूतन को भी स्थान देते चलता है ! यह एक अद्भुत रहस्य है ! एक साधारण मनुष्य के और एक महापण्डित के Brain को तुलना करें। वजन और आकृति में अन्तर बहुत कम है, किन्तु पण्डित के Brain ने कितने विशाल विद्यावैभव को स्थान दिया है ! चतुर्थ व्याहृति जो महः है, वहाँ आकर शक्ति क्रिया प्रभृति अपने सचराचर परिचित चेहरों को और चाल-ढाल को बदल डालती हैं। तब फिर हम उन्हें साधारण मामूली फारमूले में नहीं डाल सकते हैं। यहाँ आकर हम एक Basic Dynamics के इलाके में पहुँच जाते हैं—एक मौलिक छन्दोविज्ञान में।

Basic कहने से व्यञ्जना कहाँ तक ले जाती है ?

इसकी व्यञ्जना कहाँ तक है, एक दृष्टान्त लेकर समझें, "ॐ" अथवा "हरिबोल" अथवा "अल्लाह है" इस प्रकार भगवान् के किसी नाम का जप करते हैं। जप की जो ध्वनि अथवा जो भाव है उसे स्थूल भाव से देखने पर क्षणस्थायी ही लगता है। कण्ठयन्त्र (Larynx-प्रभृति) के किसी एक विशेष प्रकार के स्पन्दनजन्य यह ध्वनि हो रही है। स्पन्दन के थम जाने पर ऐसा लगता है कि ध्वनि भी नहीं रही। किन्तु इस प्रकार क्षणस्थायी स्पन्दन एवं तज्जन्य जो क्षणस्थायी ध्वनि है तद् द्वारा जो असीम और अमोघ शक्ति है वह किस प्रकार मिल सकती है ? सुतरां अवश्य ही समझना चाहता

है कि स्पन्दन ही सचमुच विरत नहीं हुआ है एवं तज्जनित ध्वनि भी एकान्त भाव से शेष नहीं हुई है। दोनों ही सूक्ष्मता के ऐसे एक स्तर में जा पहुँचे हैं जहाँ तक हमारी अनुभूति सचराचर नहीं जाती। अर्थात् स्पन्दन भी धारा रूप में क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता चलता है एवं तज्जनित ध्वनि भी तदनुपात में एवं तदनुरूप भाव से चलती है। अपने साधारण apparatus को यदि कहें A_1 तब अवश्य A_2 A_3 A_4..... इस प्रकार क्रमिक सूक्ष्म ग्राम के कुछेक apparatus स्वीकार करने होंगे। A_1 का स्पन्दन जब बाह्यतः निवृत्त हुआ, तब A_2 का स्पन्दन आरब्ध हुआ। अर्थात् प्रथम का स्पन्दन सूक्ष्मता के किसी एक ग्राम में आने पर वह उसे छोड़ देने को बाध्य होता है अवश्य, किन्तु द्वितीय उसके दिए हुए स्पन्दन को स्वयं चलाकर ले जाने के लिए प्रस्तुत रहता है।

सूक्ष्म ग्राम में प्रतिपूरण आपूरणादि

केवल चला लेने के लिए प्रस्तुत रहता है ऐसा नहीं, उसे Resonance effect इत्यादि के द्वारा वर्धित और समृद्ध करने के लिए भी प्रवृत्त होता है। इस प्रकार जब द्वितीय यन्त्र का कर्म समाप्त हो आता है तब तृतीय यन्त्र वा A_3 उद्बुद्ध होकर अनुरूप भाव से क्रिया को चालू कर लेता है। इस प्रकार क्रमविन्यस्त यन्त्र परम्परा के कल्याण में आरम्भ में जो एक साधारण स्पन्दन एवं तज्जनित उच्चारित और श्रुत ध्वनिमात्र है वह एक अतिसूक्ष्म ग्राम के एवं महाशक्तिशाली स्पन्दन में और ध्वनि में ('Silent Sound' of tremendous potency) परिणत हो सकता है। तब साधारण ध्वनि अथवा sound, supersonics के पर्याय में जा पहुँचती है। इस प्रकार की ध्वनि को हम पहले 'महाराव' रूप में पहचान चुके हैं। महर्लोक का सिंह-द्वार अवारित न होने पर इस "हत दैत्य महाबल महाराव" का सन्धान नहीं मिलता। इस विश्लेषण से समझा जा सकता है कि हमारे इस कारोबारी स्थूल यन्त्र के अभ्यन्तर में सूक्ष्मतर और महत्तर यन्त्र-परम्परा विन्यस्त है। इस देश के रहस्य विज्ञान ने उनका षट्चक्रादि नामकरण भी किया है। किन्तु सचराचर इस सूक्ष्म अथ च समर्थ पर्याय के आन्तर यन्त्र (Inner apparatus) उद्बुद्ध अवस्था में विद्यमान नहीं हैं। शक्ति के जिस Channel अथवा मार्ग में प्रविष्ट होकर इन सब यन्त्रों का उद्बोधन कराना होगा, उस मार्ग का साधारण नाम यदि सुषुम्णा दें तो जीव के साधारण व्यवहार और अनुभूति में इस सुषुम्णा मार्ग का मुख अवरुद्ध किये हुए है एक प्रबल रोधिका शक्ति। साधन का उद्देश्य है इस रोधिका शक्ति को प्रसन्न करके उसे साधिका शक्ति में परिणत करना।

आन्तर यन्त्रों का अपना छन्दः

ऐसा नहीं है कि इन सब सूक्ष्म ग्रामों को यन्त्र परम्परा (A_1 A_2 A_3.....)

केवल मात्र किसी क्रिया को धारा रूप से अविच्छेद चलाने के लिए ही रहती है, परन्तु क्रिया को शक्ति में, भाव में और व्यञ्जना में उत्तरोत्तर गरीयसी और महीयसी बनाने के लिए वह नियोजित है। किन्तु चाहिए साधक की अपनी आस्पृहा और प्रयास द्वारा इन आन्तर यन्त्रों की जागृति और प्रस्तुति संसाधन। ये यन्त्र जिस नियम में परस्पर शक्ति विनिमय एवं आपूरण कर्म करते हैं उसे हम साधारण Dynamics के formula के भीतर सर्वथा भर नहीं सकते यह ठीक है, किन्तु यह निश्चित है कि उनका भी एक निजस्व Dynamics है जिसे हम Basic Dynamics नाम देते हैं। वर्तमान आणविक विज्ञान में इस Basic Dynamics का थोड़ा सा आभास भी हमें मिलने लगा है। स्थूल भूत विज्ञान के सूत्र और छन्द सूक्ष्म आणविक विज्ञान में सर्वथा प्रयोज्य नहीं होते ऐसा हम देखते हैं।

विश्वक्षेम का महाभाण्डार

पूर्वोक्त आलोचना में यह लक्ष्य किया है कि कोई स्पन्दन एवं तज्जनित ध्वनि अथवा भाव क्षणिक की भाँति प्रतीत होने पर भी सचमुच ही क्षणिक नहीं है। ऐसा कोई एकलोक अथवा भूमि अवश्य ही है जहाँ विश्व का प्रत्येक स्पन्दन प्रकाश्य में अन्तर्हित होने जैसा होकर भी अविनाशी भाव से अपनी रक्षा किए रहता है। केवल उतना ही नहीं—स्पन्दन किसी क्रमविन्यस्त यन्त्र-परम्परा के साहाय्य से क्रमशः सूक्ष्मतर, महत्तर एवं वीर्यवत्तर होता चले, तभी उन समस्त फलों वा effects के सञ्चित और रक्षित होने का अवश्य ही एक स्थान विद्यमान है। यह स्थान है विश्व के सभी पदार्थ एवं घटना के conservation, summation वा accumulation का plane. इस Plane को न रहने पर विश्व का सब कुछ ही क्षणिक, चपल, तुच्छ, असार है। सब कुछ की रक्षा एवं सञ्चय का यह महाभाण्डार न रहने पर जीवन ही क्या, साधन ही क्या, सिद्धि ही क्या! यह है सत्यलोक अथवा ख्याति।

सत्यलोक को विश्व के सम्बन्ध में 'समग्रा स्मृति' का स्थान कहने से ऐसा न समझें कि यह एक विशाल, विराट् जादूघर है, जहाँ समस्त वस्तुओं और घटनाओं के 'संस्कार' (relics, fossils इत्यादि) रक्षित होते हैं, ऐसा नहीं है। यह प्राण और चेतना की अभिव्यक्ति की एक ऊर्ध्वतम ख्याति है। इसीलिए, निखिल के (सत्य-मिथ्या वास्तव-कल्पित सब कुछ के ही) केवल संस्कार (रील) नहीं, परन्तु स्मृति भी (समग्र छवि—बीज से पादप पर्यन्त एक के बाद एक सकल परिणति की) रहती है। सुतरां समग्र स्मृति और ज्ञान उस भूमि में सिद्ध हैं। क्योंकि, इस भूमि में भी परिणति रहती है। चित्रपट एवं उनकी 'रील' दोनों का ही क्षेम (रक्षा—conservation) एवं योग (addition and alteration) दोनों ही होते चलते हैं, इसीलिए इस समग्रा स्मृति और ज्ञान के लोक को 'ध्रुवा स्मृति' एवं पूर्ण ज्ञान की भूमि नहीं कह सकते। अतएव,

यहाँ जो विश्वबोध का लेख (picture) है वह (पूर्वोक्त अर्थ में) स्थिर अवश्य है किन्तु ध्रुव नहीं; एवं ज्ञान भी समग्र तो है किन्तु पूर्ण नहीं; और क्योंकि यहाँ भी सत्य मिथ्यादि 'अमिश्र' वा असङ्कीर्ण (unconfused) रहकर भी ठीक तत्त्वतः निरूपित और व्यवस्थित होकर नहीं है (अर्थात् क्योंकि यहाँ भी सब कुछ की validity एवं value में इन दोनों का परिपूर्ण समाधान नहीं हो गया है), अतएव इस लोक को सही-सही शुद्ध भी नहीं कहा जा सकता। ध्रुव, पूर्ण और शुद्ध—ये तीन लक्षण यहाँ भी पूरापूरी (finally) परिसमाप्त नहीं हुए हैं। सुतरां यहाँ आकर भी 'अतः किम्' के सम्मुखीन होना पड़ता है।

विषय, सम्बन्ध, भाव वा व्यञ्जना, सत्त्व एवं तत्त्व (content, relation, meaning, reality and absoluteness)—इन पाँच पादों में ज्ञान पूर्ण और शुद्ध हुआ करता है। सत्यलोक में यह पञ्चपाद लक्ष्य के नैकटिक (approximate) होकर भी लक्ष्य में सर्वथा प्रविष्ट (consummated) नहीं हुए हैं। वहाँ अब तक भी 'आपूर्यमाणता' 'सिषाधयिषा' (अपने को सिद्ध करने की आकांक्षा) वर्तमान है। एक Dynamic series अपने को work out करती चली है; यहाँ तक उसने अपनी समग्र आकृति को भी देख पाया है; अपने नियामक छन्द का भी कथञ्चित् समाधान पाया है; जिस परिपूर्ण और शुद्ध फल constant perfect value में जाकर वह चरम विश्रान्ति को लाभ करेगी, उसका आभास भी उसे मिला है। किन्तु तथापि वह ध्रुव परिपूर्ण फल को अभी उपलब्ध नहीं हुआ है, सुतरां चरम विश्रान्ति भी नहीं हुई है। सत्यलोक की ख्याति में आकर विशेष भाव से इस पञ्चपाद के जो शेष दो पाद हैं—सत्त्व एवं तत्त्व, उनके सम्बन्ध में जिज्ञासा और आकांक्षा रह जाती है। सत्यलोक में जो सिद्ध हैं, उनके पक्ष में भी एक चरम और परम साधना की अपेक्षा रह जाती है। वह यह कि ध्रुव, शुद्ध एवं पूर्ण सत् (Reality) क्या वस्तु है ? एवं जो सर्वतोभाव से स्वतन्त्र और अपरअपेक्षाहीन वस्तु (Absolute) है वह भी क्या पदार्थ है ? सुतरां सत्यलोक में प्रतिष्ठित साधक का साधन है—"ॐ तत्सत्" यह ब्रह्म-मन्त्र एवं परम भाव का साधन। साधन की यह चरम भूमि अभी भी अधिगत न होने पर भी यह निश्चित है कि जो साधक सत्य ख्याति में अधिष्ठित हैं उनके बोच स्मृति, ज्ञान, मेधा, तपः, वीर्य एवं तुष्टि इन सब ऐश्वर्यों का एक विपुल और महान् विकाश अवश्य ही हुआ है। एवं क्योंकि यह सत्यख्याति व्याहृतिसप्तक की अन्तिम ख्याति है, इसीलिए इस ख्याति में अभ्युदय संघटित होने पर पूर्व-पूर्व ख्याति को जो कुछ दैवी सम्पत् है वह सब ही (gathered) एवं संहत (integrated) हो जाती है।

पहले जिस Dynamic series की बात कही गई वह यदि कूर्माङ्ग न्याय से एक बार सङ्कुचत् (convergent) और एक बार प्रसरत् (divergent) है, ऐसा समझा

जाय, तब समग्र भाव से, यह प्रकृति की ही आकृति है। इसीलिए, सत्यलोक में जो अधिष्ठित हैं वे प्रकृति-जिगीषु हैं, एवं प्रतिष्ठित होने पर अन्त में प्रकृतिजयी बनते हैं। पूर्व-पूर्व ख्याति में अस्मितादि जीत ली गई हैं ऐसा समझना होगा। रसाश्रित साधन में सत्यख्याति, अललित-उल्ललित विललित रस के समग्र लेख को दिखाना चाहती है, किन्तु स्वलसित रस में (भूमा में) वह स्वयं प्रविष्ट नहीं होती। सत्यख्याति में भेदाभेद अचिन्त्य होकर भी है; एवं उस प्रकार की ख्याति भी है।

२५. भूरादिभिरनन्तवत्त्वम्

[भूरादि सप्त व्याहृति वा सप्त ख्याति द्वारा अनन्तवत्त्व लक्षित होता है।]

वा० अवच्छेद परिच्छेद-समुच्छेदाद्यसम्भवात् ।
आनन्त्यं ब्रह्मणि स्याद् ह्यनन्तवत्त्वं तु सप्तसु ॥ ६८ ॥

अन्वय—अवच्छेद-परिच्छेद-समुच्छेद-आदि (नाम्) असम्भवात् ब्रह्मणि आनन्त्यं स्याद्, सप्तसु तु अनन्तवत्त्वम् ॥ ६८ ॥

[अवच्छेद, परिच्छेद-समुच्छेद आदि के असम्भव होने के कारण ब्रह्म में अनन्तता है। और सातों (व्याहृतियों) में अनन्तवत्ता है।] ॥ ६८ ॥

२६. अर्चिरादिभिर्ज्योतिष्मत्त्वम् ।

[अर्चिः प्रभृति द्वारा ज्योतिष्मत्त्व लक्षित होता है।]

वा० अग्नौ ज्योतिष्ट्वमस्त्येव कृष्णवर्त्मापि स तथा ।
ऊर्ध्वगेन तेजसाऽग्निर्निर्धूमः सोऽर्चिरेव तु ।
अस्मादभ्युदयादग्निर्यात्यर्चिरादिमार्गताम् ॥ ६९ ॥

अन्वय—अग्नौ ज्योतिष्ट्वम् अस्ति एव, सः कृष्णवर्त्मा अपि तथा। ऊर्ध्वगेन तेजसा अग्निः निर्धूमः, सः तु अर्चिः एव। अस्मात् अभ्युदयात् अग्निः अर्चिरादिमार्गतां याति ॥ ६९ ॥

[अग्नि में ज्योतिरूपता है ही; वह कृष्णवर्त्मा होते हुए भी वैसा है। ऊर्ध्व उठते हुए तेजः के द्वारा अग्नि निर्धूम है, वही अर्चिः है। इस अभ्युदय से अग्नि अर्चिरादि-मार्ग बन जाता है।] ॥ ६९ ॥

२७. अक्षादिग्रहणभूयस्त्वेन प्रकाशमत्त्वम् ।

[अक्ष आदि के ग्रहण का जो उपाय है उसके भूयस्त्व से प्रकाशमत्त्व लक्षित होता है।]

वा० समीक्षा च परीक्षा चान्वीक्षेति लौकिका दृशिः ।
बोधिश्चर्तम्भरा प्रज्ञा सम्बोधिश्चापि योगजा ।
आध्यात्मिका इमाः सर्वाः सन्त्याधिभौतिकादयः ।
हेयोपादेयताहीना स्वतः सिद्धा दृशिर्मता ॥ ७० ॥

अन्वय—समीक्षा, परीक्षा च अन्वीक्षा च इति लौकिका दृशिः । बोधिः च ऋतम्भरा प्रज्ञा; सम्बोधिः च अपि योगजा । इमाः सर्वाः आध्यात्मिकाः आधिभौतिकादयः सन्ति । स्वतः सिद्धा दृशिः हेयोपादेयताहीना मता ॥ ७० ॥

[समीक्षा, परीक्षा और अन्वीक्षा यह लौकिक दृष्टि है । बोधि, ऋतम्भरा प्रज्ञा और सम्बोधि योगजा (दृष्टि) हैं । ये सभी आध्यात्मिक, आधिभौतिक आदि होती हैं । स्वतःसिद्धा दृष्टि हेयोपादेयता से रहित मानी गयी है ।] ॥ ७० ॥

२८. कायादिभिरायतनवत्त्वम् ।

[काया आदि के द्वारा विशेष भाव से निरूपित अथवा निरूपणयोग्य होना ही आयतनवत्त्व का लक्षण है ।]

वा० आयतनानि सत्यस्य सप्तकायादिषु क्रमात् ।
निखिलानि हि वस्तूनि सप्तायतनतामियुः ।
कति व्यक्तानि भूतेषु कत्यव्यक्तानि चासते ॥ ७१ ॥
जीवेषु पञ्चकोषा ये तेऽप्येवं समवस्थिताः ।
ते च सप्तविधाः सन्ति वाग्जीवाभ्यां समन्विताः ॥ ७२ ॥

अन्वय—सत्यस्य आयतनानि सप्तकायादिषु क्रमात् (भवन्ति) । निखिलानि हि वस्तूनि सप्तायतनताम् इयुः । कति भूतेषु व्यक्तानि, कति च अव्यक्तानि आसते ॥ ७१ ॥

जीवेषु ये पञ्चकोषा ते अपि एवं समवस्थिताः । ते च वाग्जीवाभ्यां समन्विताः सप्तविधाः सन्ति ॥ ७२ ॥

[सत्य के आयतन क्रम से सात काया आदि में हैं । सभी वस्तुओं के सात आयतन हैं । (जिनमें से) कुछ भूतों में व्यक्त हैं और कुछ अव्यक्त रहते हैं ॥ ७१ ॥ जीवों में जो पाँच कोष हैं वे भी इसी प्रकार स्थित हैं । वाक् और जीव से समन्वित होकर वे सात प्रकार के हैं ।] ॥ ७२ ॥

चातुर्मात्रिक विश्लेषण

नव पदार्थ विज्ञान में चाहे जिस घटना के (Physical event) विश्लेषण के लिए एक चातुर्मात्रिक आधार मान लेना पड़ा है । Space के सर्वपरिचित तीन

dimensions एवं उनके साथ Time रूपी चतुर्थ dimension मिलाकर यह चातुर्मात्रिक विश्लेषण four-dimensional analysis निर्वाहित हो रहा है। इस प्रकार विश्लेषण के फलस्वरूप बाह्य घटना की वर्तमान विवृति निःसन्देह अधिकतर वास्तव और विस्पष्ट हुई है। Newton के युग में विज्ञान (Classical Physics) में यह अत्यावश्यक समाहार और समन्वय संघटित नहीं हुआ था इसीलिए उन दिनों का विश्लेषण और विवृति बहुत हद तक अवास्तव (abstract) और नैकटिक मात्र (only approximate) थी। किन्तु विश्व की कोई घटना केवल मात्र, पूरे-पूरे रूप से स्थूल एवं बाह्य घटना नहीं है। पेड़ से एक पत्ता खिसक पड़ा, अथवा शरीर में एक सिहरन खेल गई—इस प्रकार की किसी घटना को केवल मात्र बहिरंग भाव से देखने पर उसे सचमुच का देखना ही नहीं होता, समझना तो दूर की बात है। इस कारण क्या आन्तर, क्या बाह्य विश्व की प्रत्येक घटना को देखने एवं समझने के उद्देश्य में एक सचमुच का समग्र एवं जीवन्त आधार (a living complete frame of reference) हमें अवश्य ही मान लेना होता है। नये पदार्थविज्ञान के आधार की भाँति हमारे इस विपुल प्राण और चेतना का आधार भी चातुर्मात्रिक समझा जा सकता है। जहाँ कहीं भी वह घटना घटित क्यों न हो उसे मूलतः चारों ओर से समझकर हमें देखना होता है। प्रथम—इस स्थान में और इस मुहूर्त में जो घटना घटी (event as here and now) उसके पहले का रूप क्या है एवं बाद में क्या है ? विकास की ओर ही क्या रूप है और संकोच की ओर क्या रूप है ? वह ऊर्ध्वगामी कहाँ तक होती है और निम्नगामी कहाँ तक होती है ? इन सभी घटनाओं के सम्बन्ध में अवधि और सीमा का प्रश्न है। हमारे विश्लेषण में उसे कहा जाता है co-ordinate of continuity. (जिसे सूत्र में अनन्तवत्त्व कहा गया है।) द्वितीय—इस घटना के पश्चात् कौन सी शक्ति अथवा आवेग (energy or urge) कितना विद्यमान है ? एवं उस शक्ति के उत्तरोत्तर समर्थ एवं यथार्थ रूप क्या हैं ? जैसे किसी बाहर की घटना में जिस शक्ति को स्थूलतः कार्यकरी देखते हैं वह शायद ताप अथवा चुम्बक-शक्ति है, किन्तु और भी गभीर एवं व्यापक दृष्टि में वह शक्ति अपना कोई चेहरा हमें दिखाती रहेगी क्या ? शेष पर्यन्त 'वरेण्यं भर्गः' अथवा भागवती शक्ति की भावना न करने तक इस अन्वेषण की अव्याहति है क्या ? जड़ विज्ञान की भाँति Inscrutable Power समझने से ही क्या छुटकारा मिलेगा ? हमारे विश्लेषण में इसे कहा गया है ज्योतिष्मत्त्व (co-ordinate of energy value) उसके पश्चात् तृतीय—जिस घटना को अनन्तवत्त्व एवं ज्योतिष्मत्त्व इन दो दिशाओं से विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं, वह घटना अपने को उस-उस भाव से प्रकाश कैसे करेगी एवं किसके समीप करेगी ? अर्थात् उसके बृहत्तर एवं महत्तर भाव में प्रकाश के निमित्त तदनुरूप दृष्टि एवं अनुभूति की भूमि भी अवश्य स्वीकार करनी होती है।

हमारे विश्लेषण में यह हुआ प्रकाशमत्त्व (co-ordinate of apprehension and comprehension—Realisation) । चतुर्थ—यह घटना ठीक कैसी काया, अवयव अथवा आकृति (Magnitude, Form, Pattern) धरकर आ रही है, एवं वे कब किस भाव से बदल रहे हैं अथवा नहीं बदल रहे हैं यह भी हमें लक्ष्य करना होता है । प्रकाश्य में वह जो रूप धरकर आई थी, नेपथ्य में जाकर वह रूप उसका रहा अथवा न रहा—यह प्रश्न हमें करना ही पड़ता है एवं खोजकर देखना पड़ता है कि अन्त तक उस घटना का कोई एक ध्रुव, पूर्ण एवं शुद्ध लेख (Picture) है या नहीं । यदि हो तो वहाँ किस भूमि में है ? हमारे विश्लेषण में यह है आयतनवत्त्व (the co-ordinate of magnitude, form and pattern) ।

उक्त अनन्तवत्त्वादि मन्त्रादि के अवयव, प्रयोग एवं उपलब्धि में किस रूप में उदाहृत हैं ?

हमने इससे पहले पाद, मात्रा, कला, काष्ठा, मन्त्र, ऋषि, देवता, विनियोग, मात्रा, अर्धमात्रा, मात्रातीत, पूर्णमात्रा :—इत्यादि कुछेक प्रकार के विश्लेषण के सूत्र प्रयोग करके देखा है । किन्तु इस स्थल में छान्दोग्य श्रुति-प्रसिद्ध अनन्तवत्त्वादि (अनन्तवत्त्व, ज्योतिष्मत्त्व, प्रकाशमत्त्व और आयतनवत्त्व) को विश्लेषण के मौलिक सूत्र (Principles of Basic Analysis) समझा जा सकता है । अपरापर सूत्र इन चारों के ही अन्तर्गत हैं एवं इन चारों के ही विशेष प्रयोगरूप हैं । जैसे मान लें, कोई मन्त्र या नाम है । प्रथमतः उसे 'अनन्तवत्' रूप में देखना होगा और पाना होगा । किसी साधारण शब्द की तुलना में मन्त्र की या नाम की विलक्षणता यहीं पर है । किसी भी साधारण शब्द को इस मुहूर्त की कोई घटना मात्र (event as here and now) समझा जा सकता है एवं वैसा ही हम समझा करते हैं । किन्तु मन्त्र के सम्बन्ध में इस प्रकार की परिच्छिन्न दृष्टि बिलकुल ही चल नहीं सकती । तत्पश्चात् मन्त्र के वाच्य कोई देवता हैं—वह देवता क्या वस्तु हैं ? ज्योतिः एवं लीला की किसी ऊर्द्ध्वतन भूमि एवं ख्याति को ही देवता समझना पड़ता है । सुतरां 'ज्योतिष्मत्त्व' इस लक्षण को किसी एक काष्ठा में जब तक न ले जा सकें तब तक देवता की परिकल्पना सम्भव नहीं होती । उसके बाद आते हैं ऋषि । यह ऋषि हैं 'प्रकाशमत्त्व' की अथवा दिव्य अनुभूति की ऐसी स्वच्छोज्ज्वल अवस्था, जहाँ भ्रम-प्रमादादि सर्वविध कुण्ठा-कार्पण्य की सम्भावना अपगत हो गई है । अन्त में मन्त्र का कोई एक निर्दिष्ट अवयव वा तनु वा काया अवश्य ही है ऐसा समझना पड़ता है एवं किसी एक निर्दिष्ट छन्द में और आकृति में मन्त्र का विनियोग भी होगा यह भी समझना पड़ता है । मन्त्र के अवयव और विनियोग की ओर से देखना हो तो जिस दृष्टि से देखना होता है उस दृष्टि का विषय है 'आयतनवत्त्व' (Magnitude, Form, Pattern) । दृष्टान्तस्वरूप, प्रणव

की जो प्रथम मात्रा अकार है वह हुआ अनन्तवत्त्व; द्वितीय मात्रा उकार, आयतनवत्त्व है; तृतीय मात्रा मकार, प्रकाशमत्त्व एवं नादबिन्दु है ज्योतिष्मत्त्व। इस प्रकार 'ह्रीं' इस बीजमत्त्व में हकार है अनन्तवत्त्व, रकार प्रकाशमत्त्व, दीर्घ ईकार आयतनवत्त्व एवं चन्द्रबिन्दु है ज्योतिष्मत्त्व। मन्त्राक्षर-समूह में गम्भीर भाव से प्रवेश करके तब इन निर्देशों का सम्यक् अनुधावन करना होगा। जैसे प्रणव के अकार को अनन्तवत्त्व एवं ह्रीं बीज में हकार को अनन्तवत्त्व क्यों कहा जाता है? पुनश्च इन दो बीजमन्त्रों में यथाक्रम उकार एवं ईकार को आयतनवत्त्व क्यों समझा गया? उन-उन अक्षरों एवं उनके मूलीभूत जो मुख्य प्राणव्यापार हैं उनकी ओर दृष्टि रखकर इन सब प्रश्नों का समाधान करना होगा। अन्यथा अव्यवस्था की आशङ्का है। जपसूत्र में परवर्ती किसी-किसी स्थल में तल, लम्ब, वेध एवं इन तीनों का समाहार एवं समन्वय—इस प्रकार सब प्रकार के विश्लेषण की चेष्टा की गई है। उन चारों को भी अनन्तवत्त्वादि इन चारों के साथ मिला लेना आवश्यक है। यथा, तल वा आधार हुआ अनन्तवत्त्व, लम्ब अथवा ऊर्ध्वगत वृत्ति हुई आयतनवत्त्व, वेध अथवा depth dimension हुआ प्रकाश-मत्त्व एवं इन तीनों के समाहार और संगति में हुआ ज्योतिष्मत्त्व।

गायत्री शिरः—रस को प्रकाशमत्त्व क्यों समझा गया?

यह लक्ष्य करें कि देश, काल, वस्तु और सम्बन्ध अथवा सत्ता, शक्ति, छन्दः एवं आकृति :—इस प्रकार सब कुछ के विश्लेषण की जिन चतुःसूत्री (Fourfold Scheme of Analysis) का हम इससे पहले व्यवहार करते आए हैं, वे भी गभीर दृष्टि में अनन्तवत्त्वादि इन चारों में ही शामिल हो जाती हैं। जैसे देश = आयतनवत्त्व, काल = अनन्तवत्त्व, छन्दः = प्रकाशमत्त्व एवं वस्तु = ज्योतिष्मत्त्व। इसके भीतर छन्दः को प्रकाशक की भूमिका में इसलिए लाया जाता है कि छन्दः ही प्रकाशक के प्रतिकूल जो कुछ है उसका आच्छादन करते हुए प्रकाश-विकाश के जो अनुकूल है उसे निरुपद्रव एवं सावकाश बना लेता है। इस प्रकार, सत्ता = अनन्तवत्त्व, आकृति = आयतनवत्त्व, छन्दः = प्रकाशमत्त्व एवं शक्ति = ज्योतिष्मत्त्व है। पहले के समीकरणों में जिस ज्योतिष्मत्त्व को हमने वस्तुरूप में पाया है (as substance) अन्तिम समीकरणों में भी उसे फिर शक्तिरूप में (as Power) पा रहे हैं। गायत्री मन्त्र के "आपो ज्योती रसोऽमृतम्" इस भाग को शिरः कहा जाता है। गायत्री के शिरोभाग में यह जो चार तत्त्व विद्यमान हैं उन्हें भी यथाक्रम हम आकृतिमत्त्वादि इन चारों के साथ मिला ले सकते हैं। जैसे आपः = आयतनवत्त्व, ज्योतिः = ज्योतिष्मत्त्व, रस = प्रकाशमत्त्व एवं अमृत = अनन्तवत्त्व। इस समीकरण में रस को प्रकाशक की भूमिका में इसलिए लाया गया है कि सचमुच के रसबोध वा आनन्द के स्पर्श के बिना अन्तर्बहिः विश्व में प्रकाश-विकाश की अनुभूति सम्भव नहीं होती। किसीकी भी समृद्ध, समुज्ज्वल अनुभूति होने

के लिए जो अनुभविता हैं उनके प्राण में एक रस की चेतना अथवा आनन्द-संवित् अवश्य ही होनी चाहिए। इसी कारण कहना पड़ता है कि किसीको भी पूर्ण और प्राणवन्त बनाकर देखना हो तो केवल मात्र बाह्य दृष्टि अथवा मनन की दृष्टि हमारा संबल होने से काम नहीं चलेगा; उसके लिए चाहिए हमारे भाव, वेदना, सहानुभूति और सामरस्य की दृष्टि।

घटना का वामनरूप और विश्वरूप

एक ओर वैज्ञानिक और दार्शनिक, दूसरी ओर कवि और ऋषि—इन दोनों की दृष्टि की, उपलब्धि की एवं आस्वादन की विलक्षणता तो इसी कारण है। विगत शतक में एक शरीफा क्यों भूतल पर गिर पड़ा उसकी कैफियत देने बैठकर वैज्ञानिक का काम इतने से ही चल जाता था कि वह अपने हिसाब के खाते में एक छोटा कल्पित नक्शा आँककर हिसाब बना ले। तब आलोच्य घटना को यथासम्भव परिच्छिन्न और खण्डित कर लेने की प्रथा थी। इस व्यापार का पारिभाषिक नाम था—limitation of data. ऐसा न करने पर हिसाब असम्भव प्रकार से जटिल हो उठता, इसीलिए ऐसा करने के अतिरिक्त गत्यन्तर नहीं दिखाई देता था। किन्तु इसके फलस्वरूप हमारा हिसाब अत्यधिक संकीर्ण और अवास्तव (restricted and abstract) अवश्य हो हो जाता था। वर्तमान युग में हिसाब के इस कृत्रिम बोध को हम बहुत कुछ तोड़ने में समर्थ हुए हैं। पृथ्वी और शरीफा इन दोनों के परस्पर आकर्षण के बदले हम वर्तमान में देश अथवा विराट् की संस्थिति को ही एक अद्भुत ज्यामितिक आकृति (intrinsic geometrical pattern) में हमने सजा लिया है। अर्थात् जिस आधार में बहिर्विश्व का घटनापुञ्ज घट रहा है, उस आधार का एक निजस्व आयतनवत्त्व है, इसे हमने स्वीकार कर लिया है। किन्तु निखिल विश्व का यह जो आयतन है जिसका नाम दिया है Space, उसे अनन्त वा असीम समझने में हमें बाधा हो रही है। अर्थात् space unbounded होने पर भी unlimited नहीं है। यह एक परिमेय और परिमित वस्तु है। इसके साथ काल वा Time को जोड़कर हम अनन्त वा असीम की तलाश कर रहे हैं। Space के हिसाब से जो परिमित है, Time के हिसाब से वह वैसा ही है क्या ? Space और Time इन दोनों को एक करके एक साधारण संज्ञा दी जाती है Continuum. इस Continuum के सम्बन्ध में अनन्तवत्त्वलक्षण क्या पूरा-पूरा लागू होगा ? इस प्रश्न का निःसंशय उत्तर देने को विज्ञान अभी प्रस्तुत नहीं हुआ है, ऐसा लगता है। मैं द्रष्टा (observer) हूँ, सामने एक शिशिरबिन्दु देखता हूँ। इस शिशिरबिन्दु की सत्ता, शक्ति प्रभृति मेरे सामने इस स्थान में एवं मेरे मनोयोग के इस मुहूर्त में क्या परिसमाप्त हो जाती है ? विज्ञान अवश्य ही ऐसा नहीं समझता। यह विराट् विश्व समग्र भाव से एवं समसूत्र से नियमित रूप से स्पन्दित हो रहा है। इस स्पन्दन को यदि

एक ऊर्मिरूप में देखना चाहें तो अवश्य ही किसी भी देश-विशेष में, यहाँ तक कि काल-विशेष में भी उस ऊर्मि का परिच्छेद नहीं है, अन्त नहीं है। किन्तु अवश्य ही किसी दर्शक-विशेष के अभिनिवेश के सम्पर्क से वह सीमाहीन ऊर्मि किसी एक स्थल में (here) एवं किसी एक मुहूर्त में (now) अपने को घनीभूत (condensed) करके दिखा रही है। उसका इस प्रकार अपने को दिखाना ही हुआ मेरे समक्ष यह क्षुद्र शिशिरबिन्दु। हमारा व्यवहार अथवा काम चलाने के लिए जो स्वरूप में विश्वरूप है उसे इस प्रकार क्षुद्र वामनरूप में हमारे सामने दिखाई देना पड़ता है। जो स्वयं सीमा-हीन अगाध सिन्धु है, उसे इस प्रकार हमारे प्रयोजन की गरज से वृष्टिवारि, नदी, ह्रद इत्यादि बनकर हमारे सामने हाजिर होना ही पड़ता है।

प्रकाश वा अनुभूति के उच्चतर ग्राम। वे खुलेंगे किसके समीप, किस दृष्टि में ? विज्ञान की प्रान्त भूमि में (At the Boundary line) किस सङ्कट का सामना हमें करना पड़ रहा है ?

और यह भी ठीक है कि वर्तमान युग का विज्ञान, शक्ति (energy) को उसकी जड़ता के पाश से मुक्ति दिलाने में एक प्रकार से समर्थ ही हुआ है। अर्थात् वर्तमान में Energy केवल brute, blind force मात्र नहीं है, जिसके सम्बन्ध में Newton के युग में उन चिराभ्यस्त Equation एवं Formula के रट लेने से ही काम चल जाता था। जड़ विश्व की मूल वस्तु यदि Electricity है, तब उसे अवश्य ही हम स्वरूप से भी नहीं जानते एवं समग्र भाव से भी नहीं जानते। वह असल में प्राण अथवा चेतना की एक सार्वभौमिक अभिव्यक्ति नहीं है, यह बात हम अब ऊँची आवाज से नहीं कह पा रहे हैं। इसलिए ज्योतिष्मत्त्व के महत्तर एवं उज्ज्वलतर रूपों का अन्वेषण अभी शुरू हुआ है, ऐसा समझा जा सकता है। ठीक सरसरी दृष्टि से न होने पर भी गभीर और नेपथ्य भाव से वह (अन्वेषण) अवश्य ही शुरू हो गया है। अर्थात् विज्ञान ने मुँह से भले ही न कहा हो किन्तु अन्तर में उसने यह सोचना शुरू कर दिया है—मैंने शक्ति का जो परिचय यहाँ तक पाया है, वह उसका सचमुच परिचय नहीं है, वह उसके बहिरंग प्रकोष्ठ का बहिरंग परिचय है। ज्योतिष्मत्त्व की प्रान्तसीमा में आकर खड़ा तो हो गया हूँ, किन्तु कहाँ है ज्योतिर्धाम का वह पथ-प्रदर्शक, जो मुझे इस अर्धजड़ता और अर्धचेतना के संकट से मुक्ति दिलाकर, परिपूर्ण आलोक के बीच सकल कुण्ठा एवं द्विधा के पार ले जायगा ? विज्ञान का यह जो ज्योतिष्मत्त्व की ओर अभिसार है उसका पुरोगामी और पुरोहित कौन होगा ? विज्ञान अपनी यन्त्रपङ्क्ति और विचार-मननादि के साहाय्य से जितनी सी अनुभूति प्राप्त कर रहा है मात्र उतनी सी अनुभूति लेकर बैठा रहने पर तो विज्ञान की कुण्ठा और कार्पण्य विदूरित नहीं

होंगे। इसलिए आवश्यक है अनुभूति के उच्चतर ग्रामों का उन्मेष। यही है ऋषि की दृष्टि, जिसके फलस्वरूप प्रकाशमत्त्व के परम परदे हमारे सामने खुल जायेंगे।

२५. भूरादि सप्त व्याहृति वा सप्त ख्याति द्वारा अनन्तवत्त्व लक्षित होता है।

अनन्तवत् कहने से क्या समझें ? सब कुछ में अपनी सीमा के पार जाने की चिरन्तन आस्पृहा है।

पहले पञ्चम सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि सत्यस्वरूप ब्रह्म ऐसा एक परमाश्चर्य तत्त्व है जिसके सम्बन्ध में अवच्छेदादि पञ्च प्रकार के छेद वा (limitation) का कोई प्रसंग नहीं है। एवं तत्त्वतः ब्रह्म वस्तु यदि वैसी ही है, तब उसके सम्बन्ध में 'सत्यं' एवं 'अनन्तं' ये दो श्रुति-प्रसिद्ध स्वरूप लक्षण पूरे-पूरे लागू होंगे। इसीलिए कारिका में कहा गया कि 'आनन्त्यम्' यह साक्षात् ब्रह्म का ही निजस्व धर्म है। कहना न होगा कि इसे ब्रह्म का धर्म कहने से धर्म और धर्मी का कोई भेद कल्पित नहीं होगा। अर्थात् ब्रह्म एवं अनन्त ये दोनों तत्त्वतः एक ही वस्तु हैं, केवल कहने में दो करके कहना होता है। ब्रह्म का स्वरूपगत जो यह आनन्त्य वा भूमत्व है, उसकी तुलना में भूरादि सप्त व्याहृति का जो अनन्तवत्त्व है उसका भेद दिखाने के लिए कारिका में कहा गया है—'अनन्तवत्त्वं तु सप्तसु'। अर्थात् अनन्तवत् कहने से यह सूचित होता है कि किसीका अन्त वा सीमा तो अवश्य है (अन्तवत्) किन्तु वह क्रमशः अन्त वा सीमा के पार अपने को ले जा रहा है। अर्थात् वह मानो कहता है—"तुम मुझे इस गण्डी के भीतर इतना-सा करके देख रहे हो और पा रहे हो अवश्य, किन्तु यह देखो मैं इस गण्डी को तोड़कर बाहर निकला हूँ, वृहत्तर और महत्तर बन रहा हूँ—क्रमशः 'ज्यायान्', 'वरीयान्' हो रहा हूँ। यदि कर सको तो अपनी दृष्टि को भी मेरे साथ-साथ उत्तरोत्तर विशाल बना लो एवं अपने पाने को मेरे साथ-साथ उत्तरोत्तर महीयान् और वरीयान् बना लो।" 'भूः' यह प्रथम व्याहृति आकर ही कहती है—"यह देखो, मैं तुम्हारे सम्मुख हूँ, तुम मुझे अपना बना लो।" किन्तु साथ-साथ ही वह किसी ऊर्ध्वतन धाम की ओर अंगुली उठाकर कहती है—'वह देखो।' इसे हम स्वतः व्याहृति के रूप में पहले ही पहचान चुके हैं। सुतरां प्रथम व्याहृति किसी सम्पद् को मेरी पहुँच के बीच लाकर साथ-साथ कहती है—'इस अन्तवत् परिमित सामग्री को लेकर तुम्हारे पड़े रहने पर तो नहीं चलेगा, यह जो असीम सम्पद् का भाण्डार तुम्हारे कारोबार के अगोचर पड़ा हुआ है उसके सन्धान में तुम्हें अभिसारी होना ही होगा। जो अन्तवत् है उसकी अपने अन्त वा सीमा के पार जाने के निमित्त जो चिरन्तन आकूति है, उसीको उद्देश्य करके वेदमन्त्र ने उदात्त कण्ठ से गाया है—"अमृतस्य पुत्रा अमृता अभूम।" यह आकूति ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी के प्राण के भीतर से घुमड़कर बोल उठी थी—"येनाहं नामृता

स्यां किमहं तेन कुर्याम् ।" इसीलिए हम देखते हैं कि अनन्तवत्त्व के मूल में है यह गभीरतम आस्पृहा । जो अनन्त है वह किसी प्रकार कहीं भी किसी गण्डी में चिरदिन चुप होकर नहीं रहेगा । सुतरां यह Dynamic है, इसे Static वा जड़तुल्य करके देखने पर इसका वध हो जायगा । ब्रह्मरूप में जो अनन्तत्त्व है ध्रुव एवं परिनिष्ठित है, उसकी सृष्टि के प्रत्येक रेणु में वह अनन्तवत्त्व अपने को खोकर पुनः अपने को प्राप्त करने के प्रयास में उद्ग्रीव, व्याकुल बना हुआ है । यह भी ब्रह्म का अपनी सृष्टि में एक अचिन्त्य भाव में अनुप्रवेश है, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।'

२६. अर्चिः प्रभृति द्वारा जो ज्योतिष्मत्त्व है वह लक्षित होता है । अग्नि शुक्लवर्त्मा और कृष्णवर्त्मा हैं । ज्योतिः और रस का परस्पर साहचर्य और एकात्मता की भूमि ।

पूर्व सूत्र में हमने जो अनन्त वा भूमा है उसका सन्धान पाया । वर्तमान सूत्र में उस भूमा को ज्योतिः एवं रस एतदुभय की परिपूर्णता एवं अभेद पराकाष्ठा रूप से हमें सन्धान पाना होगा । अपने साधारण अनुभव में ज्योतिः को अग्नि, तेजः, तडित् इत्यादि व्यक्त और अव्यक्त विविध रूप में जानते हैं । विज्ञान का जो प्रत्यक्ष है वह इन सबको सूक्ष्मता और विपुलता की और भी गम्भीर भूमि में ले गया है और ले जा रहा है, इसमें सन्देह नहीं । बहिर्विश्व में क्रियाशील जो शक्ति है उसे आणविक तेजः अथवा Nuclear Energy पर्यन्त ले जाने में हम समर्थ हुए हैं । हमारे व्यवहार में जो प्राण और चेतना-रूप में परिचित है उसके स्वरूप के सम्बन्ध में विज्ञान अब तक कोई ठीक-ठीक समाचार देने में असमर्थ रहा है । शक्ति की इस प्रकार त्रिधा अथवा बहुधा अभिव्यक्ति के मूल में कोई समता और सामञ्जस्य का आधार और उत्स है अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में भी विज्ञान आपाततः निरुत्तर है । तब भी यह ठीक है कि वह अपनी सर्वविध समीक्षा और परीक्षा के बीच से ज्योति का वर्त्म पकड़कर अग्रगामी हुआ है और हो रहा है । किन्तु मुश्किल यह है कि विज्ञान के सन्धान की वस्तु जो आलोक है, वह बहुत बार केवल मात्र काल्पनिक अग्नि (वडवा) में पर्यवसित होता है ऐसा नहीं, वह हमारे अनुसन्धान की प्रान्त भूमि में आकर अपने को एक गाढ़तर तमसा की कुक्षि (inscrutable unknown) में खो भी डालता है । आत्मानुभूति एवं विश्वानुभूति का जो सबसे अन्तरङ्गतम सत्य है वह तो बाहर का ताप, आलोक, तडित् इन सबमें से कोई-सा भी नहीं है; वह है प्राण एवं चेतना । इन दोनों को जितना साक्षात् और निबिड भाव से मैं जानता हूँ, बहिर्विश्व के अन्य किसीको भी तो मैं उतना अपना करके नहीं जान पा रहा हूँ। अथ च, इन दोनों के सम्बन्ध में ही विज्ञान का संशय प्रगाढ़ है एवं अज्ञता अपरिसीम है । सुतरां देखते हैं कि विज्ञान ने अपनी गवेषणावेदी में जो अग्नि प्रज्वलित की है वह अग्नि सचमुच ही कृष्णवर्त्मा है—धूम से समावृत है ।

उस अग्नि की जो दीप्ति है वह दृष्टि को जितना स्वच्छ कर रही है उससे अधिक वह दृष्टि को धूम और ज्वाला से आकुल बना रही है। सुतरां प्रश्न उठता है, निर्धूम वा धूमहीन अग्नि कहाँ है। एवं कैसे उस अग्नि को मैं जलाऊँ ? वह अग्नि कृष्णवर्त्मा नहीं, परन्तु वह अग्नि शुक्लवर्त्मा है। इस शुक्लवर्त्मा अग्नि का साधारण नाम दिया जाता है ज्योतिः। हमारी साधारण परिमित अग्नि तेजः, आलोक प्रभृति इस ज्योति के ही कुण्ठित, लुण्ठित और गुण्ठित रूप हैं। उनका यह सचराचर कुण्ठादिजन्य जो कार्पण्य है वह यदि किसी उपाय से अपगत हो तब हमारे सामने ही ज्योति के सन्धान का जो पथ उन्मोचित होता है उसका नाम है अर्चिरादि मार्ग। जो योगबल से तनुत्याग अथवा प्रयाण के अभिलाषी हैं वे इस अर्चिरादि मार्ग की प्रतीक्षा करते हैं एवं इसीका वरण करते हैं। "शुक्लकृष्णे गती ह्येते"—गीतोक्त इस द्विविधा गति के बीच शुक्ल गति का ही भजन किया करते हैं। केवलमात्र प्रयाणकाल में नहीं, जीवन का जो साधन है उसे भी सर्वतोभाव से इस शुक्ला गति के अनुसरण में व्यापृत रहना होगा। इस शुक्ल वर्त्म में जितना ही अग्रसर होंगे उतना ही देखेंगे कि हममें और विश्व में अभिव्यक्त सकल प्रकार की शक्तियाँ ही जड़, प्राण, चेतना के बीच जो दुस्तर व्यवधान है एवं समय-समय पर जो विरोध स्फुट हो उठता है, क्रमशः देखेंगे कि हमारे आलोक के अभिसार पथ में वह व्यवधान भी दूर हो जाता है एवं उनका विरोध भी एक अभिन्न सत्यच्छन्दः और मधुच्छन्दः के शासन में आकर परम समन्वय एवं अच्छेद्य मैत्री में परिणत हो रहा है। सुतरां ज्योतिष्मत्त्व का पथ हुआ The way of Supreme Integral Yoga। हमारी साधारण अयुक्त, यहाँ तक कि युञ्जान अवस्था के भी परिचय में ज्योतिः एवं रस, आलोक और पुलक ये दो मानों एक-दूसरे से किनारा काटकर चलते हैं ऐसा देखने में आता है। यदि वा कभी वे परस्पर हाथ पकड़कर चलते हैं तब भी उनका वह मिलन परिपूर्ण और स्थायी नहीं होता। सुतरां प्रश्न उठता है—उपलब्धि का ऐसा एक परमता का स्थान है क्या ?, जहाँ ज्योति कहती है—"मैं रस ही हूँ, रस को छोड़ मेरी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है", आलोक कहता है—"पुलक केवल मेरा साथी और सहचर नहीं है, पुलक और आलोक हम दोनों ही एक आत्मा हैं, एक वस्तु हैं।" यहाँ न आने तक ज्योतिष्मत्त्व का जो सन्धान है उसका अवसान नहीं होता।

शुक्लवर्त्म पर अभ्यारोह में स्तरबद्ध अनुभूतियाँ एवं उन सबके जपध्यानादि का साधन क्रम

हमारे नित्य परिचय की पार्थिव अग्नि से आरम्भ करके विज्ञान की तैजस वस्तु (Radiant Matter or Energy), ध्यान का (धीमहि) वरणीय भर्गः है, एवं अन्त में तुरीय भाव वा समाधि के "ज्योतिषां ज्योतिः, यस्य भासा सर्वमिदं विभाति" पर्यन्त भास्वर और भास्वान् की क्रमशः ऊर्ध्वगामी धारा चल रही है। इस धारा की

विश्रान्ति अवश्य ही ज्योतिषां ज्योतिः जो पदार्थ है उसीमें है; क्योंकि वहाँ ज्योतिः सातिशयतारहित वा निरतिशय एवं अन्यापेक्षारहित वा निरपेक्ष (light and absolute) है। हम पहले इन सब क्रमोन्नत भूमि-परम्परा को सप्तार्चिः अग्निरूप में पहचान चुके हैं। विभिन्न भूमियों में इनकी संज्ञा और नाम विभिन्न होने पर भी इनकी साधारण संज्ञा दी गई है अर्चिः (ऋक् एवं अर्चिः इन दोनों शब्दों का मूलगत सादृश्य ध्यान देने की बात है)। इस अर्चि के मार्ग में अग्रगामी होते हुए जिस मन्त्र को हमें सबसे पहले जप-ध्यान करना होता है वह है अभ्यारोह मन्त्र, 'ॐ तमसो मा ज्योतिर्गमय'। इस योग में जब मैं आरूढ़ होने को समर्थ होता हूँ तब मेरी उपलब्धि जिस मन्त्र और वाणी में मुझे अभिव्यक्त करना चाहती है वह है प्रसिद्ध वेदवाणी "अगन्म ज्योतिरविदाम देवान्"—हम ज्योति के लोक में उपनीत हुए थे एवं उस लोक की जो दैवी शक्ति और विभूति है उसे हमने साक्षाद्भाव से जाना था। तत्पश्चात् इस भूमि पर आरूढ़ होकर जब अपनी सत्ता की ज्योति एवं रस के साथ परिपूर्ण अभेद से उपलब्धि करता हूँ, तब मेरा मन्त्र पुकार उठता है—ॐ ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा विमृत्युः विशोकः—मैं स्वयं ज्योतिःस्वरूप हूँ, मुझमें रजः एवं पाप्मा का लेश भी नहीं है, सुतरां मैं सम्पूर्ण रूप से मृत्यु और शोक के पार जा चुका हूँ।

विज्ञान की ओर से वस्तु और शक्ति का विश्लेषण और समीकरण। इसकी काष्ठा कहाँ मिलेगी ?

आधुनिक जड़विज्ञान वस्तु एवं शक्ति (Mass and Energy) इनका समीकरण करने में समर्थ हुआ है एवं उस शक्ति को भी अनेक परिभाषा में जड़ता के पाश से मुक्त करके तैजस कलेवर धारण कराने में भी समर्थ हुआ है। विज्ञान की दृष्टि में पदार्थ की नाभिनिष्ठा शक्ति परच्छन्दा न रहकर स्वच्छन्दा भी हुई है, इसमें सन्देह नहीं (Indeterminacy Principle) फिर भी प्रश्न दिन पर दिन अधिकतर उद्ग्रीव होता जा रहा है—हमारे अन्तरतम परिचय की सामग्री जो प्राण और चेतना है उसके साथ यह वैज्ञानिक शक्ति-सम्पर्क क्या एवं कितना है, उस वैज्ञानिक का, जिसकी कि आकृति equation एवं Formula है। कहना न होगा कि अर्चि के पथ पर जो सन्धान अग्रगामी होकर चला है, वह किसी प्रकार भी प्राण एवं चेतना से किनारा काटकर नहीं जायगा। उत्तरोत्तर उपलब्धि करेगा कि शक्ति का सचमुच का स्वरूप एवं आकृति (Reality एवं Pattern) यदि कहीं भी खोजकर पाना हो, तो उसे पाना होगा—प्राण एवं चैतन्य के गभीरतर एवं विपुलतर प्रकाश के बीच हो, अर्थात् शक्ति असल में विश्व में ओतप्रोत, विश्व का आधार एवं नियामक जो प्राण एवं चैतन्य है, वही है। इसीको लक्ष्य करके गीता ने कहा है, "प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्" वैज्ञानिक को शक्ति इस भगवती चिच्छक्ति का ही एक पाद,

एक मात्रा एवं एक कलामात्र है। काष्ठा एवं सीमा का अन्वेषण चल रहा है, अभी निरस्त नहीं हुआ है, इतनी ही गनीमत है। विगत शतक के विज्ञान में एक बिलियार्ड टेबिल के ऊपर अनेक वामनाकार बिलियार्ड वर्तुलों को सजाकर, उनकी परस्पर ठोक-पीट, धक्का-मुक्की के द्वारा इस विराट् विश्व की समस्त समस्याओं के समाधान का प्रयास होता था। अब वे कठिन (solid) वर्तुल टूटकर चूर-चूर हो गये हैं, उनके स्थान पर दिखाई दी हैं कुछेक तैजस आकृतियाँ (Energy Patterns)। किन्तु ये तैजस रूप किसके वा किनके हैं, यह हम अभी तक नहीं जान सके हैं। आणविक शक्ति के आकार में उसने आसुरी मूर्ति में दर्शन दिया है। किन्तु असल में वह क्या है? हम क्या किसी दिन विज्ञान के कण्ठ से वह प्राचीन वेदवाणी सुनेंगे—"अगन्म ज्योतिरविदाम देवान्"।

प्रकाश और प्रकाशयिता

नित्य हवन के "ॐ अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा"—इस भाव से गोचर और अगोचर सर्वविध अग्नि को ज्योति के साथ अभिन्न समझते हुए जिस मन्त्र का विनियोग हुआ करता है, उससे आरम्भ करके "ॐ ज्योतिरहं·····" इत्यादि विविदिषा संन्यास का जो विरजा होम है, उसमें अपने आत्मा एवं परम ज्योति की साक्षात् अभेद-भावना तक एक ऊर्ध्वविशाल ज्योतिर्धाम हमारी अनुभूति में क्रमशः प्रकाशित हो उठता है, ऐसा हम देख पाते हैं। 'भूर्भुवः स्वः' प्रभृति सप्तव्याहृति वा ख्याति को इस ऊर्ध्वविशाल असीम ज्योतिर्धाम की एक-एक प्रान्तभूमि (Leading stages) समझा जा सकता है। अब इस प्रकार विशाल से विशालतर, उज्ज्वल से उज्ज्वलतर, प्रकाश के निमित्त हमारे बीच जो प्रकाशक वा अवभासक है, उसके भी कुछेक क्रम-विन्यस्त भाव और भूमि-परम्परा अवश्य ही स्वीकार करनी होती है। उस प्रकाशयिता की बात ही अगले सूत्र में कही जा रही है।

२७. अक्ष अथवा इन्द्रिय से आरम्भ करके हमारे विषय और वस्तु ग्रहण का जो उपाय है, उसके उत्तरोत्तर उत्कर्ष (भूयस्त्व) के द्वारा प्रकाशमत्त्व लक्षित होता है।

ग्रहण किसे कहते हैं एवं उसका भूयस्त्व कहने से क्या समझा जाय?

किसी विषय को हमारे बोध वा ज्ञान में ग्रहण किया जाता है जिसके द्वारा उसका साधारण नाम है "ग्रहण"। इस ग्रहण के सम्बन्ध में विषय हुआ "ग्राह्य" एवं जो ग्रहण कर रहा है किंवा जिसका बोध हुआ वह स्वयं है "ग्रहीता"। बाह्य रूपरसादि विषय के सम्बन्ध में ग्रहण को इन्द्रिय भी कहा जाता है और मन को षष्ठ इन्द्रिय स्वीकार करने पर सुख-दुःखादि आन्तर विषय भी इन्द्रियग्राह्य कहे जा सकते

हैं। इन्द्रिय का और एक नाम है अक्ष (जैसे भगवान् के 'अधोक्षज' इस नाम में देखते हैं)। अक्ष एवं ग्रहण इन दोनों शब्दों के बीच व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है, अर्थात् ग्रहण व्यापक है, अक्ष उसका व्याप्य है। यह कहने से यह समझते हैं कि हम चक्षुकर्णादि बाह्येन्द्रिय द्वारा, यहाँ तक कि अन्तःकरण के द्वारा भी जिन सब विषयों को जानते हैं, हमारा बोध, अनुभव, ज्ञान मात्र उन सबमें ही सीमाबद्ध अथवा परिसमाप्त नहीं है। हमारे साधारण इन्द्रियज्ञान एवं मानसज्ञान के अतीत एवं उनके ऊर्ध्व में अवश्य ही अन्य प्रकार का ज्ञान है। उस प्रकार के ज्ञान को अतीन्द्रिय ज्ञान एवं अतिमानस ज्ञान कहा जायेगा। इस प्रकार supersensuous एवं supramental experience के निमित्त हमारे भीतर निश्चय ही अन्यविध प्रकाश की सम्भावना को स्वीकार करना होगा। इस प्रकाश-व्यापार का यदि साधारण नाम दिया जाय ग्रहण (owning an acceptance of what has been disowned and ignored), तब यह स्पष्ट ही समझ में आता है कि ग्रहण का व्यापार एवं अक्ष वा इन्द्रिय के व्यापार समपर्याय नहीं हैं; उनके अधिकार भी विभिन्न हैं एवं छन्द भी विभिन्न हैं। एवं यही समझ में आता है कि ऊर्ध्व प्रकाश की जो भूमि है, उसके सम्बन्ध में हमारी साधारण अभिज्ञता भी एक पादमात्र है; एवं उसका जो ऋत एवं छन्द है, वह निम्नतम भूमि के छन्द का आनुगत्य नहीं करता, वरन् वह नीचे के छन्दः को अपना अनुगत बना लेता है, अपने साथ मिला लेता है। इसे कहते हैं Integral synthesis। अब उच्च एवं नीच एवं मध्य इन सब भूमियों को आक्रान्त करके जो समग्र प्रकाश का राज्य है उसके सम्बन्ध में जो प्रकाशक है उसका साधारण नाम दे दें दृशि—जो दिखाता है। हमने देखा कि यह दृशि कोई अचल, जड़ वस्तु-विशेष नहीं हो सकता। यह मुख्य प्राण एवं विराट् चेतना के धर्म में धर्मी है; सुतरां यह अवश्य ही Dynamic है। इस निमित्त इसके सम्बन्ध में "ततो भूयः", "ततः किम्", एवंविध प्रश्न एवं प्रयास स्वभाव से ही उपस्थित होता है। इस निमित्त सूत्र में कहा है "अक्षादिग्रहणभूयस्त्वेन"। "अक्षादिग्रहण"—रूप प्रकाश-धर्म "भूयः, ततो भूयः ततोऽपि भूयः", इस प्रकार एक असीम सत्य-शिव-सुन्दर की पराकाष्ठा की ओर अग्रसर हो रहा है।

आधिभौतिकादि तीन प्रकार की दृष्टि, दृष्टान्त

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इस त्रिविध श्रुतिप्रसिद्ध दृष्टि से ग्रहण अथवा दृशि को देखा जा सकता है। जैसे चक्षुः एक ग्रहण है, आधिभौतिक दृष्टि से यह हमें बाहर का जो स्थूल और सूक्ष्म भूत-पदार्थ है उसे दिखाता है। यन्त्र के साहाय्य से देखने को भी हमने इसमें शामिल कर लिया है। हमारे बीच यह जो देखने का व्यापार हो रहा है वह अवश्य हमारे भीतर ही गण्डीबद्ध किसी शक्ति के प्रभाव से

हो रहा है ऐसा नहीं समझा जा सकता। इसके आधार, अधिष्ठान एवं नियामक रूप में अवश्य ही कोई विपुलतर शक्ति विद्यमान है एवं वह शक्ति प्राण एवं चेतना के पर्याय में ही पड़ेगी, जड़ के पर्याय में अवश्य ही नहीं पड़ेगी, अर्थात् उसे कोई Cosmic Material Agency समझने से नहीं चलेगा। सुतरां इस दृश्य व्यापार के पीछे इसका अधिष्ठान एवं नियन्त्री रूप में जो विश्वजनीन प्राण एवं चेतना-शक्ति विद्यमान है, उस शक्ति को कहना होगा देवता। इस भाव से चक्षुरभिमानी देवता को कहते हैं आदित्य! आदित्य का दूसरा नाम प्राण है, एवं प्राण ब्रह्म की आरम्भिक अभिव्यक्ति है। यह हुआ आधिदैविक भाव से व्यापार को देखना। किन्तु इस प्रकार से देखने पर भी तो देखने का शेष नहीं होता, क्योंकि पहले के दो प्रकार के देखने में ही मैं खोज रहा हूँ मानो अपने बाहर अपनी अनात्मीय किसी एक सत्ता एवं शक्ति को। अब दृष्टि को अपनी ओर घुमाकर अपनी आत्मा के बीच ही इस सब कुछ के मूल एवं प्रतिष्ठा तथा परिणति को खोजकर पाना होगा। यही है आध्यात्मिक दृष्टि से देखना।

आधिभौतिक दृष्टि की सीमा एवं तन्निमित्त वैज्ञानिक का संकोच

भूत एवं भौतिक पदार्थ को जो दृष्टि अधिकार में लाना चाहती है, उसे कहते हैं आधिभौतिक दृष्टि। विज्ञान इस दृष्टि के अनुशीलन और सम्प्रसारण में व्यापृत रहता है। समीक्षा, परीक्षा एवं अन्वीक्षा (observation, experiment, ratiocination)—ये तीन होते हैं विज्ञान की शिष्टतम गवेषणा के मार्ग। यथेष्ट सावधानता बरतने पर भी एवं गवेषणा के उपाय और पद्धतियों को यथासम्भव उन्नत और मार्जित करने पर भी, यह कहा जा सकेगा कि विज्ञान के द्वारा निरूपित कोई भी तथ्य अथवा तत्त्व एकान्त भाव से निर्भरयोग्य किंवा ध्रुव नहीं है। समीक्षा और परीक्षा के निमित्त विज्ञान उत्तरोत्तर उत्कृष्ट यन्त्र एवं उनकी प्रयोग-प्रणाली का आविष्कार कर रहा है इसमें सन्देह नहीं; एवं अन्वीक्षा और विचार के निमित्त विज्ञान ने जिस विशेष टेकनीक को अपनाया है उसमें भ्रमप्रमादादि की सम्भावना यथासम्भव निरस्त होकर तथ्य को प्रायः निर्दोष भाव से हमारे सामने हाजिर किया जा रहा है, तथापि इन द्विविध उपायों की जो सीमा (limitation) है वहाँ वैज्ञानिक स्वयं जितना सजग है, हम साधारण खबरदार लोग शायद उतने सजग नहीं हैं। इस कारण हम विज्ञान के तथ्य एवं तत्त्वों को जितनी निष्ठा के साथ कसकर पकड़े रहने को प्रस्तुत होते हैं, विज्ञान स्वयं उतनी निष्ठा में सम्मति अथवा उत्साह देने को प्रस्तुत नहीं है।

योग का पन्था—परिपूर्णता और निर्व्यूढ़ता के ही अभिमुख ले चलता है

इस निमित्त ज्ञान और अनुभूति के एक अभिनव उन्मेष-विकाश का मार्ग भी हमें खोजकर देखना होगा। इस पन्था का साधारण नाम है योग। इस योगज दृष्टि

द्वारा ही आधिदैविक एवं आध्यात्मिक राज्य में क्रमोन्नत भूमियाँ हमारे ज्ञान के और परिचय के बीच लाई जा सकती हैं। इस स्थल में आध्यात्मिक शब्द को हम अपेक्षाकृत गम्भीर भाव से ही ले रहे हैं। शास्त्र में कई बार साधारण शरीर और मानस व्यापारों को भी आध्यात्मिक की सीमा में डाल दिया जाता है, जैसे आध्यात्मिक दुःख। किन्तु वर्तमान स्थल में हम अध्यात्म राज्य में ऊर्ध्वतम स्तर और भूमियों पर ही विशेष ध्यान दे रहे हैं (Realms of higher Psychic and Spiritual Phemomenon)। इस सूत्र की कारिका में योगज अनुभूति के कतिपय नाममात्र दिए गए हैं—यथा, बोधि, सम्बोधि, ऋतम्भरा इत्यादि। इन सबका सविशेष विभाग और विश्लेषण परवर्ती ग्रन्थ में किया गया है। कारिका में अन्त में यह भी कहा गया है कि जो दृशि वा द्रष्टा हैं, जो स्वप्रकाश होकर सब कुछ को प्रकाशित करते हैं उनके निज के सम्बन्ध में किसी प्रकार साधन अथवा सिद्धि, proving का प्रसंग उठ नहीं सकता एवं वे स्वरूप में हान (Elimination or Substraction) एवं उपादान (Addition or assimilation) इन दोनों से अतीत हैं, अर्थात् उनमें से घटाने को भी कुछ नहीं है। सिद्धि-साधन अथवा योग-वियोग अथवा हरण-पूरण—ये सभी व्यापार जहाँ सावकाश हैं वहाँ सचमुच की परिपूर्णता एवं निर्व्यूढ़ता (Perfectness and Absoluteness) नहीं है।

२८. कायादि द्वारा विशेष भाव से निरूपित अथवा निरूपण-योग्य होना ही है आयतनवत्त्व का लक्षण।

कोषपञ्चक किस प्रकार कोषसप्तक रूप में गण्य होगा ?

'सप्त' इस मूल संख्यान द्वारा भूरादि व्याहृति, अर्चिरादि अग्नि इत्यादि जैसे सप्तविध हुए हैं, काया द्वारा लक्षित जो आयतन है वह भी उस प्रकार सप्तविध हुआ है, यह बात कारिका में कही गई है। यह सप्तविध आयतन सब स्थलों में व्यक्त वा प्रकट हैं ऐसा नहीं; इनमें से बहुत से अव्यक्त वा सम्पुटित भाव से (enfolded) विद्यमान रहते हैं। सुतरां इनमें कतिपय के साथ हमारा व्यावहारिक परिचय होता है, अन्यों के साथ साक्षाद् भाव से नहीं होता। उसी कारण वे प्रभावरहित हैं ऐसा नहीं; वरन् जो अगोचर, अव्यक्त है (असौ वा सः) उसके द्वारा ही जो सम्मुखीन और गोचर है वह लालित और प्रभावित हो रहा है; जीव के भीतर साधारणतः पञ्चकोष की बात कही जाती है; किन्तु जीव स्वयं एवं वाक् इन दोनों को भी गिनाई में ले लेने पर कोषपञ्चक के स्थान पर कोषसप्तक हो जाता है। यहाँ जीव कहने से कोषसप्तक की जो नाभिनिष्ठ केन्द्रीय सत्ता और शक्ति Nuclear substance or Power manifesting itself as 'अहं' वा 'The self' है वह विशेष भाव से सूचित होती है। इसे नाभि वा केन्द्र में पाकर ही कोषसमूह अपने को एक विशेष भाव से सजा (organise) लेते हैं; एवं यह केन्द्र में रहता है इसीलिये वह विशेष यन्त्र वा Apparatus एक

विशेष भाव से अपने को व्यापारवान् बनाता चलता है। सुतरां इसे छोड़ देने पर कोष-समूह के बीच सन्धि और संयोग के नाम पर कुछ नहीं रहेगा, एवं उनके नियामक के नाम पर भी कुछ नहीं रहेगा। सुतरां जीव एक साथ Co-ordinating and Controling Principle (ययेदं धार्यते जगत्) है। तत्पश्चात् वाक् को भी इस यन्त्र (organism) के एक मुख्य स्थान में अवश्य ही बैठाना पड़ता है। क्योंकि, वाक् केवल मात्र उत्पाद्य फल (evolved resultant of other factors) हो ऐसी बात नहीं; वह स्वयं उत्पादक (evolving agency) है। अतएव जीव एवं वाक् इन दोनों का अन्तर्भाव करके कोषसप्तक के रूप में सप्त आयतन हमें मिले।

सप्तविध आयतन के अन्तिम के तीन क्या हैं एवं किस प्रकार वे मिलेंगे ?

सूत्र में 'कायादि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कहने का उद्देश्य यह है कि काय शब्द को केवलमात्र स्थूल, गोचर अर्थ में लेने पर नहीं चलेगा, इसे विभिन्न ग्रामों में हमें समझना होगा एवं उपलब्धि में पाना होगा। जैसा कि श्रीचण्डी में जो प्रसिद्ध नारायणीस्तव है उसमें भगवती के विभिन्न रूपों की बात कही गई है एवं सब रूपों को बार-बार नमस्कार किया गया है। 'कायादि' कहने से इन सब रूपों में से सात को हमें विशेष रूप से ध्यान में लाना होता है। प्रथम "छायारूपेण संस्थिता"—What is apparent। द्वितीय "शक्तिरूपेण संस्थिता"—What is manifesting as Power। तृतीय "जातिरूपेण संस्थिता"—What is evolved as type or pattern। चतुर्थ "वृत्तिरूपेण संस्थिता"—What manifests as function or process। पञ्चम "स्मृतिरूपेण संस्थिता"—What is at the back as potency or predisposition। षष्ठ "व्याप्तिरूपेण संस्थिता"—What pervades as the continuum। सप्तम "चितिरूपेण संस्थिता"—What sustains as Divine life and consciousness। सुतरां चण्डी के इस अपूर्व नारायणीस्तव में हम काय वा आयतन वस्तु का इन सप्त पर्यायों में दर्शन करते हैं। साधारण बोध की ओर से देखने पर भी आयतन को हम प्रधानतः चार प्रकार से पाते हैं—दैशिक, कालिक, वास्तव एवं छान्दस। कहना न होगा कि आधिभौतिक दृष्टि से जो विज्ञान सब कुछ देखता चल रहा है वह विज्ञान इस चतुर्विध आयतन की खोज रखता है और रखने का यत्न करता है। इनमें से 'छान्दस' कहने से समझना होगा उस आयतन वा आकृति को जो कि छन्दः पर विशेष भाव से अधिकार रखती है। बहिर्विज्ञान विश्व के इस छान्दस आयतन को कतिपय मौलिक समीकरण सूत्र (equations) द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा करता है। 'वास्तव' कहने से क्या समझेंगे ? विश्व की जो असल वस्तु है वहाँ तक आधिभौतिक दृष्टि अवश्य ही नहीं जा सकती; इसीलिये उसके सम्बन्ध में विज्ञान को कुछ कहने को

नहीं है। किन्तु विज्ञान के व्यवहार में जो अब तक Mass रूप में चलता आ रहा था, वह सम्प्रति Energy रूप में ही रूपान्तरित हुआ है; अर्थात् विज्ञान की वस्तु एवं शक्ति इन दो में से शक्ति ही मौलिक है, वस्तु उसका एक अवस्थान और संस्थान विशेष मात्र है। इन दो के बीच परिमाणगत अनुपात भी स्थिर हो गया है। सुतरां जिसे हम वास्तव कहते थे, उसे यदि "शाक्त" कहें तो उसमें विज्ञान की सम्पूर्ण सम्मति होगी। विज्ञान की गवेषणा इन चारों आयतनों को लेकर शनैः शनैः सूक्ष्म की एवं कारण की भूमि की ओर अग्रसर हो चली है। हमारी दृष्टि के सम्मुख किसी पदार्थ का जो आयतन वा रूप स्फुट हो उठा है वह कहाँ तक यथार्थ है एवं कहाँ तक समग्र एवं पूर्ण के आसपास है, इस समस्या के समाधान में ही विज्ञान की समूची गवेषणा लगी हुई है। जो यथार्थ है, जो समग्र और पूर्ण है वह अवश्य बहुत दूर है। हमने देखा है कि सत्य ख्याति में उपनीत हुए बिना किसीका भी लेखा स्थिर, समग्र, अविमिश्र भाव से नहीं मिलता। विज्ञान जिन चार आयतनों की खोज में लगा हुआ है उन चारों को अतिक्रम करके अथच उन चारों को व्याप्त करके और भी त्रिविध आयतन हमें प्राप्त करने होंगे। यदि प्राप्त कर सकें तो यह सप्त संख्या पूर्ण होगी, अन्यथा नहीं। आयतन का और एक नाम यदि दें 'तनु' तब ऊपर की इस त्रिविध तनु को कहा जा सकता है मान्त्री, शाक्ती और ब्राह्मी तनु। प्रकाशमत्त्व के समुन्नत स्तरों का उन्मेष न होने तक इस त्रिविध महोयसी तनु का सन्धान मिलने का नहीं। पूर्वोक्त नारायणी स्तव में "चेतना" एवं "श्रद्धा" इन दो रूपों के द्वारा मान्त्री तनु, "शक्ति" इस शब्द के द्वारा शाक्ती तनु एवं "मातृ", "व्याप्ति" एवं "चित्ति" इन तीनों के द्वारा ब्राह्मी तनु लक्षित हुई है, ऐसा समझना होगा।

काष्ठा वा सीमा को चार प्रकार से देखना—अध्यात्म-जीवन में सबसे जो मर्मी प्रश्न है उसके साथ इसका सम्बन्ध

आयतन तत्त्व की उपलब्धि एवं उसके याथार्थ्य में से ही (In the respect of validity and value) सात सोपान अथवा पर्वों की हम धारणा कर सकते हैं। स्थूल-गोचरता, सूक्ष्म-गोचरता, परिसंख्येयता (measurability), परिकल्पनीयता (as scientitic theory), निदिध्यासितव्यता (validity and value as revealed in yogic experiment), परिनिष्ठितता (as finally as certained and established), एवं अन्त में साक्षात् अपरोक्षता (as perfect and direct realisation)। इन सब पर्वों को विवृति और व्याख्यान प्रयोजनानुसार बाद में किया जायगा। यहाँ यह भी ध्यान दें कि पाद, मात्रा, कला और काष्ठा इन चारों को यदि आयतन के लक्षण के बीच प्रविष्ट कराया जाय तब जो अन्तिम है अर्थात् काष्ठा, उसे चार प्रकार से न देखने पर उसकी परिपूर्णता और विश्रान्ति नहीं होती। वे चार दिक

हैं ये—काष्ठा वा सीमा को समग्र भाव से ले रहे हैं क्या ? उसे अखण्ड भाव से ले रहे हैं क्या ? उसे विशुद्ध भाव से ले रहे हैं क्या ? एवं उसे पूर्ण समन्वयीभाव से ले रहे हैं क्या ? इन चार प्रश्नों का उत्तर न मिलने तक काष्ठा मानो कुछ दूर जाकर काष्ठवत् पङ्गु बनकर रह जाती है, एवं उस प्रकार काष्ठा में हमारी पूर्ण निष्ठा सम्भव नहीं होती। जैसे, केवल जड़ के क्षेत्र में तुम मुझे जिस काष्ठा में ले गए, प्राण और चेतना के देश में क्या वही काष्ठा काष्ठारूप में गिनी जाएगी ? प्रकृति के इलाके में (In the domain of Nature) किसी व्यापार को किसी एक सीमा में ले जाकर उसे वहीं पर खड़ा करके हमने रख दिया; किन्तु प्रश्न उठता है—प्रकृति के पार अप्राकृत, अमायिक कोई धाम है अथवा नहीं ? इस पार कार्यकारणादि के जो नियम चालू हैं दूसरे पार में भी वे नियम ठीक उसी प्रकार चलते हैं क्या ? प्राकृतिक नियम के इलाके से स्वतन्त्र अथच इसके ऊपर अध्यक्षता करनेवाला क्या कोई ऊर्ध्वतन लोक नहीं है ? जहाँ तुल्यबल घात-प्रतिघात के बदले एकान्त शरणागति एवं अहैतुक कृपा का सन्धान हमें मिल सके ? अध्यात्म-साधन के जीवन में इस प्रश्न की अपेक्षा अधिक मर्मी प्रश्न और कुछ नहीं है।

साधक के पक्ष में उसके आयतन के क्रमिक रूपान्तर की अवस्था एवं उसके फलस्वरूप उपलब्धि की क्रमिक भूमियों का उन्मेष

अन्त में साधक के जीवन में उसके अपने आयतन को किस प्रकार क्रमशः रूपान्तरित (reform and transform) बना लेना आवश्यक होता है इसकी विवेचना करें। हमारे इस साधारण कारोबारी यन्त्र को भोगायतन नाम दिया जाता है। यह अवश्य अचल या जड़ कोई सामग्री नहीं है। शुभाशुभ कर्म के द्वारा इसका परिवर्तन नियत ही घटित हो रहा है। प्राकृत धर्म में यह नियत परिवर्तनशील है। किन्तु प्रश्न यह है—मेरे अपने इस आयतन का सर्वक्षण यह जो परिवर्तन है उसे मैं अपने साधन के अनुकूल कैसे बना लूँ ? जपध्यानादि क्रिया द्वारा अभीष्ट परिवर्तन (desired transformation) मुझे साध लेना होता है। हमारे अपने प्रयास के, निष्ठा के साथ कुछ दूर अग्रसर होने पर पूर्वोक्त ऊर्ध्वतन धाम से एक परमाश्चर्य प्रेरणा और सहायता मुझे मिला करती है। यही है साधक के लिए बड़े भरोसे की बात। बाह्य प्रकृति में अनुरूप दृष्टान्त हमें देखने को मिलता है। जैसे, जल को शैत्य प्रयोग से धीरे-धीरे बर्फ बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। शैत्य के एक निर्दिष्ट मात्रा में आ जाने पर जलीय दानों (molecules) का मानो सहसा एक विप्लवी परिवर्तन हो जाता है, जिसके फलस्वरूप जलीय दाने अपने को बर्फ के दानों के रूप में सजा लेते हैं एवं उसके फलतः कुछेक नूतन धर्म अपने भीतर प्रकाशित करते हैं। फिर केवल वही नहीं, इस नूतन व्यूह-

रचना के फलस्वरूप जो शक्ति कार्यकरी होती है (molecular energy) वह इतनी प्रचुर है कि सोचने पर अवाक् हो जाना पड़ता है। एक कठिन इस्पात के गोले में जल भरकर उसे centigrade की शून्य डिग्री में ले जाने पर भीतर का जल बर्फ होकर अपने इस्पात के आवरण को भी फाड़ डालता है। प्रकृति में इस प्रकार कितने सुदृढ़ प्रस्तर स्तर विदीर्ण और विशीर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार जल जब फिर उत्ताप के फलस्वरूप वायवीय आकार धारण करता है तब केवल उसके दानों का नूतन प्रकार का विन्यास हो जाता है, ऐसा नहीं, उस स्थल में भी एक प्रचण्ड शक्ति को हम आविर्भूत और कार्यकरी होते देखते हैं। इस शक्ति के बल से ही बाष्पचालित यन्त्र चलते हैं। Molecule को छोड़कर और भी सूक्ष्म पर्याय में जाने पर वस्तु के रूपान्तर भी जिस प्रकार अचिन्त्य होते हैं, शक्ति का उद्रेक एवं उसकी विपुलता भी उसी प्रकार अचिन्त्य रूप में दिखाई देती है। प्रसंग क्रम से Atomic energy की बात सोचें! अब हम इन सब बाह्य दृष्टान्तों से समझ सकते हैं कि जपादि साधन के ऋत एवं मित्रच्छन्द के द्वारा हमारे इस आयतन का जब रूपान्तर साधित होता है तब केवल मात्र इसकी आकृति-प्रकृति बदल जाती है, ऐसा नहीं, उसके फलस्वरूप अतर्कित एक महाशक्ति का उत्स हमारे परिचय में एवं व्यवहार के द्वार पर अपने को उन्मुक्त करके रख देता है। यह हुई ऊर्ध्वतन लोक की अतर्कित सहायता (unforeseen aid and assistance from above)। इसके प्रसाद से मेरे आयतन का परिवर्तन इतना द्रुत एवं विपुल भाव में संघटित होता है कि मैं स्वयं ही विस्मय से अवाक् हो जाता हूँ। मन में सोचता हूँ—"मेरा ऐसा क्या था हे स्वामिन्! तुम्हारी कृपा और प्रसाद से वह ऐसा हो गया।" इस रूपान्तर को लक्ष्य करके साधक लोग साधनदेह, दिव्यदेह, सिद्धदेह, अप्राकृत चिन्मयदेह इन सब राहस्यिक नामों का व्यवहार किया करते हैं। जैसे भक्त वैष्णव की दृष्टि में यह प्राकृत, मायिक, भौमदेह भजन के प्रभाव से परिवर्तित होकर प्रथमतः प्राकृत की जो प्रान्तसीमा है वहाँ आकर उपस्थित होती है। वहाँ आकर वह विरजा स्नान समापन कर लेती है। तब वह होती है शुद्ध अप्राकृत चिन्मय लोक की अधिवासी होने योग्य। वैष्णव की दृष्टि में विरजा के पार ऊर्ध्वतन इन अमायिक धामों को वैकुण्ठ, गोलोक एवं व्रज ये सब नाम दिए जाते हैं। इन सबका अपना-अपना उपयोगी आयतन अवश्य ही रहता है। अर्थात् वैकुण्ठ का जो आयतन है उसे गोलोक में जाना हो तो अपने को तदनुरूप भाव से रूपान्तरित कर लेना होता है। व्रज के आयतन को सकल रसों की पराकाष्ठा जो है उसके आस्वादन की भूमि समझा जाता है। सुतरां इस दृष्टि में आयतन का जो छन्द है उसकी पञ्चधा धारणा कर सकते हैं—भौमच्छन्दः, विरजाछन्दः, वैकुण्ठच्छन्दः, गोलोकच्छन्दः एवं व्रजच्छन्दः। इन सबके फिर अवान्तर भेद भी हैं।

इस आयतन वस्तु की आलोचना के प्रसंग में मातङ्गरहस्य भी विशेष भाव से प्रणिधान योग्य है। क्योंकि मातङ्ग हुआ आयतन का ही क्रम-विवर्तनशील रूप।

वा० कृष्णं मूढं मतङ्गमनतिबहुबलं पातितं भिन्नतुण्डं (छिन्नमुण्डं)
सिंहेनान्यं च घोरं मदचलितमिभं चाङ्कुशाच्छ्रोणशुण्डम्।
पीयूषस्नापनार्थं सितकरियुगलं हेमकुम्भं च बिभ्रन्
मन्दाकिन्यां मदारं गजवदनगजं दिग्गजं वा गजेन्द्रम् ॥ ७३ ॥
जाड्यं मन्त्राक्षराणां सपदि परिहरेदाद्यमातङ्गमुण्डं
हिङ्काराद् व्याजविघ्नावपि च विजयतां छन्दसां वाग्भवेन।
सोमस्नाने दधीत प्रणवकरियुगोत्तोलितं रुक्मरेत
उग्रं व्यग्रं च दुर्ग हरति परतरं श्रीगणेशेभतुण्डम् ॥ ७४ ॥

अन्वय—कृष्णं मूढम् अनतिबहुबलं सिंहेन पातितं भिन्नतुण्डं मतङ्गम्; अन्यं च घोरं मदचलितम् अङ्कुशात् श्रोणशुण्डं च इभम्; पीयूषस्नापनार्थं हेमकुम्भं बिभ्रत् च सितकरियुगलम्; मन्दाकिन्यां मदारम्। (ऐरावतम्), दिग्गजम्, गजेन्द्रं गजवदनगजं वा (पश्यत) ॥ ७३ ॥

आद्यं मातङ्गमुण्डं मन्त्राक्षराणां जाड्यं हिङ्काराद् सपदि परिहरेत्; छन्दसां वाग्भवेन व्याजविघ्नौ अपि च विजयताम्। प्रणवकरियुगोत्तोलितं रुक्मरेतः सोमस्नाने दधीत; परतरं श्रीगणेशेभतुण्डम् उग्रं व्यग्रं च दुर्गं हरति ॥ ७४ ॥

[एक है अत्यन्त बलशाली, कृष्ण मूढ मतङ्ग (हाथी) सिंह के द्वारा गिराये जाने से जिसका मुख टूट चुका है; और दूसरा है घोर, मदचलित इभ (गज) जिसका माथा अङ्कुश से लहू-लुहान है; (तीसरा है) श्वेत करियुगल जो कि (लक्ष्मी को) अमृतस्नान कराने के लिये स्वर्णकलश धारण किये हुए है; (और हैं) मन्दाकिनी के प्रति मदोद्धत (ऐरावत), दिग्गज, (आर्त) गजेन्द्र और गजवदन गणेश ॥ ७३ ॥

पहला मातङ्गमुण्ड मन्त्राक्षरों का जाड्यस्वरूप है, उसका हिंकार के द्वारा (साधक) तुरन्त परिहार करे; छन्दों के वाग्भव अर्थात् बीजमन्त्र द्वारा व्याज और विघ्न को भी जीता जाय। प्रणवरूपी करियुगल के द्वारा उठाया हुआ रुक्मरेतः (हिरण्यरेतस्) (बीजमन्त्र के) सोमस्नान के लिये हो; परम श्रीगणेशमस्तक उग्र और व्यग्र दुर्ग का हरण करता है ॥ ७४ ॥

भाष्य—वेदागमादि आम्नाय ने एक कृष्णवर्ण महाबल मूढ मातङ्ग की बात कही है, जिसे मातङ्गी जगद्धात्री प्रभृति देवियों के ध्यान में छिन्नमुण्ड होकर पड़ा हुआ देखते हैं (पातितं छिन्नमुण्डं)। सिंहवीर्या द्वारा ही वह निपातित और विमथित हुआ

है। और केवल मूढ़ रूप में नहीं (not only as static massive Brute Force), परन्तु उसे फिर घोर (राजस्) रूप में भी देख सकते हैं; उस रूप में वह मदमत्त होकर इतस्ततः प्रधावित होता है (मदचलितमिभं)। इस घोररूप मातंग का शासन होता है अङ्कुश द्वारा, जिसके फलस्वरूप इसका शुण्ड शोणित वर्ण धारण करके रहता है (अङ्कुशाच्छ्रोणमुण्डम्)। इसके शासन का उपाय, जो अंकुश है इसे हम देवी के हस्त में आयुध रूप में अवश्य देख सकते हैं। किन्तु वह असल में क्या है यह सोचकर देखें। और अन्यत्र देखते हैं (जैसे महाविद्या कमला के ध्यान में) कि देवी एक प्रस्फुटित शतदल के ऊपर महामहिममयी होकर समासीना हैं, और द्रोनों और दो श्वेतहस्ती सुधासिन्धु से श्वेतकुम्भ भरकर देवी को पीयूषस्नान करा रहे हैं। ये श्वेत करियुगल क्या हैं और इस पीयूषस्नान का रहस्य भी क्या है ? पुनश्च, जो सुरहस्ती ऐरावत देवी इन्द्राणी का वाहन है उस ऐरावत ने एक बार मदोद्धत होकर मन्दाकिनी की पावन धारा का रोध करने की स्पर्धा की थी, किन्तु उसकी वह स्पर्धा कहाँ बह गई थी (मन्दाकिन्यां मदारं) ?

तत्पश्चात् मातङ्ग को और भी अन्य तीन रूपों में हम देखते हैं—एक है उसका दिग्गज रूप, दूसरा है उसका वह प्रसिद्ध गजेन्द्रोपाख्यान का अतिविह्वल रूप और अन्तिम है जो स्वयं गजवदन गणेश हैं उनके तुण्ड में गज का जो रूप है, वह। इन तीनों का ही क्या तात्पर्य है ?

पूर्व श्लोक में जिस कृष्णवर्ण महाबली मातङ्ग की बात पहले ही कही गई है वह गाढ़ पुञ्जीभूत तामस शक्ति का प्रतीक है। इसीलिये वह मन्त्राक्षर के बीच रहकर भी मन्त्रशक्ति के पूर्ण उद्धार एवं चैतन्य को बाधा दे रहा है। इस निमित्त मन्त्राक्षर का एक प्रकार का जाड्य वा जड़ता परिलक्षित होती है। सिंह है प्राणशक्ति का समर्थतम रूप। वर्णसमूह के बीच महाप्राणवर जो हकार है उसे विशेष भाव से इस सिंह वीर्य द्वारा अनुगृहीत समझना होगा, इसीलिये हिङ्कार, हुङ्कार प्रभृति हकार-मुख्य मन्त्रशक्ति द्वारा इस आदिम कृष्ण मातङ्ग को निपातित और विमथित कर लेना होगा। तत्पश्चात् मातङ्ग का जो घोर रूप है वह है उग्र राजस रूप, इसके फलस्वरूप साधन में व्याज और विघ्न दिखाई देते हैं। उनके निरसन के निमित्त अंकुश का प्रयोग आवश्यक है। वह अङ्कुश क्या है ? वह है वाग्भव, अर्थात् "ऐं" यह बीजमन्त्र (देवी के ध्यान में जो सकल आयुध हम देख पाते हैं, उनका तात्पर्य मन्त्र की ओर से भी सोचकर देखना होगा। जैसे धनुः—प्रणव, इत्यादि)। "ऐं" है महासरस्वती का भी बीज, इसीलिये रजोगुण का तिरोभाव करके सत्त्वगुण का उद्रेक और विशालता साधन करने में इस बीज की विशेष शक्ति है। किन्तु सत्त्वगुण का उद्रेक और विशालता होने पर

ही वह निरुपद्रव नहीं हो जाता, शुद्ध नहीं हो जाता, जब तक कि वह प्राकृत नियमों के इलाके में रहता है। अर्थात् वह "मर" जाता है, "अमर" नहीं होता। इस निमित्त "ऐं" प्रभृति सब बीज मन्त्रों का ही अमृत स्नान होना आवश्यक है। दश महाविद्याओं की अन्तिम महाविद्या श्रीश्रीकमला के ध्यान में यह अमृत-स्नान दिखाया गया है। वहाँ दोनों ओर द्रो श्वेतहस्ती हैं दो प्रणव। दोनों ओर से दो प्रणव श्रुति-प्रसिद्ध उस हिरण्यरेतः साधक के बीजमन्त्र के ऊपर वर्षण करते रहते हैं, जिसके फल-स्वरूप उस बीजमन्त्र के बीच से अमृतशक्ति (नाद) जागरित, उद्बुद्ध हो उठता है (दुहाना अमृतस्य धाराम्)। अमृतत्व लाभ करके, अमृत स्नान से उद्बुद्ध होकर सब बीजमन्त्र, प्राकृत बाधा और अन्तराय, मृत्यु और तमसा के पार स्वयं चले जाते हैं एवं साधक को भी ले जाते हैं। तब सत्त्व बनता है शुद्ध और स्वच्छन्द। इन दो श्लोकों में मातङ्ग के प्रसंग में कृष्ण, रक्त एवं शुभ्र इन तीन वर्णों का प्रसंग भी उठाया गया है यह ध्यान रखना होगा। इन तीन वर्णों का रहस्य गम्भीर भाव से ध्यानयोग्य है। वर्ण की शुभ्रता दिखाई देने से ही निरापद् नहीं हुआ जा सकता यह दिखाने के लिए मातङ्ग को और भी तीन रूपों में दिखाया गया है—उग्र, व्यग्र और दुर्ग। इन तीनों के बीच श्वेत ऐरावत उग्र का रूप है, दिग्गज व्यग्र का रूप है एवं गज-कच्छप उपाख्यान का गजेन्द्र हुआ दुर्ग का रूप। शुद्ध सत्त्व में स्वच्छन्द अवस्थिति होने पर ही ये तीन प्रकार के रूप फिर उपद्रव की सृष्टि नहीं करते। उपद्रव का साधारण नाम यदि दिया जाय विघ्न, तब विघ्नविनाशन श्रीगणेश ने स्वयं शुभ्र गजमुण्ड परिग्रह द्वारा इस त्रिविध एवं आनुषङ्गिक सकल प्रकार के विघ्न के निरसन का भार लिया है। एवं इन सबके बाद जो गुणातीत भूमि है, जिसे गीता ने निस्त्रैगुण्य कहा है, वहाँ ले जाने का भार भी श्रीगणेश ने लिया है। क्योंकि, हमने देखा है कि श्रीगणेश हैं, ब्रह्म का साक्षात् वाचक जो प्रणव है, उसीकी परिपूर्णतम मूर्ति (एक साथ नादबिन्दुकलात्मा एवं नादबिन्दु-कलातीत)। प्रसङ्गक्रम से यह भी ध्यान देना होगा कि हमारे प्राकृत साधन के क्षेत्र में अशुभ कृष्ण रक्तादि जिस-जिस वर्ण में दिखाई देता है उसे निवारित और विवर्तित (transform) करने के लिये ऊर्ध्वतन ध्यान के लोक से किस-किस प्रकार के वर्ण का प्रभाव अवतरण किया करता है। जैसे, प्राकृत रज का वर्ण रक्त है, किन्तु भागवती शक्ति उस रक्त को आत्मसात् करने के लिये स्वयं रक्तवस्त्रपरिधाना होकर दिखाई देती हैं। किन्तु प्राकृत रज का जो रक्तवर्ण है और ध्यान में आविर्भूता देवी के आसन वसनादि का जो रक्तवर्ण है ये दोनों एक प्रकार के नहीं हैं। ध्यानगोचर कृष्ण-रक्त-शुभ्रादि वर्णों के साथ कोई तुलना ही नहीं होती, हमारे साधारण अनुभव के जो सब वर्ण हैं उनकी। जैसे ध्वनि में, वैसे ही वर्ण में इस मौलिक प्रभेद को भी सब समय स्मरण रखना होगा।

२९. हानोपादान-विरह-प्रतियोगिकत्वाभाववत्त्वं तत्त्वम् ।

[हान और उपादान के विरह (रहित होना) की प्रतियोगिकता के अभाव-वाला (अप्रतियोगी) होना ही 'तत्त्व' है ।]

वा० **न किञ्चिदधीयते यत्र न चोपादीयतेऽपि वा ।**
अनावृति-परामृष्टिसामग्र्यं तत्त्वमुच्यते ॥ ७५ ॥

अन्वय—यत्र न किञ्चिद् हीयते न च अपि उपादीयते वा, (एवं) अनावृति-परामृष्टिसामग्र्यं तत्त्वम् उच्यते ॥ ७५ ॥

[जहाँ से कुछ भी कम नहीं किया जाता, और न ही जिसमें कुछ जोड़ा जाता है, ऐसी अनावृति और परामर्श की समग्रता को तत्त्व कहा जाता है ॥ ७५ ॥]

वा० **प्रत्ययरूपवृत्तित्वे सत्यं मिथ्येत्यविकल्पितम् ।**
अंशाशित्वाद्याख्यातञ्च साक्षाच्चाप्यपरोक्षकम् ॥ ७६ ॥

अन्वय—सत्यं + मिथ्या + इति अविकल्पितम् अंशाशित्वादि + आख्यातं च प्रत्ययरूपवृत्तित्वे साक्षात् अपि च अपरोक्षकम् ॥ ७६ ॥

[सत्य-मिथ्या-रूप से जो अविकल्पित है, और जो अंशत्व-अंशीत्व आदि रूप से आख्यात है, वही प्रत्ययरूपवृत्तिता होने पर साक्षात् एवं अपरोक्ष होता है ॥ ७६ ॥]

वा० **भातीति भानरूपेण सामग्री हि विराजते ।**
भानस्य भासतापत्तिर्भाणतापत्तिरेव च ।
प्रथमा भेदजन्या च द्वितीया स्याद् विकल्पजा ॥ ७७ ॥

अन्वय—स्पष्ट है ।

['भाति' इस प्रकार भान रूप से (तत्त्व की) समग्रता विराजती है । भान के दो रूप बन जाते हैं—भास और भाण । पहला भेदजनित है और दूसरा विकल्प-जनित ॥ ७७ ॥]

वा० **देशकालौ च छन्दश्च वस्त्विति भेदकैः पुनः ।**
शिथिलश्चपलो भाणः कुटिलो जटिलस्तथा ।
दैशिकः कालिकश्चेमे छान्दसौ वास्तवः क्रमात् ॥ ७८ ॥

अन्वय—भाणः पुनः देशकालौ छन्दः च वस्तु इति च भेदकैः (क्रमशः) शिथिलः, चपलः, कुटिलः तथा जटिलः । इमे च क्रमात् दैशिकः कालिकः छान्दसः वास्तवः (इति) ॥ ७८ ॥

[भाण फिर देश, काल, छन्दः और वस्तु—ऐसे भेदकों के द्वारा (क्रमशः) शिथिल, चपल, कुटिल और जटिल बनता है । ये (भेदक) क्रम से दैशिक, कालिक, छान्दस और वास्तव होते हैं ॥ ७८ ॥]

वा० किं वा भाति न भाति विश्वमखिलं भात्येव भासा भृशं
किं वाऽभात्यवभासते खलु पुनर्भात्येव निर्व्यूढभाः।
किं वा प्रत्यवभासते धियि न वा भात्येव साक्षी धियां
किं वा पूर्वमिदं परं विलसितं भात्येव भानुः सनात् ॥ ७९ ॥

अन्वय—अखिलं विश्वं किं भाति न वा भाति, (तत्त्वं) भासा भृशं भाति एव। किं वा अभाति खलु अवभासते, पुनः भाति एव निर्व्यूढभाः। किं वा धियि प्रति + अव + भासते न वा, धियां साक्षी भाति एव। किम् इदं पूर्वं विलसितं परं वा, भानुः सनात् भाति एव ॥ ७९ ॥

[अखिल विश्व भासित होता हो या न हो, (तत्त्व अपनी) ज्योति से भली-भाँति प्रकाशमान है ही। चाहे 'अभाति' (अख्याति) ही अवभासित होती है, (किन्तु) निर्व्यूढ (अनावृत) ज्योति प्रकाशित होती ही है। अथवा, (वह) बुद्धि (वृत्तिज्ञान) प्रत्यवभासित हो या न हो, (इन) बुद्धिवृत्तियों का साक्षी भासमान होता ही है। यह (पदार्थ या विषय) पहले विलसित (प्रकाशित) हो या बाद में, (भानु स्वयं-प्रकाश शुद्ध चैतन्य) सर्वदा प्रकाशमान है ही ॥ ७९ ॥]

वा० प्रतिभासः परामर्शादवभासोऽवमर्शनात्।
आभासश्चाप्यपामर्शादनुभासोऽनुमर्शनात्।
भासःप्रपञ्चितश्चैवं विमर्शात् प्रत्यवादिकः ॥ ८० ॥

अन्वय—परामर्शात् प्रतिभासः, अवमर्शनात् अवभासः, अपामर्शात् अपि च आभासः, अनुमर्शनात् अनुभासः एवं प्रत्यवादिकः भासः विमर्शात् प्रपञ्चितः ॥ ८० ॥

[परामर्श से प्रतिभास, अवमर्शन से अवभास, अपामर्श से आभास, अनुमर्शन से अनुभास—ऐसे चार प्रकारों से प्रति-अव-आ-अनु उपसर्गवाला (मूल) भास विमर्श से प्रपञ्चित होता है ॥ ८० ॥]

वा० यो विशिनष्टि लिङ्गेन परामर्शः स उच्यते।
विश्लेषयति च संश्लिष्टं विश्लिष्टं संयुनक्ति यः।
बौद्धव्यापारमूलत्वाद् विमर्शः स प्रकीर्तितः ॥ ८१ ॥

अन्वय—यः लिङ्गेन विशिनष्टि, सः परामर्शः (इति) उच्यते। यः संश्लिष्टं विश्लेषयति, विश्लिष्टं च संयुनक्ति, सः बौद्धव्यापारमूलत्वात् विमर्शः (इति) प्रकीर्तितः ॥ ८१ ॥

[जो लिङ्ग से विशेषित करता है वह परामर्श कहा जाता है। जो संश्लिष्ट को विश्लेषित करता है, विश्लिष्ट को संयुक्त करता है, वह बौद्ध व्यापार का मूल होने के नाते विमर्श कहलाया है ॥ ८१ ॥]

वा० **निराकुर्वन्नधिष्ठानमपाकुर्वंश्च कल्पितम् ।**
अनिरुक्तं नियुङ्क्ते यः सोऽपामर्शो निगद्यते ॥ ८२ ॥

अन्वय—यः अधिष्ठानं निराकुर्वन्, कल्पितं च अपाकुर्वन् अनिरुक्तं नियुङ्क्ते, सः अपामर्शः (इति) निगद्यते ॥ ८२ ॥

[जो अधिष्ठान को निराकृत करते हुए, कल्पित को अपाकृत (दूर) करते हुए, अनिरुक्त को नियुक्त करता है, उसे अपामर्श कहा जाता है ॥ ८२ ॥]

वा० **प्रतिमर्शानुमर्शौ द्वौ सङ्कल्पस्मरणात्मकौ ।**
निश्चिनोत्यवपूर्वो यो विद्ध्येवं मर्शपञ्चकम् ॥ ८३ ॥

अन्वय–प्रतिमर्श + अनुमर्शौ (इति) द्वौ (क्रमशः) सङ्कल्पस्मरणात्मकौ । यः अवपूर्वः (अवमर्शः) (सः) निश्चिनोति, एवं मर्शपञ्चकं विद्धि ॥ ८३ ॥

[प्रतिमर्श और अनुमर्श ये दोनों क्रमशः सङ्कल्प एवं स्मरणात्मक हैं, जो 'अव'-पूर्वक (अवमर्श) है वह निश्चय करता है । इस प्रकार मर्श-पञ्चक को जानो ॥ ८३ ॥]

टिप्पणी—उद्देश में 'प्रतिमर्श' नहीं है, लक्षण में इसे अनुमर्श के साथ जोड़ा बनाकर दोनों की एक संख्या मानने से ही मर्श पाँच होंगे, अन्यथा छह हो जायेंगे । (सम्पा०)

वा० **अविमर्शाद्धि नैष्कल्यं साकल्यञ्च विमर्शनात् ।**
तयोर्द्वन्द्वे मृशत् सर्वमद्वन्द्वे मर्शनं कुतः ॥ ८४ ॥

अन्वय—अविमर्शात् हि, नैष्कल्यं, विमर्शनात् च साकल्यम्, तयोः द्वन्द्वे सर्वं मृशत्, अद्वन्द्वे कुतः मर्शनम् ? ॥ ८४ ॥

[अविमर्श से नैष्कल्य होता है, और विमर्श से साकल्य । इन दोनों के द्वन्द्व में सब कुछ का मर्श होता है, द्वन्द्व के बिना मर्शन कहाँ से होगा ? ॥ ८४ ॥]

वा० **सदिति परनैर्द्वन्द्व्यं सामग्र्यं पञ्चमञ्च तत् ।**
मूलविमर्शभावश्च विद्धीति प्रणवः परः ॥ ८५ ॥

अन्वय—सत् इति परनैर्द्वन्द्व्यं, सामग्र्यं च पञ्चमम् । परः प्रणवः च मूल-विमर्शभावः इति विद्धि ॥ ८५ ॥

['सत्' अर्थात् परम निर्द्वन्द्वता, और 'तत्' अर्थात् परम समग्रता । मूल विमर्श-भाव परप्रणव है ऐसा जानो ॥ ८५ ॥]

वा० **नादबिन्दुकलात्मा स नादबिन्दुकलातीतः ।**
तयोः सेतुरर्धमात्रा याऽप्यसकलनिष्कला ॥ ८६ ॥

अन्वय—सः नादबिन्दुकलात्मा (अथच) नादबिन्दुकलातीतः । अर्धमात्रा तयोः सेतुः, या अपि असकलनिष्कला ॥ ८६ ॥

[वह (प्रणव) नाद-बिन्दु-कलात्मा है (और) नाद-बिन्दु-कलातीत (भी) है। अर्धमात्रा इनका सेतु है, जो कि न सकल है न निष्कल है ॥ ८६ ॥]

ॐतत्सदिति जानीयात् तनुर्मान्त्री हि ब्रह्मणः।
शाक्ती तनुर्महामायोपरिष्टात् सूत्र्यते च या ॥ ८७ ॥

अन्वय—ॐ तत्सदिति हि ब्रह्मणः मान्त्री तनुः जानीयात्। महामाया (तस्य) शाक्ती तनुः, या च उपरिष्टात् सूत्र्यते ॥ ८७ ॥

['ॐ तत् सत्' इसे ब्रह्म का मन्त्रमय तनु जानो। महामाया उसका शक्तिरूप तनु है, जिसका सूत्र आगे (आगामी पाद के आरम्भ में) दिया जा रहा है ॥ ८७ ॥]

इसके बाद तत्त्वसूत्र का और तदन्तर्गत कारिकाओं का संक्षेप में नीचे हिन्दी-अनुवाद दिया है। इसकी प्रतिपाद्य विषयवस्तु पहले ही कुछ हद तक आलोचित हुई है एवं परवर्ती ग्रन्थ में और भी होगी।

हान (Substraction) उपादान (Addition), इन दोनों का जो विरह अर्थात् अभाव है, उस अभाव के अप्रतियोगी होने को (अर्थात् हान और उपादान इन दोनों से रहित होने को) तत्त्व कहकर जानें। परम भाव पदार्थ अलक्षण है, वही अभावरूप में लक्षित होता है। तत्त्व स्वरूप में अव्यवहार्य है, किन्तु प्रत्यय रूप से व्यवहार-योग्य बनता है।

प्रथम कारिका में सूत्र में लक्षित तत्त्वपदार्थ को विश्लेषण द्वारा कहते हैं कि सामग्री अथवा समग्रत्व से (as Absolute wholeness) कुछ भी घटाने या बढ़ाने को नहीं रहता; जो स्वयं "आवृति" (veiling) एवं "परामृष्टि" (stressing) इन दोनों से मुक्त है उसे तत्त्व कहकर समझना होगा (Thing in Itself, Absolute Thatness)। पहले जिस सामग्रय की बात कही गई वह स्वयं साक्षात् एवं अपरोक्ष (Direct Self-revealed) है, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु व्यवहार में प्रत्यय रूप में (as usable experience) वह वृत्तिमत् होता है; अर्थात् जो स्वयं "अव्यवहार्य" है वह प्रत्यय रूप में हमारे व्यवहार में आता है। इस प्रकार व्यवहार में आने के फल-स्वरूप जो स्वयं सत्यमिथ्यादि द्वन्द्व के अतीत है उसमें "यह सत्य है" "वह मिथ्या है" इस प्रकार विकल्पना की सम्भावना होती है; एवं जो स्वयं अखण्ड सामग्री मात्र (Seamless whole of Being-Experience) है उसमें "यह अंश है एवं यह अंशी है" इस प्रकार के नानाविध सम्बन्धों की अभिव्यक्ति भी होती है। सुतरां जिसे हम प्रत्यय रूप में जानते हैं, वह साक्षात् अपरोक्ष जो तत्त्व है उसमें अस्मदादि के व्यवहार के अनुरोध से निरूपित एक रूप मात्र है।

भान, भास एवं भाण इन तीनों का लक्षण और सम्बन्ध

तत्त्वरूप जिस सामग्री को "भाति वा प्रकाश" रूप में देखते हैं उसे कहते हैं "भान"। "अद्वैताद्वैतदशकम्"[१] इत्यादि नाना स्थलों में यह भानवस्तु हमारे परिचय में आ चुकी है। इस भानवस्तु में, तत्त्व का जो समग्रत्व और अखण्डत्व लक्षण है वह बना रहता है। इसे हमने दृष्टान्त द्वारा समझने का प्रयत्न किया है। अब यह भानवस्तु फिर अपने को "भास" अथवा कभी "भाण" के रूप में दिखाती है। इन दोनों में से प्रथम तब दिखाई देता है जब द्वैताद्वैत वर्जित (Alogical) भान सामग्री के बीच किसी प्रकार से "अहं" "इदं" इत्याकार भेद अथवा द्वैत आकर दिखाई देता है; अर्थात् भास हुआ भान का वह रूप जहां "अहं, इदं" इत्याकार द्वैत सम्बन्ध परिस्फुट हुआ है एवं इस प्रकार समग्र बोध का उसने विभाग कर लिया है। और जो "भान" है वह है विकल्प से जात। जहाँ विकल्प है वहाँ वस्तु सुस्थिर वा निश्चित रूप से नहीं है। सुतरां उसके सम्बन्ध में संशय और अनिश्चयरूपता (Doubt and uncertainty) विद्यमान है। "भासतापत्ति" के मूल में जो भेद (Differentiation) है उसे हमने अहं और इदं इस एक प्रकार भले ही देखा है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि देश, काल, वस्तु एवं छन्दः ये चार सचराचर भेदक (categories of Differentiation) हुआ करते हैं। विकल्पजन्य जो भानरूपता (Doubt, uncertainty, misapprehension, misrepresentation) हुआ करती है, उसे चार प्रकार की करके देखना होगा :— शिथिल, चपल, कुटिल एवं जटिल। इन चारों में यदि विकल्प (उक्त uncertainty प्रभृति) देश के सम्बन्ध से (As regards spatial relations) हो तब उसे नाम दिया जाता है "शिथिल" (Incompact, Incoherent)। यदि काल के सम्बन्ध में हो तब उसे कहा जाता है "चपल" (unabiding, Arbitrarily variable); यदि छन्दः सम्पर्क में हो तब उसे कहा जाता है कुटिल (unrhythmic, unharmonic) और यदि वह वस्तु के सम्बन्ध में हो तब उसे कहा जाता है जटिल (complicated, confused)।

[भान, भास एवं भाण इन तीनों का प्रसंग यहाँ संक्षेप से उठाया गया है। केवल मनस्तत्त्व विश्लेषण की ओर से नहीं, हमारे अध्यात्म-साधन का ठीक-ठीक परिचय पाने के लिए इन तीनों को भलीभाँति पहचान रखना अच्छा है। भान है समग्र अखण्ड बोध, जो साक्षात्, अपरोक्ष है किन्तु जिसके सम्बन्ध में बुद्धि का अथवा वाक्य (Categories or Predicables) का पूरा-पूरा प्रयोग नहीं होता। It is undivi-

१. हिन्दी अनुवाद की ग्रन्थमाला में यह दशक षष्ठ खण्ड में परिशिष्ट के अन्तर्गत स्थान पायेगा।

ded alogical whole of experience. तथापि सूत्र में तत्त्व का जो लक्षण किया गया है उसके साथ भान की एक प्रकार से विलक्षणता भी है। तत्त्व को कहा है हानोपादानरहित। किन्तु हमारी अनुभूति में जो भानरूप में आविर्भूत होता है उसमें तो लक्षण लागू नहीं होता ऐसा ही लगता है। अर्थात् भान को हम एक moving continuum के रूप में ही पाते हैं। इसमें से बहुत कुछ चला जा रहा है एवं इसमें जो प्रकट नहीं है ऐसा बहुत कुछ आकर इसमें संयुक्त हो रहा है। अर्थात् इसके सम्बन्ध में हान एवं उपादान नहीं है ऐसी बात नहीं कही जा सकती। सुतरां व्यक्ति के पक्ष में जो भान है उसके सम्बन्ध मे पराकाष्ठा कहीं है ऐसा मानना पड़ता है। वह पराकाष्ठा है भानरूप ब्रह्म, जहाँ बोध स्वतःसिद्ध एवं नित्यपूर्ण (Eternally Realised and Perfect) है। तत्पश्चात् 'भास' हुआ भान का वह रूप, जिसमें बुद्धि एवं साथ-साथ वाक्य का व्यवहार (विमर्शादि) आरब्ध हुआ है—Logically appreciated Experience। अन्त में 'भान'—को पूर्वालोचित व्याज के साथ तुलना करके देखना होगा। साधारण छल-कपट के अर्थ में इस बात के लेने से नहीं चलेगा। अर्थात् भान यानी conscious or unconscious sophistication of fact मात्र नहीं है। इसे comically and basically समझना होगा। जहाँ पर भी मूल में द्विधा वा संशय रहने के कारण बोध अपने को ऋजु, यथार्थ एवं निश्चित भाव से स्फुटित नहीं कर पाता है वहीं पर भाषा का इलाका समझना होगा। देश-कालादि की ओर से इस भान को हमने चार प्रकार से देखा—शिथिल, चपल इत्यादि। केवल मात्र व्यावहारिक बोध में ही नहीं, अध्यात्म साधन की अनुभूतियों में भाण को उसकी इन चार मूर्तियों में खोजकर देखना होगा एवं खोजकर पा लेने पर बोध का शोधन और संस्कार कर लेना होगा। यहाँ इस भाण शब्द के साथ नारायणी स्तव में "लज्जारूपेण संस्थिता" के "लज्जा" शब्द की तुलना की जा सकती है। यहाँ लज्जा कहने से हम प्रायः जो समझते हैं वह अवश्य ही नहीं है। देवी के "जाति" रूप की बात कहकर उसके "लज्जा" रूप की बात कही है एवं तत्पश्चात् "श्रद्धा" रूप की बात। इस पारम्पर्य की अवश्य एक निगूढ़ व्यञ्जना है। प्राचीन Plato प्रभृति दार्शनिकों की भाँति यदि यह समझा जाय कि हमारी लौकिक अनुभूति में प्रत्येक वस्तु, विषय का एक शुद्ध भाव रूप विद्यमान है (Pure archetypal form) तब उसे हम "जाति" यह नाम दे सकते हैं। अब किसी एक जाति के सम्पर्क में उसका जैसे स्वजातीय कुछ है, वैसे ही फिर उसका विजातीय भी कुछ है। वैजात्य के द्वारा विद्ध एवं अभिभूत होने पर जो शुद्ध जाति (Pure Type) है वह जाति-संकर हो उठती है—जिसके सम्बन्ध में गीता ने कहा है—"सङ्करो नरकायैव"। अब इस वैजात्य (what is incompatible, incongruent) के स्पर्श एवं वेध से अपने को बचाने के लिए प्रत्येक जाति में जो

स्वाभाविक क्षेमप्रवणता (Tendency to self-preservation) है उसे कहते हैं "लज्जा" । लज्जा का इस प्रकार ध्यान करके ही प्राचीन लोग कहते हैं 'लज्जा है नारी का भूषण' एवं भगवती की जो विविध शक्तिरूप में अभिव्यक्ति की बात कही जाती है ह्रीं वा लज्जा है उनमें से अन्यतमा । इस ह्रीं के साथ चन्द्रबिन्दु का योग करने पर आद्या शक्ति का मूल बीज पाते हैं ह्रीँ । इसे लज्जा-बीज भी कहा जाता है ।]

मूल और नित्य प्रकाशरूपता कहाँ है ?

इस अखिल विश्वबोध में उदित हो, अथवा न हो जो तत् और सत् वस्तु है वह अपनी ज्योति से (भासा) सम्यक् रूप से (भृशं) प्रकाशमान है ही (भात्येव); विश्वबोध का जो अखण्ड भूमा आधार पट है उसमें कोई छायाचित्र फूट उठे या न उठे वह आधार स्वयं अपनी निःसंशय महिमा में ज्योतिष्मान् है ही (भात्येव निर्व्यूढभाः); अस्मदादि की बुद्धि में यहाँ तक कि समष्टि मानस में भी (हिरण्यगर्भ) विमर्शादिवशतः जो प्रत्यय हो रहे हैं अथवा हो सकते हैं उन सबके शुद्ध निरञ्जन साक्षीरूप में भी वह विराजमान है (भात्येव साक्षा धियाम्); और काल के सम्बन्ध में यह बोधविश्व अथवा विश्वबोध पहले प्रपञ्चित हो अथवा बाद में शुद्ध चैतन्यरूप वह भानु स्वयं पूर्वापर सम्बन्धातीत होकर एवं इन सब सम्बन्धों का प्रकाशक होकर विद्यमान है (भात्येव भानुः सनात्) ।

पञ्च प्रकार के मर्श और भास—उनका परस्पर सम्बन्ध

इसके बाद परामर्शादि मर्शपञ्चक के साथ प्रतिभासादि भासपञ्चक का सम्बन्ध कारिका में कहा जाता है—परामर्श (limiting and conditioning of what is otherwise unlimited and unconditioned) रूप धीवृत्ति से हमारा पूर्वालोचित भास जो आकार धारण करता है उसका नाम देते हैं प्रतिभास (experience as related to a given frame of reference) । सब संशय, विकल्प का निरसन करके अर्थात् भाण को सम्भावना को निरस्त करके बुद्धि (Pure Reason) को जो स्वाभाविकी निश्चयात्मिका वृत्ति है वह जब उदित होती है तब बुद्धि के उस रूप को कहते हैं अवमर्श (अव = अवधारणे); इस अवमर्श के फलस्वरूप भास (experience) जो आकार धारण करता है उसे कहते हैं अवभास । ध्यान दें कि यहाँ 'अव' यह उपसर्ग असाधारण अर्थ में व्यवहृत हुआ है, अपरापर अर्थ में नहीं । उसके बाद अपामर्श है बुद्धि का वह व्यापार जिसके द्वारा आवृति एवं आक्षेप (suppressing and ascribing) ये दो घटित होते हैं । एवं उसके फलस्वरूप हमारा बोध जो आकार धारण करता है उसे नाम दिया गया है आभास (what

appears)। तत्पश्चात् बुद्धि का एक अपर व्यापार होता है ज्ञात वा अनुभूत वस्तु के सम्बन्ध में अनुध्यान (Reflection) करना एवं जो अतीत है उसे फिर से नूतन बनाकर ज्ञान और अनुभव में लाने का प्रयास करना (Recollection)। इस व्यापार के फलस्वरूप हमारा बोध जो आकार धारण करता है उसे अनुभास कहा है। पहले बुद्धि के जो चार प्रकार के व्यापार (function) की बात कही गई, उन सब-के मूल में है विमर्श (, Discussing analytically or otherwise)। इस विमर्श का प्रसंग हमने पहले उठाया है। इस विमर्शरूप मौलिक व्यापार के फलस्वरूप ही जो स्वरूप में भान है वह हमारे परिचय में और व्यवहार में (In appreciation and usage) भास रूप में दिखाई देता है। सुतरां विमर्श के बिना भास (experience not indeed as actually given but as understood and appreciated by us) की सम्भावना नहीं होती। अतएव मूल में इस विमर्श को लेकर जिस प्रकार एक ओर बुद्धि की परामर्शादि पञ्चविधाएँ हम देख पाते हैं उसी प्रकार फिर अन्य और तत्तत्सम्बन्ध में हमारे बोध के भी भास-प्रतिभासादि पञ्च आकार देखे जा सकते हैं।

मर्शपञ्चक का लक्षण। विमर्श और प्रणव। परब्रह्म की मान्त्री और शाक्ती तनु

जो किसी प्रकार लिङ्ग, हेतु अथवा सूचक (Index) द्वारा किसी वस्तु वा विषय को विशेषित (qualify) करता है, उसका नाम है परामर्श। इस परामर्श के बिना किसी ज्ञान वा बोध के सम्पर्क में किसी प्रकार के अनुमानादि करना सम्भव नहीं होता। अर्थात् उस सम्बन्ध में, क्यों, कैसे, कहाँ से, इस प्रकार के प्रश्नों का किसी प्रकार समाधान नहीं होता। परामर्श अनुमर्शादि चाहे जिस प्रकार का बौद्ध व्यापार (Process of Reasoning) क्यों न हो उन सबके मूल में बीज क्रियारूप में जो व्यापार रहता है उसका नाम है विमर्श। जो संश्लिष्ट (Undifferentiated) है उसका विश्लेषण (differentiation analysis) होता है जिसके द्वारा एवं जो फिर विश्लिष्ट (differenciated, discreet, manifold) हैं, वे नाना भाव से सश्लिष्ट (Integrated, unified) होते हैं जिस मौलिक प्रक्रिया (Basic function) द्वारा, उसे कहते हैं विमर्श। जो अधिष्ठान (Ground consciousness--Being) है, उसे स्वरूप में आवरण करते हुए (निराकुर्वन्) कल्पित रूप-गुण-सम्बन्धादि का जो आरोप करता है (अपाकुर्वन्), एवं जो अनिरुक्त, अलक्षण, अव्यवहार्य तत्त्व है उसे वैसा (कल्पित रूप गुण सम्बन्धादि विशिष्ट) बनाकर अपने कल्पित व्यवहार में ले आता है (नियुङ्क्ते) उसे अपामर्श नाम दिया है। प्रतिमर्श, अनुमर्श एवं अवमर्श इन

तीनों को अब कहते हैं:—प्रथम के मूल में है संकल्प, द्वितीय के मूल में है संस्कार और स्मरण, तृतीय के मूल में "यह अन्य कुछ भी नहीं" इस प्रकार का निश्चय वा अवधारण है। सुतरां इन सबको लेकर पाँच प्रकार का "मर्श" कहा गया है। जहाँ किसी प्रकार के विमर्श का लेश नहीं (अविमर्शात्) वहाँ अवश्य कलारहित भाव (निष्कल्य) है, विमर्श के दिखाई देने पर ही सब भाव वा साकल्य दिखाई देता है। आगमशास्त्र में निष्कल एवं सकल शिवतत्त्व को इस विमर्श के सूत्र द्वारा ही समझना होगा; अर्थात् जब तक विमर्श का लेश भी नहीं तब तक परम तत्त्व वस्तु को शिव-शक्ति इस प्रकार दो बनाकर देखना और कहना सम्भव नहीं होता; तब तक शिव-शक्ति द्वैताद्वैतविवर्जित सामरस्य है। विमर्श के फलस्वरूप जो तूष्णीम् भाव है उसके बीच पहले निष्कल और सकल यह द्वन्द्व (Polarity, कलाशक्ति) दिखाई देता है। इस द्वन्द्व वा Polarity को आधाररूप में पाकर ही सब कुछ भास, प्रतिभास इत्यादि रूप में व्यापारवान् होता है (मृशत् सर्वम्); किन्तु एकान्त द्वन्द्वातीत जो परमता की भूमि है वहाँ इस मर्शन का अवकाश कहाँ ! (अद्वन्द्वे मर्शनं कुतः)। इसके बाद "ॐ तत्सत्" यह ब्रह्मवाचक जो मन्त्र है वह प्रसंगक्रम से आता है। द्वन्द्वातीत जो परम भूमि (परनैर्द्वन्द्वचम्) है वह है सत्, उसी भूमि का जो सामग्र्य अर्थात् अखण्डत्व और भूमत्व है वह है तत्, एवं इस अखण्ड द्वन्द्वातीत भूमा के अधिष्ठान में जो आदिम विमर्श का आरम्भ और विकाश है उसे प्रणव वा ॐकार कहकर जानना चाहिए। सुतरां प्रणव को आश्रय करके इस परम अधिष्ठान में निखिल विश्व का उदय, स्थिति एवं लय होता है। देशकालादि सर्वविध निर्वचन के मूल में भी यह आदिम विमर्शरूपी प्रणव है। इसीलिए इस ॐकार को पुरतः एवं अग्रे रखकर ही "तत्सत्" रूपी जो परम सत्य एवं तत्त्व है उसमें जाना होगा। प्रणव को विशेष रूप से कहा जाता है कि यह नादबिन्दुकलात्मा है (क्योंकि इस प्रकार ही आरम्भ में विमर्श होता है); किन्तु प्रणव नादबिन्दुकलात्मा होकर भी इस त्रितय के अतीत है। प्रणव के ये जो दो भाव हैं इनके बीच सेतुस्वरूपा है अर्द्धमात्रा, जिसे सकला एवं निष्कला इन दोनों में से कुछ भी पूरा-पूरा नहीं कहा जा सकता (याऽप्यसकलनिष्कला)। एक ओर सकल वा कलाविशिष्ट जो कुछ है, दूसरी ओर जो निष्कल है इन दोनों के बीच सेतुरूपा होने से अर्धमात्रा अनिर्वाच्या (अनुच्चार्या विशेषतः) है। अब उपसंहार में कहा है कि "ॐ तत्सत्" इसे ब्रह्म की मान्त्री तनु कहकर समझना, एवं परब्रह्म की जो शाक्ती तनु है वह महामाया है। दूसरे पाद के आरम्भ के सूत्र में ही यह महामाया कथित हुई है।

पहले ही सूत्राकार में जिस मर्शपञ्चक और भासपञ्चक की बात कही गई उन्हें केवल मात्र बौद्ध व्यापार का विश्लेषण (analysis of logical process) समझने से नहीं चलेगा। जपध्यानादि अनुष्ठान के साथ इनका सम्पर्क खूब घनिष्ठ है। जैसे जप

में अथवा ध्यान में किसी प्रकार की ज्योति का दर्शन हुआ अथवा किसी अश्रुतपूर्व शब्द का श्रवण हुआ। प्रश्न उठता है, यह क्या आभास है, mere appeareance है। इस प्रश्न का समाधान करना हो तो पूर्वोक्त भासपञ्चक एवं उनके मूलीभूत मर्शपञ्चक का विशद परिचय लेकर रखना होगा। आभास कहते हैं किसे ? मेरी यह जो कारोबारी चेतना है, इसके आधार पर जो सब छबियाँ बन रही हैं, वे सभी न सही, अधिकांश ही तो आभासमात्र हैं। इस आभास का जंजाल काटकर इसके पीछे तत्सत् रूप में जो परम सत्य विद्यमान है उसकी ओर ही हमें क्रमशः अग्रसर होना होगा। अर्थात् जप वा ध्यान के द्वारा मेरे इस साधारण चालू आभास के प्रति ऐसी कोई समर्थ प्रक्रिया चलानी होगी जिसके फलस्वरूप वह रूपान्तरित एवं शोधित होकर चरम जो पूर्ण भान (Perfect Experience) है उसमें विवर्तित हो सके (Transformed Sublimated)। इस अत्यावश्यकीय विवर्तन के क्रमिक सोपान एवं उपायों को दिखाने के लिए ही पूर्वोक्त भास एवं मर्शपञ्चक का प्रसंग यहाँ उठाया गया है ऐसा समझना होगा। हम लोग सचराचर जो जप-ध्यानादि करते हैं उसमें प्रायशः हम लोग अपने इस आभास विश्व (Apparent Universe) के बीच रह जाते हैं। यदि कभी एक आलोक-पुलकादि की अनुभूति मिलती है तब उसे इस आभास विश्व के बीच हम खपा नहीं सकते, इसीलिए उसे एक प्रक्षेप Interpolation समझा करते हैं। किन्तु श्रद्धाभाव के साथ काम चलता रहने पर समझ पाते हैं कि आभास विश्व का यह विराट् बुद्बुद् मानो अबकी बार फट पड़ने के लिए उपक्रम कर रहा है। तब मेरी क्रिया के बीच से एक अभिनव शक्ति का बाहु उद्गत एवं प्रसारित होता है। उसे प्रत्यक् प्रवणता कहा गया है, इसके फलस्वरूप जो सचमुच का भास (Experience of Real) है उसके प्रति एक प्रियोन्मुखता दिखाई देती है। इस सूचना को "प्रतिभास" कहा गया है। इस प्रतिभास के दिखाई देने पर ध्यान रखना होगा कि वह किस पथ पर किस प्रकार अग्रसर हो रहा है। गति का मुख तीन ओर हो सकता है। प्रथम, सकल संशय के पार जो परम निश्चय की भूमि (Realm of Absolute Certainty) है, उस ओर। द्वितीय, अवचेतना में संस्कारभूमि में जो शुभ मित्र संस्कार सुयोग की प्रतीक्षा में इतने दिन से पड़े हुए हैं, उनके साथ सन्धिस्थापन की ओर। प्रथम स्थल में गति का मुख मानो ऊपर की ओर है, द्वितीय स्थल में वह गहराई की ओर है। प्रथम की क्रमपरिणति के फलस्वरूप मिलते हैं प्रत्यवभास, अवभास, विज्ञान और प्रज्ञान। द्वितीय की क्रमपरिणति के फलस्वरूप मिलते हैं, शरण, अनुसरण (अनुभास) एवं ध्रुवा स्मृति। गीता ने इसे लक्ष्य करके कहा है **"व्याहरन् मामनुस्मरन्।"** प्रकृत प्रस्ताव में साधारण जप आभास की सीमा से मुक्त होकर जब तक प्रतिभास के क्षेत्र में नहीं पहुँचता तब तक उसे सचमुच का **"व्याहरन्"** नहीं कहा जा सकता; उसी प्रकार फिर ध्यान भी जब तक इस क्षेत्र में

उपनीत नहीं होता तब तक उसे अनुध्यान और अनुसरण नहीं कहा जा सकता। इन दोनों को छोड़ तृतीय और एक प्रकार की परिणति हो सकती है किन्तु वह वाञ्छनीय नहीं एवं उसके निमित्त साधक को सतर्क रहना होता है। उसे कहते हैं **"प्रत्यवभास"**। इस स्थल में जो यथार्थ भास (Experience as Real) है उसके सन्निकट हम नहीं हो सकते, परन्तु जो भास का अपलाप, विभ्रम, अवास्तव कल्पना इत्यादि हैं उन्हींके बीच जाकर अनजाने डूबते रहते हैं। अनेक साधकों के जीवन में स्थायी अथवा अस्थायी भास में इस अपपरिणाम के घटित होने की आशङ्का दिखाई दिया करती है। साधन-लब्ध अनुभूति के याथार्थ्य का विचार इसके बाद के सूत्र में कुछ परिमाण में किया गया है।

पहले एक सूत्र में सप्त व्याहृतियों की अन्तिम व्याहृतिरूप जो सत्य है उसका लक्षण किया गया है। तत्पश्चात् **"ॐ तत्सत्" "सत्यं ज्ञानमनन्तं"**—अथवा सच्चिदानन्द का जो "सत्" है, ब्रह्म के इस स्वरूप-लक्षण में जो सत्य है, वह सप्त व्याहृतियों के अन्तर्गत यह सत्य है अथवा उससे स्वतन्त्र और कुछ, यह दिखाने के लिए आगामी सूत्र कहा गया है :—

३०. बाधमात्रविरहप्रतियोगिकत्वाभाववत्त्वं सत्त्वमिति।

बाधमात्ररहित, अर्थात् किसी प्रकार की बाध-सम्भावना जिसमें नहीं, एवंविध सत्य को कहते हैं 'सत्'। (पञ्चम सूत्र तुलनीय)।

सत्य किंवा मिथ्या यह प्रश्न किस प्रकार उठता है ?

सत्य एवं सत्यत्व के बीच यह पार्थक्य विशेष रूप से प्रणिधानयोग्य है। जो कुछ 'अस्ति' वा 'है' रूप में प्रतिभात होता है उसे ही हम सत्य कह सकते हैं एक अर्थ में। वह भ्रम हो अथवा प्रमा हो, तब भी 'अस्ति' वा 'है' इस रूप में उसके सम्बन्ध में कोई संशय नहीं आ सकता। जैसे अन्धकार में रज्जु-सर्प दूसरे क्षण ही मिथ्या रूप में प्रतिपन्न भले ही हो जाता है, किन्तु रज्जु का सर्प रूप में जो भाव होता है उस सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं है। इस प्रकार जब आकाशकुसुम अथवा वन्ध्यापुत्र की मन में कल्पना करते हैं तब कल्पना के बाहर उसके अस्तित्व की कोई सम्भावना न होने पर भी वह कल्पना में विद्यमान है। आकाश-कुसुम कल्पना में भी नहीं है ऐसी बात तो कोई नहीं कहेगा। परस्पर विरोधी दो भावों को—जैसे वृत्त एवं चतुष्कोण को—कल्पना में भी एक साथ मिलाना सम्भव नहीं होता यह ठीक है, किन्तु वाक् उस असाध्य साधन को भी करने में पीछे नहीं हटती। इन सब उदाहरणों में हम देखते हैं कि केवल मात्र 'अस्ति' इस प्रकार अनुभूति मात्र में ही सत्य है। कौन अनुभूति सत्य अथवा मिथ्या है यह प्रश्न जब हम उठाते हैं तब वह प्रश्न इस सम्बन्ध में नहीं होता कि वह अनुभूति है कि नहीं। क्योंकि अनुभूति है इस सम्बन्ध में किसी संशय वा प्रश्न का अवकाश ही

नहीं है। रज्जु-सर्प को देखा इसीलिए प्रश्न करता हूँ—जो कुछ देखा वह सत्य है क्या ? यदि कुछ भी न देखता अर्थात् कोई अनुभूति न होती तब यह प्रश्न करने का अवकाश भी नहीं आता। अनुभूतियों को अन्य से निरपेक्ष बनाकर केवल मात्र अनुभूति रूप में ग्रहण करने पर वह अस्ति, है, सुतरां सत्य है। किन्तु जब किसी अनुभूति के स्थान पर अन्य कुछ की अपेक्षा करने जाते हैं तभी उस अनुभूति के सम्बन्ध में सत्य मिथ्यादि नानाविध प्रश्न सम्भावित हो सकते हैं। यथा उक्त रज्जु-सर्प के स्थल में हमारी अपनी देह की अनुभूति प्रभृति अथवा हस्तस्थित दण्ड की अनुभूति के साथ पुरोभाग में दृष्ट इस रज्जु-सर्प की अनुभूति की जब तुलना करने जाते हैं तभी वह मिथ्या वा प्रातिभासिक है ऐसा मानना पड़ता है। हमारी अपनी देह वा हाथ की लाठी जिस प्रकार है, सामने का रज्जु-सर्प वैसा नहीं है।

असाधारण अनुभूति का दृष्टान्त

गाढ़ भाव से जप अथवा ध्यान करते-करते भीतर किसी विशेष प्रकार की अनुभूति हुई। कोई ज्योति वा मूर्ति दीख पड़ी, कोई ध्वनि श्रवणगोचर हुई अथवा कोई गन्ध वा स्पर्श अनुभूत हुआ। अनुभूति हुई है इस सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं है। वह अस्ति सुतरां सत्य है ? किन्तु अनुभूति होते ही अथवा उसके बाद में मन स्वतः ही यह प्रश्न करना चाहता है—जो देखा वा सुना वह क्या सत्य अथवा स्वप्नवत् अलीक अथवा केवल कल्पना मात्र है ? कहना न होगा, इस प्रकार के प्रश्न उठाते ही मन को सत्य मिथ्या का एक लक्षण वा मापदण्ड सोच लेना पड़ता है। यथा मैं आँख खोलकर सामने प्रदीप का आलोक जैसे देखता हूँ, आँख बंद करके जो आलोक देखता हूँ, सोचता हूँ कि वह आलोक क्या पहले जैसा वास्तव कुछ है ? यह प्रश्न उठाते ही वास्तव का एक लक्षण मुझे समझ लेना होता है। चर्म-चक्षु द्वारा जो देखूँगा वही एकमात्र वास्तव है, वास्तव का यह लक्षण करने पर आँख बंद करके जो कुछ मैंने देखा उसे अवास्तव कहने के सिवाय कोई गति नहीं है। यदि कहें मेरी तरह और दस जने जिसे देख पाते हैं केवल उसीको ही वास्तव कहेंगे, ऐसा होने पर भी मेरे इस निज की आन्तर अनुभूति को अवास्तव ही कहना होगा। क्योंकि वह केवल मैं ही देखता हूँ, अन्य कोई मेरे निकट उपस्थित रहने पर भी नहीं देखता है। तब क्या सचमुच ही यह अवास्तव है ! वास्तव और अवास्तव का यह कारोबारी हिसाब खूब ही मोटामोटी हिसाब है। सूक्ष्म के क्षेत्र में अथवा विशेष-विशेष में यह हिसाब हमें छोड़ देना पड़ता है। जैसे विज्ञानागार में अनेक गवेषणाओं में होता है। विज्ञानागार में किसी नूतन परीक्षा में प्रवृत्त होकर मैंने जो कुछ देखा उसे अणुवीक्षणादि यन्त्रों की सहायता से ही देख पाया, मात्र चर्मचक्षु से नहीं। और जिस समय उसे देख पाया, उस समय एकमात्र मैंने ही

देखा, अन्यों ने नहीं; किन्तु मात्र इसी कारण से उसे अवास्तव वा मिथ्या कहना होगा क्या? इच्छा एवं चेष्टा करने पर मैंने विज्ञानागार में जिस उपाय से जिस रूप से उसे प्रत्यक्ष किया है दूसरे भी उसी उपाय से उसी प्रकार उसका प्रत्यक्ष कर सकते हैं। अवस्था-पुञ्ज एक ही प्रकार का होने पर फल भी एक प्रकार का होगा, इस मूल सूत्र का अवलम्बन करके ही किसी भी परीक्षा की सत्यता अथवा असत्यता व्यवस्थित हुआ करती है। जपादि साधन में जो अनुभूतियाँ आया करती हैं वे भी इसी जाति की हैं। उस क्षेत्र में अणुवीक्षणादि द्वारा हमें अपनी साधारण दृष्टि को प्रसारित भले ही नहीं करना पड़ता, किन्तु उसे प्रसारित करने के लिए अन्य उपायों का सुष्ठु भाव से आश्रय लेना होता है। विज्ञान के यन्त्र की कृपा से जिस प्रकार व्यवहित, विप्रकृष्ट पदार्थों का दर्शन सम्भव हुआ है, योग के संयमादि प्रयोग से भी (अर्थात् ध्यान धारणा समाधि द्वारा) उस प्रकार का दर्शन सम्भव हो सकता है। वह यदि है तब दृष्टि को स्वच्छता और प्रसार के निमित्त बाहर के यन्त्र की अपेक्षा वहाँ नहीं रह सकती।

सर्वविध परीक्षा में त्रिविध दोषों की सम्भावना और त्रिविध परिहार

वैज्ञानिक परीक्षा में भ्रम-प्रमाद की अपेक्षा न्यूनाधिक रहती है एवं उसके हेतुओं का यत्नपूर्वक परिहार करना पड़ता है। दोषों को प्रधानतः तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। प्रथम, जिस यन्त्र एवं उपाय द्वारा परीक्षा हो रही है वह सदोष हो सकता है। इसलिए यन्त्र-शुद्धि एवं उपाय-शुद्धि आवश्यक है। द्वितीय, जिस अवस्थापुञ्ज के बीच परीक्षा हो रही है वे शायद सुनिरूपित और सुनियन्त्रित नहीं हों, अर्थात् अवस्थापुञ्ज ठीक ऐसा ही है, अन्य रूप नहीं है, इस सम्बन्ध में ठीक निःसन्दिग्ध नहीं हो सके हैं, अथवा अवाञ्छित कोई अवस्था यदि विद्यमान हो तो उसे नियन्त्रित करने का कोई उपाय भी दिखाई न दिया हो। तृतीय, जो परीक्षक हैं उनके अपने संस्कारगत अथवा अनवधानादि निमित्तदोष रह सकते हैं। इस त्रिविध दोष की सम्भावना न्यूनाधिक रहती है, इसलिए वैज्ञानिक परीक्षा में किसी दृष्टिफलक को सरासर ग्रहण नहीं किया जा सकता। परीक्षा में यथासम्भव सतर्कता बरतने के अलावा भी परीक्षक को प्रधानतः तीन विषयों की अपेक्षा रखकर चलना होता है। प्रथम, जिस विषय को लेकर परीक्षा की जा रही है, उस सम्बन्ध में जो प्रामाणिक शास्त्र है उसका समर्थन मिला या नहीं। द्वितीय, उस विषय में अथवा तदनुरूप विषय में पूर्वाचार्यों ने परीक्षा से जो फल पाया है, मेरे लब्ध फल के साथ उसकी संगति है या नहीं। तृतीय, यदि असंगति है तो उस असंगति का यथेष्ट एवं संगत हेतु वर्त्तमान क्षेत्र में विद्यमान है या नहीं। आध्यात्मिक साधन में हम जो असाधारण अनुभूतियाँ पाते हैं, उनके सम्बन्ध में भ्रम-प्रमाद की आशङ्का है इस विषय में सन्देह नहीं। एवं वैज्ञानिक परीक्षा की भाँति पूर्वोक्त त्रिविध

कारण से उसमें दोष की सम्भावना हो सकती है। वैज्ञानिक परीक्षा में अप्रमाद होने पर परीक्षक के बाहर जो हेतु हैं (objective conditions) उनका ही प्राधान्य होता है; परीक्षक की अपनी आन्तर त्रुटि के कारण परीक्षा में भ्रमप्रमादादि सम्भव होने पर भी वे पूर्वोक्त हेतुओं की तुलना में गौण हैं; किन्तु आध्यात्मिक साधन के समय बाह्य यन्त्र (Apparatus) का प्रयोग नहीं रहता, साधक की अपनी शारीर एवं मानस अवस्था के ऊपर ही परीक्षा का फलाफल प्रधानतः निर्भर करता है। देश-कालादि पारिपार्श्विक हेतुओं की बिलकुल अपेक्षा नहीं है ऐसा नहीं, किन्तु प्रधानतः साधक के प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय इस त्रिविध कोष की उपयुक्तता के ऊपर ही साधन की सफलता विशेष भाव से निर्भर किया करती है। सुतरां साधक को अपने प्राणमय कोष को सर्वप्रथम साधन की अनुकूल अवस्था में ले आना होता है। इस निमित्त आहारादि शुद्धि का एवं आसन-प्राणायामादि के अभ्यास का प्रयोजन हो सकता है। देह में प्राण के प्रवाह के अनाविल और शान्त होने पर साधन की प्रथम भूमिका प्रतिष्ठित होती है। यम, नियम, आसन एवं प्राणायाम ये चारों योगाङ्ग एवंविध अनाविल और शान्त प्राणप्रवाह के प्रवर्तन में सहायक हैं। तत्पश्चात् साधक का मनोमय कोष शोधित होना आवश्यक है। **अलमतिविस्तरेण**, मन का वा चित्त का मल है रजः और तमः।

चित्त का मल कैसे अपगत होता है ?
साधना में कल्पना का क्रमिक शोधन और बोधन।

दीर्घकाल निरन्तर सत्कारपूर्वक सम्यक् भाव से साधन-भजन चलते रहने पर चित्त के ये दो मल अपगत हो जाते हैं एवं चित्त विशुद्ध सत्त्वगुणोपेत हो जाता है। इसके फलस्वरूप चित्त सातिशय प्रकाशशील बनता है। एवंविध चित्त जिस विषय को जिस प्रकार ग्रहण करता है वह विषय उसी प्रकार सचमुच ही विद्यमान है। सुतरां एवंविध चित्त का लब्ध जो ज्ञान है वही यथार्थ ज्ञान वा प्रमा है। मूढ़, क्षिप्त अथवा विक्षिप्त अवस्था में चित्त को, जो सब ज्ञान होते हैं वे सब ज्ञान शुद्ध और यथार्थ ज्ञान के रूप में नहीं गिने जा सकते। किन्तु इस मनोमय कोष में ही अन्त होने से नहीं चलेगा। विज्ञानमय कोष को भी उससे निचले कोषों के संस्कारपाश से मुक्त करके अपने शुद्ध स्वभाव में प्रतिष्ठित करने का यत्न करना होता है। साधारणतः जीव का विज्ञानमय कोष अन्नमयादि निम्न कोषों का विचित्र योगप्रवण जो संस्कार है उसीके द्वारा बद्ध हुआ रहता है। बुद्धि के स्वभावतः सत्त्वगुणात्मक होने पर भी वह सत्त्वगुण नीचे की कामना, वासनादि के (Subconscious के negative momenta) द्वारा समावृत होकर विलुप्तप्राय हो जाता है। इस राहुग्रास से बुद्धि को मुक्त न कर पाने पर

बुद्धि केवल-मात्र हमारे बन्धन-संस्कार की पोषकता करती रहती है, मोक्ष अथवा मुक्ति-संस्कार का कोई उपाय करने में असमर्थ रहती है। हमारे साधारण ज्ञान के जो दैन्य और कार्पण्य हैं वे भी मुख्यतः इस बुद्धिदोष से ही होते हैं। सुतरां बुद्धि को जब तक निर्दोष नहीं बना लिया जाता तब तक हमारा कोई ज्ञान वा अनुभूति यथार्थ विज्ञान के रूप में अभिहित नहीं हो सकती। सचराचर हम लोग अपने राग-द्वेष के संस्कार से चालित होकर ही मुक्तिविचार का सूत्र अनुसरण करते हैं। इसीलिए वह सूत्र हमें विज्ञान का सन्धान नहीं देता। आलोक का सन्धान देने का भरोसा हमें देकर वह हमें कल्पित अग्नि (वड़वानल जैसी) के पीछे ही दौड़ाता रहता है। अतएव साधक के पक्ष में उसके शारीर एवं मानस यन्त्र की अनुकूलता का लाभ ही हुआ मोक्षसाधन। यन्त्र जिस परिमाण में अनुकूल और उपकारक होगा, उसी परिमाण में यन्त्र-लब्ध फल, अर्थात् अनुभूति सत्य होगी। कहना न होगा कि इसमें एक क्रम की अपेक्षा रहती है। क्रम की अपेक्षा है इसीलिए साधन की जो सफलता है वह भी क्रम की अपेक्षा रखती है। अर्थात् साधन में प्रवृत्त होकर प्रथम-प्रथम जो अनुभूतियाँ हम पाते हैं उन्हें पूर्ण एवं एकान्त भाव से सत्य नहीं समझा जा सकता। प्राणमयादि उक्त त्रिविध आभ्यन्तरीण यन्त्र अभी-अभी तो अनुकूल होने की ओर कुछ प्रवणता पा रहा है, किन्तु सम्पूर्ण रूप से अभी अनुकूल नहीं हुआ है। विरोधी संस्कारों के कारण बाधा अभी भी प्रचुर भाव से विद्यमान है। पातालादि 'निम्न' तल-वृत्ति स्वरादि 'ऊर्ध्व' तल-वृत्ति के साथ अभी भी congruent नहीं हुई है। सुतरां एवंविध यन्त्र-साहाय्य से जो फल पाता हूँ उसके आवश्यकतानुसार शोधनादि करने की अपेक्षा रहती है। लब्ध अनुभूति के साथ अनेक मिथ्या कल्पनादि भी बेमालूम जड़ीभूत हुए रहते हैं। अनेक बार कितनी-सी कल्पनाएँ हैं और कितना-सा वास्तव है यह निर्णय करना दुःसाध्य हो जाता है। शायद कल्पना को ही अज्ञातसार में (बिना जाने-बूझे) सत्य अनुभूति के रूप में अपने-आपमें समझ लेने का लोभ हम संवरण नहीं कर पाते। हम आगे देखेंगे कि साधारणतः जिसे हम कल्पना मात्र कहते हैं और ब्रह्म-कल्पना—जिसके द्वारा "**ऋतञ्च सत्यञ्च**" क्रम से यह निखिल सृष्टि रचित हुई है—इन दोनों के बीच बहुत से क्रमोन्नत स्तर वा सीढ़ियाँ हैं। उन सब सीढ़ियों को एक के बाद एक अतिक्रम करके जब तक हमारी अनुभूति ब्रह्म-कल्पना में उपनीत नहीं होती, तब तक विश्व की सत्यता के सम्बन्ध में पूर्ण एवं अभ्रान्त ज्ञान सम्भाबित हो नहीं पाता। उस पूर्ण अभ्रान्त ज्ञान का नाम वेद है। कहना न होगा कि यह वेद नित्य अपौरुषेय है। ऋषियों के दर्शन में यह प्रकाशित होता है। साधनालब्ध सभी अनुभूतियों का चरम लक्ष्य है यह पूर्ण अभ्रान्त ज्ञान। किन्तु जब लक्ष्य दूर है तो साधक को अवश्य ही धीरे-धीरे क्रम-क्रम से लक्ष्य की ओर अग्रसर होना होगा। जैसे जप के साधन में प्रथम वैखरी जप को लेकर ही आरम्भ होता है।

तब मध्यमा, पश्यन्ती वा परा का कोई सन्धान ही नहीं। तब कुछ शब्द की आवृत्ति करके ही शायद जप चलता है। साथ-साथ चिन्तन या भावना करने की जो वस्तु गुरु निर्देश कर देते हैं, मलिन और चञ्चल मन उसे कल्पना वा धारणा करने का कुछ प्रयास मात्र करता है। किन्तु ठीक प्रकार से जप चलने पर वैखरी जप जिस प्रकार मध्यमा के सेतु में जाकर उपनीत होता है एवं सेतु के पार में पश्यन्ती लोक का स्पर्श लाभ करता है एवं साथ-साथ जपशक्ति का असाधारण परिचय भी कुछ-कुछ पाना आरम्भ करता है, मन की कल्पना भी उसी प्रकार क्रमशः स्थिर एवं स्वच्छ होकर दृढ़ भावना में अपने को घनीभूत कर लेती है। तब जप-काल में साधक की बाह्य संज्ञा अल्पाधिक तिरोहित हो जाती है एवं साधक तब ध्यानलोक में जाकर प्रविष्ट होते हैं। अब जिसे ध्यानरस कहते हैं उसका आस्वाद साधक को मिलना आरम्भ हो जाता है। पूर्व की भूमि में नाना विरोधी अरिच्छन्दों के साथ संग्राम करते-करते साधक का जो अभ्युदय हो रहा था उसे हमने कृच्छ्रोदय नाम दिया है। किन्तु ध्यानरस का आस्वाद पाते रहने पर इस कृच्छ्रोदय-पर्व का अवसान हो जाता है।

जप की विभिन्न भूमि में विभिन्न ख्याति और छन्द :—
श्वास-श्वास में जप

हम पहले ही सप्त व्याहृतियों की आलोचना में देख चुके हैं कि उक्त सप्त व्याहृतियाँ विश्वजनीन सत्य हैं; इसलिए विश्व-अनुभूति की ओर से इन्हें सप्त ख्याति कहा जा सकता है। सुतरां जपादि साधन की ये सप्त व्याहृतियाँ हैं एवं प्रत्येक ख्यातिस्थल में एक निर्दिष्ट छन्द भी पड़ा हुआ है। इस प्रसंग में "सप्त सप्त" वा ७ × ७ इस आकृति की हम विवेचना करेंगे। वैखरी जप में जो विशेष ख्याति एवं छन्द विद्यमान है, मध्यमा तथा तदूर्ध्व किसी ग्राम में जप के पहुँचने पर जप की वह ख्याति एवं छन्द के परिवर्तन के फलस्वरूप जप का रूप एवं फल भी बदल जाता है। अर्थात् निम्न भूमि में जप जिस आकार वा प्रकार से चल रहा था, उच्चतर भूमि में जप का वह आकार-प्रकार वैसा नहीं रहता। निम्न भूमि में संख्या रखकर आयास के साथ जपाक्षरों की आवृत्ति किए जाना होता है। किन्तु उच्चतर भूमि में यत्नपूर्वक कोई संख्या रखकर जपाक्षरों की आवृत्ति करने का प्रयोजन फिर नहीं रहता। तब हमारी चेष्टा से जप न चलकर जप के प्रसाद से हम चलने लगते हैं। जप तब अपने प्राण-प्रवाह को अपने छन्द में नियन्त्रित कर लेता है। तब इस देह-यन्त्र की ताकीद से अथवा हमारी जप-क्रिया की गरज से श्वास-प्रश्वास नहीं चलता, तब श्वास-प्रश्वास का स्वच्छन्द जप में मानो लय हो जाता है। जैसे अच्छे संगीत में गीत एवं वाद्य का लय हो जाता है। जप के छन्द एवं श्वास के छन्द के एवंविध समीकरण को कहते हैं "श्वास-श्वास में जप"—जब

जप के प्रसाद से चित्त की गाढ़ तन्मयता आती है तब जैसे जप की संख्या-वृत्ति का लय हो जाता है, वैसे ही तब हमारा यह स्वाभाविक जप भी स्थिर होकर कुम्भक में परिणत हो जाता है।

कल्पना और भावना के तीन 'तीन' स्तर शेष, समापत्ति

ख्याति वा अनुभूति की ओर से देखने पर जप की भावना को हम प्रधानतः तीन भूमिकाओं में देख सकते हैं। प्रथम, कल्पना की भूमिका। इसके फिर तीन स्तर हैं—मलिन स्तब्ध कल्पना, चपल व्यस्त कल्पना एवं दृढ़ समस्त वा समग्र कल्पना। प्रथम में जो कल्पना करना चाहता हूँ उसे अस्पष्ट अचल भाव से मात्र कर सकता हूँ। द्वितीय स्थल में कल्पना चञ्चल होकर ध्येय वस्तु का यहाँ थोड़ा सा, वहाँ थोड़ा सा अथवा एक बार यह नाम, अन्य बार दूसरा एक नाम इस प्रकार भाग-दौड़ करती रहती है मात्र। मधुकर जिस प्रकार पुष्प के चारों ओर गुञ्जन करके घूमता रहता है, उसी प्रकार। कभी वह पुष्प का त्याग करके लक्ष्यान्तर में भी धावित होता है। पहले जिन वैलक्ष्यादि दोषों की बात की हमने आलोचना की है वे दोष इस अवस्था में हमें विशेष रूप से धर दबाते हैं। उसके बाद कल्पना के दृढ़ और शान्त होने पर वह ध्येय वस्तु की समग्र भाव से कल्पना करने में भले ही समर्थ हो जाती है तथापि वह अभी तक कल्पना ही है। इस निमित्त इस कल्पना की भूमि को पार करके साधक को उसके ऊपर की भूमिका में आरूढ़ होना पड़ता है। उस भूमिका का नाम है भावना। भावना होते रहने पर समझना होगा कि साधक को वस्तु में रसबोध हो रहा है। मधुकर अब गुन्-गुन् करके इधर-उधर घूमता नहीं फिरता। वह फूल की मधुगन्ध से आकृष्ट हो गया है एवं उसी पर वह बैठना चाहता है। इस भावना-भूमिका के भी तीन स्तर हैं—प्रथम अयुक्त भावना, द्वितीय युञ्जान भावना, तृतीय युक्त भावना। इन अन्तिम दो को हम मोटामोटी धारणा एवं ध्यान तो कह सकते हैं, किन्तु युञ्जान एवं युक्त कहना ही सुविधाजनक है। युक्त भावना के बाद भी और एक भूमि है—उसे हम भावन-भावना अथवा समापत्ति कह सकते हैं। इस सप्तम स्तर में पहुँचने पर साक्षात्कार वा अपरोक्षानुभूति हो सकती है। यथा 'क्रीं' इस काली बीज का जप करते-करते जब इस सप्तम भूमि में ख्याति वा अनुभूति आकर उपनीत होती है—तभी मेरी माँ केवल फिर मन्त्राक्षररूपिणी, कल्पनारूपिणी अथवा ध्यानरूपिणी होकर नहीं रहतीं, वे साक्षात् प्रादुर्भूत होती हैं। बालक ध्रुव ने नारद से द्वादशाक्षर वासुदेव-मन्त्र पाकर जप करते-करते ध्यान में वासुदेव का प्रथम दर्शन तो पाया, किन्तु उसे पाकर वह शान्त नहीं हुआ। शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी वासुदेव ध्रुव को साक्षात् दिखाई दिए, उन्हें स्पर्श किया एवं उनके साथ बात की। इस साक्षात् काल में आन्तर अनुभूति (Subjective

Experience) एवं बाह्य अनुभूति (Objective Experience) इन दोनों के व्यवधान और द्वन्द्व तिरोहित हो गए ।

साधक की आन्तर अनुभूति के स्थल में अपने को क्या-क्या प्रश्न कर उनका सदुत्तर पाना होगा ?

सत्य अनुभूति के पाँच लक्षण

जब तक बाह्य एवं आन्तर अनुभूति का यह व्यवधान दूर नहीं होता तब तक साधक को अपनी लब्ध अनुभूति की परख कर लेनी चाहिए । मोटामोटी तीन सूत्र पकड़कर इस परख का काम करना होता है । प्रथम, हमारे भीतर जो अवस्था हुई उसके सम्बन्ध में शास्त्र क्या कहते हैं ? द्वितीय, इस सम्बन्ध में पूर्व-पूर्व सन्त महाजन क्या साक्ष्य दे गए हैं ? तृतीय, उस सम्बन्ध में हमारे अपने गुरु का क्या अभिमत है ? यहाँ तक वैज्ञानिक परीक्षा के साथ अध्यात्म-जीवन की जो परीक्षा है उसका मेल है । किन्तु साधन के समय इन तीनों सूत्रों के अलावा भी अपनी लब्ध अनुभूति के आकार-प्रकार के सम्बन्ध में विशेष भाव से सजग और सावधान रहना होता है । जिस प्रकार स्वप्न के समय कुछेक विशेष-विशेष लक्षण वर्तमान देखने पर उस स्वप्न को फिर अलीक कहकर उड़ा नहीं दे सकते, उस प्रकार साधनलब्ध आन्तर अनुभूति वा अवस्था यदि कुछ विशेष लक्षणों से आक्रान्त हो तब उसे कल्पना नहीं समझा जा सकता । अभीष्ट लक्षणों को मोटामोटी पाँच प्रकार से समझा जा सकता है । प्रथम, अनुभूति की सुस्पष्टता एवं औज्ज्वल्य । द्वितीय, अनुभूति की स्थिरता वा स्थायित्व । तृतीय, अनुभूति की सुषमता और संगति । चतुर्थ, अनुभूति का उतरोत्तर उन्मेष अथवा विकास । पञ्चम, जीवन की समग्र अनुभूति धारा के ऊपर उस अनुभूति का प्रभाव एवं शासन । इन पञ्च लक्षणों के परिणाम के साथ कितना विश्वास है, उसकी मात्रा घनिष्ठ भाव से जड़ित रहती है । जो सत्य अनुभूति है उसके साथ ज्योतिः एवं आनन्द ओतप्रोत भाव से विद्यमान रहता है । सुतरां साधक की कोई आन्तर अनुभूति होने पर—वे स्वयं आरम्भ में अपने को ये दो प्रश्न पूछते हैं—प्रथम, यह क्या मुझे 'अजाना' एवं 'अबूझा' के तमः से ज्ञान एवं बोध के आलोक में ले गई ? जहाँ कुछ भी न पाकर अन्धकार में टटोलकर मर रहा था वह क्या आलोक से उद्भासित हो गया ? द्वितीय, न जानने एवं न पाने की जो अस्वस्ति एवं अशान्ति है वह क्या विदूरित होकर मेरे चित्त को स्वस्थ एवं शान्त कर गई ? कहना न होगा कि विज्ञानागार की भाँति साधन क्षेत्र में जो-जो अनुभूतियाँ वा अवस्थाएँ आती रहती हैं उनमें से सभी अभीष्ट वा वाञ्छनीय नहीं हैं; उनमें से शायद कोई-कोई प्रेयस्कर हो सकती है, किन्तु श्रेयस्कर नहीं । ऐसे स्थल पर समझना होगा कि केवल मात्र मित्र और मधुच्छन्द

में निरुपद्रव साधन नहीं चल रहा है, अरिच्छन्द भी विद्यमान है। अरिच्छन्द के विद्यमान रहने पर अशुभ संस्कार विरोधी भाव से क्रियाशील होने का सुयोग पाते हैं। उसके फलस्वरूप नानाविध अशुभ लक्षण प्रकाशित हो सकते हैं। अशुभ निवृत्ति न होने तक साधक के पक्ष में मलिन संकर धारा से मुक्त होकर शुभ शङ्कर धारा में प्रविष्ट होना सम्भव नहीं होता। बहुत दूर तक ये दोनों धाराएँ समानान्तर अथवा बारी-बारी से चलती रही हैं।

सत्य अनुभूति की भी क्रमिकता

सत्य अनुभूति के जो पाँच लक्षण दिए गए हैं वह क्यों ? थोड़ा-सा सोचने पर ही समझ में आयेगा कि उनमें से प्रत्येक की ही क्रमिकता और तरतमता की अपेक्षा है। मान लें कोई आन्तर अनुभूति उज्ज्वल और विस्पष्ट रूप से ही हुई। किन्तु प्रश्न उठता है—कहाँ, किस परिणाम में, किस भाव से, किस सम्बन्ध से वह उज्ज्वल और विस्पष्ट है ? मैं आँख खोलकर किसी वस्तु को जिस भाव से उज्ज्वल और विस्पष्ट देख पाता हूँ, मेरी ध्यानगोचर वस्तु क्या उसी भाव से उज्ज्वल और विस्पष्ट है ? अथवा उसकी तुलना में अधिक वा कम है ? संक्षेप में कहते हुए इन पाँच लक्षणों में प्रत्येक के सम्बन्ध में पाद, मात्रा एवं कला इन तीनों के विषय में प्रश्न उठता है, एवं वह यदि उठता है तो यह जिज्ञासा स्वभावतः ही होती है—इसकी काष्ठा वा सीमा कहाँ है ? अर्थात् अनुभूति किस मात्रा, पाद एवं कला में फूटकर तब निरतिशय वा यथार्थतम अनुभूति हो सकती है ? जिस उपाय द्वारा सत्य की अनुभूति होती है उसका साधारण नाम यदि दिया जाय बुद्धि तो अवश्य यह प्रश्न करना पड़ता है—बुद्धि कितनी विशारदी होने पर तब सत्य की निरतिशय रूप में उपलब्धि करने में समर्थ होगी ?

सत्य चतुष्पात् है—सत्ता, शक्ति, आकृति, छन्दः

हमारे अनुभव में सत्य चतुष्पात् होकर विराजता है। इन चार पादों को हम सत्ता, शक्ति, छन्दः एवं आकृति ये चार नाम देते हैं। सुतरां सत्य की पूर्ण भाव से उपलब्धि करने के लिए उसकी इन चारों ओर से पूर्ण भाव से उपलब्धि करनी होगी। जीव की बुद्धि इस चेष्टा में निरन्तर व्यापृत रहती है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु प्रायशः वह छाया को लेकर ही विभ्रान्त हुआ करती है। काया का सन्धान उसे कदाचित् ही मिलता है। ऐसी बुद्धि को सत्य के सम्बन्ध में अयुक्त कहा गया है। किन्तु जो बुद्धि छाया का विभ्रम समाप्त करके काया की 'सन्धानी' होना चाहती है, एवं उसी सन्धान में प्रवृत्त होकर तदुपयोगी उपाय आविष्कार करने में सयत्न है, उस बुद्धि को 'युञ्जान' कहा है। इस युञ्जान भूमि में भी सत्य के साथ उसका व्यवधान विद्यमान है, किन्तु वह व्यवधान क्रमशः ह्रस्व होता जा रहा है। इस व्यवधान का दूरीकरण ही हुआ

सर्वविध विज्ञान और प्रज्ञान का लक्ष्य। अन्त में मान लें, बुद्धि ऐसी एक विशारदी भूमि में आ पहुँची है जहाँ सत्य के साथ उसका व्यवधान फिर सर्वथा नहीं है। इस भूमि को 'युक्त' अवस्था कहा है। किन्तु यहाँ आकर ही क्या यात्रा का अवसान है? स्वयं गीता ने भी युक्त, युक्ततर एवं युक्ततम इन तीन भूमिकाओं की बात कही है। इसीलिए 'युक्त भूमि' में आकर भी तरतमता के पार अभी हम उत्तीर्ण नहीं हो सके हैं ऐसा कहना पड़ता है। तब भी बुद्धि को कहना होता है—मैं तो सत्य से युक्त हुई हूँ, किन्तु युक्ततर किस उपाय से बनूँगी? एवं अन्त में युक्ततम भी कैसे बनूँगी यह क्या अन्त तक एक अशेष मार्ग की यात्रा है? परिपूर्ण सत्य क्या अन्त तक मुझसे किनारा ही काटता चलेगा? किसी-किसी दार्शनिक मत ने सत्य की ओर ज्ञान के इस अभियान को अन्तहीन ही समझा है; एवं हमारी बुद्धि भी सचराचर क्रमिकता और धारावाहिकता के बीच कारोबार करने में अभ्यस्त है, इससे ऐसा लगता है कि सत्य के सम्बन्ध में बुद्धि की यह आकृति और अभियान किसी काल में भी शायद शेष और चरितार्थ होने का नहीं।

बुद्धि—साधारणी, समञ्जसा और समर्था; तुरीय ख्याति कहाँ से आरम्भ है?

किन्तु बुद्धि को हम 'साधारण कारोबारी' रूप में पहचानते हैं इसीलिए ऐसा समझने को बाध्य होते हैं। बुद्धि ने अपने साधारण व्यवहार में कुछेक सूत्रों (catagories) के अनुसार चलने के लिए अपने को बाध्य रखा है, किन्तु इस बाध्यता के पाश से अपने को मुक्त करने की एक सचमुच की आकूति और सम्भावना भी उसके भीतर विद्यमान है। इसीलिए साधारणी बुद्धि के रूप में जिसे हम एक अनन्त श्रेणी वा धारा के रूप में पाते हैं—बोधि अनन्त के रूप में उसे अक्रमिक समग्र एवं पूर्ण रूप में भी हमें पाने में बाधा नहीं है। पहले के एक सूत्र में अन्धेरे वन में चलते-चलते टार्च की रोशनी से पथ देखकर चलने के पार्थक्य पर ध्यान दिलाया गया है। वस्तुतः बुद्धि महः इस तुरीय ख्याति में उपनीत होते ही अपने आकार-प्रकार को बदल डालती है। पहले जहाँ कितने संकोच से, कितने आयास से उसे एक के बाद एक पैर बढ़ाकर चलना पड़ता था, अब इस चतुर्थ ख्याति में उपनीत होकर वह देख पाती है कि उसके भीतर वामनरूप जो पुरुष इतने दिन शयान थे, वे इस बार साक्षात् उस क्रम के रूप में जागरित हुए एवं **'त्रेधा निदधे पदम्'**--अपने एक पद में ही स्वर्ग-मर्त्य-पाताल इस त्रिभुवन को अधिकृत कर डाला। तब स्वयं अवाक् होकर सोचना पड़ता है—**'एतावानस्य महिमा!'** जो मेरी बुद्धि इतने दिन सामान्य यह-वह लेकर माप-जोख में व्यापृत थी उस बुद्धि ने आज अतर्कित ही ऐसे एक महाविपुल का सन्धान पाया है जिसके सम्बन्ध में उसका कोई भी माप-दण्ड (Measures, Preconception) आज अवकाश खोजकर नहीं पा रहा

है ! इस परम सत्य को वरण करने के लिए बुद्धि का इस प्रकार जो 'अभिसार' है, उसकी, नायिका के अभिसार के साथ तुलना करें निम्नलिखित इस कारिका में :—

वा० व्यस्तं छन्दः क्रमिकविषयं याति साधारणी धी-
र्वैराजं याऽनुसरति समा चाऽञ्जसा मध्यमा सा।
पूर्णं ह्यर्थं भजति महसा छन्दसो या समर्था
त्रेधात्मानं त्वतिजिगमिषुर्नायिका सा तुरीया ॥ ८८ ॥

अन्वय—साधारणी धीः क्रमिकविषयं व्यस्तं छन्दः याति। या वैराजम् अनुसरति, सा समा, अञ्जसा मध्यमा च। या छन्दसः पूर्णं हि अर्थं भजति, (सा) महसा समर्था। (या) तु आत्मानं त्रेधा अतिजिगमिषुः, सा तुरीया नायिका ॥ ८८ ॥

[साधारणी धी (बुद्धि) क्रमिक विषयवाले व्यस्त छन्द की ओर जाती है। जो (धी) वैराज का अनुसरण करती है वह समा, अञ्जसा और मध्यमा है। जो छन्द के पूर्ण अर्थ में पहुँचती है, वह ज्योति से समर्थ है। (जो तो) अपने-आपका तीन प्रकार से अतिक्रमण करना चाहती है, वह तुरीया नायिका है ॥ ८८ ॥]

भाष्य—साधारणी नायिका की भाँति जीव की यह साधारण बुद्धि किसके अनुसरण में चली है ? बुद्धि के अनुसरण की वस्तु सब स्थलों में छन्दः है, छन्दः को छोड़कर और कुछ भी नहीं। किन्तु यह साधारणी नायिका किस प्रकार के छन्द में अनुसरण करती है ? वह है व्यस्त छन्दः—अर्थात् टुकड़ा-टुकड़ा छन्दः—जिनकी व्याप्ति स्वल्प है एवं शायद जिनके परस्पर के बीच संगति का भी अभाव है। जीवन का व्यवहार चलाने के निमित्त ऐसे छन्द की आवश्यकता है, किन्तु ऐसे छन्द के द्वारा जीवन का व्यवहार अवश्य ही सौष्ठव के साथ नहीं चल सकता। इसीलिए साधारणी नायिका को पद-पद पर बहिर्बाधा, स्वविरोध इन सबका सम्मुखीन होना पड़ता है। हमने पहले छन्द के जिन पाँच पर्वों की आलोचना की है उनमें से बहुत से बहुत प्रथम दो मात्र को साधारणी बुद्धि साध सकती है-- अर्थात् परिणयि और अन्वयि। इस साधारण बुद्धि का जो कार्पण्य है उससे जो बुद्धि ऊपर उठ जाती है उसे कहते हैं समञ्जसा। यह समञ्जसा नायिका किसका अनुसरण करती है ? वैराज छन्द का, अर्थात् जो छन्दः यहाँ थोड़ा-सा, वहाँ थोड़ा-सा इस प्रकार कुण्ठा में नहीं दिखाई देता, परन्तु जो स्थूल और सूक्ष्म समग्र विराट् के बीच अकुण्ठ अनुस्यूत है—वह समन्वयि छन्दः है। विज्ञान की जो बुद्धि है वह इस प्रकार के समन्वयि छन्दः के अनुसरण में अपने को नियुक्त किये हुए है। किन्तु बहुत दूर अग्रसर होकर भी अकुण्ठ की अभिसारिका यह समञ्जसा बुद्धि अपनी कुण्ठा और संकोच किसी प्रकार भी समाप्त नहीं कर पा रही है ऐसा हम देखते हैं। विश्व की सभी घटनाएँ छन्द

के घेरे में आ जाती हैं किन्तु विश्व के मूल में जो ऋत है, जो सत्य है, उसका क्या ? अणु, महान् सब कुछ के मूल में जो परिपूर्ण सत्यार्थ (Complete Meaning or Significance) है उसका अपने महान् छन्द द्वारा यजन, वरण एवं उपलब्धि करने में जो बुद्धि समर्थ होती है, वह विज्ञान की बुद्धि के भी ऊपर है।

विज्ञान के ऊपर प्रज्ञान है, समञ्जसा के बाद समर्था है

यह हुई प्रज्ञान की बुद्धि एवं यह समर्था नायिका है। यह बुद्धि छन्द के जिस पर्व में अधिरोहण करने में समर्थ होती है उसे हमने महासमन्वयि के रूप में जाना है। किन्तु यहीं पर क्या शेष है ? बुद्धि अपने को इस त्रिविध नायिका की भूमिका में सजाकर छन्दोरूपी सत्य का तीन प्रकार से यजन करती है। किन्तु अपनी तीन भूमिकाओं के पार बुद्धि अपने को प्रसारित करने की इच्छा जो करती है (अतिजिगमिषुः); इतना करके भी वह मानो अब भी परम सत्य को बिलकुल अपना करके नहीं रख सकी है। इसलिए बुद्धि का एक तुरीय भाव भी है यह समझना पड़ता है। कहना न होगा कि इस भाव में आने पर बुद्धि के मान-मेयादि सब स्वभाव-व्यवहार अपगत हो जाते हैं। तब बुद्धि अपने स्वभाव को ही अतिक्रम कर डालती है (Transcends itself)। इसीलिए जो परम उपलब्धि और आस्वादन तब उसे होता है, उसके सम्बन्ध में बुद्धि की अथवा उसकी अनुगामिनी भाषा की कोई विवृति देने को कुछ नहीं रहता। इस परम भूमि में आकर बुद्धि के जिस छन्द का साक्षात् परिचय मिलता है उसे हम परम समन्वयि रूप में जानते हैं।

वैज्ञानिक और दार्शनिक चिन्ता की दुश्चिन्ता

सचराचर वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक चिन्ता बुद्धि की इस समञ्जसा भूमिका तक स्वीकार करने को ही प्रस्तुत होती है। समर्था के संवाद से वह भय पाती है, अथवा अविश्वास से सिर हिलाती है; और तुरीया तो अपनी कल्पना तक का स्पर्श कहाँ करती है ? बुद्धि को Intellect, Understanding यहाँ तक कि Reason के रूप में देखने पर ही इस प्रकार एक-एक सीमान्त पर अटककर खड़े हो जाना पड़ता है। पश्चिम में Kant इत्यादि दार्शनिकों ने अन्तिम दो के पैरों में बेड़ी डालकर रखना चाहा है। बुद्धि अपनी शुद्धि के रूप में (as Pure Reason) जिन सब महत्तर 'अक्रमिक' सत्यों का सन्धान हमें देना चाहती है उनके सम्बन्ध में अविश्वासी होने का ही Kant इत्यादि ने 'प्रकाश्य' परामर्श दिया है। अवश्य ही Kant ने स्वयं प्रकारान्तर से (मानो घूँघट डालकर) एवं उनके परवर्ती किसी-किसीने बहुत कुछ प्रकट रूप में ही इन सब महत्तर सत्यों की अनुभूति को अधिकार में और 'मजलिस' में लाकर अवश्य बैठाया है। किन्तु तथापि कहना पड़ता है कि उनके चिन्तन और ध्यान में बुद्धि की समर्था

और तुरीया इन दो सर्वोत्तम भूमिकाओं का अवगुण्ठन सम्यक् उन्मोचित नहीं हुआ है। बुद्धि को उसके अपने मानस संस्कार के ऊर्ध्व में जब तक उठा न पायें, अथवा Supramental भूमि जब तक अधिगत न हो तब तक सत्य के 'महान्' एवं 'परम' ये दोनों रूप हमसे किनारा काटते चलेंगे। ॥ ८८ ॥

अब बुद्धि का 'त्रिनेत्रा' के रूप में ध्यान करें, निम्नलिखित कारिका में :—

वा० उरसि शिरसि चास्ये त्रीणि चक्षूंषि तेषां
दृशिपटरसभासः कः प्रधीर्निश्चिनोति।
बहिरिति च सदेकं भाश्च भर्गो वरेण्यं
रस इति रसभूमा कस्य तारश्च तत्सत् ॥ ८९ ॥

अन्वय—उरसि शिरसि आस्ये च त्रीणि चक्षूंषि, तेषां (चक्षुषां) दृशिपट-रसभासः कः प्रधीः निश्चिनोति ? बहिः इति च सत् एकं भाः वरेण्यं भर्गः च, रस इति रसभूमा च कस्य तारः, तत् सत् ॥ ८९ ॥

[उरस् (हृदय), शिरस् (सिर) और मुख में तीन चक्षु हैं। उन (चक्षुओं) के दृश्यपट, रस और भास का कौन प्रकृष्टबुद्धिमान् निश्चयपूर्वक ग्रहण कर पाता है ? वह बाहर (और भीतर) एक ही सत् भाः (ज्योति) है, जोकि 'वरेण्य भर्गः' है। रस है **'रसो वै सः'** वाला भूमा। 'तार (ॐ) तत् सत्'—यह किसकी (बुद्धि) में आता है ? ॥ ८९ ॥]

भाष्य—तुम्हारे मुख-मण्डल में जो दो चक्षु हैं उनके द्वारा बहिर्विश्व का जो विचित्र चित्रपट है उसे तुम देखते ही हो, एवं उसे देखकर तुम्हारा मन और बुद्धि अपनी साधारणी वृत्ति चला रहे हैं। किन्तु तुम्हारे हृदय में (उरसि) एवं भाल में (शिरसि) और भी दो चक्षु हैं यह जानती हो न ? एक भाव का चक्षु है—वह तुम्हें रसबोध, रसानुभूति देता है; ऊपर ज्ञान का नेत्र है—वह तुम्हें देता है आलोक का, ज्योति का सन्धान। तुम साधारणी नायिका के भजन में भूल ऐसी गयी हो कि अन्य दो नेत्रों का संवेदन प्रायः ही तुम्हारे पास नहीं पहुँचता। अथ च इन दो नेत्रों के न खुलने पर बुद्धि समञ्जसा-समर्था नहीं होगी।

इसीलिए कारिका में कहा गया है—कौन ऐसा प्रधी (प्रकृष्ट धीसम्पन्न) है जिसकी धी इस विविध दृष्टि की विषयवस्तु, जो दृश्यपट, रस एवं ज्योतिः (भाः) है, इन तीनों का निश्चयपूर्वक ग्रहण एवं अपने परम प्रयोजन में विनियोग कर सकती है (निश्चिनोति) ? वह परम प्रयोजन कहाँ तक है एवं वह क्या है ? भीतर-बाहर तो अनन्त विचित्र एक छवि दिखाई दे रही है, फलस्वरूप मिलता है घात-प्रतिघात,

हँसी-रुलाई कितना कुछ ? किन्तु यह सभी वह एक सद्वस्तु (सदेकं) है,—सभी वे हैं—यह जानकर शान्त हो जाओ। ललाट की आँख गुरु-कृपा से जपादि साधन में यदि तुम्हारी खुल जाय, एवं उसके द्वारा यदि तुम अलोक-लोक के आलोक का सन्धान पाओ, तब जानो कि वह आलोक (भाः) वह **'वरेण्यं भर्गः'** है जिसकी बात गायत्री मन्त्र ने सुनाई है। और, हृदय के नेत्र में यदि रस (भावपुलकादि) का स्पर्श पाओ तो जानना कि वह रस **'रसो वै स भूमा'** है। तब समझना 'रूप-सागरे डुब दियेछि अरूप रतन आशा करि' (रूप के सागर में मैंने डुबकी लगाई है अरूप रतन की आशा में)।

वस्तुरूप में जैसे जानें, मन्त्ररूप में भी उसी परम सत्य को जानें—**'ॐ तत् सत्'**। किन्तु जो बुद्धि ऐसे जानेगी वह बुद्धि कहाँ है ? (कस्य)। पूर्व की कारिका में बुद्धि की भूमिकाओं की इन भूमिकाओं के साथ तुलना करें।

बाहर के और मन के चलच्चित्र में जब तक अधिक अभिनिवेश रहता है (श्रुति के उस **'परांचि खानि'** का फिर से स्मरण करें), तब तक दूसरी दो दृष्टियाँ सम्यक् खोलने के लिए **'आवृत्तचक्षुः'** होने का साधन करना होता है। अर्थात्, सचमुच ज्योतीरस (अमृत) के अभिलाषी को 'धीर' और शान्त होना होता है। किन्तु ज्योती-रस-सम्बन्धिनी जो दृष्टि है उसका पूर्ण उन्मेष होने पर पराक् वा बहिर्मुख भी फिर वैसा नहीं रहता। तब 'बहिरिति सदेकम्'। फिर, भावनेत्र में एवं ज्ञाननेत्र में—रस की अनुभूति एवं ज्योति की उपलब्धि—इन दोनों में से किसीके भी अन्ध होने से नहीं चलेगा।

बुद्धि को 'नायिका' (Leading Light) के रूप में देखने पर समर्थी के बाद भी तुरीया भाव को स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार 'त्रिनेत्र' (Three Meanings) के रूप में देखने पर भी इन तीनों के भी अतीत एक 'तुर्यगा' दृष्टि स्वीकार करनी होती है। 'तुरीया' एवं 'तुर्यगा' इन दोनों में ही बुद्धि चाहती है अपने को ही मानो अतिक्रम करना ॥ ८९ ॥

प्रपञ्चोपशममद्वैतमधिष्ठानं तुरीयया।
तत्र तुर्यगया पूर्णं ध्रुवं शुद्धमपीष्यते ॥ ९० ॥

अन्वय—तुरीयया (धिया) अद्वैतम् अधिष्ठानं प्रपञ्चोपशमम्। तत्र तुर्यगया (धिया) पूर्णं ध्रुवं शुद्धम् अपि इष्यते ॥ ९० ॥

[तुरीया (धी) द्वारा 'अद्वैत अधिष्ठान प्रपञ्च का उपशम' रूप है। वहाँ तुर्य-गामिनी (धी) के द्वारा (वह) पूर्ण, ध्रुव, शुद्ध भी अभिप्रेत है ॥ ९० ॥]

महासमन्वयो यत्र पारम्यमवगाहते।
सर्ववित्त्वं च सार्वज्ञं तत्र निरञ्जनी स्थितिः ॥ ९१ ॥

अन्वय—यत्र महासमन्वयः पारम्यं सर्ववित्त्वं सार्वज्ञं च अवगाहते तत्र निरञ्जनी स्थितिः ॥ ९१ ॥

[जहाँ महासमन्वय 'परम होना', 'सर्ववित् होना' और 'सर्वज्ञ होना' में अवगाहन करता है, वहाँ निरञ्जनी स्थिति है ॥ ९१ ॥]

विषयः सन्धिभावौ च तात्पर्यं परमार्थता ।
द्वेऽन्तिमे निष्ठिते यत्र तत्र तत् सद् व्यवस्थितम् ॥ ९२ ॥

अन्वय—विषयः, सन्धिभावौ, तात्पर्यं परमार्थता च, यत्र अन्तिमे द्वे निष्ठिते, तत्र तत् सद् व्यवस्थितम् ॥ ९२ ॥

[विषय, सन्धि, भाव, तात्पर्य और परमार्थता (ऐसा क्रम है) जहाँ (इनमें से) अन्तिम दो स्थित हैं वहाँ **'तत् सत्'** व्यवस्थित है ॥ ९२ ॥]

विचिनुतेऽन्तिमख्यातिं सत्याद् यः सृष्टिसूक्तगात् ।
तपश्चैवमतः सत्यं तस्यौं तत्सदिति स्थितिः ॥ ९३ ॥

अन्वय—यः अन्तिमख्यातिं तपः च सत्यम् एवं सृष्टिसूक्तगात् सत्यात् विचिनुते । अतः तस्य ॐ तत् सत् इति स्थितिः ॥ ९३ ॥

[जो सृष्टिसूक्त में स्थित **'सत्यं'** से तथा **'तपः'**—ऐसी अन्तिम ख्याति का चयन (निश्चय) कर लेता है, इसीसे उसकी **'ॐ तत् सत्'**—यह स्थिति होती है ॥ ९३ ॥]

स्थिरत्वादीनि लिङ्गानि त्रीणि व्याहृतिमूर्धनि ।
ध्रुवत्वादीनि संलक्ष्ये लक्ष्यशेषे ह्यलक्षणम् ॥ ९४ ॥

अन्वय—व्याहृतिमूर्धनि स्थिरत्वादीनि त्रीणि लिङ्गानि । संलक्ष्ये ध्रुवत्वादीनि, लक्ष्यशेषे हि अलक्षणम् ॥ ९४ ॥

[अन्तिम व्याहृति में स्थिरत्व आदि (असंकरत्व एवं समग्रत्व) तीन लिङ्ग हैं। इनके संलक्ष्य (चरमता) में (ये क्रमशः) ध्रुवत्व आदि (शुद्धत्व एवं समग्रत्व) हो जाते हैं। लक्ष्यशेष में (लक्षणता और लक्ष्यता न रहने पर) अलक्षण (तुरीया) होता है ॥ ९४ ॥]

अभ्यारोहाय सत्ये स्यात् सव्याहृति-जपक्रतुः ।
सौक्ते तु व्याहृतीर्हित्वा ॐ तत्सदिति तत्परम् ॥ ९५ ॥

अन्वय—सव्याहृति-जपक्रतुः सत्ये अभ्यारोहाय स्यात् । सौक्ते तु व्याहृतीः हित्वा ॐ तत् सत् इति च तत्परम् ॥ ९५ ॥

[व्याहृतिसंहित जपयज्ञ सत्य में अभ्यारोहण के लिये (उपाय) होता है। (सृष्टि) सूक्त में कही गई (अवस्था) में पहुँचने पर व्याहृतियों को छोड़कर, उनके परे **'ॐ तत् सत्'** ऐसा रहता है। ॥ ९५ ॥]

अभ्यासो व्याहृतेः कार्यो धीमहीति च भर्गसा।
वि-व्याहृतिं तपश्चोरं हित्वौं तत्सदिति स्थितिः ॥ ९६ ॥

अन्वय—धीमहि इति भर्गसा च व्याहृतेः अभ्यासः कार्यः। वि (इति)—व्याहृतिम् उरम् (इति) तपः च हित्वा ॐ तत् सत् इति स्थितिः ॥ ९६ ॥

['धीमहि' कहकर ज्योति द्वारा व्याहृति का अभ्यास किया जाय। ('सवितुर्') के 'वि' से व्याहृतिम् और 'उर्' से तप (इन दोनों को) छोड़कर **'ॐ तत् सत्'** ऐसी स्थिति होती है। ॥ ९६ ॥]

भूमाकाशं स्वभावान् निरतिशयसुखं तत्र भावाश्च नाना
शुद्धज्ञानं स्वधाम्ना प्रमितिपरिमितं वा प्रमातृप्रमेयम्।
शुक्लं कृष्णञ्च धूम्रं सदिति भवति किं वस्तु चैकं विचित्रं
भर्गोदेवस्य पादान् कतिविधनिलयान् मित्समाना धियो नः ॥ ९७ ॥

अन्वय—भूमाकाशं स्वभावान् निरतिशयसुखम्, तत्र नाना च भावाः। शुद्धज्ञानं स्वधाम्ना प्रमितिपरिमितं प्रमातृ प्रमेय वा। सद् इति वस्तु च किम् एकं विचित्रं शुक्लं कृष्णं धूम्रं च भवति ? नः धियः 'भर्गोदेवस्य' कतिविधनिलयान् पादान् मित्समाना ? ॥ ९७ ॥

[भूमा आकाश स्वभाव से निरतिशय आनन्दरूप हैं, और उसमें भाव अनेक हैं। (वह) शुद्ध ज्ञान अपने ही प्रकाश से प्रमिति में परिमित (प्रमा) प्रमाता और प्रमेय-रूप है। सद्रूप वस्तु क्या एक या विचित्र (नाना), शुक्ल या कृष्ण या धूम्र भी होती है ? हमारी बुद्धिवृत्तियाँ 'देव के भर्ग' (गायत्री मन्त्र) के कितने पादों (रश्मियों) को नापना चाहती हैं ? ॥ ९७ ॥]

सर्वज्ञः सर्वविद् यः परम उपशमो वा प्रपञ्चस्य तस्मिञ्
छाखाविस्तारमूलं सदसदिति महावीरुधो निर्विशेषम्।
मायाऽनिर्वाच्यमूलं तदपि वदसि कं मायिनं वा महेशं
क्लेशाद्यैस्तत्र नृणां दनुजदिविषदां वा परामृष्टिलेशः ॥ ९८ ॥

अन्वय—यः सर्वज्ञः सर्वंवित् तस्मिन् सद् + असद् + इति महावीरुधः निर्विशेषं शाखाविस्तारमूलं प्रपञ्चस्य परम उपशमो वा। माया + अनिर्वाच्यमूलं तद्

अपि कं वदसि मायिनं महेशं वा ? तत्र नृणां दनुजदिविषदां वा क्लेशाद्यैः परामृष्टिलेशः ॥ ९८ ॥

[जो सर्वज्ञ-सर्ववित् है, उसमें सत् + असत्रूपी महान् वृक्ष के शाखाविस्तार का निर्विशेष मूल है अथवा प्रपञ्च का परम उपशम है ? माया का अनिर्वाच्य मूल (जो है) वह भी किसे कहते हो ? 'मायी' (मायाधीश) को ? या महेश को ? उस (ईश्वर) में मनुष्यों-दानवों अथवा देवों के क्लेश आदि के परामर्श का लेश है ॥ ९८ ॥]

न वेत्ति माता सुताश्रुधारं न धरति धाताऽबलस्य भारम् ।
न पाति पाताऽऽतुरं विपाके शरणं कुतो वाऽस्तीह लोके ॥ ९९ ॥

अन्वय—माता सुताश्रुधारं न वेत्ति । धाता अबलस्य भारं न धरति । पाता आतुरं विपाके न पाति । इहलोके शरणं कुतः वा अस्ति ॥ ९९ ॥

[(यदि) माता बेटे की अश्रुधारा को नहीं जानती (परवाह नहीं करती), धाता (यदि) निर्बल का भार नहीं धारण करता, पालक (यदि) विपत्ति में आतुर का पालन नहीं करता, (तो फिर) इस लोक में कहाँ शरण है ? ॥ ९९ ॥]

अनुवाद और भावार्थ-विस्तार

(श्लोक ९०, ९१)

निखिल प्रपञ्च की उपशमभूमि अवश्य ही है । केवल वेदागम नहीं, आत्मप्रत्यय भी उसका सुस्पष्ट निर्देश देता है । वह सब बोधों का अधिष्ठान एवं द्वैतलेशहीन है । यह स्वप्रकाश है तथापि तुरीया दृष्टि में ही प्रकाश का आवरण हट जाता है । इस अधिष्ठान में जो पूर्ण शुद्ध और ध्रुव तत्त्व विद्यमान है वह जिस दृष्टि में उन्मेषित होता है, वह तुर्यगा वा पारीणा है । विश्वबोध में सब कुछ ही एक काष्ठा की ओर ही अङ्गुलिनिर्देश किया करते हैं । सभी कहते हैं—मैं तो 'यह' मात्रा, पाद और कला में अभिव्यक्त हो रहा हूँ, किन्तु मेरी पराकाष्ठा (पूर्णता, शुद्धि और ध्रुवत्व) किसमें एवं कहाँ है ? इस पराकाष्ठा को भी 'न स्यात्' नहीं कर सकते ।

छन्द की सोपानावलि अधिरोहण करके महासमन्वयि में उपनीत हो गये हैं । यहाँ छन्दः आकर कहता है—इस बार मैं परमता में अवगाहन करूँगा । यह जो महारहस्यमय 'महा' और 'परम' की मिलनभूमि है, यहाँ क्या देखा ? एक ओर सर्वज्ञत्व-सर्ववित्त्वरूप ज्ञान की पराकाष्ठा है (शक्त्यादि की भी है), अन्य ओर एकान्त प्रपञ्चोपशमरूप 'निरञ्जनी स्थिति' है ।

पाँच प्रश्न एवं उनके उत्तर । तत्परता और परमार्थता ।

(श्लोक ९२, ९३)

किसी भान अथवा बोध से ये प्रश्न कर सकते हैं—तुम्हारा विषय (Content)

क्या है ? तुम्हारी 'सन्धि' अथवा सम्बन्ध (Relation) क्या है ? तुम्हारा भाव (लक्ष्य, हेतु, कारण, निदान—Meaning or Intent) क्या है ? क्या, किस प्रकार एवं क्यों (What, How and Why) से घटित ये तीन प्रश्न हैं। इन तीन प्रश्नों का अनुसरण करते-करते जिस काष्ठा वा सीमा की ओर हम अग्रसर होते हैं वे तीन काष्ठाएँ यथाक्रम—विराट्, हिरण्यगर्भ एवं ईश्वर हैं। ये प्रत्येक सत्ता, शक्ति, छन्दः एवं आकृति—इन चारों ओर से चतुष्पात् है। अच्छा, प्रश्न का अवसान क्या यहीं पर है ? नहीं, इसके बाद भी और दो प्रश्न आते हैं। अब तक मुख्यतः (Empirical Analysis और Synthesis (व्यवहार-दृष्टि में विश्लेषणादि) चल रहे थे। अब Metaphysical Meaning—तत्त्वतः दृष्टि की बारी है। विश्लेषण एवं समन्वय तो बोध (Experience) की मूलीभूत कारणभूमि तक आ गया है। किन्तु इसके बाद ? अपने को कार्य-कारणरूप में दिखाकर भी स्वयं कार्यकारणातीत कोई भूमि है ? Absolute का इलाका ? बोध का विषय वा 'What' को Absolute 'That' के रूप में (शुद्ध, हानोपादानहीन 'तत्' रूप में) जानने का उपाय क्या है ? 'तत्' पदार्थ का परम शोधन कैसे होगा ? तत्पश्चात्, 'How' and 'Why'—सम्बन्ध और भाव—इन दोनों का ध्रुव एवं परिपूर्ण पर्यवसान कहाँ है ? अर्थात्, सम्बन्ध कहाँ जाकर कहेगा—अब कोई मेरी अपेक्षा ही नहीं है; भाव कहेगा—मेरी पूर्ति समाप्त है, अब मेरे साथ अभाव भी नहीं है। इस परमता की भूमि को कहते हैं 'सत्'। यह 'बाधमात्रविरही' है। क्योंकि, यह मात्रादि के पारंगत है—Transcending all measure. इन अन्तिम दो को कारिका में 'तत्परता' एवं 'परमार्थता' कहा गया है। इन दोनों का निगमन जो वस्तु करती है, वह हुआ—परब्रह्म। **'ॐ तत् सत्'**—इस मन्त्र में इसका निर्देश है। 'महामाया' 'भगवत्ता'—यह सब 'तत् सत्' का प्रकाश है। अन्तिम इन दो दृष्टियों में न्यूनता वा आधिक्य की कोई प्रसज्यता नहीं है। अर्थात्, यहाँ आकर किसे ऊपर और किसे नीचे रखेंगे—यह 'झमेला' न उठायें। उससे जो 'तत् सत्' है उसकी स्वरूपहानि होगी।

'ॐ तत् सत्'—इस परब्रह्मवाचक मन्त्र के जप-ध्यान में किसकी स्वभावतः स्थिति है यही कहा जा रहा है। सप्तख्याति की अन्तिम ख्याति जो 'सत्यम्' है और सृष्टिसूक्त के 'ऋतञ्च सत्यञ्च' का जो 'सत्यम्' है—इन दोनों को जो विलक्षण करके जानता है (अर्थात् इन दोनों का कहाँ अन्वय एवं कहाँ व्यतिरेक है); और द्वितीय ख्याति 'तपः' एवं सृष्टिसूक्त के 'तपः'—इन दोनों को भी इस प्रकार जानता है; पुनश्च, 'सत्' एवं 'सत्य'—इन दोनों को भी जो मनन और उपलब्धि में विलक्षण करके जानता है—उस व्यक्ति की ही परब्रह्मवाचक मन्त्र में यथार्थतः स्थिति जानें।

संलक्ष्य वा लक्षण की पराकाष्ठा कहाँ है ? Supreme Logical वा Perfect Harmony क्या वस्तु है ? (९४)

विलक्षणता की रीति संक्षेप से कही जाती है–स्थिरत्व, असङ्करत्व एवं समग्रत्व ये तीन 'लिङ्ग' सप्तम ख्याति में (व्याहृति-मूर्धनि) निरूपित हुए हैं। इन तीनों का संलक्ष्य, अर्थात् चरमता की भूमि (पराकाष्ठा) कहाँ है ? अर्थात् किस भूमि में स्थिर बनेगा ध्रुव, असङ्कर बनेगा शुद्ध और समग्र बनेगा पूर्ण ? इन लक्षणों (स्थिरत्वादि) की एक क्रमिकता (Progression) है। सुतरां प्रश्न उठता है–उनकी सीमा कहाँ है ? सीमा जहाँ है, वही ब्रह्म का 'ऋतञ्च सत्यञ्च' रूप है। ऋतम् एवं सत्यम्, और उनके संयोजक 'च'कारद्वय पहले आलोचित हुए हैं। और, 'लक्ष्यशेष' में, अर्थात् लक्षण वा लक्ष्यतावच्छेदकता फिर नहीं चलती, वहाँ 'अलक्षणम्'––तुरीय है। व्याहृति पर्व का जो शेष है वहाँ जाकर विश्वबोध का एक Complete analytic-cum-synthetic Uiew अवश्य मिला, किन्तु वह विश्व का एक Complete logical apprehension है; Comprehension वा appreciation का पूर्ण समाधान वहाँ भी नहीं है। इसलिए एक Supreme Logical की अपेक्षा तब भी रहती है। यह Supreme Logical है **सत्य, श्रीभगवान्** का रूप। Harmony वा छन्दः शब्द इस ग्रन्थ में विशेष भाव से व्यवहृत हुआ है। इसीलिए सत्य है छन्दोगत्व की जो पूर्णता और परमता, वही। किन्तु आधार वा Background के रूप में है 'अलक्षणम्'–Alogical द्वैताद्वैतादिविवर्जित।

जपादि साधन, व्याहृति के सहयोग से एवं तदतीत रूप से (९५)

जब तक अभ्यारोह अथवा लक्ष्याभिमुखी अधिरोहण पर्व चलता है, अर्थात् गीता की भाषा में कहने पर जब तक मैं 'आरुरुक्षु' अथवा 'युञ्जान' हूँ, तब तक मेरा जपादि अनुष्ठान (जपक्रतुः) अवश्य ही मुझे भूर्भुवः स्वः प्रभृति व्याहृति के सहयोग से करना होगा–जैसे गायत्री-जप में। अथवा गायत्री एवं मधुमती इन दोनों के सम्मिलित जप में (जैसे छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक ने करने को कहा है)। इस भूमि का अतिक्रम करते हुए जब मैं सृष्टिसूक्तादि के प्रसिद्ध "ऋतञ्च सत्यञ्च" अनुभूति में उपनीत होऊँगा, अर्थात् युञ्जान अवस्था से योगारूढ़ अवस्था में पहुँचूँगा, तब फिर व्याहृति की अपेक्षा नहीं रहेगी (सौम्ये तु व्याहृतीर्हित्वा)। इसके भी पार यदि साक्षात् परब्रह्म हमारे लक्ष्य बनें तब वह परब्रह्म का वाचक जो "ॐ तत् सत्" यह मन्त्र है उसका मुझे आश्रय लेना होगा। अर्थात् योगयुक्त अवस्था में इस मन्त्र का जप एवं ध्यान ही मेरा साधन है। साधन कहा गया इसीलिए कि उपलब्धि की जो परम वा चरम भूमि है, वह अभी सम्यक् अधिगत नहीं हुई है; अर्थात् तभी गीता की भाषा में "युक्ततर" एवं "युक्ततम" होने की अपेक्षा विद्यमान है।

गायत्री जप में पूर्वोक्त क्रम का दृष्टान्त (९६)

पूर्वोक्त प्रक्रिया गायत्री जप के दृष्टान्त में प्रदर्शित की जाती है। जब तक अभ्यास-योगपरायण रहता हूँ, तब तक 'ॐ भूर्भुवः स्वः' इस व्याहृति का सहकारी जप-ध्यान करना मेरा कर्तव्य है। तत्पश्चात् जब अभ्यास मुझे ध्यान की गम्भीरता में ले जाकर स्वयं निरस्त होना चाहता है, तब "वरेण्यं भर्गः" को ही ध्यानयोग में समाश्रय करना होता है (धीमहीति च भर्गसा)। तत्पश्चात् ध्यान इतना गम्भीर, शान्त एवं समुज्ज्वल हो जाता है कि उसके भीतर ध्याता एवं ध्यान इन दोनों को फिर अलग करके रखना सम्भव नहीं होता, तब "ॐ तत् सत्" इस परम भाव में ही हमारी ब्राह्मी स्थिति संसाधित हुआ करती है। तब "ॐ तत् सवितुः"—गायत्री के इस आदिम पाद में जो 'वि' एवं 'उर्' ये दो भाग हैं (यथाक्रम व्याहृति एवं ऊर्ध्वगा तपःशक्ति के सूचक) वे दोनों स्वभावतः ही निर्गलित हो जाते हैं। सुतरां उसके फलस्वरूप "ॐ तत् सत्"—यही शेष आश्रयरूप में अवशिष्ट रहता है।

[मन्तव्य—अभ्यासयोगपरायण अवस्था में विशेष रूप से व्याहृति का भजन क्यों करना होता है ? इसे समझने के लिए व्याहृति की मूल बात को फिर से सोचकर देखना चाहिए। साधक के पक्ष में कुछेक छन्दः जैसे अनुकूल अथवा मित्रभाव से सहायक होते हैं, उसी प्रकार अपरापर अनेक छन्दः उदासीन हैं या प्रतिकूल भाव से साधक की अग्रगति को व्याहत करने में प्रवृत्त हैं। साधक की अग्रगति को अव्याहत रखने के लिए दोनों ओर मनोयोग होना चाहिए। प्रथम—अरि, मित्र एवं उदासीन की भीड़ के बीच से मित्र को चुन लेना चाहिए। द्वितीय—ऊर्ध्वतम लोक में मित्रच्छन्द का एवं सहायक शक्ति का जो महाभाण्डार विद्यमान है, उसके साथ साधक के जीवन में साक्षाद्भाव से कार्यकरी जो मित्रच्छन्दः और शक्ति है उसका सजीव संयोग बना लेना चाहिए। अब ध्यान दें कि प्रथम व्याहृति भूः क्या कहती है ? वह कहती हैं—**यह** तुम्हारा मित्रच्छन्दः है, तुम्हारे साधन का सहाय और सुहृद् है; इसे मैंने समग्र बाधा एवं अन्तराय के बीच से मुक्त करके तुम्हारे बीच हाजिर कर दिया है। अब सब प्रयत्नों से तुम इसकी रक्षा और पोषण करो। जो अरि एवं उदासीन हैं वे इस मुहूर्त के लिए अलग भले ही हट गये, किन्तु वे निरस्त तो नहीं हुए हैं ! वे प्रतीक्षा में हैं अतर्कित आक्रमण से तुम्हारे साधन को विपर्यस्त कर देने के निमित्त ! तब फिर उपाय ? तब "स्व" यह व्याहृति साधक को आश्वास देकर कहती है—यह देखो तुम्हारी दृष्टि की अगोचर मैं हूँ एक ऊर्ध्वतन ज्योतिर्धाम की मार्गदर्शिका होकर; अपनी आकूति (aspiration) को मेरे सामने अपनी शिखा खोलकर समुत्थित होने दो, मैं उसमें दिव्यलोक के वरणीय भर्गः एवं छन्दः की आहुति देती रहूँगी, जिसके फलस्वरूप तुम अपने भीतर भागवती सत्ता की उत्तरोत्तर अधिक परिमाण में उपलब्धि करते रहोगे।

"भुवः" यह प्रथम व्याहृति क्या कहती है ? हमारे साधन की जो सामान्य सम्पत् है उसे एक महीयसी दैवी सम्पद् के साथ ग्रथित कर देती है। यह और वह इन दोनों के बीच वह है सेतु वा सन्धि। सुतरां देखते हैं कि "भूर्भुवः स्वः" इस आकृति (pattern) के बीच उपर्युक्त द्विविध उद्देश्य की सिद्धि का उपाय सुनिर्दिष्ट भाव से दिया गया है।

भूमा स्वरूप में और बुद्धि के परिमाप में (९७)

श्रुतिप्रसिद्ध जो भूमा अथवा आकाश है वह तो निरतिशय सुखस्वरूप रहते हुए विश्व का एवं विश्वबोध का अधिष्ठान और आधार होकर विद्यमान है। किन्तु यह भी देखते हैं कि उस आधार के ऊपर अशेषविध भाव की लहरी भी खेल रही है। (तत्र भावाश्च नाना।) एक शुद्ध निर्विशेष निरञ्जन ज्ञान भी स्वमहिमा में स्वप्रकाश है; इसकी ह्रासवृद्धि भी नहीं, उदयास्त भी नहीं, यह ठीक है। तथापि देखते हैं कि यह अप्रमेय शुद्ध ज्ञान विश्वबोध वा प्रमिति के लिए मानो परिमाण अङ्गीकार करता हुआ स्वयं ही प्रमाता एवं प्रमेय (subject and object) ये दोनों बन गया है। इस प्रकार और एक शुद्ध विकारहीन सद्वस्तु (सदिति वस्तु चैकं) विद्यमान है। स्वरूप में वह निरञ्जन तो है किन्तु तथापि उसमें शुक्ल, कृष्ण, मिश्र (धूम्र) इन सब अशेष वर्ण-वैचित्र्य का उद्भव भी हो रहा है; अर्थात् एक शुद्ध सद् वस्तु न जाने कौन-सी लीला के छल से सत्यमिथ्यादि अपने को मानों नाना भूमिकाओं में विश्व के दृश्यपट पर प्रतिफलित कर रही है। जो देवता के देवता (परब्रह्म) हैं वे तो स्वरूप में परम ज्योतिःस्वरूप तो हैं ही, किन्तु वैसे होकर भी वे अपने इस विश्व में एवं हमारे विश्व-बोध में न जाने कितने पादों का विस्तार किये हुए हैं एवं न जाने कितने आधार वा भूमि में उनका वह पादसमूह विन्यस्त है (पादान् कतिविधनिलयान्)! जो भूमा शुद्ध एवं असीम है उसकी स्वरूप-महिमा के सम्मुखीन होने में असमर्थ होकर हमारी बुद्धि न जाने कितने प्रकार से उसे लेकर माप-जोख, हिसाब-किताब कर रही है! (मित्समाना धियो नः।)

सत्ता के ज्ञान और आनन्द की ओर से सविशेष और निर्विशेष भाव से कहीं भी क्या सङ्गति नहीं है ? (९८, ९९)

श्रुति ने एक सर्वज्ञ सर्ववित् पुरुष एवं उनके ज्ञानमय तप की बात कही है। वह सर्वज्ञ सर्ववित् पुरुष कैसा है ? उसका ज्ञानमय तप भी कैसा है ? वह निखिल प्रपञ्च के परम उपशम की भूमि है, यह तो अवश्य ही ठीक है। किन्तु केवल मात्र वैसा होने पर ही तो नहीं समझ सकते कि वे कैसे सर्वज्ञ सर्ववित् हुए हैं एवं कैसे सृष्टि के आदि में अपने ज्ञानमय तप को उन्होंने किया था। सर्वज्ञ सर्ववित् कहने से यह सूचित होता है कि वे सब कुछ सामान्य भाव से जानते हैं, ऐसा नहीं; परन्तु वे सब कुछ विशेष भाव से

भी जानते हैं; अर्थात् कुछ भी उनके ज्ञान के बाहर नहीं है या नहीं रह सकता। जो अधिष्ठान में निरञ्जन शुद्ध ज्ञानमात्र है उसमें इस अतीत अकुण्ठित ज्ञानैश्वर्य की सम्भावना कैसे हुई ? केवल फिर उतना ही नहीं, सृष्टि के निमित्त सङ्कल्प और तपः उनमें कैसे सम्भावित हुए ? उस तप के मूल में आनन्द है, उस तप का रूप ज्ञान है एवं उस तप का फल "ऋतञ्च सत्यञ्च" है। मूलीभूत जो आनन्द है उसका इस प्रकार लीलाकैवल्य कैसे समझेंगे ? इसलिए अवश्य ही सोचना पड़ता है कि मूलतत्त्व निर्विशेष और सविशेष, अमूर्त और मूर्त इन दोनों प्रकार से अपने को अभिव्यक्त कर सकता है और वैसा ही उसने किया है। क्षर और अक्षर अपने इन दो भावों से भी वे स्वयं उत्तम हैं इसीलिए कहते हैं पुरुषोत्तम। यह तो हुई ज्ञान की ओर की बात। सत् अथवा सत्ता की ओर से भी इस मूल तत्त्व को सविशेष और निर्विशेष इस प्रकार सब द्वन्द्वों के ऊपर उठाकर रखने से क्या अच्छा नहीं होगा ? विश्वरूप यह जो महावीरुध (लतिका) है, इसके अशेष शाखा-विस्तार का मूल अथवा बीज वह हैं; वे किन्तु उस मूल या बीज को एकान्त भाव से निर्विशेष समझने पर यह विराट् विश्ववल्ली एवं उसका अशेष विचित्र विस्तार क्या कुछ भी समझ में आयेगा ? यदि कहें कि वे स्वयं इसका मूल अथवा बीज नहीं हैं, उनकी माया ही - उनकी अघटनघटनपटीयसी माया ही इसका मूल है, तब उनके अपने स्वरूप के साथ इस अनिर्वचनीया माया-शक्ति का कैसा सम्बन्ध है उसे कौन समझा देगा ? 'अनिर्वचनीय' इस शब्द का व्यवहार करके इस महारहस्य का तो कोई भी समाधान नहीं किया गया ! मात्र यह स्वीकार किया गया कि उनमें एवं उनकी माया-शक्ति में जो सम्बन्ध है वह सम्बन्ध इतना गहन है कि उसमें प्रवेश करना ही असम्भव है। अथच श्रुति एवं आत्मानुभूति दोनों ही एक वाक्य से कह रही हैं कि वे मायातीत हैं ऐसा नहीं, वे मायाधीश, मायी एयं महेश्वर हैं। सुतरां अवश्य ही समझना होगा कि उन्होंने सब सम्बन्धों के अतीत होकर भी (as Absolute) शक्ति-शक्तिमान् इत्यादि निखिल सम्बन्धों को बनाया है एवं वे नियामक भी हैं। मायाधीश एवं महेश्वर द्वारा उनका यह परमोत्तम स्वभाव क्या सूचित नहीं होता है ? अन्त में फिर रस वा आनन्द की ओर से भी देखें। वे तो सर्वभूतान्तर्यामी महेश्वर हैं किन्तु इस प्रकार केवल मात्र शुद्ध स्वलसित जो आनन्द है उसमें अच्युत स्थिति होने पर ही क्या होगा ? निखिल सृष्टि की जो कुछ विचित्र व्यथा-वेदना है वह सब ही उन्हें जरा-सा भी स्पर्श न करते हुए ही क्या इस विश्व महानाटच का जो निगूढ़ मर्मार्थ और आवेदन है उसकी सम्यक् धारणा में आता है ? कहीं ईश्वर का लक्षण दिया है कि—वे ऐसे एक पुरुष हैं जिन्हें जीव के क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय इन चारों में से कोई सा भी किसी समय परामृष्ट नहीं करता। यदि वैसा ही हो तो जगत् के करुणानिदान आदिगुरु के रूप में उसकी शरण क्लेश-विद्ध जीव कैसे लेगा ? किस प्रकार एवं किस उद्देश्य से ? सुतरां यह भी समझना पड़ता है कि वे स्वीय ब्रह्मानन्द में स्थित

रहकर भी जीव की प्रत्येक व्यथा, वेदना, आर्ति, आकूति का समाचार अवश्य ही रखते हैं एवं उसके सब संकटों में वे उसकी एकमात्र शरण, सहाय एवं सुहृद् रूप में विद्यमान हैं।

(क्लेशाद्यैस्तत्र नृणां दनुजदिविषदां वा परामृष्टिलेशः)

जो जगत् की माता हैं वे यदि अपनी सन्तान की विगलित अश्रुधार की कुछ भी खोज न रखें (न वेत्ति); जो जगत् की धात्री हैं उनका यदि यही स्वरूप और स्वभाव हो कि वे अबल का भारवहन नहीं कर सकतीं; जो जगत् के पाता अथवा पिता हैं वे यदि कहें—ओ आर्त आतुर ! तुम तो विपाक में पड़े हुए हो यह देख रहा हूँ। किन्तु तुम्हारा पालन करने की इच्छा वा शक्ति मुझमें नहीं है, तब कहो तो इस महासंकट-संकुल लोक में कहाँ कौन हमारी शरण है ?

तुच्छं न नेत्राद् गलिताश्रुवारि तुच्छं भवेच्चेत् तथा मन्यमानम्।
तुच्छा न चार्त्तिर्हृन्मन्थनी वा तुच्छा भवेच्चेन्मथनाति मर्म (भावम्) ॥१००॥

अन्वय—नेत्राद् गलिताश्रुवारि गलितं न, तथा मन्यमानं चेत् तुच्छं भवेत्। न वा हृन्मन्थनी आर्त्तिः च तुच्छा, मर्म मथ्नाति चेत् तुच्छा भवेत् ॥ १०० ॥

[(तुम्हारे) नेत्र से टपका हुआ अश्रुजल तुच्छ नहीं है, (किन्तु) यदि उसे वैसा माना जाय तो वैसा हो जायेगा। हृदय का मन्थन करनेवाली (तुम्हारी) आर्त्ति भी तुच्छ नहीं है, (किन्तु) यदि वह मर्म (भाव) को ही मथ डालती हो तो तुच्छ होगी। ॥ १०० ॥]

प्रशान्ताम्बुराशौ वडवानलोऽपि क्षमो न वोढुं तृणं मातरिश्वा।
द्वारे च भिक्षुर्जगतां स नाथः किमाश्चर्यमेभ्यः परं वदास्ति ॥ १०१ ॥
राकेन्दुतुल्यो नयनाश्रुबिन्दुरानन्दसिन्धोरुल्लासकारी।
तुभ्यं तृणाय सदा हैमवत्याः कारुण्यशौर्यं सुरगर्वहारि ॥ १०२ ॥

अन्वय—प्रशान्ताम्बुराशौ अपि वडवानलः, मातरिश्वा तृणं वोढुं न क्षमः। स जगतां नाथः च द्वारे भिक्षुः। वद एभ्यः परं किम् आश्चर्यम् अस्ति ॥ १०१ ॥

[प्रशान्त जलराशि (समुद्र) में भी वड़वानल उठता है; मातरिश्वा (वायु) तिनका भी वहन करने में समर्थ नहीं है। जगतों का वह नाथ द्वार पर भिखारी बना हुआ है। बोलो, इनसे बड़ा आश्चर्य क्या है ? ॥ १०१ ॥]

अन्वय—नयनाश्रुबिन्दुः राकेन्दुतुल्यः आनन्दसिन्धोः उल्लासकारी। हैमवत्याः सुरगर्वहारि कारुण्यशौर्यं सदा तृणाय तुभ्यम् ॥ १०२ ॥

[(तुम्हारा) नयनाश्रुबिन्दु पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान आनन्दसिन्धु का उल्लासकारी है। तृणतुल्य जो तुम हो, हैमवती (उमा) का सुरगर्वहारी कारुण्यशौर्यं सदा (प्रस्तुत) है। ॥ १०२ ॥]

भाष्य—तुम्हारे नेत्र से विगलित व्यथा का वा पुलक का अश्रुजल अवश्य तुच्छ नहीं। किन्तु वह तुच्छ ही है यदि तुम स्वयं उसे वैसा ही समझो। (तथा मन्यमानं) अर्थात् जो क्षणिक की व्यथा और पुलक का अश्रुबिन्दु है उसके साथ 'दरद' का योग रखकर एक ऐसा महासिन्धु पड़ा हुआ है जो एक साथ असीम व्यथा एवं पुलक है। इसीलिए इस समदर्दी महान् की बात यदि स्मरण रख सको तो तुम्हारे नयन से जो एक बिन्दु अश्रु ढुलक पड़ा वह कभी भी मिथ्या नहीं है, अकिञ्चित्कर नहीं है। फिर तुम्हारे सारे हृदय को मथित करके जो आर्ति दिखाई दे रही है—वह अवश्य ही तुच्छ नहीं है; वह तुच्छ हो जाती है यदि वह अपने मर्म वा भाव को ही मथित, निष्पेषित कर डाले (मथनाति ममं)। अर्थात् तुम्हारे हृदय में यह जो आर्ति है उसका निगूढ़ मूल ही कहाँ है एवं उसकी सचमुच की परिणति भी किसमें है, यह स्मरण रखने पर तुम्हारी आर्ति फिर तुच्छ नहीं होती।

महासागर की जो प्रशान्त जलराशि है उसके भी हृदय में बड़वाग्नि छिपी हुई रहती है, इस विश्वरूप महामहीरुह को समूल उत्पाटित करने में समर्थ जो वायु है वह भी श्रुतिप्रसिद्ध उस पक्ष के निर्देश से सामान्य एक तृण का भी वहन करने में समर्थ नहीं हुआ (क्षमो न वोढुम्)। पुनश्च जो जगत् के नाथ और स्वामी हैं वे भी द्वार पर आकर भिक्षुक के साज में खड़े होते हैं (जैसे वामन के रूप में बलि के द्वार पर)। अब कहो तो इन सबसे अधिक आश्चर्य और क्या है वा हो सकता है? इस सृष्टि के मूल में जो भागवती सत्ता है वह अनन्त आनन्द एवं शान्ति की परमता की भूमि है उसमें तो कोई सन्देह नहीं है, किन्तु महासागर की भाँति उस असीम और गम्भीर प्रशान्ति के बीच विश्व की प्रत्येक व्यथा-वेदना की जो चेतना है उसके प्रत्येक 'दरद' में करुणा से भरा हुआ कोई बडवानल क्या चिर सजग होकर विद्यमान नहीं है? जगत् की जो माता और धात्री और पालयित्री हैं वे क्या अपने आनन्द और प्रशान्ति के बीच इतनी ही विभोर हैं कि वे अपने विश्व की अनन्त दुःखराशि की ओर से विमुख, उदासीन हैं? और जो निखिल जगत् के स्वामी हैं वे क्या केवल एक बार बलि के द्वार पर भिखारी के वेश में आकर अपने अभिनय की पारी समाप्त कर गये हैं? वे क्या प्रत्येक जीव के हृदय-द्वार के समीप शाश्वत भिखारी के वेश में खड़े नहीं हैं? उन्होंने केवल एक बार मदोद्धत इन्द्रादि देवताओं का दम्भ चूर्ण करने के लिए तुच्छता और लाघव का एकान्त प्रतीक जो तृण है उस तृण को देवताओं के सम्मुख रखा था। आनन्दसिन्धु-रूप में वे तो स्व-महिमा में स्वलसित रहते ही हैं, तथापि वह स्वलसित आनन्दराशि अपने को जब तक उच्छ्वसित, उल्लसित नहीं देखती तब तक मानों उसकी साध नहीं मिटती। इसीलिए वे मानों प्रतीक्षा में रहते हैं—कब तुम्हारे नेत्र से एक बिन्दु अश्रु उनकी ओर ढुलक पड़ेगा और वह पूर्णिमा के शशि की भाँति उनके चिरशान्त समाहित

चिदाकाश में उदित होकर उन्हें तुम्हारी ओर आकृष्ट और उद्वेल बना लेगा। और तुम यदि अपने अहङ्कार और दम्भ का एकान्त भाव से विसर्जन देकर अपने को एक तृण की भाँति ही उनकी दृष्टि और प्रसाद के नीचे डाल रखो तब निश्चय समझना कि तुम्हारे एकान्त शरणागत इस तृणरूप सत्ता के पीछे रहता है श्रुतिप्रसिद्ध उस उमा हैमवती का असीम अमोघ करुणाशौर्य, जिसे जान-बूझ न सकने के कारण अग्नि-वायु इत्यादि देवताओं का गर्व स्फीत हो उठा था एवं वह गर्व फिर लज्जा से धूल में लोट गया था।

इति जपलक्षण-जपच्छन्दो-जप-विघ्न-मान्द्य-स्थानादि-व्याहृतिसप्तक-निरूपणं नाम प्रथमाध्याये प्रथमः पादः।

•

॥ जपसूत्रम् ॥

(प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः)

महामाया (सर्वसूत्रयोनिः)

१. सति तत्त्वसत्त्वत्वे सर्वादिशक्तिमत्ता महामाया ।
सा भगवत्ता परब्रह्मणि ।

[१. (पूर्व पाद में लक्षित) 'तत्त्व एवं सत्त्व'-स्वरूप में रहकर सर्वरूपा, सर्वेशी इत्यादि होने की जो शक्तिमत्ता है, वह है महामाया। यह परब्रह्म में भगवत्ता है।]

सूत्र में यह 'आदि' शब्द कारिका में यथासम्भव विस्पष्ट होगा। 'आदि' = प्रभृति तो है ही, साथ ही आदि = आद्या अर्थात् सर्व की जो आद्या शक्ति है, वह भी है। 'सर्व' का विश्लेषण नाना भाव से पहले हो चुका है, एवं उत्तरग्रन्थ में होगा। सत्ता, शक्ति, छन्दः, आकृति; पाद, मात्रा, कला, काष्ठा; वाक्, अर्थ, प्रत्यय; क्रिया, कारक, फल; इत्यादि। प्रथम पाद के चरम सूत्र की कारिका में 'ॐ तत्सत्'—इस ब्रह्मवाचक मन्त्र की 'ब्राह्मी तनु' एवं 'शाक्ती तनु' की बात कही गयी है। महामाया में ये दोनों तनु सम्मिलित हैं। उनमें से 'महा' इस भाग के द्वारा विशेषतः ब्राह्मी तनु एवं 'अमाया'— जिससे माया है जो कि अमेय की अनिर्वाच्य स्वरूपमयता के कारण है। इस भाग द्वारा विशेषतः शाक्ती तनु उद्दिष्ट होती है। प्रकारान्तर से ब्रह्म में भगवत्ता महामाया है। वेद में देवीसूक्त, रात्रिसूक्त इत्यादि में, उपनिषद् में, तन्त्र में, स्मृति-पुराणादि में बहुधा कीर्तिता, मन्द्रिता एवं वन्दिता इस महामाया को केवल 'महती माया' के रूप में न समझें। ये साक्षात् ब्रह्ममयी 'माँ' हैं। महा = महामहिममयी, मा + या = 'माया' जो हैं। इनकी महिमा के पार कोई जा नहीं सकता। ('शक्रादय' देवगण की स्तुति देखें, देवीसूक्त विशेष भाव से)। 'मा' नाम जो एकाक्षर महामन्त्र (प्रचलित बंगला का मातृ सम्बोधन मात्र नहीं), उसे कारिका में कहा है। अ, उ, म्, नाद बिन्दु कला एवं कलातीत इन सातों को सप्तसिन्धु की भाँति एक में ('मा') मिलाकर समझेंगे।

इस महामाया सूत्र को सर्वसूत्रयोनि कहा है। क्यों, यह समझेंगे विकल्प सूत्र में महामाया की भगवत्ता ('जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि) का स्वतन्त्र भाव से उद्देश्य किया गया है। एतद्द्वारा महामाया ब्रह्म की वा भगवान् की आद्या शक्ति हैं, किन्तु स्वयं भगवत्ता नहीं, इस शङ्का का परिहार किया गया। केवल शक्तिरूप में महामाया को लेकर शक्तिमान् के साथ भेद अथवा भेदाभेद इत्यादि तर्क में अप्रतिष्ठान-

भाक् न हो, इसलिए 'शक्तिमत्ता' ही सूत्र में कही गयी है। इसके बाद कारिकावली के अर्थानुधावन के लिए यत्न करें।

वा० ब्रह्मणो भिद्यते नैव मूर्त्तामूर्त्तात् कथञ्चन।
अविशिष्टाद् विशिष्टाद् वा निष्कलात् सकलादपि।
नाप्यध्यस्तादधिष्ठानादाभासाद् भासकान्न च ॥ १ ॥

अन्वय—(सा महामाया) कथञ्चन मूर्त्तामूर्त्तात् अविशिष्टाद् विशिष्टाद् वा, निष्कलात् सकलात् अपि ब्रह्मणो न एव भिद्यते अध्यस्ताद् अधिष्ठानाद् अपि न, आभासाद्, भासकात् च न ॥ १ ॥

[(वह महामाया) किसी भी प्रकार ब्रह्म से भिन्न नहीं है। (ब्रह्म–) मूर्त्त हो या अमूर्त्त, अविशिष्ट हो या विशिष्ट, निष्कल हो या सकल, अध्यस्त हो या अधिष्ठान, आभास हो या भासक ॥ १ ॥]

भाष्य—निर्व्यूढ समग्रत्व (Absolute wholeness) इसमें है, इसीलिए यह अमूर्त ब्रह्म से किसी प्रकार भिन्न नहीं हैं, मूर्त ब्रह्म से भी भिन्न नहीं हैं। निर्विशेष (आविशिष्टात्) से भी भिन्न नहीं हैं, सविशेष (विशिष्टात्) से भी नहीं हैं। 'निष्कल' से भी नहीं हैं, 'सकल' से भी नहीं हैं। जिसे 'अध्यस्त' समझते हैं उससे भी भिन्न नहीं हैं। पुनश्च, जिसे आभास समझते हैं उससे भिन्न नहीं हैं, जो 'भासक' है उससे भी नहीं हैं। पुनश्च, यह एक परमाश्चर्य सर्वत्व वा समग्रत्व है। 'कथञ्चन' इसलिए कहा है कि भेद, भेदाभेद किसी प्रकार के मनन के साँचे में (फर्मूला में) इसे डाल नहीं सकते। Alogical Absolute Whole Fact. 'जिनसे सब है और जो सब है।' यच्च किञ्चित् क्वचिद् वस्तु सदसद् वाऽखिलात्मके। तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वम्' इत्यादि। केवल क्या शक्तिकला ? (Aspect as Power ?) वह तो नहीं। इसीलिए शक्तिमत्ता कहा गया है।

'मूर्त' कहने से विशेष करके आकृति (Form, Pattern); 'विशिष्ट' से गुण; 'सकल' से शक्ति, लीला, छन्दः; 'अध्यस्त' से मूल सत्ता का विवर्त, अथवा लक्षणान्तर में परिणाम; 'आभास' से मूल प्रकाश के भान-भासादि रूप की प्रकाशमानता को लक्ष्य बनाया गया है।

ब्रह्म-सम्पर्क में महामाया को इस प्रकार दिखाकर जीव और जगत् के सम्पर्क में उसे दिखाते हैं—

न जीवाद् भिद्यते कुत्र व्यष्टितो वा समष्टितः।
मुक्ताद् बद्धान्मुमुक्षोर्वा विभुतश्चाणुतोऽपि वा ॥ २ ॥

अव्यक्तादपि च व्यक्ताज्जगतो नैव भिद्यते।
न रेणोर्वा विराजो न हेतोर्वा हैतुकादपि ॥ ३ ॥
अन्योन्याभावमात्रस्याभावस्य भावरूपता।
अविनाभावरूपेण यत्रैव परिनिष्ठिता ॥ ४ ॥

अन्वय—(सा) जीवात् च कुत्र (अपि) न भिद्यते—व्यष्टितः समष्टितः, वा मुक्तात्, मुमुक्षोः बद्धाद् वा, विभुतः अणुतः अपि वा ॥ २ ॥

अव्यक्तात् व्यक्तात् अपि जगत्: न एव भिद्यते। न रेणोः विराजः वा, न हेतोः हैतुकात् अपि वा (भिद्यते) ॥ ३ ॥]

यत्र एव अन्योन्याभावमात्रस्य अभावस्य अविनाभावरूपेण भावरूपता परिनिष्ठिता (सा एव महामाया) ॥ ४ ॥

[(वह महामाया) जीव से भी कहीं भिन्न नहीं है; (जीव–) व्यष्टिरूप हो या समष्टिरूप, मुक्त हो, मुमुक्षु हो, या बद्ध हो, विभु हो या अणु हो ॥ २ ॥]

[(वह महामाया) जगत् से भी भिन्न नहीं है, (जगत्–) अव्यक्त हो या व्यक्त, रेणु हो या विराट्, हेतु हो या हेतु से बना हुआ (पदार्थ) हो ॥ ३ ॥

[जहाँ अन्योन्याभावमात्र (रूपवाले) अभाव की अविनाभाव-रूप से भावरूपता परिनिष्ठित है (वही महामाया है) ॥ ४ ॥]

भाष्य—सर्वरूपा महामाया जीव से भी किसी प्रकार भिन्न नहीं हैं। व्यष्टि (विश्वतैजसादि) से भी भिन्न नहीं हैं। बद्ध एवं मुमुक्षु जीव से निश्चय ही भिन्न हैं, नहीं क्या ? नहीं। वे ही बद्ध मुमुक्ष्वादि जीव के रूप में अपने को स्वयं भूल गयी हैं ('भ्रान्तिरूपेण संस्थिता') और, फिर स्वयं ही अपने को पहचानती हैं (चेतना-'चिति')। जीवात्मा को विभु (सर्वव्यापक) वस्तु कहने पर तुम्हारे विचार में गोलमाल नहीं होता; किन्तु यदि कहा जाय अणु (जैसे अनेक भक्ति-सिद्धान्त में कहा है) तो ? उसमें भी गोलमाल नहीं है। उन्होंने ही अपने में विभुत्व, अणुत्व का 'व्यपदेश' किया है। वे ही अणु हुए हैं। इस होने को 'मिथ्या' कहकर यदि तुम खुश होते हो तो हुआ करो। तुम्हारा 'मिथ्या' भी उनके (सबके) बाहर तो नहीं है ! यदि जीव का यह अणुत्व सांसिद्धिक वा नित्य समझना तुम्हें अच्छा लगे तो ठीक है, उनकी परमता में जीव का यह अणुत्व भी नित्य रहता है। यदि वैसा हो तो मुझे 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों के शोधन-बोधन में क्या लाभ हुआ ? तुम विचार कर कहोगे। लाभ यही है कि 'त्वं' पदार्थ को त्वं रखकर तो यह परम समीकरण नहीं होता; तुमने शोधन में उर्वारुक फल की भाँति—'त्वं' की केंचुली फेंक दी—निजबोधरूप परम अव्यक्त एक कुछ

मिला। 'केंचुली' यदि तुम्हारे 'भागत्याग' में उस प्रकार 'त्यक्त' होकर भी विश्व-व्यवहार में 'परित्यक्त' न होकर विद्यमान रहे (यथा, जो प्रपञ्चोपशम में स्थित है उसके लिए वैसा न होने पर भी, अन्यथा इस विश्व में हुआ ही करता है), तो उसमें आपत्ति क्या है ? तमः और प्रकाश की भाँति अविद्या और विद्या का विरोध है, इसीलिए विद्या होने पर जीवत्व (अणु अथवा विभु) रह ही नहीं सकता— ऐसा यदि कहो तो ठीक है। जिस विद्या में निखिल प्रपञ्चोपशम होता है, उसमें जीवत्व का प्रसङ्ग कहाँ ? किन्तु प्रपञ्च तो अन्य के सम्पर्क में अथवा स्वतः ही लोप नहीं होता। दृष्टि-सृष्टि करके ही क्या सबको बिलकुल लोप करेंगे ? सृष्टिकुहककुशलिनी वह दृष्टि क्या है एवं किसकी है ? असल में वह दृष्टि तो महामाया की ही दृष्टि है। मूल में जीव यदि एक ही है, तो महामाया ही वह एक जीव हुई हैं। वह एक जीव हुआ महामाया का 'एकबिन्दु' वा महाबिन्दुरूप लीलायन। यही बिन्दुमाया हैं। महाबिन्दुरूप में भी महासिन्धु हैं; जिनको भिन्न-भिन्न जीव समझते हैं उनमें से प्रत्येक ही इस महाबिन्दु की ही भिन्न-भिन्न बिन्दुरूपता है। महाबिन्दु एवं उसके 'वितान' रूप इन विभिन्न बिन्दुओं का विनाश नहीं है; क्योंकि इस बिन्दुरूप में ही परब्रह्म वा महामाया निखिल सृष्टि में अनुप्रविष्ट हुई हैं, अवश्य ही आत्मघाती होने के लिए नहीं ! महामाया के प्रसाद से प्रपञ्चोपशम मुक्ति होने पर उसके सम्बन्ध में (in regerd to that position) एतावत् प्रसज्यमान (Practically relevant) जीवत्व एवं जगत् ये दोनों ही तिरोहित हो जाते हैं। किन्तु जीव और जगत् का आधार एवं हेतुरूप जो कलाशक्ति, बिन्दु एवं नाद—यह त्रयी है—वह त्रयी उक्त प्रपञ्चोपशममुक्त के सम्बन्ध में अप्रसज्यमान होने पर भी रह जाती है। सङ्कल्परहित होने पर, उक्त त्रयी जीवत्व का (पञ्चकोष अथवा सप्तकोषादि) जो विशेष-विशेष 'संघात' है, वह 'संघात' फिर सृष्टि नहीं करता, इसीलिए विदेहमुक्ति होती है। किन्तु संघात (देह) के विनाश से बिन्दु का विनाश प्रसक्त (प्राप्त) नहीं होता। यदि कहें कि यह बिन्दु ही तो बीज वा कारण है; इसलिए पादप का विनाश होने पर भी यदि बीज का सद्भाव हो तो पादप की सम्भावना तो रह ही गयी ! इसका उत्तर है—बिन्दु स्वयं (as such) बीज नहीं है; अविद्या संस्कार को उपादान के रूप में पाने पर (यथा, प्रकृति के सहयोग में पुरुष) तब बिन्दु बीज होता है। यह सब बाद में बिन्दु का लक्षण कहते समय विवेचित होगा।

तब हम देखेंगे कि अणु या विराट्, किसी संघात की अपनी नाभि वा केन्द्र के रूप में ('प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्') बिन्दु को (बिन्दु मायारूप ब्रह्म को) पाना आवश्यक है। अन्यथा किसी संघात का ही प्रभवादि नहीं होगा। जैसे, केन्द्र, फोकस् इत्यादि पाकर ही वृत्त, वृत्ताभास इत्यादि होते हैं। किन्तु संघात की आकृति-प्रकृति के सम्बन्ध में स्वयं बिन्दु निरपेक्ष (neutral) है। उक्त आकृति-प्रकृति

अनादिकर्मसंस्कारजन्य 'बद्ध' वासना, अथवा (विशेष क्षेत्र में) जीवजगद्धिताय शुभ सङ्कल्परूप 'मोक्ष' वासना—इन दोनों के द्वारा निरूपित हुआ करती है। इस प्रकार कोई जब प्रपञ्च से मुक्त होता है, तब वह बहिःप्रज्ञ-अन्तःप्रज्ञ-घनप्रज्ञरूप संघातत्रयी से मुक्त होता है; नाभिस्थ बिन्दु बिन्दुमाया के रूप में ही विश्रान्त होता है। यदि कोई मुक्त जीव भी जगत् के हित के लिए संकल्परक्षापूर्वक मुक्त हो, तब इस बिन्दुमाया को नाभि बनाकर ही उसे अपना आवश्यक संकल्प-कलेवर पाना होता है। भागवत के उस 'आत्माराम' श्लोक में 'निर्ग्रन्थ' मुनिगण श्रीहरि में अहैतुकी-भक्ति के रसास्वाद के निमित्त भी वैसा कर सकते हैं। बाद में बिन्दुसूत्र में कहा जायगा कि—शून्यता एवं पूर्णता जहाँ मिल गयी हैं वहीं बिन्दु है। बिन्दुवासिनी महामाया एक साथ 'सर्वनाशी' और 'सर्वा' हैं। निखिल विचित्र अभिव्यक्तिरेखा वहाँ शून्य हो गयी है, अथ च वहाँ निखिल कलनशक्ति गाढ़ता की पराकाष्ठा ('पूर्ण') है। इस प्रकार शून्य-पूर्ण का युग्मक केन्द्र में न पाने पर कोई भी कलन नहीं होता। मुक्ति में जाग्रदादि निखिल कलन की शून्यता होती है, किन्तु शून्य शून्य ही रहता है। शून्य सिवा और कौन कहेगा आश्वास देकर कि प्रपञ्च का लेश भी अब नहीं है 'शान्तम् शिवम्' ! फिर पूर्ण की गारंटी भी इसीसे (शून्य से) है।

अब जगत् के सम्पर्क में जगन्माता का ध्यान करें। प्रलयादि में जगत् का जो अव्यक्त (unmanifest) ('असत्') भाव है, उससे महामाया भिन्न नहीं हैं, और, जगत् का जो व्यक्त (manifest) भाव है, उससे भी भिन्न नहीं हैं। क्षुद्ररेणु से भी अभिन्ना, और विराट् से भी अभिन्ना हैं। जिसे तुम क्षुद्ररेणु देखते हो, वह तो असल में क्षुद्र नहीं है, यह 'रेणुमात्र' नहीं है। अधुना विज्ञान की दृष्टि भी तुम्हारे इस कारोबारी क्षुद्रत्व और रेणुत्व का एक मोटा 'बाजार चलती' हिसाब (Crude pragmatic convention or fiction) रूप में ही निर्धारित हुआ है। और भी आगे चलने पर देखेंगे कि यह रेणु अतीत-अनागत निखिल ब्रह्माण्ड का एक विशिष्ट दहर संस्करण (micro-cosmic resume) है। क्योंकि, 'बिन्दुवासिनी' इस रेणु में वास जो कर रही हैं ! जिसने इस बिन्दुवासिनी को देखा, उसने रेणु में अशेष-विशेष 'सर्व' वा 'सर्वा' को ही देखा। तुम्हारे-हमारे साधारण कारोबार की गरज़ से इस रेणु को नाभि में जो पड़े हुए हैं, अपने संख्यातीत 'अर' और सीमाहीन 'नेमि' को समेटकर, ह्रस्व बनाकर उसे 'इतना-सा' बनाकर दिखा रहे हैं। यह महामाया की माया है। इसकी बात बाद के सूत्र में कही जायगी। असीम, अपरिमेय कलनशक्ति ('कला' वा 'काली') बिन्दुरूप में परम घनीभाव पाकर मानो कहती है—"यह देखो, अतीत अनागत निखिल विश्व (अर्थात् देश-काल-कार्य-कारण-संघात) को व्यक्त भाव से (as manifested) मिटाकर (The Circumference and all the radii redu-

cal to Zero) मैंने आत्मसात् कर लिया है, 'शून्य' बना दिया है ('यथोर्णनाभः सृजते गृह्णते च'); किन्तु सब कुछ को शून्य में लाकर भी कलनशक्ति वा काली के रूप में मैं जो पूर्ण थी वही पूर्ण बनी हुई हूँ।" 'पूर्णमदः' मन्त्र का यह एक परम रहस्य है।

नाद के रूप में जो अशेष विस्तार वा वितान है, वह पूर्ण (पूर्णमदः) है; और बिन्दु के रूप में (अशेष वितानरूप नाद को अव्यक्त में लाकर) जो परम घनीभाव है, वह भी पूर्ण ('पूर्णमिदं') है; देखो–बिन्दुरूप पूर्ण किस प्रकार नादरूप पूर्ण में अभिव्यक्त हो रहा है ('पूर्णात् पूर्णमुदच्यते') (उत् + अञ्च–गत्यर्थे)। अब, बिन्दुरूप में, किंवा नादरूप में जो पूर्ण है उसमें से इस पूर्ण को लेकर ('पूर्णस्य पूर्णमादाय'), वे पूर्ण ही रह जाते हैं ('पूर्णमेवावशिष्यते')। इन 'आदाय' एवं 'अवशिष्यते' दोनों पदों पर विशेष रूप से ध्यान दें। आत् + आय (गति) = आदाय, इस प्रकार इसे 'साधा' जाता है। 'आत्' = आवर्ण, सूचना देता है व्याप्ति एवं काष्ठा की, बीच में बिन्दुमाया को रखकर विश्वभुवन में एक सार्वभौम 'महासमास' (Cosmic integration) चल रहा है। बुद्धि के हिसाब से इसी समस्तीकरण की दो काष्ठाएँ हैं—अवम (शून्य) और चरम (अशेष = oc)। एक बिन्दु है, दूसरा नाद। मान लें, शून्य के 'सान्निध्य' (approximation) से अशेष की ओर (अर्थात् पोज़िटिव्—'अनुलोम') कोई नैकटिक (approximate) समस्तीकरण हुआ। फल को कहें + oc, और, विपरीत क्रम में वा विलोम में समस्तीकरण है— ∝, अब साधारण भाव से इन दोनों फलों का योग करने पर बनता है शून्य, किन्तु गहराई में देखने पर वह अशेष है। मान लें, e = एक अशेष सिरिज़ (क्रमिक धारा) है तब फिर— e हुआ इस सिरिज़ का, अर्थात् तदन्तर्गत व्यष्टि राशियों (terms) का ऋणात्मक अवस्थान। यह e + (−e) होने पर क्या होगा ? पहले एक-एक धनराशि द्वितीय के अनुरूप ऋणराशि को काटती हुई चलेगी। किन्तु यह काटाकाटी भी अशेष है ! यह अशेष का विचार जप के प्रसंग में एकान्त वाह्य नहीं है, यह हम बाद में देखेंगे। फिर देखें, + ∝ से − ∝ यदि वियोग करें, तब भी वह अवशेष है ! साधारण हिसाब से फल होता है, = ∝ द्विगुण अशेष ! इसीलिए 'आदाय' इस प्रक्रिया को अनुलोम विलोम चाहे जिस प्रकार ही समीकरण में लें, 'अशेष' को 'शेष' करने का उपाय नहीं है।

यहाँ उदाहरण में 'पूर्णमदः' को दिखाया गया है। बाद में यह सब प्रसंग विशेष-विशेष सूत्रों में आलोचित हुए हैं। ऊपर उल्लिखित 'सान्निध्य' और 'नैकटिक' इन दो शब्दों को लेकर भी यहाँ विचार करने का काम नहीं है। एक 'क्षुद्र' रेणु को लेकर आरम्भ होता है। इसकी परिसमाप्ति कहाँ है ? रेणु बजा रहा है 'वेणु', उसमें तो विश्वभुवन में व्याप्त 'कान्ह का गीत' ही जो बज रहा है !—The unbroken, unabridged theme of Song Divine ! जरा भी छूटता नहीं है, क्षुण्ण नहीं होता ! Miracle (चमत्कार) यदि कुछ है तो यही। महामाया के आधार पर यह रेणु

दिखा रहा है महाशक्ति का चतुर्व्यूह। महाकलनशक्तिरूपा महाकाली, महाबिन्दुशक्तिरूपा बिन्दुवासिनी महेश्वरी, महानादशक्तिरूपा महालक्ष्मी (रेणु के बीच जो अनवद्या श्री–Perfect Harmony), एवं महासरस्वती (अकुण्ठिता ख्याति–Perfect Manifestation) हैं इस चतुर्व्यूह को हमें पहचानना होगा।

चतुर्व्यूहा महामाया इन चार प्रकारों से नित्यपूर्णा हैं। कालादि निखिल कलन के 'आद्या' (Prime Elan) के रूप में वे नित्यपूर्ण हैं; निखिल के बिन्दु में अधिष्ठिता के रूप में वे नित्य पूर्णैश्वर्यमयी हैं; निखिल के वितान में आकृति-कृति-छन्दः इन तीनों का जो अनवद्य सौष्ठव और सुषमा है, जो अपरूप माधुरी है, उस रूप में वे परिपूर्णा श्री हैं; एवं निखिल के प्रकाश में और बोध में परिसीमारूप में वे नित्यपूर्णा ख्याति हैं। इन चारों में से किसीमें भी 'महाअमेया', 'मेया', सुतरां 'मायोपहिता' नहीं होतीं। महामाया अपने को चार प्रश्न पूछकर मानों स्वयं ही उत्तर दे रही हैं; इस समस्त की परम 'आद्या' मूलरूपा कौन हैं ? मैं महाकाली हूँ। इन सबकी परम अधीश्वरी मैं कैसे बनती हूँ? महाबिन्दु-अधिष्ठिता के रूप में। इन सबके आकृति-क्रिया-छन्द में इतना सौष्ठव, इतना 'मधु', इतना 'रस' किसने दिया है ?–मैंने, महालक्ष्मी ने। और, इन सबका परिपूर्ण सत्यबोध एवं ख्याति, निवेदन और आस्वादन कहाँ है ? मेरे महासरस्वतीरूप में। इस नित्यपूर्णा चतुर्व्यूहा महामाया को क्रीं ह्रीं श्रीं ऐं—इस महाबीज-चतुष्टयी के रूप में ध्यान करें। बाद में सविशेष कहा गया है।

अब, रेणु से महामाया यदि अभिन्ना हैं, तब उक्त चतुर्व्यूहारूप में भी वे रेणु में अवश्य ही हैं। असल में वह तो 'रेणु' नहीं है–वह तो वही 'चिरवेणु··· ' ! वे इस वेणु में निखिल के सभी सुर, सभी छन्दः नित्य ही बजते जो हैं ! केवल एक ऊबाऊ स्वर से नहीं, अपूर्व लीलायन से बजते हैं ! शहनाई की 'पों' और करतब दोनों ही बजते हैं ! तुमने और मैंने उसे सुनने के कान खो दिये हैं। यह महामाया की माया है। 'मेरी' भान-सामग्री (Experience as a whole) इसीलिए पूर्णाभास वा पूर्णाख्याति नहीं है। पूर्वालोचित मर्श-पञ्चक एवं भास-पञ्चक के 'पल्ले पड़कर' जो असल में अखण्ड-अमेय है वह मानों खण्डित होकर 'इतना-सा' (धूलि रेणु) हो गया है। एक शब्द में यह 'आभासिक' है–अर्थात् ग्रहीतृविशेष के अपने भान (Experience as Fact) को किसी प्रकार भास के रूप में 'ग्रहण' (accept, own) करने का जो संस्कार या 'पागलपन' है, उसके कारण ही बनती है छँटी हुई, 'पैक' की हुई, 'लेबल' लगी हुई एक सामग्री। सामग्री के समग्रत्वादि को खोये हुए तुममें-मुझमें-वैज्ञानिक में-योगी में अलग-अलग सामग्री है।

अच्छा, यह 'आभासिक' सामग्री भी चाहे जैसी हो, 'स्वाधिकार' में ही है, नहीं क्या ? यह तो सर्व के बाह्य नहीं है। महामाया की माया में जो आभासिक भाव से भी

भासता है, वह उनसे भिन्न है क्या ? नहीं, वैसा नहीं। महामाया ही स्वयं अस्मदादि के रूप में, अस्मदादि के भानभासादि के रूप में भास रही हैं। वस्तुतः, महामाया का पूर्णत्व किसी स्थल में बाधित नहीं है। वे 'शुद्ध अस्ति भाति प्रियं' रूप में सर्वतः सर्वथा पूर्ण तो हैं ही (सूत्र की प्रथम कारिका में इसे दिखाया है); वे बिन्दु ('यत्रैकत्र शून्यत्व-पूर्णत्वे') के रूप में सर्वत्र अनुप्रविष्ट रहकर रेणु को भी 'दहर विश्व' बनाये हुए हैं। (Liebrity एवं वर्तमान में Whitehead के आलेख्य का इस प्रसंग में विशेष भाव से प्रणिधान करें) सुतरां उस भाव में भी महामाया पूर्ण ही हैं; इस रेणु के बीच भी केवल जो एक 'परम आकृति' (Perfectly realized universe Pattern) के रूप में वे हैं ऐसा नहीं; देश-काल-निमित्त—इन तीनों के आधार पर (frame में) इस रेणु में वे अपनी ख्याति की पूर्णता-प्रतिष्ठा के लिए धारारूप–Evolutionary Pattern भी धरे हुए हैं; एवं इस धारा के अन्तर्गत प्रत्येक 'जातक' (Evolvent) को वे पूर्ण यथार्थ मान एवं आंशिक आभासिक मान–इन दोनों प्रकार से ही चालित कर रही हैं। इस शेषोक्त धारारूप में भी पूर्णताहानि नहीं हुई है। पूर्ण बिन्दु से पूर्ण नाद (विस्तार) की ओर यह 'रेणुकाधारा' स्वयं भी पूर्णा है। मेरी कारोबारी रेणुका स्वल्प है, तुच्छ आभासिक है, इस पूर्ण स्थितिरूप और पूर्ण धारारूप इन दोनों के आवरण में, भ्रान्ति में। वह भ्रान्ति भी वही हैं, जिनके फलस्वरूप एक unbounded cosmic event बनाता है 'an event here and now' इत्यादि। जो Fact है वह बनता है Fact-section, इस प्रकार Section के रूप में वह दीखता है मृत, मलिन, स्थाणु एक भग्नांश। स्थितिरूप में (in a static configuration or co-existence) यह स्थाणु सत्य ही मानों समग्र के बीच रहकर भी समग्र से विच्छिन्न जान पड़ता है। किन्तु धारावाहिकता में (जैसे किसी एक ऊर्मि में) समग्र के साथ ग्रथित, अन्वित, अङ्गीकृत ही जान पड़ता है। 'वह' आकर 'यह' बनता है, फिर कैसे 'वह' होता चलता है; इस दृष्टि से यह रेणु, यह शिशिरकणा, यह अज्ञातनामा तृण-कुसुम एक विश्व-ऐक्यतान की मानों एक-एक 'तान' है !

इसीलिए कहते हैं महामाया विश्व के प्रत्येक रेणु को धारारूप भाव से 'छवि' की भाँति आभासिक किये हुए अवश्य, किन्तु उसे फिर एक महासङ्गीत (cosmic Harmony) के बीच एक अपूर्व रसनिबिड़ तान की भाँति गूँथे हुए भी हैं ! उसे बलि देकर, टुकड़ा-टुकड़ा करने के बजाय उसे एक निज-निबिड अथच सर्वसंवादिनी चमत्कारिता से उन्होंने भर दिया है। इस 'बलि' से ही वह (विश्व) पूर्ण है। ऐसा न हो तो मेरी पूर्णरूपा माँ की अपने को पूर्णरूप में दिखाने की आशा अपूर्ण ही रह जाती। भगवान् नित्यपूर्ण हैं, किन्तु जीव को भक्त होकर, प्रेम करके उनका साथी होना होगा; क्योंकि रसवस्तु की पूर्णता दो के मिलने से होती है—नित्य निबिडता

और नित्य नवनवायमानता। इस युगल की गरज से जीव को बनना पड़ता है 'अंश', 'कण', 'तटस्थ' इत्यादि। नहीं तो, भगवान् भी पूर्ण हैं, भक्त भी पूर्ण है। भगवान् को 'चुप करके' रहने दो—हाँ, मधुर हैं, किन्तु, इतना अशेष वैभव, अनन्त ऐश्वर्य! उनके समीप मैं इतना-सा—इस रेणु का भी रेणु—हो गया हूँ। किन्तु मधुर को रस का झरना बनकर अजस्र झरने दो—हाथ में दे दो वेणु, बन जाय वह मोहनिया किशोर नटवर! इस प्रकार ऐश्वर्य पिचककर इतना-सा हो गया! और इस ओर रेणु के बीच भी वेणु बज उठा! वह क्या अब रेणु है? मोहनिया के वेणु की पुकार जितनी बढ़ती है, रेणु का प्रतिस्पन्दन भी उतना ही बढ़ता है; इस बढ़ने की 'बढ़ती' कब, कहाँ है? इस अशेष के, अनन्त के, नव-नव के 'एकान्त-कुञ्ज' में। जो रेणु केवल अपने में नहीं, सारे 'विश्व-व्रज' में विततं दिखाई देता है। वह रेणु यदि पूर्ण न हो तब तुम्हारा यह विश्वमोहनिया वेणुकर भी पूर्ण नहीं है। यह पूर्णता निबिड अथच अशेष नवनवायमानता में जो पूर्णता है वही है। इसीलिए न भक्त अपनी रसलिप्सा को एक शून्य गगरी की भाँति नित्य 'साँझ-सबेरे' भरने जाता है इस कालिन्दी में। भरी हुई गगरी को रीती करके फिर से भरने जाते हैं, दोनों ही एक-दूसरे के समीप स्वरूप-पूर्णता को ढँककर यह खेल खेलते हैं। भक्त कहते हैं, 'मैं तुम्हारा कण हूँ', भगवान् कहते हैं 'वह कण है इसीलिए मैं चिद्घन निरञ्जन हूँ।' रसाश्रित जो लीला है उसमें जैसे एक ओर भगवत्ता के पूर्ण-ऐश्वर्य का 'आवरण' है, वैसे अन्य ओर भक्त के भी रसास्वादन में इस अशेष नवनवायमानतारूप पूर्णता का भी आवरण है। महामाया अथवा भगवत्ता के अपने पूर्णत्व का 'लीलायन' इस प्रकार नाना भाव से (होता है)। इससे भक्तरसिक का मन भर जायगा क्या? बिन्दु और सिन्धु कहते हो? किन्तु 'जनम-जनम', 'लाख-लाख युग' हिया पर, रखकर अथवा नयनों से हेरकर, जो बिन्दु कभी भी नहीं बोला "यह लो मैं भर गया हूँ, भरपूर हो गया हूँ—'तिरपित भेलो,' उस बिन्दु को कैसा बिन्दु कहेंगे? सिन्धु को अपने हिया के बीच खींचकर वह जो कहता है, 'मैं तो शून्य हूँ मेरे नाथ'—'माह भादर, शोर बादर, सून मन्दिर मोर!' बिन्दुरूपा महामाया एक साथ शून्या और पूर्णा हैं—ऐसे अघटन को भी घटते हुए देखता हूँ। महामाया 'मायामात्र' नहीं हैं यह बाद में कहा जायगा। जो 'योगमायामुपाश्रितः' श्री भगवान् अपने रस-विलास का परमोत्कर्ष जो रास है, उसके विस्तार के निमित्त 'रन्तुं मनश्चक्रे', वह योगमाया, महामाया वा भगवत्ता का एक विशेष प्रकाश है।

प्रपञ्चोपशम पक्ष 'माया' को लेकर, 'तत्त्वातत्त्वाभ्यामनिर्वचनीया' जो मिथ्यात्व है, उसे लेकर कुछ संकट में पड़ गये हैं, किन्तु महामाया को लेकर वैसे संकट नहीं होंगे। यह विचार अभी यहीं रहने दें। जीव और जगत् के साथ महामाया का अभेद दिखाते हुए रेणु का प्रसंग आया था। वह रेणु ही हमें 'कानू का गीत' सुना गया। वेदान्त का महाभेदी—'तूर्यनाद' अब सुनने जायँ तो कान बधिर होगा, और कुछ भी सुना नहीं

जायगा ! इस रेणुकारिका के अन्त में है–'हेतोर्वा हैतुकादपि !' महामाया हेतु से भिन्ना नहीं हैं, और हैतुक से भी भिन्ना नहीं हैं। हेतु-हैतुक को कारण-कार्यभाव से देखें। विचार में सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद प्रभृति हैं। किन्तु सब 'वादों' को बाद देकर भी जिसे किसी प्रकार भी बाद नहीं दिया जा सकता वह क्या है ? समग्र अखण्ड पूर्णभान (वही Absolute Fact)। इसके बीच तुम्हारे-हमारे कारोबार की गरज से 'हेतु' टुकड़ा 'हैतुक' टुकड़े से अलग भले ही रहे, उसमें कोई आपत्ति नहीं है; किन्तु असल में ? इस समग्र अखण्ड भान को एक भाव sense में लेने पर होता है 'हेतु', अन्यभाव से लेने पर होता है 'हैतुक'। उक्त भाव वा sense कारोबारी (Pragmatic, conventional) है। जैसे वह 'रेणुरटन' (existence as Partical or Point) महामाया को बिन्दुरूपा बिन्दुवासिनी बना करके दिखा रहा है, 'रेणुरटन' (अणुस्पन्द = action as Point Event) उसी प्रकार फिर महामाया को अखण्ड समग्र धारारूप में (as complete cosmic Event) ही दिखा रहा है। तुम 'रटन' और 'रणन' दोनों को ही बाड़ से घेरकर (limitation of date करके) काटकर टुकड़े-टुकड़े बनाकर (Cross-section, side-section इत्यादि के रूप में) अपने भव और भाव (theory) के कारोबार को स्वच्छन्द चलाओ, उसमें क्या रोक है ? किन्तु ठीक स्वच्छन्द चलता जो नहीं है—Dynamics of a Partical जाकर wave Mechanics में डुबकी लगाकर ऊभ-चूभ जो हो रहा है; वह सील मोहराङ्कित विश्व कार्य-कारणवाद Probability की Theory में गलता जो जा रहा है ! इसीलिए हेतु-हैतुक को लेकर अन्ध हठधर्मिता नहीं चलेगी। 'रेणु-रटन' और 'रेणु-रणन' (Point Existence and Point Event)–इन दोनों के बीच महामाया एक निगूढ़रूप में छिपी रहती हैं—'रेणुरमण' ! वे रेणु के बिन्दु में रहकर उससे कहती हैं–'तुम प्राण हो, तुम रस हो, तुम आनन्द हो, तुम लीला हो'। इसीलिए चाहे जितने बड़े और जबर्दस्त equation (समीकरण) की गाँठ क्यों न बाँधें, सभी कुछ एक निमेष में 'वज्र की खुली गाँठ' बन जाता है, किसी Laugrange का Analytical Mechanics क्या एक रेणु के अटन-रटन के हेतु-हैतुक का जो पूरा अथवा असली हिसाब है उसे दाखिल कर पाया है ? किसी Laplace का Celestial Machanics क्या आज भी स्पर्धा करेगा–मेरा यह संख्या-संख्यान ही ब्रह्माण्डावबोध-पटीयान्, एकेश्वर जादूगर है, भगवान् नामक अन्य अज्ञातकुलशील जादूगर की क्या आवश्यकता है ? प्राचीन (unconditional invariable antecedent, 'अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता' इत्यादि) अथवा अर्वाचीन (Bertrand Russel, Whitehead इत्यादि का दिया हुआ, अथवा नव्यन्याय, वेदान्त आदि का) कोई भी लक्षण (Formula) लेकर परीक्षा कर देखें, खींच-तानकर अन्त तक कोई भी पूरा नहीं उतरेगा। पूरा न उतरने की ही तो बात है !

जिसे 'हेतु' कहते हैं वह इस समग्र अखण्ड ब्रह्मरूपा का ही एक 'कृ कटाक्ष'—है, हैतुक है एक 'कॄ कटाक्ष'। 'कृ' कहता है करो वा करता हूँ—; 'कॄ' कहता है, देखो, करता जा रहा हूँ। स्वयं बनती हैं हेतु = अर्थात् शक्तिपिण्ड को संहत करो, समर्थ करो। यह है 'कृ'। जैसे मेघ। और हैतुक = उसे बिखेर दो, विकीर्ण करो। यह 'कॄ' है। जैसे वर्षण। यह 'कृ-कॄ' बिन्दुरूपा महामाया की 'सङ्कुचत्-प्रसरत्' आकृति है। मौलि पर नाद-बिन्दु स्पष्टतः धारण करते हुए ये हैं 'क्रीं' यह महाबीज (कालिका का)! दीर्घ ऋकार बन गया है दीर्घ ईकार। एक में मान लें, निखिल का लय हो गया, ऊपर में फिर से निखिल की सृष्टि हुई। परम चिदानन्दरूपा उन्होंने अपने आधार पर देश-काल-निमित्त यह मिलित त्रिपटी का विस्तार किया है; त्रिपटी बनती हैं भावान्तर से त्रिपुटी; इस पटभूमि में एक बिन्दु शिशिर पड़ रहा है, एक बिन्दु खिल रहा है, एक Island universe 'लोप' होता जा रहा है, अलग-अलग, अन्य की 'कुछ भी परवाह' न रखते हुए, अवश्य ही ऐसा नहीं है। एक फूल खिला—और समग्र सृष्टि ही नये सिरे से उसमें स्फुट हुई; एक बुलबुला टूटा—समग्र सृष्टि ही उसमें पूर्व भूमिका में टूटी एवं उत्तरभूमिका में जन्मी। इसीलिए यह फूल खिलना और बुद्बुद का टूटना—इन्हें समग्र से, अखण्ड से, पूर्ण से किसके जोर पर खारिज करोगे। पूर्ण की यह पटभूमिका सब कुछ के रटन-रणन के (वा अटन के) पीछे रहती है; इसीलिए न दीक्षा-जप-पुरश्चरणादि में राशिचक्रादि, तिथि-नक्षत्रादि का विचार है! जिस समग्र, अखण्ड, पूर्ण शक्ति वा इच्छा के आधार पर, सागर के वक्ष पर ज्वार-भाटा खेलता है, रवि-तारा-नीहारिकादि का विजय-विप्लव होता है, उस एक ही अखण्ड, समग्र, पूर्ण आधार में ही तुम-मैं तरंग-फेन-बुद्बुदादि की भाँति उदित, स्थित और विलीन हो रहे हैं, उसका एक बाल भी नहीं छूटता, छोड़ा नहीं जा सकता।

ब्रह्म, जीव और जगत्—इन तीनों के सम्पर्क में महामाया के अभेद प्रदर्शक कुछेक कारिकाओं के बाद, अब अभेद कैसा है यह बताते हैं। घट पट नहीं, पट घट नहीं—इस प्रकार परस्पर के अभाव को यदि कहें दोनों का भेद, तो यह भेद बिलकुल ही कहाँ नहीं रहता? ('अन्योन्याभावमात्रस्याभावस्य')। इन दो स्थलों में वह (भेद) नहीं रहता ऐसा कहा जा सकता है :—एक, ऐकान्तिक शून्य में; दूसरे, ऐकान्तिक निर्विशेष में। किन्तु 'नास्ति अस्ति' इन दोनों से अन्वित जो शुद्ध अस्तिता है, उसे तो किसी प्रकार भी छोड़ने का उपाय नहीं है। घट और पट को लेकर 'नेति' करण (elimination of determinents) करके देखें, घट-पट के विशेष-विशेष धर्मों को छोड़ देने पर, फिर भी कुछेक धर्म ऐसे रह जाते हैं, जो घट में भी हैं, पट में भी हैं। इस प्रकार छोड़ते हुए 'द्रव्य' ('Thing' यह category) पर्यन्त पहुँचे। और भी चलें—द्रव्य, गुण, कर्म, सम्बन्ध—यह सभी तो 'हैं'; 'अभाव' भी 'नहीं' इस पदार्थ रूप में तो है ही। सत्ता वा रहना ही अन्तिम है। अब यह सत्ता या रहना

यदि बिलकुल निर्विशेष हो तो। वहाँ अवश्य ही स्वगतादि कोई भेद नहीं है। ऐकान्तिक शून्यता—जो कल्पनादियोग्य भी नहीं है – का परिहार करने के निमित्त कारिका में कहा गया है—'भावरूपता'। फलस्वरूप, महामाया अपने शुद्ध निर्विशेष निरञ्जन सद्रूप में, चिद्रूप में, आनन्दरूप में सर्वभेदातीता, भेदभावाभावरूपा हैं। घटपटादि कोई भी यह कह नहीं सकते कि मैं 'तुम' नहीं हूँ, 'तुमसे अलग हूँ'।

किन्तु केवल क्या इतना ही है ? महामाया प्रत्येक व्यष्टि-समष्टि, अणु-महान् पदार्थ में अनुप्रविष्ट हैं—'कला, बिन्दु, नाद' इस त्रयी के रूप में, अथवा महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती इस चतुर्व्यूहा भगवत्ता के रूप में। इसके फलस्वरूप क्या हुआ ? प्रत्येक का वैशिष्ट्य (individuality, differentium) परस्पर के बोध में अथवा व्यवहार में अथवा उभयतः अभिव्यक्त (reactive manifestation) होने पर भी प्रत्येक में (यथा यह रेणु) वस्तु-शक्ति-छन्दः-आकृति—ये चारों निरूपक ही पूर्णभान में (In Perfect Experience or Supreme Synthesis) पूर्ण हैं। इसीलिए पूर्णरूपा, सृष्टि के अशेष-विशेष के बीच कहीं भी अपना शुद्धत्व, पूर्णत्व एवं समग्रत्व 'खो' नहीं बैठी हैं। उक्त बिन्दु प्रभृति, महाकाली प्रभृति, प्रणवादि बीज शक्ति, मीन-कूर्मादि क्रम, क्रान्ति शक्ति इत्यादि एवं अखण्ड समग्र पूर्णत्व ब्रह्मत्व, ये सब निखिल परिच्छेद एवं विशेष के उद्भव में भी नियत विद्यमान हैं। इनका कुत्रापि विनाभाव (negation) नहीं होता। यह हुई अभेद की अपर व्यञ्जना—अविनाभाव। सभी भेद भी जैसे उनमें अस्तमित हैं, वैसे ही फिर उन अभेदरूपा को 'प्रभवः प्रलयः स्थानं' के रूप में न पाने पर कोई भी भेद (यह-वह) नहीं 'रहता'। और उस प्रकार 'रहकर' भी वह मूलतः एवं तत्त्वतः अभेद को विताड़ित नहीं करता, अभेद में ही संगृहीत, संरक्षित रहता है। इसलिए कारिका में कहा गया है कि भेद मात्र के अभाव की जो भावरूपता (as Fundamental Affermation) है, वह फिर अविनाभाव रूप से (as negation of Fundamental Negation) महामाया में ही परिनिष्ठिता है।

सुतरां अभेद की इस पञ्चप्रकार से भावना करते हुए महामाया के तत्त्व का ध्यान करें। प्रथम—शुद्ध, निर्विशेष, निरञ्जन में सर्वभेद का अभाव है। द्वितीय—परम और महान् समन्वय (Synthesis and Harmony) के रूप में—परम सुषम सर्वरूप में अभेद है। तृतीय—समष्टि-व्यष्टि में से प्रत्येक की 'नाभि' में बिन्दु ब्रह्म के रूप में अधिष्ठान में अभेद है। चतुर्थ—केवल प्रत्येक का स्वभाव संस्था में 'पूर्ण बीजमव्ययं' रूप में नहीं, परन्तु प्रत्येक की (समष्टि-व्यष्टि की) परिणति का जो धारा-रूप (evolutionary process) है, उसमें भी शक्ति-सम्भाव्य-परिपूर्णता रूप में भी अभेद है। अर्थात् प्रत्येक में ही वस्तु-शक्ति-छन्दः-आकृतिगत एवं पाद-मात्रा-कला-काष्ठा-गत कोई निर्व्यूढ़ निषेध ('Thus far and no farther') नहीं है; प्रत्येक स्वभाव-पूर्ण

एवं सम्भाव्य-पूर्ण यह अभेद है। पञ्चम—वस्तु, आकृति प्रभृति में एवं पाद, मात्रादि में एक एवं और एक का जो विशेष अथवा भेद (आभासिक) है वह पूर्ण प्रज्ञा में नहीं है, अपूर्ण बोध में (Incomplete; partial appreciation में) वह भास रहा है। परिवर्तित भी हो रहा है, किन्तु उसमें भी अभेद है। क्योंकि इस महामाया के उस नवधा भ्रान्तिरूप में से एक रूप है; इस आभास वा भ्रान्ति से अपनी पूर्णता में लौटने की अधिरोहिणी सोपानावली भी वे ही हैं—दशविद्यारूपा—भ्रान्ति, छाया, शक्ति, जाति लज्जा, श्रद्धा, बुद्धि, व्याप्ति, विष्णुमाया एवं चिति। भ्रान्ति असल में भ्रान्ति है, यही हुआ भ्रान्ति का विद्यारूप। अन्य भी इस प्रकार यह दशविद्यारूपिणी, महामाया हैं।

अब आगे की कारिकाएँ संक्षेप रूप में कहने से भी चलेगा—

अमात्रमानमेयत्वे ब्रह्मणो भूममानता।
अणीयस्त्वं महीयस्त्वं गूढत्वं दहरता यया ॥ ५ ॥
निदिध्यासादिदृश्यत्वं वाच्यत्वं प्रणवाक्षरैः।
अमेयापि ह्यमेयस्य ब्रह्मणो मानदा यतः ॥ ६ ॥
अयोनिर्या महद्ब्रह्मलिङ्गा बीजप्रदः पिता।
भेदाक्लृप्ता महामाया माया या भेदकल्पना ॥ ७ ॥

अन्वय—'यया' ब्रह्मणः अमात्रमानमेयत्वे भूममानता, अणीयस्त्वं, महीयस्त्वं, गूढत्वं दहरता (अपि) ॥ ५ ॥

(यया) (ब्रह्मणः) निदिध्यासादिदृश्यत्वं प्रणवाक्षरैः वाच्यत्वं (च) यतः अमेया अपि हि अमेयस्य ब्रह्मणः मानदा ॥ ६ ॥

या अयोनिः महद्ब्रह्म, अलिङ्गा बीजप्रदः पिता (च), या भेदाक्लृप्ता महामाया, (सा) भेदकल्पना माया ॥ ७ ॥

[जो अमात्र-अमान-अमेय है ऐसे ब्रह्म की भूममानता, 'अणीयस्'-हीन, 'महीयस्' होना, गूढता और 'दहर'ता जिसके द्वारा है ॥ ५ ॥]

ब्रह्म में निदिध्यासादि की दृश्यता, प्रणवाक्षरों (अ उ म्) के द्वारा वाच्यता जिसके द्वारा है; क्योंकि वह अमेया होते हुए भी अमेय ब्रह्म को 'मान' देती है ॥ ६ ॥

जो अयोनि महद्ब्रह्म है, जो अलिङ्गा है और बीजप्रद पिता भी है, जो भेद से अक्लृप्त महामाया है, वही भेदकल्पनारूपा माया है ॥ ७ ॥]

भाष्य—'अमात्र' अर्थात्, मात्रारहित जो परममान है, उस परममान में अमेय ब्रह्म को श्रुति और अनुभव कहते हैं—'तुम परममान हो, भूममान, भूमा हो।' और इस प्रकार, 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' को भी महामाया देती हैं। ब्रह्मरूपा स्वयं ही अपने ये

सब मान देती हैं। 'गूढः सर्वेषु भूतेषु'—गूढ़, गह्वरेष्ठ मान है - वह भी वही हैं— दहराकाशादि रूप में दहरमान भी वही हैं। गूढ़ एवं 'दहर' को अच्छी तरह समझें। प्रथम 'संवृतमान' (enfolded) है, द्वितीय 'विवृतमान' (unfolded) है—यद्यपि सूक्ष्म अर्थ में (in the 'sense' of the infinitesimal) हैं। 'आत्मा अरे द्रष्टव्यः'—साक्षात् श्रवण, अथवा श्रवण के बाद यथायोग मनन-निदिध्यासन में आत्मा वा ब्रह्म 'द्रष्टव्य' वा दर्शनयोग्य मान पाते हैं—यह द्रष्टव्य-मान भी वही हैं; 'ओमेकाक्षरं ब्रह्म' इस प्रकार ओङ्काराक्षर द्वारा अवाङ्-मनसगोचर का भी जो वाच्यमान है, वह भी वही हैं। इस प्रकार एकान्त अमेय (ह्यमेयस्य) ब्रह्म की वे मानदा हैं। पूर्वोक्त भूममान, अणिष्ठमान, मंहिष्ठमान, निगूढ़तममान, दहरमान, द्रष्टव्यमान, वाच्यमान,—इन सबकी मानदा ब्रह्मरूपा वे स्वयं हैं। स्वयं अयोनि होकर भी 'मम योनिर्महद् ब्रह्म' रूप में योनिरूपा वे हैं; फिर अलिङ्गा होकर भी उस अपनी योनि में 'बीजप्रद पिता' भी वही हैं। यह योनि-लिङ्ग की बात पहले कुछ कही है। प्रसङ्गतः 'मम योनिरप्स्वम्भः समुद्रे'—इसे भी मनन करें। 'समुद्र', 'अम्भः' एवं 'अप्सु' इन तीनों की व्यञ्जना—कलाशक्ति, बिन्दु एवं नाद, इस प्रकार भी अवश्य है। सुतरां बिन्दुशक्ति = योनि है। कोई भेदकल्पना न होने पर (भेदाकृप्ता) वे महामाया हैं; भेदकल्पनारूप में वे ही माया हैं।

"ब्रह्मैवेति महामाया न माया महती मृषा" ये महामाया ब्रह्मैव—ब्रह्मरूपा, ब्रह्माभिन्ना हैं। 'महती माया' = 'महामाया'— इस प्रकार लेने से ठीक नहीं होगा, क्योंकि, माया = अभेद में भेदकल्पना, सुतरां मिथ्या (मृषा), ऐसा तुमने समझा है। तुम्हारा यह समीकरण चलाते हुए महामाया = महामृषा, इस प्रकार ठहरती हैं। 'ब्रह्मैवेति' = ब्रह्म + एव + इति; इन तीनों में भूमत्व, पूर्णत्व एवं शुद्धत्व ये तीनों ही सूचित होते हैं, ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् परब्रह्म की जो भगवत्ता है, उसमें तीनों के संकोचपरिच्छेदादि नहीं होते। 'मायोपहित ब्रह्म' और ब्रह्मरूपा महामाया एक पर्याय में नहीं है, ऐसा समझें।

अब कुछेक श्रुतियों का एवं अनुभव का विशेष उल्लेख करते हैं।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।
एकमेवाद्वितीयञ्च बहुधैकञ्च वेद सत्॥
अन्तर्यामी पुमानेष साक्षी चेताऽपि निर्गुणः।
ईशानो भूतभव्यानां ज्ञानादि-शक्तिरूपकः॥
भूमैकरसश्चात्मा प्रियः पुत्रात् प्रियोऽखिलात्।
सङ्गच्छेरन् हि वाक्यानि पूर्णमद इति श्रुतौ॥ ८-१०॥

अन्वय—"सर्वं खलु इदं ब्रह्म", "न इह नाना अस्ति किञ्चन", "एकम् एव अद्वितीयम्', "एकं सत् बहुधा वेद", "एष अन्तर्यामी पुमान्", "साक्षी चेता

निर्गुणः अपि", "ईशानः भूतभव्यानाम्", ज्ञानादि-शक्तिरूपकः, "भूमा" "एकरसः" च "आत्मा" पुत्रात् प्रियः अखिलात् प्रियः, (इति) वाक्यानि हि "पूर्णमदः" इति श्रुतौ सङ्गच्छेरन् ॥ ८-१० ॥

[ये सभी श्रुति-वाक्य "पूर्णमदः पूर्णमिदम्" इस मन्त्र में समन्वित होते हैं । ॥ ८-१० ॥]

भाष्य—कुछेक प्रसिद्ध (आपातविरुद्ध) श्रुति एवं अनुभव किस प्रकार 'पूर्णमदः'—इस मन्त्र की साक्षात्स्वरूपा महामाया के स्वरूप में विरोध के परिहारपूर्वक सुसङ्गत बनते हैं (सङ्गच्छेरन्), उसे ऊपर की इन तीन कारिकाओं में कहा गया है । यह सब ही (इदं सर्वं) अवश्य ही ब्रह्म हैं, ब्रह्म में (यह) नाना—बहुधा विशेष कुछ (किञ्चन) नहीं है । ब्रह्म द्वितीयरहित एक ही हैं । उनमें द्वैतलेश भी नहीं; एक सद्वस्तु को विप्रलोग 'बहुधा' कहते हैं । (यहाँ द्वैत वा बहु किसी न किसी प्रकार आता है ।) यह पुरुष निखिल का अन्तर्यामी है; वे साक्षी, चेता एवं निर्गुण हैं (सुतरां कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि उनमें नहीं हैं) । ये भूत एवं भव्य के ईशान (प्रभु, शक्तिमान्, ईश्वर) हैं; ज्ञान क्रियादि जितने प्रकार की शक्ति हैं वह भी वही (अर्थात् शक्तिमान् भी वह, शक्ति भी वह) हैं । अखण्ड, एकरस, भूमा यह भी है, और 'प्रियः पुत्रात् प्रियो वित्तात् प्रियोऽन्यस्मात् सर्वस्मात्'—यह भी है ।

प्रथम में तरतमता, आपूर्यमाणता नहीं, परम पर्याप्ति है । द्वितीय में प्रिय, प्रेयान्, प्रेष्ठ है । ऐसी एक आपूर्यमाणता है, जिसकी कि कहीं पर्याप्ति नहीं है, ऐसा लगता है । भक्त रसिक इसीलिए तो उनकी प्रियतम से भी प्रियता की, मधुमत्तमता की शेष पर्याप्ति कभी भी नहीं पाते हैं । इसीलिए उनके प्रियतम नवलकिशोर हैं । मातृभक्त का भी वैसा ही है । स्वलसित का जो उल्लसित विलसित धारारूप है, वह चिरनव अथच चिरपूर्ण (एक अपूर्व पहेली) है । परम लसित की ओर चिरपूर्ण चिरनवाभिलाषा के होने पर होती हैं 'राधा' ।

ऊपर नमूने के रूप में कतिपय श्रुति एवं अनुभव की बात कही है । वेद में, तन्त्र में, पुराण में एवंविध आपातद्वन्द्व, कहीं स्पष्टतः एवं पास-पास कहीं आभास में इङ्गित से और विक्षिप्त भाव से अजस्र पड़े हुए हैं । इन सबकी सङ्गति, समन्वय के निमित्त बहुत से विभिन्न मतवाद एवं सम्प्रदाय प्रवृत्त हुए हैं । जैसे, अद्वैत वेदान्त में विवर्तवाद, एवं तदङ्गीभूत आभासवादादि । कहीं अचिन्त्यशक्तिवाद एवं तन्निमित्त अचिन्त्यपरिणामवाद इत्यादि । इन सबके साथ समझ-बूझकर पाने की चेष्टा वर्तमान प्रयोजन के आधार पर अप्रासङ्गिक है । अंग्रेजी Mahamaya प्रभृति ग्रन्थों में वह चेष्टा कथञ्चित् नहीं की गयी है ऐसा नहीं । यहाँ केवल यही कहना पर्याप्त है कि वर्तमान सूत्र में एवं कारिकावली में महामाया जिस भाव से भावित हुई हैं उस भाव

में उनमें ही ('ॐ पूर्णमदः' मन्त्र के साक्षात् स्वरूप जो हैं) सब द्वन्द्वों का सम्मिलन एवं सुसंगति है। क्योंकि तत्त्वतः महामाया 'अयोनि-अलिङ्ग' हैं, इसीलिए महामाया परब्रह्मरूपा भगवती एवं परब्रह्मरूप भगवान् हैं। इस परब्रह्मरूपा भगवत्ता को शुद्ध माधुर्य, ऐश्वर्य एवं मिलित ऐश्वर्य माधुर्य सभी भावों से पूरा-पूरा स्फुट होने दो। महामाया ! तुम्हीं दो – अपनी माया के परिमाप में तुम्हारी अपरिमेय परम-पूर्णता का अपलाप मत होने देना !

इसके बाद, 'महामाया' यह महानाम नीचे की कुछेक कारिकाओं में ध्यान करें।

विहाय मा तु मा मासीः सङ्गच्छथा मदन्वितम्।
मायेति वाऽप्यमायेति महापूर्वं द्विधान्वयम् ॥ ११ ॥
तन्मायोपहितं ब्रह्म स्वतः शुद्धं निरञ्जनम्।
नोपाधेया महामाया स्वकलाव्याप्त्यसम्भवात् ॥ १२ ॥
स्पर्शानां स्पृशमन्त्याञ्च प्राणानां शेषशक्यताम्।
स्वराणां याऽन्तिमव्याप्तिं माति काष्ठाकलादिभिः ॥ १३ ॥

अन्वय—मा (मां) विहाय तु मासीः, माया इति अमाया इति अपि वा महापूर्वं मदन्वितं द्विधा अन्वयम् सङ्गच्छथाः ॥ ११ ॥

मायोपहितं तद् ब्रह्म स्वतः शुद्धं निरञ्जनम्। स्वकलाव्याप्त्यसम्भवात् महामाया न उपाधेया ॥ १२ ॥

स्पर्शानाम् अन्त्यां स्पृशम् (म) प्राणानां शेषशक्यतां (ह) स्वराणाम् अन्तिमव्याप्तिं (आ) 'या' काष्ठा-कला-आदिभिः 'मा'ति ॥ १३ ॥

[(महामाया कहती हैं कि) मुझे छोड़कर तुम माप मत करना। माया हो या अमाया हो, दोनों के पूर्व में 'महा' को जोड़ते हुए मुझसे युक्त द्विधा अन्वय समझो ॥ ११ ॥]

[माया से उपहित वह ब्रह्म स्वतः शुद्ध निरञ्जन है। अपनी ही कला की व्याप्ति असम्भव होने के कारण महामाया उपाधियोग्य नहीं होतीं ॥ १२ ॥]

[स्पर्श वर्णों में अन्तिम है 'म'कार; प्राणवर्णों में अन्तिम शक्यतावाला वर्ण है 'ह'कार; स्वरों में अन्तिम-व्याप्ति-युक्त हैं 'आ', जो (या) अपनी काष्ठा-कला आदि द्वारा इन सबको 'मा'पती है (मा) वह है महामाया ॥ १३ ॥]

भाष्य—उक्त श्रुति अनुभव में से प्रत्येक को बुलाकर महामाया कह रही हैं :— 'मुझे छोड़कर कोई परिमापादि मत करना (मा मासीः); मुझमें अन्वित होकर—मैं ही सब वाक्य एवं अर्थ में एवं प्रत्यय में हूँ—इस निश्चयबोध में सङ्गति-लाभ करो (सङ्गच्छथाः)। समझो कि—मेरे इस 'महामाया' नाम में महापूर्वक 'माया' इति

एवं 'अ-माया' इति इन दोनों प्रकार से अन्वय है। जो अमेय है उसकी मानदा को यदि कहा जाय 'माया' (इसके बाद ही 'माया' सूत्र है), तो अपने परब्रह्मभाव का भूमादिमान मुझसे है, भगवत्तारूप परममान भी मुझसे है। किन्तु, निखिल मानदा जो मैं हूँ उसका अपना मान कौन देगा ? इसीलिए कहा है—स्वतः शुद्ध निरञ्जन जो ब्रह्म-वस्तु हैं, वे भी मायोपहित होते हैं, किन्तु महामाया कदापि उपहिता वा उपाधियोग्या नहीं होतीं। (नोपाधेया) क्यों ? उपाधिरूपा माया उनकी अपनी ही कला जो हैं; जो पूर्ण और सर्व है, वह अपनी कला द्वारा व्याप्त कैसे होता है ? (स्वकलाव्याप्त्य-सम्भवात्)। 'महामाया' नाम के अक्षर-समूह का इस प्रकार विश्लेषणपूर्वक प्रणिधान करें। स्पर्श वर्णों का जो अन्तिम वा शेष स्पर्श है (स्पृशं अन्त्यां) उसकी, (मकार की) जो मानदा हैं (या माति), प्राणसमूह की शेषशक्यता, अर्थात् महाप्राणवर जो 'ह्'कार है उसकी भी वे मानदा हैं; स्वर वर्णों में जहाँ व्याप्ति का शेष वा परिसीमा दिखाई देती है, वहाँ 'आ' स्वर है, उसकी भी वे मानदा हैं। इस प्रकार, म + ह + आ + मा + या = महामाया। केवल वर्ण की ओर से नहीं, परन्तु 'स्पर्श', 'स्पृक्', 'प्राण', 'स्वर'—इन्हें और भी सूक्ष्मभाव से लेकर भी 'महामाया' नाम पर ध्यान दें। जैसे जो कुछ वस्तुएँ मात्रा, अर्थात् बहिःकरण एवं अन्तःकरण का स्पर्श करते हुए प्रतिस्पन्दन देती हैं, उनकी सीमा कहाँ तक है, अस्पर्श वा स्पर्शातीत क्या है एवं कहाँ है ?—यह हुई सूक्ष्म स्पर्शमानता, तुरीय में कोई स्पर्श नहीं, किन्तु सुषुप्ति में ? शुद्ध निरञ्जन में स्पर्श नहीं, किन्तु भगवत्ता में ? इन सबकी निरूपिका नियामिका महामाया हैं।

पुनश्च—

माति या च मिमीते च मायते वाप्यमानगा।
परस्मै चात्मने वाप्यभ्यासेन सकृत् स्वयम्॥
अस्पृग् व्याप्तिश्च मर्यादां स्पृशां च स्वे महिम्नि या।
विनाऽविनेति भावौ च समापयति सर्वथा।
मेत्यमेति च पूर्णे का नेतिता वाप्यनेतिता॥
यत्साम्नां शान्तिपाठेऽस्ति 'मा मा ब्रह्म निराकरोत्'।
'मा मा ब्रह्मेति' तत्रैव महामायेति मन्त्रितम्॥
मायाभिर्मा तु मा मासीर्मातु मातुर्महादया।
'मा मा' इति महामाया मामयते मनुस्वरात्॥ १४-१७॥

अन्वय—या स्वयं अमानगा अपि सकृत् अभ्यासेन वा परस्मै, आत्मने च माति च, मिमीते च, मायते वा॥ १४॥

अस्पृक् व्याप्ति च या स्त्रे महिम्नि स्पृशां मर्यादां च, विना-अविना –इति भावौ च सर्वथा समापयति; मा इति अमा इति च पूर्णे का नेतिता अनेतिता अपि वा ॥ १५ ॥

साम्नां शान्तिपाठे यत् 'मा मा ब्रह्म निराकरोत्' 'मा मा ब्रह्म' इति अस्ति तत्र एव महामाया इति मन्त्रितम् ॥ १६ ॥

मायाभिः मा तु मा मासीः मातुः महादया मातु। 'मा मा' इति मनुस्वरात् महामाया माम् अयते ॥ १७ ॥

[जो स्वयं अमानगा (मान से परे) होते हुए भी, एक बार अथवा बार-बार, परस्मैपदी या आत्मनेपदी (धातुप्रयोग) में 'माति' 'मिमीते' या 'मायते' इन धातुरूपों से नाप करती है ॥ १४ ॥

'मा' या 'अमा' रूपों में जो स्पर्श की मर्यादा और अस्पर्श की व्याप्ति, विनाभाव और अविनाभाव—सब-कुछ को समाप्त करती हैं। पूर्ण में नेतिता कहाँ ? अनेतिता भी कहाँ ? ॥ १५ ॥

साम (छन्दोग) के शान्तिपाठ में 'मा मा ब्रह्म निराकरोत्' में जो 'मा मा ब्रह्म' है उसीमें 'महामाया' यह मन्त्र पड़ा हुआ है ॥ १६ ॥

मायाओं के द्वारा 'मा' का माप मत करो। माता की महादया (ही) माप करें। 'मा मा' इस प्रकार मन्त्र के स्वर से महामाया मेरे पास आती हैं ॥ १७ ॥]

भाष्य—'मा' इस धातु के त्रिविध रूपों में भी महामाया हैं। प्रथम अदादि परस्मैपद में है—माति। इससे क्या सूचित होता है ? महामाया स्वयं यद्यपि अमानगा (मानगम्या नहीं) हैं तथापि अपर कुछ के लिए (यथा, जीवादि सृष्ट पदार्थ) वे व्यावहारिक मान देती हैं (परस्मै माति)। जुहोत्यादि आत्मनेपद में 'मिमीते' बनता है। यहाँ विधि के अनुसार धातु का 'अभ्यास' (पुनर्ग्रहण) हुआ है। इससे क्या समझें ? महामाया स्वयं अमानगा रहकर भी अपने को भी विविध मान देती हैं एवं मान का भी मान (यथा, पालयिता विष्णु, उनकी शक्ति वैष्णवी, उनके आयुध शङ्ख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग इत्यादि) देती हैं अभ्यासात्)। शेष, दिवादि आत्मनेपद में—मायते। इससे समझते हैं कि, विश्व-व्यवहार में मान बहुधा अभ्यस्त होने पर भी एक मौलिक मान (उसी उनके एक कटाक्ष में ही) निखिल मान वितान में चल रहा है। यथा, 'ॐ' वा 'मा'–इसमें निखिल समर्थ मान तो दिया गया है अवश्य, तथापि साधन भजन के व्यवहार में 'ॐ ॐ ॐ'—वा 'मा मा मा'—इस प्रकार उसका अभ्यास वा आवृत्ति हुआ करती है। 'मा' धातु के इन तीन रूपों में समग्र मानतत्त्व (Principle of measure and definition) के रूप में मिल गया है, ऐसा समझना चाहिए। अथच मूल में मान, मेय, माता तीनों का मिलाकर है यह एक 'मा'।

अच्छा, 'मा मा' इस अभ्यासरूप की भावना करें। 'म' स्पर्श-वर्ण-वर्ग का अन्तिम वर्ण है। इसके द्वारा मात्रास्पर्शादि सभी स्पर्शों के अन्तिम का उद्देश्य होता है (यथा, प्रणव में अउम्)। उद्देश्य तो अवश्य होता है किन्तु कहाँ तक वह अन्तिम है एवं क्या वह अन्तिम है ? यह खोज तो रह ही जाती है। इसीलिए अर्धमात्रा 'मा' उद्बुद्धा होकर 'म' को अपनी 'मर्यादा' दान करती हैं—नाद, बिन्दु, कला में विस्तार करती हैं। 'आ' इस स्वर ने 'म' से उक्त होकर यह मर्यादा दी। किन्तु निखिल स्पर्श के पार जो अस्पृक् ('अम') है उसकी सर्वतोव्याप्ति (Total immwnence and Absolute Transcendence), ये दोनों ही जब तक न मिलें तब तक निरतिशय पर्याप्ति नहीं है। इसीलिए, अपर 'आ' स्वर में आई वह परमा व्याप्ति। तब फिर मन्त्र हुआ इस प्रकार—'माऽमा' ! सुतरां प्रणव के सातों पाद महामाया के 'मा' अथवा 'माऽमा' इस परम रहस्य नाम में मिलित हुए हैं। 'म' को ऐसी मर्यादा एवं व्याप्ति दोनों ही मान देकर महामाया 'स्वे महिम्नि' विराजिता हैं। इस 'महिम्नि' से 'महा' का दोहन करें; बीच में मिला है स्वयं 'मा'। शेष में दो—'या', जो।

यदि कहें, 'मा' निषेधात्मक अव्यय यदि हो, तब ? उससे ही क्या हानि है ? ऐसा होने पर, मा = निषेध, नेति। अमा = अनिषेध, अनेति। एक विनाभाव, दूसरा अविनाभाव। इन दोनों को महामाया अपनी परम पूर्णता में सर्वथा समाप्त कर देती हैं। (समापयति सर्वथा)। निषेध एवं निदेश (negation and affirmation)—दोनों ही उस परम पूर्णता में मानों कहते हैं यह मेरा शेष है, मेरी सीमा है, मेरी चरमता है और परमता है। यथा—प्रपञ्चोपशमरूप तुरीय में जाकर बहिःप्रज्ञादि सब प्रपञ्च ही कहते हैं—और नहीं, बिलकुल ही नहीं। यह नेतिधारा की वा क्रम की चरमता है। फिर प्रपञ्चोपशम तुरीय भी मानों कहता है—'बहिःप्रज्ञादि सब प्रपञ्चों में ही मैं हूँ, मेरे अधिष्ठानभूत न रहने पर तुममें से कोई नहीं है।' (यहाँ तक कि आकाशकुसुमादि कल्पना में भी नहीं)। अविनाभाव का भी चूड़ान्त यह है। सुतरां पूर्ण निषेध एवं पूर्ण निदेश एकत्र हैं। शिवशक्ति; राधाकृष्ण, इस प्रकार 'नित्ययुगल' को लेकर भी सत्ता, प्रकाश एवं रस इन तीनों प्रकार से निषेध-निदेश की व्याप्ति एवं समाप्ति की भावना करनी चाहिए।

इस स्थल में प्रसङ्ग का अनुसरण नहीं करेंगे। केवल जप के दृष्टान्त का उल्लेख करेंगे। वैखरी जप नाद नाद-बिन्दु में लीन होकर नेति है। वैखरी जप में भी देखते हैं (क्वचित् अनुभव में भी पाते हैं)—कि नाद अस्ति। (बिन्दु की सूक्ष्मता में सहसा अवगाहन नहीं होता।) नाद होता है ज्योतिर्लीन, ज्योति होती है रससरणि में रसलीन, रस होता है युगललीन; उसके बाद अव्यक्ताद्वैतलीन एवं परमलीन। इन सब एक के बाद एक भूमिकाओं में—नेति अनेतिता की (negation and assertion की) अन्योन्यता (mutual implication) एवं आपूर्यमाणता (increasing fulfil-

ment) का सन्धान करें। इन दोनों की परस्पर अपेक्षा जैसे चल रही है, वैसे ही फिर देखते हैं – दोनों ही (नेति और अनेति) अपने को शुद्ध करते-करते अन्त में एक पूर्ण 'निरपेक्ष' (Absolute) में जाकर समाप्त हो रहे हैं। इसलिए कारिका में कहा है—'मेत्यमेति। (मा + इति + अमा + इति) च पूर्णेका नेतिता वाऽप्यनेतिता।' इस जप दृष्टान्त का विस्तार भी यहाँ नहीं हुआ।

यदि कहें, एक 'मा' निषेधात्मक अव्यय है, और दूसरा अस्मत् शब्द की द्वितीया के एकवचन का पद है, तो सामवेदीय प्रसिद्ध शान्तिपाठ की भावना करें। 'ॐ आप्यायन्तु' इत्यादि। उसमें है—"माऽहं ब्रह्म निराकुर्याम् मा मा ब्रह्म निराकरोत्।" इस ब्रह्म में जो दो बार मा मा के साथ 'मा मा ब्रह्म' व्यवहृत हुए, वे महामाया के मान्त्रवर्णिकरूप हैं—तत्रैव महामायेति मन्त्रितम्। यह 'मा मा' महाबीजद्वय बहुधा भावित हुआ है। यदि इस स्थान पर कहें—एक मा को 'ना' समझें और दूसरे को 'मेरा', तब इस प्रकार भावना करनी होगी—'तुम्हारी अशेष-कुहककुशलिनी माया के द्वारा (मायाभिः) मुझे मृषा मान मत देना (मा तु मा मासीः)। तुम्हारी जो परमाश्चर्य दया (महादया इस शब्द से 'महा' एवं 'या' आहरण करें), वह दया देकर ही मुझे मातृमान दो। (मातु मातुर्महादया)। मातुर्मान मिलने पर जो अघटन होगा वह इस–'मा या' इस महामन्त्र की पुकार से (मनुस्वरात्) महामाया मुझमें आती हैं (मामयते)। गीता के उसी—'मामेव ये प्रपद्यन्ते' इत्यादि की भी। 'मुझमें आती हैं' इसका अर्थ क्या ? "सर्वं ब्रह्मौपनिषदम्'—सब ही उपनिषद् ब्रह्म है यह परम अनुभूति देकर। सब ही 'मा' हैं; सब ही वे हैं—इस परम उपलब्धि में ले जाने की दो 'सरणियाँ' वे पकड़ा देती हैं—ज्योति एवं रस, अन्त में मिलकर एक। परम सरणि के शरणागत का जो मान है, वह मातुर्मान है। यह मातुर्मान मिलने पर यातुधान भाग जाता है। इसके बाद, प्रणव में 'मा' इस महामनु (मन्त्र) का इस भाव से उद्धार करें।

वा० प्रणवस्याक्षरे आद्ये मकारं विशतः परम्।
नादबिन्दुकलाव्याप्ति 'र्मा' इति चाकलातिगम्॥
तारबीजस्य बीजत्वमेकाक्षरं महामनुम्।
सतारं केवलं चापि 'अउओ' पूर्वकं श्रयेत्॥
हेति मेति विशेदाद्यं मायेति परमं विशेत्।
न जहाति मामायाति तच्च तत् परमे स्थितम्।
एकं द्वे त्रीणि वा मेति संख्यायोगवियोगदम्॥ १८–२०॥

अन्वय—प्रणवस्य आद्ये अक्षरे आकलातिगं परं मकारं विशतः नादबिन्दुकलाव्याप्तिः मा इति॥ १८॥

तारबीजस्य बीजत्वम् एकाक्षरं महामनुं सतारम् अपि च केवलम् 'अउओ'-पूर्वकं श्रयेत् ॥ १९ ॥

हा इति, मा इति आद्यं विशेत् । मा या इति परमं विशेत् । मां न जहाति (माम्) आयाति । एकं द्वे त्रीणि वा मा इति । तत् च परमे स्थितं तत् संख्या-योग-वियोग-दम् ॥ २० ॥

[प्रणव के आद्य दो अक्षर आकलातिगं (अर्थात् कलातिग होनेवाले) परम मकार में प्रवेश करते हैं । मा का अर्थ हैं नाद-बिन्दु-कला की व्याप्ति (जिसमें है) ऐसे महामन्त्र 'मा' को (साधक) तार-सहित (ॐ मा) अथवा केवल (मा) अथवा अ-उ-ओ-पूर्वक (अमा उमा या ओमा) आश्रय करें । ('महामाया' का) 'हा' आद्य (म) में प्रवेश करे, 'माया' पर-म (परम तत्त्व) में प्रवेश करे । (यह महामाया) मुझे छोड़ती नहीं, मुझमें ही (मेरी पूर्ण स्वरूपख्याति में) आ जाती है, परम में स्थित है । एक, दो या तीन बार 'मा' नाम लेने से वह संख्या से योग और वियोग देता है ॥ १८-२० ॥]

भाष्य—'अउम्'-प्रणव के इन तीन अक्षरों में से पहले दो (अउ) के बाद का जो मकार है उसीमें प्रवेश करते हैं (व्याहरण करके देखें) । किन्तु प्रायशः व्याहरण इस 'म' में ही मानों समाप्त हो जाता है । किन्तु अर्धमात्रा प्रसन्ना होकर क्या करती हैं ? इस 'म' का नादबिन्दुकला में विस्तार करती हैं । उस विस्तार की सीमा (मर्यादा) कहाँ तक है ? आकलातिग-कलातीत तक । यह विस्तार एवं परिसीमा सम्भावित होती है 'म' में, आ स्वरयुक्त होकर, अर्थात् 'मा' इस रूप में । सुतरां एक 'मा' इस नाम में प्रणव के सप्तपाद सम्पुटित हैं । भक्ति व्याहरण में, ध्यान रस में एवं भावालोक में उसे खिलने दो ।

तारबीज का भी बीजत्व जिसमें निहित है, उस एकाक्षर महामन्त्र ('मा') का तार-सहित ('ॐ मा'), अथवा केवल, अथवा 'अउओ' ये तीन स्वर आदि में लेकर, आश्रय लें । 'अ-मा', 'उमा', 'ओमा'—ये तीन मिले । प्रणव की हेला में अथवा त्याग में यह एकाक्षर बीज निहित नहीं है । वाग् दोह जो प्रणव है, वह पुनश्च दोहन में यह एकाक्षरी बनता है । सुतरां प्रणवजापक प्रणव के पूर्वोक्त दोहन में ही इस एकाक्षरी को प्राप्त करेंगे । पक्षान्तर में, भावभक्तिसह 'मा' नाम ग्रहण करने पर प्रणव भी सम्भ्रम के साथ कहता है—'यह देखो, मैं ब्रह्म के वाचक रूप में हूँ, तुम मेरे दोहन से जो सार (नाद-बिन्दु-कला) एवं सारात्सार (कलातीत) है, उसे स्वच्छन्द भाव से प्राप्त करो । अन्यान्य बीजों एवं नामों के साथ प्रणव का सम्बन्ध विशेष भाव से प्रणिधानयोग्य है । देखेंगे कि—'तारा' एवं 'राधा' इन दो नामों की ओंकार को शक्तिख्याति एवं रस-ख्याति की परिसीमा में ले जाने में असामान्य उपयोगिता है । यह भी देखेंगे—प्रत्येक

अक्षर, नाम, बीज इत्यादि की जैसे एक साधारणी अशेष अर्थ-प्रत्ययशक्यता है, वैसे ही फिर असाधारणी शक्यता भी है। यह (असाधारणी शक्यता), फिर उद्भावनी (what is patent or actually manifesting), सम्भावनी (what is latent) एवं परिभावनी (completely manifest) रूप से त्रिविध है।

तत्पश्चात् 'महामाया' नाम भी किस प्रकार 'मा' नाम में सम्पुटित है, उसे भी देखें। इस नाम में जो 'हा' है वह आदि में जो 'म' है उसमें प्रवेश करे (हेति मेति विशेदाद्यम्)। और परवर्ती जो माया वा 'मा + या' है वह बाद के 'म' में (परमं) प्रवेश करे। 'मा + या' के बीच एक लुप्त 'आ' अपिहित है, वह अपावृत हो। मिला 'मा'। यहाँ 'हा' धातु = त्याग; 'या' = गमन, चले जाना। 'आ' पूर्वक होने पर बना, 'आना', इसीलिए महामाया नाम के पूर्वरूप सङ्कोच-प्रसार (गुप्त 'आ' वर्ण के प्रसार) के प्रसाद से ऐसा भाव बना—तत्—वह (वह नाम) मुझे (माम्) त्याग नहीं करता (न जहाति); मुझमें ही—मेरी पूर्ण स्वरूपख्याति में ही—आता है (मामायाति); एवं आकर वह परम में ही स्थितिलाभ करता है। एक बार दो बार तीन बार 'मा नाम के ग्रहण से क्या होता है ? संख्या मैत्र का योग, संख्या वैर का वियोग एवं (अन्त में) संख्या शङ्कापनयनरूप परम अभय मिल जाता है। अर्थात् एक बार संख्या मैत्रयोग, दूसरी बार संख्या वैरवियोग, तीसरी बार संख्या शङ्कावियोग।

तत्पश्चात् देवीसूक्त, पुरुषसूक्त एवं रात्रिसूक्त—यह सूक्तत्रयी किस प्रकार परब्रह्म की भगवत्तारूप महामाया तत्त्व में निविष्ट है, यह नीचे की इन तीन कारिकाओं में कहा गया है—

एतावतः स्त्रियां पुंसि महिना महिमेति च।
परं स्त्री च पुमान् ब्रह्म देवीसूक्ते च पौरुषे॥
या 'व्यख्यदायती' रात्रि 'ज्योतिषा बाधते तमः।'
'मा मे' ति स्तोममस्यै मा 'उप मा पेपिशं तमः।'
'र' इति यच्च तार्त्तीयं मत्रीति यत् तुरीयकम्।
राति तार्तीयशेषाद् वाऽमर्त्या' दुहिता दिवः॥
त्वं स्वाहेति तथा देव्या ययेति चण्डिकास्तवे।
नमो देव्यै तथा मातः प्रपन्नार्तिहरे द्वयम्॥
सूक्तानि यानि चत्वारि तान्यत्रैवासतैकतः॥ २१–२४॥

अन्वय—'एतावतः' स्त्रियाँ 'महिना' पुंसि च 'महिमा' इति। परं ब्रह्म च देवीसूक्ते स्त्री, पौरुषे पुमान् च॥ २१॥

या 'व्यख्यदायती' रात्रिः 'ज्योतिषा तमः बाधते', अस्यै 'मा मा' इति स्तोमम्—मा 'उप मा पेपिशं तमः'॥ २२॥

यत् च 'र' इति तार्त्तीयम्, 'म्' अत्रि + इति यत् तुरीयकम् (अमात्रम्) तार्तीयशेषाद् वा राति, दिवः दुहिता अमर्त्या। चण्डिकास्तवे 'यया देव्या', 'त्वं स्वाहा', 'नमो देव्यै' तथा 'मातः प्रपन्नार्तिहरे' द्वयम् इति यानि चत्वारि सूक्तानि तानि अत्र एव एकतः आसत ॥ २३-२४ ॥

['एतावत्' शब्द को देवीसूक्त में—स्त्रीलिङ्ग में 'महि'-वाचक शब्द का विशेषण बनाने से 'एतावती महिमा' बनता है और पुरुषसूक्त में पुंल्लिग के प्रयोग में होता है—'एतावान् महिमा' ॥ २१ ॥

इन श्लोकों में वैदिक सूक्तों के शब्दों तथा वाक्यांशों का संकलित विनियोग करके नया अर्थ प्रकट किया गया है, अतः इनका शब्दशः अनुवाद सम्भव नहीं, अभिप्रेत गर्भित अर्थ भाष्य में ही स्पष्ट है ॥ २२–२४ ॥]

भाष्य—देवीसूक्त में कहा है—'एतावती महिना सम्बभूव', और पुरुषसूक्त में—'एतावानस्य महिमा'। 'एतावत्' शब्द को प्रथम सूक्त में स्त्रीरूप में और द्वितीय सूक्त में पुंरूप में लिया गया है। परब्रह्म स्वयं मानो एक बार स्त्री, एक बार पुमान् हो रहे हैं। परम पुरुष, परमा प्रकृति—इन दोनों की तत्त्वतः अभेद भावना करते हुए इस मूल स्त्री-पुमान्-युगल का ध्यान करना चाहिए। इसलिए, जो भगवान् हैं वही फिर भगवती हैं, अथवा जो भगवती हैं, वही भगवान् हैं इस परम समीकरण में किसी प्रकार 'समीह' नहीं होगा। हमारे व्यवहार में एवं व्यावहारिक भावना में जो 'स्त्री पुमान् आकृति' (Sex pattern) है, उसकी एक मूल एवं शुद्ध आकृति अवश्य ही है। और वह, अस्मदादि का, इस जड़ीय शोधन के फलस्वरूप लब्ध, एक कल्पित भाव वा आदर्श मात्र नहीं। मूल में महामाया अथवा परब्रह्म की भगवत्ता स्वयं ही यह मूल शुद्ध आकृति परिग्रह करके रहती हैं ('स्त्री च पुमांश्च बभूव'—अतीत के प्रयोग से इसे काल के सम्बन्ध में मत डालना)। मूल में तत्त्व केवल सत्स्वरूप एवं प्रकाश-स्वरूप है ऐसा नहीं, वह रसस्वरूप, आनन्दस्वरूप है; रस वा आनन्द ही 'अस्ति' और 'भाति' है। किन्तु रस वा आनन्द के स्वरूप में ही जैसे एक अव्यक्त अथच परम स्वल-सित भाव है, वैसे ही उसके 'स्वभाव में' अशेष उल्लास-विलास में लीलायित होने की भी एक अशेष असीम मधुमत्ता है जो ध्रुव एवं धारा—इस प्रकार द्विविध है। रस में वा आनन्द में यह शुद्ध परमता एवं अशेष असीमता एकत्र हुई है। रस की एवंविध अभावनीय पूर्णता का प्रकटन, परिशीलन, एवं परिपूरण सम्पूरण मूल युगल तत्त्व में है। इसीलिए न—'उमाशङ्कर', 'सीताराम', 'राधेश्याम' हैं! आनन्द की शुद्ध स्वलसित परमता अव्यक्त-अवाङ्मनसगोचर है। परम तुरीय है। मुख को कोई दबाकर न पकड़े तब भी वह अपने-आप बन्द हो जाता है! मन कहता है—'वहाँ मुझे निषेध है।' आनन्द निज सत्य में भी अनन्त है, ज्ञान में भी अनन्त है। उस आनन्त्य की और प्रकटन-परि-

शीलनादि की अपेक्षा नहीं। महासिन्धु मेघमाला की रचना करके उससे फिर नहीं कहता—"हे, तुम रिमझिम बरसकर मेरी इस 'अतृप्त' छाती पर नव-नव पुलक की सिहरन जगाओ। तुम किसी चिरविरही यक्षबन्धु का दूत-कर्म करके दौड़कर जाओ इस अभ्रभेदी गिरिवर के एकान्त शिखर निकुञ्ज में, विरहविधुरा तन्वी प्रिया के निभृत मरमी सम्भाषण में! और वहाँ से शत निर्झर सरित् धारा में चिर मिलन-विरह की दरदी वार्ता वहन करके फिर दौड़कर आओ – भर दो, नित्य नव स्वादु रस से भर दो मेरी इस चिर आपूर्यमाणता से अधीर उद्वेल अगाध असीम अश्रु-निबिड लवणाम्बुराशि को!" विश्व में जितना मधु है, जितना संगीत है, जितना काव्य है—वे सब शुद्ध स्वल-सित परम अव्यक्त आनन्द की मौनसमाधि भङ्ग होने पर उस वाणी को सुनने के लिए चिर-उद्ग्रीव रहते हैं! इसीलिए 'रसो वै सः' परम मौन के बीच से ही वाणी फूटती है—'न स वै रेमे!' यह रस और रम ये दोनों मिलकर मूल युगल है–'स्त्री च पुमांश्च।' रस और रम इन दोनों को शुद्धि एवं पूर्णता की परिसीमा में पाने पर होता है–परम युगल तत्त्व। 'आ' वर्ण यदि व्याप्ति एवं परिसीमा इन दोनों का निर्वहण करे तब मिलता है—'रास' और 'राम'।

यह सब द्वैत की बात है, सुतरां इसे 'मिथ्या' कहकर अहेतुक भक्तरसिक को—युगल रस के कांक्षित भिखारी को, अपने सत्य के ख़ास महल से भगाने के लिए व्यस्त मत होना। तुम भी यह समझ रखो कि जो परम तूष्णीम् है वहाँ न जाने तक जो कुछ समझना-बूझना, कहना-सुनना है उसीमें द्वैत वा द्वैतलेश है! यहाँ तक कि 'एक' 'अद्वितीय' 'तुरीय' इत्यादि कहने में भी वही है। और समझने एवं कहने में यदि द्वैतलेश रखना ही पड़ता है, तब सूखा नीरस रस न रखकर उसे स्वरूप रस के 'मधु' से अच्छी तरह 'पाग' कर क्यों नहीं रखते हो, तुम्हारी इस 'ननु' के अन्तहीन श्रान्त विचार का 'इति शेषः' करके एक बार क्यों नहीं कहते हो—"कहाँ, 'प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं' तो तर्क से बहुत दूर ही रह गया। विज्ञेय जो आत्मा है, उसका तो नेतिकरण से दूरीकरण ही हो गया! निदिध्यासन में बैठता हूँ—अल्पबोध का आलोक अपरूप आस्वाद के पुलक से मिलकर बन जाये ध्यान-रस। रस के मणिप्रकोष्ठ में विचार के 'ननु' के बदले प्राण की तन्त्री में नया बोल–नव बोल बजे–'तुहूँ बिनु'! तुहूँ–भगवान्, श्याम-श्यामा, शिव-राम। 'ननु चेत्, न' बन जाय 'बिनु चित न'" केवल शब्दों का इन्द्रजाल नहीं खेलना है, ज्योति और रस की दो धाराएँ समानान्तर चल रही हैं—कभी आँख-मिचौनी भी खेल रही हैं। अन्त में, अखण्डैकरस भूमा—परमाव्यक्त अभिन्न ज्योतीरस है। और भक्त रसिक! तुम्हारा युगल इस अखण्डैकरस भूमा में 'गल' न जाय उसके लिए भेद, भेदा-भेद इत्यादि वादों के झमेले में पड़कर मूल (रस) से 'बाद' मत पड़ जाना (छूट मत जाना) मनन-विचार का, खण्डन-मण्डन का, सिद्धान्त-स्थापन का, यथायोग्य उपयोग,

बुद्धि की अपनी शुद्धि के लिए और उस शुद्धि की रक्षा का प्रयोजन साधन के लिए अवश्य ही है, किन्तु उसे (विचारादि को) उसके सिवाने पर क्षान्त होने देना ही पड़ेगा, अन्यथा परम में गति नहीं है।

दोनों सूक्तों के 'एतावती' एवं 'एतावान्' इन दोनों पदों को लेकर परब्रह्म की भगवत्ता में युगल तत्त्व का प्रसंग आया। भजन के और जपध्यानादि साधन के निमित्त आवश्यक जो आन्तर 'आबोहवा' है उसकी सृष्टि करना एवं उसे बनाए रखना ही उद्देश्य है। सम्प्रदाय-सम्मत क्रम में अथवा अन्य प्रकार के सूक्ष्म भौतिक-विचार यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं। उसके बाद रात्रिसूक्त है। पूर्व दोनों सूक्तों में ('महिना' और 'महिमा') महामाया की असीम महिमा के रूप हैं। 'न हा मा' इस शब्द के बीच जो 'आ' है वह, अपने को स्वप्रकाश और स्वलसित अव्यक्त परमता से अभिव्यक्त वा विकाश की परमता में ले जाने के लिए 'ह' (गति) बन रहा है। 'य ईं शृणोत्युक्तम्'। रात्रिसूक्त में रात्रि को 'दुहितुर्दिवः'—द्यौः की दुहिता कहकर पुकारा गया है। दुहिता का अर्थ पुत्री ? जो दोहन करती है। द्यौः यदि गौ के रूप में कल्पित हों तब रात्रि-दुहिता उन दो बृन्तों से दोहन करती हैं दो विपरीत वस्तुएँ--तमः एवं ज्योतिः–अन्धकार और आलोक।

प्राण और जड़ता, विद्या और अविद्या। तमः आकार में जो 'दुग्ध' है वह फिर 'पेपिशत् तमः' है। 'पेपिशत्' का अर्थ है (भाष्यकार के मत से)—भृशं पिशत्, सर्वं वस्तुषु आश्लिष्टम्। निखिल वस्तु में आश्लिष्ट यह जो तमः (जड़ता, अज्ञान) है उसे रात्रि 'ज्योतिषा बाधते'—ज्योति के द्वारा उसकी जड़ता-अन्धता अपनोदित करती है। केवल नैश अन्धकार में सब कुछ मानो डूब जाता है; चाँदनी रात उस अन्धकार को दूर कर देती है यह अर्थ लगाकर भी 'बस' मत कर देना। जो रात्रि है वही 'मुँह फिराकर' आविः है। द्यौः—यह सब विपरीत दोहन की सामग्री—अग्नि और सोम दोनों तत्त्वों का आकर वस्तु है, The Grand Matrix of all manifested polarities। रात्रि ही आदि दुहिता है। (सृष्टिसूक्त का स्मरण करें); ऊषा फिर उनकी दुहिता है। सुतरां यह आदिमा रात्रि स्वयं एकान्त-अख्यातिरूपा नहीं हैं। (ख्याति और अख्याति इन दोनों का ही ये दोहन करती हैं।) सूक्त के आरम्भ में 'व्यख्यत्' पद को समझ लें। अतएव रात्रिसूक्त की रात्रि महामाया से अभिन्ना हैं। महारात्रि, मोहरात्रि, कालरात्रि–ये सब उनके रूप-नामान्तर हैं। रात्रि का जो स्तोम वा स्तव उद्गीत होता है उसमें महामाया का यह राहस्यिक नाम 'मा या' है, 'तमसः परस्तात्' उत्तरण के लिए उस नाम का यथा-यथ भाव से आहरण कर लें। यथा—'उपमा पेपिशत् तमः'—मेरे 'समीप' अथवा 'उपाधि' के रूप जो 'पेपिशत् तमः' है उसे तुम परम प्रकाशरूप से 'मा'—निषेध-बाधित करो। जप में प्रणवादि की जो बिन्दुलीनता (स्वबीज इव पादपः) है, उसे रात्रि कहा

गया है। वहाँ आकर 'शयीथाः'—शयन करना, किन्तु तमसा में नहीं, रसोज्ज्वल आन्तर चेतना में। रात्रि तुम्हारे लिए ज्योतिर्दोहन करें।

तत्पश्चात्, रात्रि = र + अत्रि। यह पहले एक प्रकार विवेचित हुआ है। यहाँ इस प्रकार लें। आकाश, वायु, अग्नि (रं), फिर, विलोम से क्षिति, अप्, अग्नि। अग्नि वा 'र' हुआ तृतीय। लक्षणा में र = तार्तीय वा यत् किञ्चित् तृतीयता सम्पर्क विशिष्ट है। जैसे, अ, उ, म्—इन तीन मात्राओं की जो अन्तिम मात्रा है। बहिःप्रज्ञ, अन्तःप्रज्ञ, घनप्रज्ञ का जो तृतीय है, इत्यादि। अत्रि=तीनों से अतीत, तुरीय, यथा अमात्र। सुतरां, प्रणव त्रि-मात्रा + अमात्र = रात्रि। पूर्ण ॐकार। अथवा ह्रीं आदि बीज। अन्तिम में ह् र् ई म् प्रकट है; किन्तु अर्धमात्रा, जो नादबिन्दु कला क्रम से कलातीत में ले जायँगी, वे रात्रिरूपा होकर, इस तृतीय मात्रा का जहाँ अन्त है, वहाँ से परे सब कुछ को तमः द्वारा आच्छादित करके रखे हुए हैं। उन्हें प्रसन्न करना होगा, क्योंकि, यह अर्धमात्रा वा भगवान् की योगनिद्रारूपा रात्रि ही 'ज्योतिषा बाधते तमः'। इसीलिए कारिका में कहा गया है—रात्रि (उद्धार करती है) तार्तीयशेषाद् वा। तार्तीय (ईम्) जहाँ शेष हुआ वहाँ से ही उद्धरण शुरू होता है। 'रात् + र + इ' इस प्रकार आकृति धारण करती हैं। रात्रि अपनी 'राति' क्रिया की कुक्षि में इस तार्तीय शेष (र्) को ग्रहण करती हैं। फल-स्वरूप, 'ईम्' में आकर जो अग्नि 'म्' में बुझ गया ऐसा लगा उसे अर्धमात्रारूपा रात्रि ने 'अग्निगर्भा शमीव' अपने गर्भ में धारण किया - नादादिरूप में परिपूर्ण अभिव्यक्ति के निमित्त। जप पक्ष में इस तार्तीय शेष को समझने पर, दूसरे स्थल में भी यथायथ समझ लेना होगा।

अन्त में, श्री श्री चण्डी में जो चार महास्तवरूप चार सूक्त हैं वे चारों भी महामाया तत्त्व में पर्यवसित हैं यह कहा जा रहा है। 'त्वं स्वाहा त्वं स्वधा' इत्यादि योगनिद्रास्तव—रात्रिसूक्त है। 'देव्या यया ततमिदमात्मशक्त्या' इत्यादि कात्यायनी सूक्त है। 'नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः' इत्यादि देवीसूक्त है। 'प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य' इत्यादि नारायणी सूक्त है। एक महामाया में ये चारों सूक्त 'एकत्रासते'। उक्त रात्रिसूक्त से 'हा' (स्वाहा) लें। कात्यायनी से 'या' (यया) लें। देवीसूक्त से म (नमो) लें। एवं नारायणी से 'मा' (मातः) लें। इन चार परमाक्षरों के सन्दोह के फलस्वरूप मिला 'महामाया'। अर्थ की भावना की ओर से तो कोई बात ही नहीं है।

ऊपर की कारिकाओं में पूर्ण-परम महामायातत्त्व का किञ्चित् दिग्दर्शन-मात्र दिया गया है। अगाध रहस्यवारिधि की वेलाभूमि पर ही तो हमारी 'बेला' (समय) और 'बला' (कथन) समाप्त हुई! वेद, तन्त्र, पुराणादि के प्रत्येक अक्षर में वह क्षररहिता, अक्षरमात्र में परिपूर्ण शक्ति, भावरसवैभवा महामाया ही भगवत्तारूप में समुदीरित हुई हैं, इसमें संशय का अवकाश कहीं नहीं है! अक्षर और वर्ण तो जो विश्वभुवन के 'प्राणके

प्राण' हैं, उनका ही प्राणन, उनका ही 'निःश्वसितम्' हैं। सब कुछ को अपने में स्वीकार, अङ्गीकार ('own') करना ही है प्राण का स्वभाव। व्यवहार में वह अङ्गीकार उपादेय अथवा हेय आकार धारण करने पर भी असल में वह अङ्गीकार ही है। प्राण परार्घयोजन दूर पर स्थित नीहाररेणु से नहीं कहेगा—'तुम मेरी अपनी नहीं हो, पर हो, बाह्य बहिरङ्ग हो!' यह सामग्रिक अन्तरङ्ग भाव ही प्राण का स्वभाव है। सुतरां अक्षर और वर्ण का भी वही स्वभाव है। एक-एक अक्षर और वर्ण का भी वही स्वभाव है। एक-एक अक्षर में, वर्ण में निखिल (universe) उसकी समग्र सत्ता, शक्ति और आकृति और छन्दः का 'दहरमान' से (as a 'monad' microcosm) निपुटित (enfolded) किए हुए है। उसके जो व्यक्त विशिष्ट रूप गुणादि (menifested specificity) हैं, वह तो देश, काल, पात्र के सम्पर्क से केवल बदले रहे हैं। वह 'छवि' छायारूप है। एक अन्तहीन विश्व-रील में उसका समग्र विवर्तन लिपटा हुआ है। और वह अन्तहीन रील महामाया का ही देश-काल-निमित्तरूप है इसलिए उसमें भूत-भव्य, दूर-अन्तिक, हेतु-हैतुक समस्त क्रिया-कारक-फल-समष्टि पूर्णभाव से ही लिपटी हुई है। यहाँ इस पार्थिव रेणु में जो भूत है, वहाँ उस नीहार रेणु में वह भव्य है, यहाँ जो दूर है, वहाँ वह अन्तिक है; यहाँ जो हैतुक है, वहाँ वह हेतु है।

मैं छवि देख रहा हूँ। मेरे इस देखनेरूप कर्म के पीछे 'अदृष्ट' (veiling vital) जैसे वर्तमान है, वैसे ही जो दिखा रहा है, उसके पीछे भी वह वर्तमान है; मेरे अदृष्ट को कहें—V, और उसके अदृष्ट को कहें—V, मुझमें जो वर्तमान देश-काल-सम्बन्ध में 'सम्भाव्य' है, और उसमें जो 'सम्भाव्य' है—ताडित विज्ञान की परिभाषा में—Potential है। इस पोटेंशियल-द्वय की विभिन्नता एवं अनुपात के ऊपर निर्भर करता है कि उसका और मेरा परस्पर लेन-देन ('give and take') कारोबार किस प्रकार कितना-सा होगा, या नहीं होगा, एवं फलस्वरूप उसमें से कितना सा मैं कार्यतः स्वीकार कर लूँगा, और मेरा वह कितना सा कार्यतः स्वीकार कर लेगा। महामाया के Cosmic Bank में सभी का unlimited deposit है; किन्तु cosmic currency और exchange में कोई नगण्य अधमाधम अधमर्ण (देनदार) है, कोई महामहिम महिमार्णव उत्तमर्ण (लेनदार) है। यह कारोबारी माप आता है महामाया की माया से, जिस माप की बात बाद के सूत्र में कही जायगी। एक जड़ रेणु को भी उसके कठिन अणुत्व के बीच बन्दी करके रखने का पागलपन विज्ञान ने भी छोड़ दिया है। और, अक्षर वा वर्ण, जो प्राण का साक्षात् क्रियारूप है उसे एक-एक जड़ आकृति (rigid inflexible pattern) में भरकर कौन रखेगा ?

प्राचीन निरुक्ति-निघण्टुकारों (वैदिक और तान्त्रिक) ने इसीलिए वर्णसमूह को अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना किसी ओर से भी अकारण कुण्ठित नहीं किया है। यथा,

'समुद्र' शब्द से आकाश, परमात्मा और भी कितने अर्थ आए हैं, आ सकते हैं। इस वर्णमूल, वर्णरसायन की बात हम पहले कुछ कह चुके हैं, बाद में भी कहने की आशा रखते हैं। मूल में प्राण ब्रह्म का स्पन्द है। इसकी विपुलता और सूक्ष्मता का अन्त नहीं है। 'अ' वा 'क' वर्ण उच्चारित होने पर इस ब्रह्मस्पन्द को विशेष किसी आकृति से मापकर 'इतना सा' कर लेने का एक अदृष्ट संस्कार मुझमें भी है, तुममें भी है। यही माया है। माया 'मिमीते'। माया यह है, इसीलिए समग्र, शुद्ध, ध्रुव ख्याति नहीं है, किन्तु वैसा न होने पर भी इस माया के मूल में है महामाया। इसीलिए जो विशेष परिच्छिन्न आकृति मिलती है, उस आकृति की 'नाभि' में वे बिन्दुवासिनी बिन्दुरूपा होकर पड़ी हुई हैं। इसीलिए 'क' इस वर्ण का हरण वा शून्यता जैसे देखते हैं, वैसे ही फिर इसमें अन्य सब कुछ का पूरण और पूर्णता भी (हमारे वर्तमान अदृष्ट-संस्कार में अव्यक्त भाव से) विद्यमान है, यह सोचने को भी उत्साह पाते हैं। मध्यमा में अभिव्यक्त जो 'स्फोट' है, उसकी बात यहाँ हमने नहीं उठाई है। इस दृष्टि से 'महामाया' 'रात्रि' इत्यादि सबों की खानों में से केवल मात्र प्रचलित अर्थ को छोड़कर यदि अन्य अर्थ भी हमने निकाला हो तो उससे तत्त्व, तथ्य, ऐतिह्य किसी ओर से भी मर्यादा को क्षुण्ण नहीं किया गया है। हाँ, किसी भी अर्थ के आविष्कार में पूर्वोक्त नैर्लक्ष्य, वैलक्ष्य, अपलक्ष्य का वर्जन करते हुए संलक्ष्यवृत्तिता में स्थित होना होगा।

परमविद्या, महाविद्या, श्रीविद्या इत्यादिरूपिणी महामायातत्त्व की इसके बाद कतिपय महाबीजों के रूप में भी भावना करें। समग्रता, परमता एवं सकल-निष्कलता—मुख्यतः इन तीन रूपों में महामाया का ब्रह्मत्व भावित हुआ है। इस त्रिवेणी के सम्मिलन में उनकी पूर्णता है, उसे एक त्रिकोण समझें। सामग्र्य (as seamless whole) है इस त्रिकोण की भूमि (base), साकल्य (perfect immanence) हुआ एक भुज; नैष्कल्य (perfect Transcendence) दूसरा भुज; और, इन दो भुजों के शीर्ष पर जो मिलन-बिन्दु (vertex) है वह हुआ पारम्य (as Supreme Absolute)। त्रिकोण को ध्यान में 'संकुचित' करके पारम्य में समर्पित करें। तब मिला, परम बिन्दु। सामग्र्यरूप भूमि को (एवं साथ-साथ में भुजद्वय को) अनन्तवद् भाव से प्रसारित करें। मिला, परम नाद। और जिस अचिन्त्या कलनशक्ति से ब्रह्मत्व की यह मूल त्रिकोणाकृति हुई है एवं परम बिन्दु और परम नाद इस पराकाष्ठा में जो सङ्कुचत्-प्रसरत् हो रही है उसे कहते हैं—परम कला। 'न वै रेमे। सोऽकामयत।'—परमा कला की यह मूल कामरूपा आकृति (कामाख्या) हैं—कामकला। समग्र सृष्टि के मूलाधार (Primal Base) में यह आकृति है 'मूल शृङ्गार' वा 'मूल शृङ्गाटक'। कोई भी बीजमन्त्र वा यन्त्र (यथा श्रीयन्त्र) इस नादबिन्दुकलारूपा मूल आकृति का ही एक मूल साङ्केतिक रूप है। यथा हाईड्रोजन, हिलियाम प्रभृति एटम के दृष्टान्त में सर्वत्र है।

गणित में भी Base, Index, Co-efficient, सर्वविध विकाश-परिणति में Presentation, Movement, Veiling (PMV), तल, लम्ब, वेध इत्यादि होते हैं। इस त्रितय को स्तब्धभाव न समझकर ऋध्यमानता (as continued function) समझें। मिली अर्धमात्रा। अर्धमात्रा की 'मा' मन्त्ररूपा है, 'त्रा' यन्त्ररूपा है। क्यों, यह बाद में देखेंगे। प्रणव में 'अ' भूमि है, 'उम्' दो भुज हैं, अर्धमात्रा शीर्षबिन्दु है।

ह्रीमिति बीजमाद्यस्य क्लीञ्च परमतामनुः।
श्रीं ऐं साकल्य-नैष्कल्ये ब्रह्मण्ये प्रणवः स्वयम् ॥ २५ ॥

अन्वय—'ह्रीं' इति आद्यस्य बीजम्, 'क्लीं' च परमता-मनुः। 'श्रीं' 'ऐं' साकल्य-नैष्कल्ये, ब्रह्मण्ये स्वयं प्रणवः ॥ २५ ॥

['ह्रीं' आद्य का बीज है, 'क्लीं' परम-मन्त्र है। 'श्रीं' और 'ऐं' साकल्य व नैष्कल्य के द्योतक हैं, ब्रह्मण्य का द्योतक स्वयं प्रणव है ॥ २५ ॥]

भाष्य—समग्रता का बीज है ह्रीं। इस बीज को सहगामी बनाकर अन्य सब कुछ की जो अपनी कार्यकरी शक्ति (Kinetic energy) है, वह आदिशक्ति के भाण्डार (Primary Power Plenum) से अपरिसीम शक्ति का आहरण करते हुए अपनी क्रिया एवं सामर्थ्य में सम्यक् और समन्तात् 'अग्रगा' हो सकती है। महाप्राणव र का ह हुआ भूमि (base)। र-कार द्वारा इस महाशक्ति-सामान्य (Equilibrated Power Continuum) में एक शङ्खावृत्त आवर्तन (Spiral rotation) सम्भावित हो रहा है। 'ईकार' उक्त आवर्तन का अक्ष है। इस अक्ष के निम्न की सीमा हुई 'ह'कार का अन्तःस्थ (तलवृत्तिता मात्र सूचक) 'अ' और ऊर्ध्वसीमा हुई अर्धमात्रा (नाद-बिन्दु-कला)। आवर्तन में जो 'घन-कोण' ('cone') का उद्भव हुआ है, वह 'घन' एवं 'ऋण' उभयथा उद्भूत हुआ है ऐसा समझने पर मिलती है वह मूल शृङ्गाटकाकृति (Bi-conic-Pattern) ऊपर और नीचे इस घनकोणद्वय को सप्त सप्त अवच्छेद में (सामतलिक) लेने पर मिलता है ७ + ७ यह चतुर्दश 'लोक' एवं मूल चतुर्दश 'प्रत्यय'। अवच्छेद में कौणिकता (eccentircity) रहने पर उक्त 'लोक' एवं 'प्रत्यय'-समूह का विविध 'व्याज' होता है। अवच्छेद में यदि एक त्रिभुज पाएँ तो उसकी भूमि हुई 'ह'; 'र' और 'इ' ये दो भुज हुए; नाद-बिन्दु शीर्ष हुआ। 'र' 'श्री' इस बीज में विशेष भाव से एवं 'ई' 'ऐं' बीज में विशेष भाव से अनुप्रविष्ट है, ऐसा दिखाई देगा। इस विश्लेषण को आपाततः यहीं समाप्त करते हैं।

'क्लीं' यह बीज है परमता का, इसका विश्लेषण पहले एक प्रकार से हो चुका है। अन्य प्रकार से हो सकता है एवं होगा। परमता वा Supreme Absolute की भूमि में (परम श्रेष्ठता एवं परम निःश्रेयस वा कैवल्य दोनों रूपों में) आरुरुक्षु के पक्ष में यह बीज परम कामद है। परम रसवस्तु को नित्यरासरूप में विलसित करने, एवं उसे

फिर अपनी अस्तिता भातिता में केवल स्वलसित करने इस उभय लक्ष्य में ही 'क्लीं' इस बीज की शक्यतापर्याप्ति समझें।

'श्रीं' एवं 'ऐं' बीजद्वय का साकल्य एवं नैष्कल्य में सविशेष उपयोग है। बीजद्वय के व्याहरणपूर्वक प्राणनाकृति पर ध्यान दें। स्वर के बीच जो स्वगत-उद्वर्तन वृत्ति (Basic self evolving function) निहित है, वह विशेष रूप से 'ऐं' इस वाग्भव में परिस्फुट है। आदि वाक् वा स्वर 'अ' से इस वाग्भव की उद्भव-रेखा (gererating curve) पर ध्यान दें। प्रथम अ+इ मिलकर 'ए' स्वर होता है, इस स्वर ने अपने को दीर्घ (अभीद्ध) कर लिया है। मानो किसी निर्दिष्ट तलज्ञापक एक सरल रेखा ने अपने तल से अपने को मुक्त करने की गति (इ) पा ली हो। वह मानो बोल उठी—"जिस तल में हूँ, उस तल में अब नहीं रहूँगी। मुझे इस लक्ष्यबिन्दु की ओर चलने दो।" फलस्वरूप, तलस्थित रेखा का घटित हुआ–अच्छूनभाव–Swell। शिष्य में यह दिखाई देता है आग्रह के रूप में। किन्तु तल का 'पाश' (gravitational moment) तो साथ-साथ नहीं कट जाता। इसीलिए मिलती है ऐसी एक वक्ररेखा (curve), जो उठने जाकर बार-बार तल की खींच से तल की ओर ही झुकी पड़ रही है, यह हुआ 'ए' स्वर। किन्तु तलवृत्तिता की झोंक को काटने के लिए इस 'ए'कार के दीर्घत्व का प्रयोजन होता है। 'ए' और 'ऐ'–इन दोनों स्वरों का उच्चारण करते हुए परीक्षा करें। 'ए' में उच्छूनता अर्वाङ्मुखी है=जैसे Earth से जिस किसी Projectile की। वह Parabola भङ्गिमा से फिर भूपतित होती है। किन्तु Projectile का संवेग एक 'मेरु' पार होने पर, फिर भूपतित नहीं हो सकता।

इस प्रकार जप को यदि एक function कहें, और, व्यक्तभाव से जप को (केवल वाचिक नहीं) यदि कहें 'धन', अव्यक्त को 'ऋण', तब यह 'श्रीं' बीज ही उस जप को, वैखरी के वाचिक उपांशु, मानस में; मध्यमा की अवर, वर दो सन्धियों के साथ सेतु इन तीन स्थलों में; पश्यन्ती के विभिन्न 'लोक' में एवं 'परा' में,—उन-उन तलों वा भूमियों की उपयोगी आकृति में और छन्द में, 'धन' में और 'ऋण' में प्रत्येक कला में स्फुट कर लेता है। 'श्रीं' के बिना विश्व में कहीं भी वा किसीमें भी श्री नहीं है। सौष्ठव सुषमा नहीं, छन्दः नहीं। सुदूरवर्ती किसी नक्षत्र से हमारी पृथ्वी में कोई रश्मि रेखा सूर्य के सन्निकट शून्य पथ में आते-आते यदि टेढ़ी हो जाय, तो विश्वभुवन की श्रीवृद्धि न होकर श्रीहानि हुई ऐसा सोचकर आकुल न हों। जिसे महाशून्य समझ रहे हैं, वह परमा श्री के चरणाङ्क के 'अल्पना' से ऐसा चिरचित्रित है कि उस अल्पना की मर्यादा यदि इस सुदूर की यात्री रश्मिरेखा को भूल जाय तो भूलने दो, किन्तु उस विश्व में ओतप्रोता जो महालक्ष्मी हैं वे हैं महाशून्य अथवा ख़ामख़याल! निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक महाबीज सृष्टि में सर्वत्र अनुप्रविष्ट एवं उदाहृत है। क्योंकि, महामाया ही यह महाबीजरूपा हैं।

नाम और नामी मूल में एक जो है। विशेष के विचार से कोई शक्ति (क्रिया-ज्ञान-भाव) का सङ्ग्रह, समूह बनाने वा उसे समिद्ध करने में 'ह्रीं' बीज का सविशेष उपयोग है; आकृतिच्छन्दः प्रभृति में विषमता (श्री हानि) के निवारण में 'श्रीं' बीज है; अर्व्वाक्-पराक्-नलवृत्तिता समाप्त करने के लिए 'ऐं' बीज है; एवं योग में, ज्ञान में, भक्ति में, इष्ट में परमाविष्टता के निमित्त 'क्लीं' बीज केवल अथवा प्रणव के साथ समाश्रयणीय है।

कारिका के शेष पाद में प्रणव को ब्रह्मण्यवाचक कहकर बात पूरी की गई है। सुतरां सप्रणव ह्रीं, श्रीं, ऐं, क्लीं हैं।

विष्णुमाया समग्रस्य साकल्ये योगपूर्विका।
नैष्कल्ये निजमाया च 'मा ये' ति द्व्यर्णवारणात् ॥
सर्वासां मर्यादामातृ महामायेति तुर्यगम् ॥ २६ ॥

अन्वय—समग्रस्य विष्णुमाया, साकल्ये योगपूर्विका (योगमाया) नैष्कल्ये च निजमाया, द्व्यर्णवारणात् 'मा या' इति। महामाया इति तुर्यगं सर्वासां मर्यादा-मातृ ॥ २६ ॥

[विष्णुमाया समग्र की व्यापिका है, साकल्ये अर्थ में योगमाया है, नैष्कल्य अर्थ में निजमाया है। साकल्य व नैष्कल्य दोनों का वारण करने से 'मा या' है। अन्त में सभी की मर्यादाओं को मापनेवाला चतुर्थ रूप महामाया है ॥ २६ ॥]

भाष्य—समग्र व्यापिका के सम्बन्ध में विष्णुमाया है; साकल्य की (निखिल कला में विकाश एवं आस्वाद की) परिपूरयित्री योगमाया है; नैष्कल्य में निजमाया (वहाँ परमतत्त्व मानों विष्णुमाया एवं योगमाया दोनों को पुकारकर कहता है—'मा या'—निवृत्त हो जाओ। योगमाया समाश्रिता रासलीला के अन्त में भगवान् अपनी अन्तरङ्गा स्वरूपशक्ति को लेकर 'अन्तर्धान' होते हैं। कहाँ ? यह कौन बताएगा ? योगमाया से कहते हैं—'तुम इस रासमण्डल में ही रहो, आगे साथ मत चलना। ज्ञानी की जो ब्रह्माकारा चरमा वृत्ति है उसमें भी यह दो चरम शब्द – 'मा या' हैं। जप में पश्यन्ती के पार परा में क्या होता है ?) जो कुछ भी हो, इन सभी की मर्यादामातृ 'तुर्यगम्' (तुरीय – अर्थात् जो सभी माया को कहते हैं—'तुम सबने मेरी दी हुई मर्यादा में ही सब कुछ को 'मान' दिया है एवं निरस्त भी हो गई हो, किन्तु यह देखो, मैं पूर्ण परम महिमा में हूँ) तत्त्व क्या है ? 'महामायेति'।

क्षराक्षरा च सामग्र्ये साकल्येऽप्यक्षरक्षरा।
नैष्कल्येऽप्यक्षरा योनिः पारम्ये योनिरुत्तमा ॥ २७ ॥

अन्वय—सामग्र्ये क्षरा अक्षरा च, साकल्ये अपि अक्षरक्षरा। नैष्कल्ये अपि अक्षरा योनिः, पारम्ये उत्तमा योनिः ॥ २७ ॥

[समग्रता में क्षरा व अक्षरा है; और साकल्य में अक्षरक्षरा है; नैष्कल्य में अक्षरा योनि है और पारम्य (परमस्वरूप) में उत्तमा योनि है ॥ २७ ॥]

भाष्य—सामग्र्य में जो क्षरा एवं अक्षरा दोनों ही हैं; साकल्य में निखिल क्षर में भी जो अक्षरा (यथा, पूर्वोक्त श्रीरूप में—as Harmony Relation); नैष्कल्य में जो निखिल क्षर की आधारभूता अक्षरा योनि हैं; एवं अन्त में पारम्य में जो 'योनिरुत्तमा'— हैं, वही महामाया यहाँ कही गई हैं। गीता में ब्रह्म की भगवत्ता जिस प्रकार पुरुषोत्तम रूप से कही गई है; इस स्थल में वही भगवत्ता (लिङ्गादिनिरपेक्ष भाव से) 'योनिरुत्तमा' कथित हुई है। फिर नैष्कल्य के स्थल में जिस आधारभूता अक्षरा योनि की बात कही गई उसे केवलमात्र 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां' श्रुति के अनुसार गुणमयी, गुणात्मिका, अक्षरा मत समझना। वह गुणाश्रया, गुणातीता भी है। (प्रथम खण्ड में श्री श्री कालिका षोडशी के अन्तिम श्लोक का ध्यान करें।)

व्यक्ताव्यक्तव्यञ्जनाद्ये साकल्ये नित्यव्यञ्जना।
नैष्कल्ये व्यञ्जनाऽव्यक्ताऽत्याश्चर्यव्यञ्जनाऽन्तिमे ॥
आपूर्णता समग्रा या सकला परिपूर्णता।
सम्पूर्णता च नैष्कल्येऽन्तिमे पूर्णाच्च पूर्णता ॥
आद्ये परापरे द्वे स्तः साकल्ये च परोर्जिता।
नैष्कल्ये च पराऽव्यक्ता परमा प्रकृतिः स्वयम् ॥ २८ ३० ॥

अन्वय—आद्ये व्यक्ताव्यक्तव्यञ्जना, साकल्ये नित्यव्यञ्जना, नैष्कल्ये अव्यक्ता व्यञ्जना, अन्तिमे अत्याश्चर्यव्यञ्जना ॥ २८ ॥

या समग्रा (सा) आपूर्णता, सकला परिपूर्णता, नैष्कल्ये च सम्पूर्णता, **अन्तिमे च पूर्णात् पूर्णता** ॥ २९ ॥

परापरे द्वे आद्ये स्तः, साकल्ये च परा ऊर्जिता। नैष्कल्ये च परा अव्यक्ता, **परमा स्वयं प्रकृतिः** ॥ ३० ॥

[आद्य में व्यक्त-अव्यक्त व्यञ्जना है, साकल्य में नित्य व्यञ्जना है, नैष्कल्य में अव्यक्ता व्यञ्जना है, अन्तिम में अत्याश्चर्य-व्यञ्जना है ॥ २८ ॥

जो समग्रा है वह आपूर्णता है, सकला परिपूर्णता है, नैष्कल्य में सम्पूर्णता है, और अन्तिम में पूर्ण से भी पूर्णता है ॥ २९ ॥

आद्य में पर और अपर दोनों है, साकल्य में परा ऊर्जिता है, नैष्कल्य में परा अव्यक्ता है, और स्वयं प्रकृति परमा है ॥ ३० ॥]

भाष्य—सृष्टि में व्यक्ताव्यक्तादि जो सभी भाव दिखाई दे रहे हैं उनके साथ सामग्र्यादि महामाया के ये चार भाव मिलाकर यहाँ देखा जा रहा है। महामाया के

समग्रता-भाव में व्यक्त एवं अव्यक्त ये दोनों व्यञ्जनाएँ (meaning, import) हैं, अर्थात् व्यक्त (सत्) एवं अव्यक्त (असत्), दोनों को लेकर वे समग्रा हैं। साकल्य में सब कुछ नित्य व्यञ्जना (as perfectly and eternally realised) रूप में अवस्थित है। स्थितिरूप (सत्यम्) एवं गतिरूप ('ऋतम्') ने साकल्यभाव से अपने को पूरा-पूरा फैलाकर रखा है। नैष्कल्य में जो व्यञ्जना है वह अव्यक्ता (शुद्ध अस्तिता भातिता रूप में भी है, और विश्वातिगता रूप में भी है;—as transcending whatever is manifested or manifestable) अन्त में, जो अन्तिम, अर्थात् पारम्य है, वह अत्याश्चर्य व्यञ्जना है। वह व्यञ्जना किसी प्रकार संज्ञा, लक्षण वा विवृति के बीच नहीं लाई जा सकती। इस प्रकार समग्रता हुई विश्व में सर्वतः आपूर्णता का भाव। इसे लेकर विश्व में सब कुछ व्याप्ति एवं सीमा (वा काष्ठा) की ओर 'आपूरित' हो रहा है। कहीं स्तब्धता (staticity) नहीं, सर्वत्र आपूर्यमाणता (dynamic fulfilling) है। सफलता हुई परिपूर्णता का भाव। सब कुछ (वस्तु, आकृति, शक्ति, छन्दः) की एक नित्य परिपूर्णता की भूमि अवश्य ही है। उस भूमि से व्यक्ताव्यक्त सब कुछ में इन चारों का निरन्तर आपूरण हो रहा है। फलस्वरूप कुछ भी एकान्त भाव से रिक्त वा शून्य नहीं हो जाता, वरन् उन्मेष-विकाश की अशेष सम्भावना (unlimited possibility of increasing evolution) को प्राप्त कराता है 'cosmic running down' में यह 'सोम' है। महामाया का यह साकल्यभाव—विश्व का 'बीजमव्ययम्' है। साकल्य में जो नित्योदिता परिपूर्णता है, व्यक्ताव्यक्त विश्व में उसके देश-काल-निमित्त 'अवच्छेद' (determination) में क्रमिक आंशिक प्रकाशादि (gradual and partial representation) हो रहे हैं। मूल Presentation 'Idea' ('कल्पना' नहीं) है, और यह है—Event। जिस किसी event की जो पूरी व्यञ्जना (complete meaning and perfect reason) है, उसके मूल में जो Idea है, उसीमें है। उसके बाद नैष्कल्य में सम्पूर्णता (Perfectly Equilibrated Wholeness or Absolutely Quiescnt Wholeness) होती है। 'सर्वतः स्पृष्ट्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्', 'एकांशेन स्थितं जगत्'—इत्यादि; फिर, 'न तद् भासयते सूर्यः' इत्यादि। दोनों भावों का यह जो 'आतीत्य' (transcendence) है, उसमें सम्पूर्णता यह लक्षण जायगा। अवश्य भावान्तर (re-orientation of sense) करके। अन्त में, जो महामाया का पारम्य है, वहाँ 'पूर्णाच्च' पूर्णता है—जो 'पूर्णमदः' मन्त्र में पहले कथित और आलोचित है, वही परम और आश्चर्यमय पूर्णता ही वहाँ संगत है। पुनश्च, सामग्र्य में, अपरा-परा दोनों प्रकृतियाँ संगृहीत हैं। साकल्य में वे दोनों ही हैं, 'परोर्ज्जिता'—निरतिशय उत्कर्ष में, महिमा में और सुषमा में, ऊर्ज्जिता है। नैष्कल्य में, 'पराऽव्यक्ता'—निरतिशय रूप में व्यक्त (मनसा वाचा) न होने के लिए (आतीत्य को

पहले की भाँति चाहे जिस भाव से लें)। और जो परमा प्रकृति है, वह तो महामाया स्वयम् है। ये 'काम में लगने के' समय (यथा, 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय') विशेषणीभूता होकर 'स्वा प्रकृति' भी होती हैं। यह 'युक्तवेणी' (स + उ + आ) फिर 'मुक्तवेणी' होकर त्रिधारा में (स्व, निज, आत्म) स्वव्यापार के निर्वाह में प्रवाहित होती हैं। यह प्रसंग बाद में आएगा।

सप्तार्णादि-मनुस्फोटं कादि-हादि-स्वरश्रुति ।
उद्गानं गीयते तस्याः षडध्वाम्नायसन्ततम् ।
कर्पूरादौ नवार्णाद्या-वर्णारोहावरोहतः ।
आत्मविद्ये मूर्च्छयन्ती धमति शिवमूर्च्छना ॥
शिवशक्त्योः प्रकाशस्य विमृशेर्मैथुनान्वय-
व्यतिरेकोदयास्तादि-स्पन्द-विस्पन्द-तायनम् ।
धीः कापि कलयेत् तत्त्वं धीरेव कलना स्वयम् ॥
अष्टादश-दशार्णादिवेणु-स्वारसिकस्वरा ।
मदासेवितपादाङ्क-प्रेष्ठाली वल्लभाधरा ॥
अन्तरङ्गान्तराह्लादाकर्षिकाकर्षको रसः ।
भगवती स्वयं सैव कृष्णः स भगवान् स्वयम् ॥ ३१–३५ ॥

अन्वय—कादि-हादि-स्वरश्रुति सप्तार्णादि-मनुस्फोटं षडध्वाम्नायसन्ततं तस्याः उद्गानं गीयते ॥ ३१ ॥

कर्पूरादौ नवार्णाद्यौ अवर्णारोहावरोहतः आत्मविद्ये मूर्च्छयन्ती शिवमूर्च्छना धमति ॥ ३२ ॥

शिवशक्त्योः प्रकाशस्य मैथुन-अन्वय-व्यतिरेक-उदय-अस्तादि-स्पन्द-विस्पन्द-तायनम् विमृशेः । का अपि धीः तत्त्वं कलयेत् । स्वयं धीः एव कलना ॥ ३३ ॥

अष्टादश-दशार्णादिवेणु-स्वारसिकस्वरा, मदासेवितपादाङ्क-प्रेष्ठाली वल्लभाधरा सा स्वयं भगवती एव । अन्तरङ्गान्तराह्लाद-आकर्षिका-आकर्षकः रसः सः स्वयं भगवान् कृष्णः ॥ ३४–३५ ॥

[इसका अर्थ सीधे भाष्य से समझा जाय।]

भाष्य—वह महामाया ही 'उद्गान' रूप में गति होती हैं। 'ॐ ह्रीं दुर्गायै नमः'—इस प्रकार सप्तार्णादि मनु (मन्त्र) नित्य अव्यय स्फोटरूप में उस उद्गान के आधार-रूप में विद्यमान हैं। अर्थात्, मनु का जप-मननादि हो या न हो, नित्य स्फोटरूप में वे विद्यमान हैं ही। संगीत में जैसे किसी राग वा छन्द का निज रूप है। तन्त्रादि में प्रसिद्ध कादि-हादि (व्यक्त, स्फुटरूप में) हुए उस उद्गान के स्वर एवं श्रुति। नित्य

स्फोट के आधार पर कादि-हादि स्वरश्रुति विन्यास एवं वितान घटित होता है 'षडध्वा' 'षडाम्नाय' इत्यादि मार्ग एवं चर्या की पद्धति के क्रम से। इस स्थल में पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या नहीं दी, किन्तु षडध्वा के सम्बन्ध में हमारा The Philosophy of Tantra नामक निबन्ध आलोच्य है। अच्छा, संगीतालाप में आरोह-अवरोह क्रम से मूर्च्छना व्यवहृत हुआ करती है, यहाँ ? द्वाविंशत्यक्षर (यथा, कर्पूरादिस्तव में) मनु अथवा नवार्णमनु में बीजव्यूह की आरोह-अवरोह भङ्गीरूप मूर्च्छना दिखाई गई है। प्रणवादि एकाक्षर में भी बिन्दु से नाद, नाद से बिन्दु, 'क्षण-शयन'—इत्यादि रूप में मूर्च्छना रहती है, यह भी हमने देखा है। अच्छा, यह मूर्च्छना तत्त्वतः क्या है और कौन मूर्च्छित हुए ? आत्मतत्त्व एवं विद्यातत्त्व—इन दोनों को मूर्च्छित करके (मूर्च्छयन्ती) शिव-मूर्च्छना (अर्थात् शिवतत्त्व से इतर सर्वतत्त्व मूर्च्छनकृत् परमता) महामाया रूप में मानो स्वयं ही पूर्वोक्त क्रम से नादादि ध्वनि कर रही हैं (धमति)। (साधन के सन्धान रूप में इस रहस्य का कारिकाद्वय में प्रणिधान करें।) शिवशक्ति, प्रकाश-विमृशि (वा विमृश्)—इन दोनों का 'मैथुन' (मिथुनीभाव)—आसङ्गादिवशतः जो प्राथमिक स्पन्द (The Primordial Thrill of Cosmic Awakening, उस मूल स्पन्द का स्पन्द-विस्पन्द-परिस्पन्द-प्रतिस्पन्द आदि रूप में 'तायन' वा विस्तार होना आवश्यक है इस विश्वविपुल उद्गान के निमित्त। केवल उतना नहीं। स्पन्द-समूह का अन्वय-व्यतिरेक, उदयास्त—इन चार प्रकार से रहना भी आवश्यक है। महामाया स्वयं मिथुनीभूता होकर इसी प्रकार निज को स्पन्दविस्पन्द-तायन रूप में दिखा रही हैं। 'आनन्दलहरी' प्रभृति में बहुधा जिस प्रकार गाया गया है—कौन-सी बुद्धि (धी) तत्त्व का स्वयं इस प्रकार कलन करेंगी ? बुद्धि स्वयं ही उनकी (तत्त्व की) कलना जो है !

पुनः, उन्हें स्वयं भगवती और स्वयं भगवान् दोनों प्रकार से ही भावना करें। शिवैकतत्त्वमय मूर्च्छना-स्थल में वेणुवादनविमोहन मूर्च्छना है। अष्टादशाक्षर (गोपी-जनवल्लभ) अथवा दशाक्षर (यथा; क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय नमः) इत्यादि ही हुआ वेणु का स्वरसाकर्षक स्वर, अर्थात् हमारा यह स्वर ठीक-ठीक होने पर (भाव में और छन्द में) वेणु का स्वर भी स्वारसिक हुआ। हमारा यह मनु ही वेणु जो है ! वे स्वयं बजाते हैं अपने कान्ह का वेणु, और मेरे जैसे वेणु में भी बजाते हैं उनके नाम या मनु का वेणु। उनके अपने वेणु के स्वर में स्वारसिक बना लेते हैं। हमारी एवं उनकी यह उभय-स्वररूपा ही तुम हो। और मैं जो प्रेष्ठ गोपीजन के पादाङ्क के अनुगमन में, उनकी सेवा में चलना चाहता हूँ, उन्हीं मेरे प्रेष्ठाली वल्लभ के आधारपुटरूपा भी तुम हो। इन दोनों में तुम्हें 'परमा' रासोज्ज्वलारूपा पाता हूँ। किन्तु परमरसोज्ज्वल रूप में ? युगल रूप में ? अन्तरङ्ग का भी आन्तर जो आह्लाद है, उस आह्लाद की

आकर्षिका जो ह्लादिनी का सार श्रीराधा तत्त्व हैं, उनका भी आकर्षक परमोज्ज्वल रसस्वरूप 'पुमान्' भी तुम हो। अतएव वही परमतत्त्व स्वयं जैसे भगवती हैं, वैसे ही वही स्वयं भगवान् कृष्ण हैं।

भगवत्ता ही महामाया है, सुतरां, यह बहिरंग शक्ति, छायाशक्ति है इत्यादि समझकर इसके स्वरूप में विभ्रान्त भी मत होना।

प्रथम पाद के शेष भाग में, 'तत्' एवं 'सत्' लक्षण दिए गए हैं। ये दोनों लक्षण अवश्य शुद्ध निर्विशेष ब्रह्मतत्त्व में निरवकाश नहीं हैं। शुद्ध निर्विशेष ब्रह्म लक्षणातीत होकर भी एकान्त नैकटिक भाव से उन दोनों के द्वारा लक्षित होते हैं। इस प्रकार लक्षण को परमार्थतः लक्षणीयता कहकर स्रष्टृत्वादि अन्यान्य लक्षणों से हटाकर रख सकते हो। किन्तु, समग्रत्वादि इन चार भावों में जो परब्रह्म की भगवत्ता सूचित और कथित हुई है उसमें यह 'लक्षण द्वय' सरासर और पूरे-पूरे (अर्थात्, किसी प्रकार भागत्यागादि न करके ही) संगत होता है। 'तत्' सूत्र की 'हानोपादान-विरहता' निर्व्यूढ़ भाव में स्थित है, किन्तु 'माया' एवं यत्किञ्चित् 'मायाविजृम्भित' है उनकी क्व स्थितिः का गतिः ? शुद्ध ब्रह्म का बाध किसी कालादि में अवश्य ही सम्भव नहीं। किन्तु, यह जो रज्जुसर्प का बाध हुआ, वह बाध कहाँ है, किसका है ? 'बाध मात्र' कहने से स्रष्टृत्वादि से अभिप्राय है।

स्रष्टृत्वादि से रज्जुसर्प, स्वप्न, इन्द्रजाल, वन्ध्यापुत्र, स्क्वेयर-ट्राएङ्गल पर्यन्त सभी का बाध होता है। इन सभी बाधों का शुद्ध अस्ति भाति के अलावा भी एक किसी प्रकार का स्थान जुगाड़ करके देना होगा। नहीं तो तुम्हारे दिए हुए आधार वा अधिष्ठान स्वयं शुद्ध निर्व्यूढ़ (Pure and Absolute) भले ही हो गया, किन्तु सर्वाश्रय, सर्वभूताधिवास जगन्निवास (All-embracing Self-Complete Background) नहीं हुआ। इसीलिए श्रुति एवं अनुभव दोनों ने ही उन परब्रह्म को निरतिशय शुद्ध एवं निरतिशय पूर्ण भगवत्ता रूप में देखा है। यहाँ और विचार की आवश्यकता नहीं।

२. सामग्रीं मिमीत इति माया।

जो मानार्ह, मानयोग्य, मेय नहीं है, वह 'सामग्री' जिससे मानार्ह, मानयोग्य, मेय होती है, वह माया है।

मानेन लक्षणीयत्वं ग्राह्यत्वमपि तेन च।
व्यपदेश्यत्वमेतेन सम्बन्धासङ्गितान्वयः॥
पादस्य पद्यमानत्वं मात्रायाश्च निरूप्यता।
कासस्थितिश्च काष्ठायाः कला कलनवृत्तिता।
चतुःसम्भावनाबीजं ह्रीमिति चतुरर्णकम्॥ ३६, ३७॥

अन्वय—मानेन लक्षणीयत्वं तेन च ग्राह्यत्वम् अपि। एतेन व्यपदेशत्वं सम्बन्ध-असङ्गिता-अन्वयः ॥ ३६ ॥

पादस्य पद्यमानत्वं मात्रायाः च निरूप्यता। काष्ठायाः च कासस्थितिः; कलनवृत्तिता कला। ह्रीम् इति चतुरर्णकं चतुःसम्भावनाबीजम् ॥ ३७ ॥

[मान से लक्षणीयता आती है, उसीसे ग्राह्यत्व भी होता है, इससे व्यपदेश्यता होती है, और सम्बन्ध एवं असङ्गिता का अन्वय होता है ॥ ३६ ॥

पाद की पद्यमानता है और मात्रा की निरूप्यता है; काष्ठा की 'कासस्थिति' है, और कला है कलनवृत्तिता। इन चार संभावनाओं को लिये हुए 'ह्रीं' यह बीज चार वर्णों-वाला है ॥ ३७ ॥]

भाष्य—महामाया सूत्र में समग्र, समग्रता, सामग्र्य से सभी शब्द बहुशः व्यवहृत हुए हैं। महामाया स्वयं सब प्रकार के अवच्छेद-परिच्छेदादि से रहित और अमेया (महा + अमाया) तत्त्व हैं। इस तत्त्व को सामग्र्य-साकल्यादि चार प्रकार से लेकर एकान्त अबूझे की सामग्री को समझ-बूझ के घेरे में लाने का यत्न किया गया है। Absolute Alogical मानों सजा है Perfect Logical। यह 'साज' अवश्य उसी-का है। धीवृत्ति से अतीत जो परम तत्त्व है वह स्वयं ही पारीणा, ऋतम्भरा-सत्यम्भरा, विशारदी प्रभृति धी के रूप में समाधि-ध्यान-धारणा-मनन-भावनादि में अपने को तोड़-कर, गढ़कर, सजाकर, समेटकर दिखाता है। बुद्धि का 'देखना' पाद-मात्रा-कला-काष्ठा में अवश्य होता है, किन्तु जो बुद्धि सब कुछ की ही सङ्गति-समावृत्ति (co-ord - nation and synthesis) देखती है, वह बुद्धि ही तत्त्व की संवादिनी, विशारदी है। और केवल विभाग और व्यावृत्ति (division and separation) में देखने पर और लेने पर, वह होती है विसंवादिनी, विशिरणी। महामाया 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गः'—रूप में अस्मदादि की बुद्धि को ऋतं सत्यं के संवाद में, विसंवाद में नहीं, 'प्रचोदयात्'। वर्तमान सूत्र में सामग्र्यादि इन चारों को संवाद में लेकर कही जा रही है—'सामग्री'। सामग्री का तो स्वरूपतः मान नहीं है। 'मान' देना ही हुआ 'माया'। महामाया एकान्त स्वतन्त्र तत्त्व है। माया महामाया का ही तन्त्र' (Self-emanating Function) है। इसे स्वतन्त्र तत्त्व अथवा शक्ति नहीं समझना चाहिए।

अब, मान और मेयता को विशेष रूप से भग्न करके देखें। इन मान के द्वारा चार मूल बौद्ध व्यापारों (Logical) का सम्भव और निर्वाह होता है। सब कुछ लक्षणीय वा लक्ष्य (definable) बनता है; सब कुछ ग्राह्य वा ग्रहणयोग्य (cognisable) बनता है; सब कुछ व्यपदेश्य (predicable) बनता है; एवं सब कुछ सम्बन्ध + आसङ्ग (patent relation and latent affinity) का अन्वययोग्य (relatable and affiliable) होता है। ये सब मुख्यतः बुद्धि के 'घरेलू' काम हैं—अर्थात् बुद्धि किसीको

ग्रहण करने के बाद 'अपने बीच' लौटकर 'अपने घर में बैठकर' मानो ये सब कर्म करती है। किन्तु बाहर में (मुख्यतः objectively or self-projectively) और चार मूल माप के काम भी वह करती है—वही पाद-मात्रा-कला-काष्ठा है। पाद की पद्यमानता (पूर्व पाद में 'तपः एवं सत्यम्' सूत्र में आलोचित) होती हैं जिस मान में; मात्रा की निरूप्यमाणता होती है जिस मान में; काष्ठा की पूर्ण कासमानता होती है जिस मान में; एवं कला की आकल्य-सङ्कल्यादि 'मानता' होती है जिस मान में, उसे, वर्तमान लक्षण के अनुसार, महामाया की माया कहकर जानना चाहिए। पादादि के पूर्व में बहुलालोचित भावार्थों का यहाँ स्मरण करें। काष्ठा के स्थल में जो 'कास' है उसे विकास के अर्थ में लेने पर आपाततः काम चलेगा। ['क' = व्यञ्जनमुख वर्ण; इसमें, अर्थात्, निखिल व्यञ्जना बीज में जो 'आस्ते' (= आस्) रहता है; अथवा, 'अस्यते' (अस्)—अपने को बिखेर रहा है।] काष्ठा का अर्थ है सीमा (Limit or Limiting value)।

अब देखिए पहले के चार (लक्षणीयादि) एवं बाद के चार (पद्यमानादि) ये चारों सम्भावनाबीज हुए वही सामग्यबीज ह्रीं। इसके प्रसाद से जो सामग्री रूप में अमेय एवं अव्यक्त है वह होता है सामग्यरूप में (progressively measurable ad infinitum and actually realizable to the end)—ऋद्धचमान, समृद्धचमान, समर्थमान, पूर्णमान इत्यादि; एवं अनुभूति की ओर से पूर्वालोचित वह अनन्तवत्त्व ज्योतिष्मत्त्वादि है। ह्रीं इस बीज को मायाबीज भी कहा जाता है। ह्, र् ई एवं चन्द्रबिन्दु ये चार अर्ण इसमें मिलते हैं। 'ह्' में पद्यमानता है, 'र्' में निरूप्यमानता है, 'ई' में कल्प्यमानता है, एवं चन्द्रबिन्दु में कासमानता विशेष भाव से गृहीत हैं।

३. अव्यवहारोऽमेयामानामितस्य।

जो अमेय, अमान एवं अमित है उसका व्यवहार एवं व्यवहार-योग्यता नहीं हैं।

कर्तृकर्मादिनिष्पाद्या गतिस्थिती धृतिस्तृती।
क्रियाकारकफलत्वेन गच्छेयुर्व्यवहार्यताम्॥
कारकयज्ञरूपः कः क्रियाग्निश्च रूपकः।
फलाय यदभीद्धत्वं स्यादीवर्णस्तदेव च॥
नादो होता हविर्बिन्दू क्रीमिति ह्यखिलान्वयम्।
अयजमानयाजको यागो यागाय चेज्यते॥ ३८–४०॥

अन्वय—गति-स्थिती धृति-स्तृती कर्तृकर्मादिनिष्पाद्याः। क्रियाकारकफलत्वेन व्यवहार्यतां गच्छेयुः॥ ३८॥

कः कारकयज्ञरूपः, क्रियाग्निः च र-रूपकः। फलाय यद् अभीद्धत्वम् तद् एव च ई वर्णः स्यात्॥ ३९॥

नादः होता, हविः बिन्दुः, क्रीँ-इति हि अखिल-अन्वयम्। अयजमानयाजकः यागः यागाय च इज्यते ॥ ४० ॥

[गति और स्थिति, धृति एवं स्तृति कर्तृ-कर्म आदि से निष्पाद्य हैं, क्रिया-कारक-फलरूप से ये व्यवहार्य बनें ॥ ३८ ॥

क-वर्ण कारकयज्ञरूप है और क्रियाग्नि 'र-वर्णरूपी' है और फल के लिए जो अभीद्धता है वही 'ई'-वर्ण है ॥ ३९ ॥

नाद 'होता' (होतृ) है, हवि बिन्दु है। 'क्रीँ' ऐसा बीजमन्त्र अखिल का अन्वय है। जिस याग का अयजमान याजक है वहाँ याग के लिए ही यजन होता है ॥ ४० ॥]

भाष्य—'ऋतञ्च सत्यञ्च तपसोऽध्यजायत'—इस सृष्टिसूक्त की भावकथा इसके पूर्व (प्रथम खण्ड में और प्रथम पाद में) सविस्तर निवेदन की जा चुकी है। तपः नामक रहस्य व्यापार को उपलक्ष्य करके मूल तत्त्व का 'ऋतञ्च सत्यञ्च' रूप में 'अधिजात' होना ही आदि-व्यवहार (Primordial Creative Activisation) है। और इस तपः को Primordial creativity यदि कहा जाय; पुरुषादिसूक्त एवं उपनिषदादि आदि-व्यवहार आदि-यज्ञरूप में भी भावित हुआ है। जो एकान्त अमेय, अमान है वह उस प्रकार व्यवहार में नहीं आता; क्योंकि व्यवहार होता है मान-मेयता को लेकर ही। जो अमित है, (जैसे अन्तर की कोई अव्यक्त वेदना वा भाव), वह भी ठीक वैसा ही रहकर व्यवहारार्ह नहीं होता। जैसे, वह भाव जब जितना-सा ध्यान में, गान में वा कविता में आकर 'मित' (measured) हो रहा है, तब उतने में ही उसकी व्यवहार्यता है। जप में अक्षर-समूह जिस काल में नादलीन हो जाता है तब उनकी व्यवहार्यता नहीं रहती। उसके बाद बिन्दुलीन, ज्योतिर्लीन, रसलीन इत्यादि में पहले-पहले की व्यवहार्यता चली जाती है। अन्त में, सब मान खो जाने पर होता है—परम तूष्णीलीन। इसीलिए व्यवहार में मान का हिसाब रखकर ही चलना पड़ता है। व्यवहार का आदिम रूप जब 'ऋतञ्च सत्यञ्च' के रूप में 'अधिजात' होना है, तब उसे एक धारारूप (as cosmic flux) एवं एक ध्रुवरूप—(as cosmic constant) यह युग्म आकृति धरकर ही चलना पड़ता है। धारा में अनुलोम-विलोम, आरोह-अवरोह है; और ध्रुव की ओर से धृति (Interiorization) एवं स्तृति (Exteriorization) हैं। कहीं, कभी बिन्दुवत् होकर सब कुछ अपने में समेट लेता है; और कभी कहीं ऊर्णनाभ (मकड़ी) की भाँति बाहर सब विस्तार कर देता है।

अच्छा, 'अधिजात' होने का अर्थ क्या है? किसीके अधिकार में एवं किसीको अधिकृत करके जात होना। जिसके अधिकार में है, वह तो आदिवस्तु है एवं उसका आदि-तपः वा यजनेच्छा (यियक्षा) है। और जिसको वह अधिकृत करता है—वह संक्षेप में क्रियाकारकफल है। क्रिया के साथ अन्वय रखते हैं—कर्तृकर्मादि जो ६ कारक हैं, उन

कारकों को पूरा-पूरा लेना होगा। नहीं तो विश्व में गति-स्थिति-धृति-स्तृति इन चार आकारों का जो मौलिक व्यवहार दृष्ट होता है उसकी निष्पाद्यता (निष्पन्न होना) नहीं है;—विश्व में समष्टि अथवा व्यष्टि में, अणु में अथवा महान् में, जो (व्यवहार) गति-स्थिति इत्यादि रूप में देखा जाता है। क्रियाकारक से निष्पाद्य फल, फिर स्वयं भी क्रियाकारकरूप में फलान्तर प्रसव करता है। इस रूप में क्रियाकारकफल चक्रनेमि क्रमागत घूम रहा है।

यह चक्र काटने के निमित्त ही 'तारचक्र' 'जपयज्ञ' समाश्रयणीय है। अच्छा, कारक के बीच प्रथम ही हुआ कर्ता। यह कर्ता असल में कौन है ? मूल में जो है असल में वही है। कर्ता एकेश्वर है। इसीलिए भजना हो तो उसी एकेश्वर कर्ता को ही भजो; जपना हो तो उसका ही नाम जपो। कर्ता वा कर्मी का एक बीज नाम यहाँ (व्यवहाररूप याग-निष्पादन में) कहा जाता है। कारकरूप यज्ञ वितान में ('यज्ञेन यज्ञं वितनुते'), 'क' यह वर्ण आदि व्यञ्जनरूप में कल्पित हुआ। क्रियारूप अग्नि कल्पित हुआ 'र' वर्ण द्वारा। वही 'मूलमालिक' (कर्ता) स्वयं यह कल्पना कर रहे हैं, ऐसा समझना होगा। वे ही यज्ञ होकर यज्ञ विस्तार करेंगे। अतः, क्रिया की फलोन्मुखीनता है। फलप्रसव के निमित्त जो अभीद्ध भाव है, वह हुआ 'ई' वर्ण। नाद स्वयं 'होता, है, बिन्दु हविः है। मिला 'क्रीं' यह बीज—जिस बीज में अखिल विश्वव्यवहार (उस आदिम तपः को एवं ऋतञ्च सत्यञ्च को मूल में रखकर) अन्वय पाता है। इस अन्वय की छन्दोरूप में भावना करें (जिस प्रकार पहले की गई है)। 'क्रीं' बीज का भुवनयज्ञ (उसमें जपयज्ञ भी) के रूप में वितान प्रदर्शित हुआ है एवं हो रहा है किन्तु असल मूल के मालिक वा मालकिन की यह अवस्था है कि 'मछली पकड़ूँ पानी न छुऊँ' ! कहाँ यजमान ! कहाँ याजक (अर्थात् कहाँ द्वैत है) ? अथ च कैसे देखो तो—याग ही याग के लिए स्वयं 'याजित' हो रहा है (यागो यागाय चेज्यते) ! आदि याग के रूप में यह क्रीं बीज स्वयं कारक-क्रियाफल है। होतृ-हविः-हवन इन सबको अपने में ही उद्भावित (evolve) कर रहा है। इस उद्भव में होता वा याजक अथवा यजमान भी असल कर्ता नहीं हैं। नियोग से 'by delegation' कर्मकर्ता है। सुतरां क्रीं केवल मूल व्यापार का बीज नहीं, मूल व्यापारी का बीज है। 'ल' मिलकर यह बीज क्लीं है।

पहले हमने उभय आकृति में ही इस परमता बीज को देखा है। रसतत्त्व एवं शक्ति-तत्त्व, रास एवं भास, दोनों ओर से ही इस बीज का परमत्व है।

४. तस्या अखण्डपरमत्वालयत्वम्।

'तस्याः'—उस माया का आलय अखण्ड परम जो तत्त्व है, वही है।

'आलय' कहने से क्या समझेंगे ? लय तक 'वृत्तिता' (पाँच वृत्ति सूत्र बाद में एक पाद में हैं) जिस आधार में है वही आलय है। 'पिबत रसमालयम्' भागवत का यह

'आलय' भी तुलनीय है। अखण्ड परम जो तत्त्व है वह पाद के प्रथम सूत्र में सविस्तर आलोचित हुआ है। उसे कहा गया है—परब्रह्म में भगवत्ता। यह महामाया हैं। माया ने अमेय-अलक्ष्य परम को लक्षणादि-पादादि मान से पारीणादि धी-वृत्तिता का और वेदादि प्रमाण-प्रमेयता का व्यवहार योग्य बनाया है। यह अवश्य माया का निज व्यवहार स्वव्यवहार्यता के रूप में स्वावच्छेदकता (self-limitation) है। 'तपः', 'काम' प्रभृति यह अचिन्त्यावच्छेदकतारूप है। किन्तु अवच्छेद (स्वविशेषणीयता—self-determination) अचिन्त्य, अनिरुक्त होने पर भी अवच्छेद वा मान तो है। इसी-लिए माया, महामाया की तुलना में न्यूनसत्ता का (समसत्ता का नहीं), न्यूनशक्ति का, न्यूनव्याप्ति का एवं न्यूनव्यक्ति का हैं। ये न्यूनादि भी महामाया की माया में ही हो रहे हैं। अन्यथा, 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'। Being, Potency, Extension and Intention (वा connotation) में इन चारों ओर से ही अखण्ड परमतत्त्व मानो मूल में ही एक न्यूनता मानकर चल रहा है। उसकी अपेक्षा न्यूनता इस प्रकार 'स्वीकृत' होने पर भी निखिल विश्व-व्यवहार में (ऋतञ्च सत्यञ्च से आरम्भ करके) माया के पार कौन है वा गया है? कौन कह रहा है, मैं लक्षणादि के बीच नहीं हूँ? मूल में एवं असल में अवश्य कोई भी माया के मान में नहीं है। किन्तु 'कोई' जब तक 'कोई' है तब तक तो मान में है ही। अब, ऐसी निखिल विश्वव्यापिका माया की भी जब 'परम' की अपेक्षा न्यूनव्याप्ति है तब वह अखण्ड परम तत्त्व ही है माया की व्याप्ति के लय वा विलय की आधारभूमि (आलय)। सुतरां उस परम तत्त्व का समाश्रय लिये बिना माया के पार जाने का उपाय नहीं है। उपाय है—जपध्यान, मननविचार, भावभक्ति, चाहे जैसे कर सको, इस मायाबीज को पराक्प्रवण न रखकर प्रत्यक्प्रवण बना लो।

पुनश्च, यहाँ माया जिस भाव से लक्षित हुई है, उससे यह प्रमाण-प्रमेयादि सर्व-विध बौद्ध व्यवहार की मूल निर्वाहयित्री है। सत्य मिथ्या व्यवहार के मूल में भी यही है। विशेष-विशेष प्रसज्यता में 'गुणमाया' 'भवमाया' 'योगमाया' इत्यादि रूप में जीव के साधारण बन्ध व्यवहार का यह निर्वाह करती चलती हैं। इन्हें लेकर सम्प्रदायगत जो सब विचार-वितर्क चले आ रहे हैं उन सबका वर्तमान प्रसङ्ग में प्रयोजन नहीं है। किन्तु कुछेक बातें कारिका में कही जा रही हैं।

वा० सांसिद्धिकी न वै माया न च नैमित्तिकी पुनः।
नाकस्मिकी न बाह्यापि वैकल्पिकी च नान्तरा।
मान-मेयस्य योनित्वेऽमेया माया स्वयोनिजा॥ ४१॥

अन्वय—माया न वै सांसिद्धिकी, न च पुनः नैमित्तिकी। न आकस्मिकी न बाह्या वैकल्पिकी अपि न च अन्तरा। मानमेयस्य योनित्वे स्वयोनिजा माया अमेया॥ ४१॥

[माया न तो सांसिद्धिकी है और न फिर नैमित्तिकी है। न आकस्मिकी है, न बाह्या है, न वैकल्पिकी, और न अन्तरा। मान-मेय की योनि होने में माया अमेया है और वे स्वयोनिजा हैं ॥ ४१ ॥]

भाष्य—माया को सांसिद्धिकी (सम्यक् रूप में सर्वथा जो सिद्ध ही है) मत समझना। फिर नैमित्तिकी (निमित्त की अपेक्षा रखकर जो वृत्तिमती होती हैं), ऐसा भी न समझें। unconditionality and conditionality—ये दोनों ही उसमें नहीं रहते; क्योंकि निमित्त वा conditionality का बीज ही वह स्वयं है। आकस्मिकी (अपनी सिद्धि भी नहीं, निमित्त भी कुछ नहीं, ऐसा अचानक कुछ)—यह नहीं। वैकल्पिकी भी (अन्य कुछ का विकल्प, रूपान्तर, नामान्तर इत्यादि— alternationality) यह नहीं है। बाह्य भी (बाहर से आगन्तुक, अध्यस्त—superimposed) मत समझना। आन्तरा भी (अन्तर्निहित—involved, immanent) नहीं समझना। Externality and internality—ये दोनों ही माया के सम्बन्ध में 'एहो बाह्य' हैं।

व्यापार तो तब फिर अच्छा-खासा रहा। तब तो माया को कहना पड़ेगा Alogical Logicality or unrooted Root of Logicality ! अवश्य ही Logic शब्द को इस मूल 'Logos' के साथ मिला लेते हैं। जो कुछ मान-मेय है, उसकी योनि माया है; सुतरां स्वयं अमेया हैं। किन्तु जो न्यूनसत्ताका इत्यादि रूप में इनका 'मान' परम की अपेक्षा 'छोटा' कहा गया है, उसका क्या ? ठीक है ? किन्तु छोटे-बड़े का हिसाब कौन कर रहा है या ले रहा है ? इस माया के अन्तर्गत कोई प्रमाता नहीं है क्या ? परम या महामाया की ओर से ? वे कहती हैं—'केवल मेरी नहीं, मैं ही माया हूँ। इस माया के रूप में अपने को मानों मैंने 'न्यून' कर लिया है। माया से मानो कह रही हैं—'तुम मुझमें उत्पन्न होओ, मुझमें ही लय प्राप्त करो। इसीलिए परम की अपेक्षा माया की इस न्यूनतारूप मेयता ने इस छोटे 'मानों' को कसकर पकड़ रखा है। योनिजत्व भी वही है। इस 'मानो' का 'क्यों' का उत्तर कब किसने दिया है ? इसलिए कारिका में माया को 'अमेया' एवं 'स्वयोनिजा' कहा गया है। माया सांसिद्धिक प्रभृति किसी भी आकृति में (category or formula) निरूपणीया तो नहीं हैं, किन्तु एक परम सांसिद्धिक को छोड़कर अन्य सबकी 'योनि' माया है। जो परम है उसकी कोई योनि नहीं है।

जप के साधारण प्रयोजन में भी इन सबको लगाएँ। जो जपवृत्ति आरम्भ में बाह्य एवं आकस्मिक लगती है, उसे आन्तर और वैकल्पिक रूप में पाने का यत्न करें। स्वरूप में पाया कब ? जब समझोगे यह 'मुझमें किसी द्वारा लादा गया' कुछ नहीं है, यह मेरा अपना कर्म है, तब बाह्य हो जाता है आन्तर। जपानुकूल वृत्ति वा भाव शुरू-शुरू में मानो आकस्मिक लगता है। कब नदी में ज्वार आएगा इसका कोई ठीक ठिकाना नहीं ! इसे नैमित्तिक एवं वैकल्पिक रूप से पाने के लिए साधन करना पड़ता है। जप का संकल्प,

इच्छा और आवश्यकीय 'योगायोग' जुटने पर ही जप स्वच्छन्द रूप से चलने लगता है। वैकल्पिक अवस्था में जप न चलने पर भी जपानुकूल भाव, चिन्ता, पाठ, कीर्तन, सत्सङ्गादि के बीच चालू वह रहता है। इस प्रकार स्थूल अभ्यारोह के चलते-चलते जप एक ध्रुव धारा में जाकर पर्यवसित होता है।

यहाँ 'वैकल्पिक' को 'संवादी' बना लिया गया है। इस प्रकार वैकल्पिक होने पर जप सांकल्पिक न होकर भी आनुकल्पिकादि प्रकार-भेद से अपने को चालू रखने की चेष्टा करता है। इधर-उधर के विक्षेप, अथवा काम-क्रोधादि की ताड़ना, दौर्मनस्य—इन सबमें पड़ने पर विसंवादी विकल्प होता है। 'निमित्त' कहने से आरम्भक। उद्दीपकादि हेतु अपने मन में एवं बाहर, इन्हींका यहाँ ग्रहण हुआ है। मान लें, किसी निर्दिष्ट समय में जप-संस्कार पहले जागरित होना नहीं चाहता; दीर्घसूत्रता करता हैं; अभी क्यों, बाद में मन को फुर्सत होने पर कर लिया जायगा—इस प्रकार की ज़िद पकड़ लेता है। किन्तु ठीक समय पर ही जप-संस्कार को ज़ोर पकड़ना चाहिए। पकड़ने पर, समझना होगा कि जप 'ख़ामख़याली' छोड़कर हेतु वा निमित्त की हितकथा सुन रहा है।

५. अपावृत्य प्रत्याकुरुत आविरिति वृत्तिः शुक्ला।

अपावरण करते हुए 'प्रति' अर्थात्, आभिमुखीन भाव से, आकरण करता है, 'आविः'। यह शुक्ला वृत्ति है।

माया जिस भाव से कथित हुई, उसमें इसे किसी भी संकीर्ण अर्थ में (यथा बहिरङ्गा इत्यादि) ग्रहण करने पर ठीक नहीं होगा। परमवस्तु के अपने को सत्ताशक्ति, प्रकाश एवं आनन्द वा रस—चाहे जिस भाव से 'मान' देने को ही माया कहा है। वह मान 'प्राकृत' 'मायिक' होने पर ही माया है, अन्यथा नहीं, ऐसी शर्त नहीं दी गई है। महामाया यदि परमा प्रकृति, 'परब्रह्ममहिषी' भगवतीरूपा हों तो वह परम मान भी उनकी निज माया है। इससे उनकी परम अमेयता परम मानरूपा हुई। इस प्रकार होने से एक परम रहस्यमयी 'न्यूनता' (self-limitation, छोटा होना नहीं) मानो उन्होंने मान ली। क्यों ? यदि कहने की साध हो तो कहो—लीला प्रयोजन से। परम पुरुष भगवान् भी लीलामय होने के अनुरूप कुछ करते हैं। जो द्विभुज मुरलीधर आदि रूप में लीला करते हैं, उनमें उनकी रस-माधुरी का परम घनीभाव है, किन्तु उस माधुरी का शेष नहीं, इयत्ता नहीं, सनातन-पुरातनता भी नहीं। नित्य ही नव, नित्य ही अपूर्व, नित्य ही अनन्त। उस माधुरी का आस्वाद पाकर किसीने तो नहीं कहा—यह लो हमारी आशा मिट गई, सब भरपूर है, यहीं पर शेष है ! इसीलिए इस परम मान के साथ, उन्हें घेरकर, अपनी नित्यनवायमान घनायमानता के रूप में परम अमेय वस्तु तो

है ही। तुम परम अमेय के इस प्रकार परम मान मानने को यदि अचिन्त्य स्वरूपशक्ति कहना अच्छा समझो तो वैसा ही करो, किन्तु निजमाया, योगमाया, स्वरूपशक्ति यह परम रहस्यमयी न्यूनता है (यहाँ भी तो समाप्त नहीं हुआ, न जाने और कितना है—यह रहस्यमय भाव है) तभी न बात बनती ! नहीं तो 'परम भरपूर' हो जाता। वह परम भरपूर रहने पर लीला कहाँ, लौल्य कहाँ, आस्वादनादि कहाँ ?

इसके बाद, मूला-माया में दो मूला-वृत्तियों की बात कही जाती है। केवल मात्र सृष्ट्यादि को समझने के लिए नहीं, जपादि साधन इत्यादि में भी इन दो मूला वृत्तियों का सविशेष उपयोग है; : एक–'प्रति' (towards looking on, looking out इत्यादि); अपर–'वि' (inwards, drawing in, enfolding इत्यादि)। पहले-वाली को 'अनुलोम' कहें, तो दूसरी को कहें 'विलोम'। एक को कहें–'सीधी' तो दूसरी को 'उल्टी'। यह 'सीधा-उल्टा' व्यापार मूला माया के आरम्भ की बात है। अद्वैत विचारी इसे पाकर ही कहते हैं—सत्ताविवर्त्त; रसिक भी फिर इसे पाकर कहते हैं–रसविवर्त्त और आस्वादन करते हैं। इस मूल विवर्त्त की गरज़ से ही न कृष्ण गौर हुए थे !

अच्छा, 'प्रति' एवं 'वि' इन दोनों के साथ आ + कृ (जिससे, आकरण, आकृति, आकार बनते हैं) लगाएँ। फलस्वरूप पाते हैं—प्रति + आकरण, और वि + आकरण। जो 'किस ओर, किस दिशा में'—केवल समझाने का संकेत (Symbol) था उसने अब निर्वाह वा निर्वहण रूप धारण किया। इस बार Symbol होगा Significant, Form होगा Content। प्रथम ने इस बार मानो कहा—'मैं ईक्षण करूँगा, स्वयं आविष्कृत आविर्भूत होऊँगा।' 'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहम्' इत्यादि हुआ यह प्रत्याकरण प्रवाहरूप। किन्तु 'प्रति' और 'वि' तो परस्पर को छोड़कर नहीं रहते ! जहाँ यह है, वहीं पर साथ-साथ वह भी है। इसलिए प्रश्न होता है—किसके प्रति, और किसके प्रति नहीं ? किसकी ओर सीधा और किसकी ओर उल्टा ? प्रतिमुख और विमुख—इष्ट प्रतिमुख है, इष्ट विमुख है। 'वि' या उल्टा के समय भी यही प्रश्न होता है। 'प्रति' को यदि समझें योग, तब 'वि' वियोग होता है। एक से connect करने में, दूसरे को disconnect करना होगा। दूसरे को यदि कहें 'बाध' तब पहले को कहना होगा 'साध'। एक को Basic Affirmation यदि कहें, तो दूसरा Basic Negation होगा। एक यदि कहे 'क' = 'क' तो दूसरा कहेगा—'क' 'ना-क' नहीं। ये दोनों मिलकर कहेंगे – कोई कुछ या तो 'क' है, नहीं तो 'ना-क'; चूड़ान्त करके देखने पर (जैसे एक वृत्त अंकित करके उसे 'क' कहकर) काम पूरा नहीं होता। बुद्धि के मूल व्यवहार इन सब स्वतःसिद्धों के ऊपर ही तो चल रहे हैं; इन तीनों के व्यवहार में अन्योन्यापेक्षा है (Mutual implication)।

इस निमित्त, आविः सूत्र में प्रथम पद 'अपावृत्य'—अपावृत करके है; किसी न किसी प्रकार का बाध वा आवरण, मान लें, है, उसे हटाकर (अप; श्रुति के मन्त्र में है 'अपावृणु'; इस अपवर्ण द्वय की रहस्यव्यञ्जना भी है जिस कारण श्रुति ने इन दोनों को ही कहा हैं) तब पूर्वोक्त प्रत्याकरण होगा। तुम्हारा यदि इष्टवैमुख्यरूप बाध रहे तो उसे हटाकर तुम्हें इष्ट प्रति-आकृत, आकारित करना आवश्यक है। इस पन्था में आकृत होओगे 'आकृष्ट' होकर; ज्ञान में 'आज्ञात' एवं 'योग' में 'आयत' होकर। नाम जपते हो; नाद (वेणुनूपुरादि मधुरस में अथवा अन्य प्रकार से) अब भी नहीं सुनते हो। कहीं पर बाध है। शायद योग-वियोग उलट गए हैं। पहले चाहिए – 'अपावृणु'— हटाओ उसे, जिसके कारण यह वियोग-विच्छेद है। इस विधुरता-बोध को प्रबोध देकर योग, मिलन को घटित करके कोई मानो 'प्रत्याकुरुते'। दृष्टान्त तो पद-पद पर है। अब इस प्रकार 'अपावृत्य प्रत्याकुरुते' जो मूला वृत्ति है (उसे 'माया' कहने में अभी यदि तुम्हें रोष हो तो कहो 'दया'), उसे कहते हैं आविः। यह शुक्ला वृत्ति है। साधारण लक्षण दिया है, इसकी ध्याप्ति आरम्भ से शेषपर्यन्त है।

बिलकुल उसी मूल में जाओ। परम अव्यक्त वस्तु मूल में मानो अपनी परमाव्यक्तता को 'हटाकर' अपना स्वयं 'आविष्कार' कर रही हैं। 'अहं' भी नहीं, 'इदं' भी नहीं। गाढ़ निद्राभङ्ग के साथ-साथ बहुत कुछ इस प्रकार हमें भी होता है। नहीं क्या ? इसकी बात पहले कही है। यह मूल अनिर्वचनीय आविः अहं-इत्यादि के 'प्रति' होने चली, तब 'प्रतिकुरुते' बना प्रतिकुर्वाण। वाक् के प्रसंग में परा से पश्यन्ती में आविर्भाव मूलतः इसी प्रकार का है, बीज से अङ्कुर, उसमें भी वैसा ही है। 'प्रति' के साथ 'वि' तो रहता ही है। आरम्भ में परमाव्यक्त एवं परम-अमेय अपने को ही मानो 'हटा रहे हैं'। 'प्रति' के होने के लिए 'वि' हो रहा है। सुषुप्ति, बीजादि के उदाहरण में भी वैसा ही है।

'प्रति' एवं 'वि' ये दोनों जो केवल इस प्रकार अन्योन्यापेक्षी (चित-पट) हैं, ऐसा नहीं। केवल समानान्तर नहीं, वे बारी बाँधकर भी सर्वत्र चल रहे हैं। फिर केवल वह भी नहीं, यह समानान्तरता और बारी-बारी इन दोनों को चलाना होता है इसलिए सर्वत्र एक चक्राकारा वृत्ति (घूम-फिर) चल रही है। दोनों मूला वृत्तियाँ ('प्रति' और 'वि') अलग-अलग न होने पर भी कभी एक-दूसरे से कहती हैं—'तुम ज़रा सुस्ता लो, मैं चलाती हूँ।' तब वह dominant (उदार), दूसरी recessive (क्षीण) होती है। इसके फलस्वरूप विश्व में क्रमान्वयित्व (alternationality) हैं—एक बार यह चालू है, दूसरी बार वह। फलस्वरूप स्थूल-सूक्ष्म में भीतर-बाहर सब कुछ तरङ्गायित (Wave Pattern) है। तरंग की चूड़ा (Apex) को यदि कहें 'प्रति', तब उपत्यका (Wave Valley) हुई 'वि'। सङ्कोच-प्रसाररूप भी सर्वत्र

है। Cosmic Elasticity। वहाँ 'Strain' हुआ 'वि', और 'Stress' हुआ 'प्रति'। फिर, सब कुछ में एक आवृत्तिमत्त्व (Cyclicity) भी है। इलक्ट्रॉन चक्कर खाता है, ग्रहनक्षत्रादि भी खाते हैं; भीतर जागृति-सुषुप्ति, श्रान्ति-विश्रान्ति; इत्यादि हैं। संक्षेपतः द्वन्द्वभाव (Polarity and Contrariety), गुण-प्रधान-भाव (विवृत्त-प्रवृत्त) एवं वृत्त-प्रत्यावृत्त-भाव विश्व में सार्वभौमिक है।

सुतरां अध्यात्म-जीवन में जपादि साधन में इन तीनों की सविशेष अपेक्षा रखकर ही चलना होता है। जैसे, जप में सुषमभाव से जपाभ्यास-चक्र चलाकर जो प्राकृत चक्रनेमि घूम रही है, उसका व्याज अर्थात् विषमता दूर करना होता है। Eccentric Cyclicity को पाना होता है rhythmicity के रूप में। प्राकृत बढ़ना-घटना, चढ़ना-उतरना, तेजी-मन्दी इन सबको 'जय' (Control and regulate) करने के लिए नादादि का अक्षाश्रय करना होता है। द्वितीय खण्ड के (क) परिशिष्ट में देखें। 'अक्ष' (Axis) का भी फिर, प्राण (जैसे नाद), भाव (जैसे प्रपत्ति), बोध (जैसे स्थित धी) एवं योग (शमदमादि) मुख्यतः इन चार आकारों में आश्रय लेना होता है। अन्त में, द्वन्द्वभाव समाप्त करने के निमित्त, द्विदल-स्थित श्री गुरुतत्त्व में समापत्ति एवं तद्द्वारा परम में समापत्ति होना आवश्यक है। आविः एवं रात्रि (चरम भाव में लेने पर) हुई निखिल द्वन्द्व की चरम भूमिका। जैसे, सुषुप्ति कहती है— 'मुझे आविः की भूमिका पहले दो, तब मैं जागृति बनूँगी'; फिर जागृति कहती है—'मुझे रात्रि की भूमिका दो, तब मैं सुषुप्ति बनूँगी।' इन बातों को अपने जागने-सोने के अनुभव से मिला लें (१।३।६ सूत्र में द्वन्द्व बताया गया है)।

आविः को शुक्ला वृत्ति कैसे कहा है, उसका भी प्रणिधान करें। एक नमूना लें। मान लें, एक घोर काले रंग का कागज है। सब रंगों को ग्रास करके वह हुआ है काला। उस कागज पर यदि पीला, सब्ज कोई रंग देना चाहो, तो क्या करोगे ? अपावृत्य—उस काले को पहले हटाना होगा। सफेद कर लेना होगा। काला में सभी रंग 'ग्रस्त' (Absorbed) हैं, धौले में सब रंग 'मुक्त' (reflected) हैं। इसीलिए काले में रंग 'वि' है, धौले में 'प्रति' है। जिस रंग को बुलाकर बैठाओगे वही आकर स्वच्छन्द बैठ जाएगा।

अन्तःकरण के दो नाम हैं— चित्त और चेतः। ये दोनों हुए 'वि' और 'प्रति'। संस्कारादि का ग्रस्तभाव चित्त है, मुक्त स्पन्दमान भाव अथवा उस प्रकार होने की प्रवणता (proneness) चेतः है। किसी भी रंग को पकड़ाने के लिए चित्त को पहले उसके ग्रस्तभाव से छुड़ाना होगा। उसे चेतः (prone, responsive, receptive, reactive) बना लेना होगा। यही तो आवीरूप है—अपावृत्य प्रत्याकुरुते ! शुक्ल-कृष्ण के सम्बन्ध में अन्य बात बाद में होगी।

अब कारिका है—

वा० अनिरुक्ते निदानेऽपि यत्तपसोऽध्यजायत।
तस्य यदादिसंमानं मानातिगं तदिष्यते ॥ ४२ ॥

अन्वय—निदाने अनिरुक्ते अपि यत् तपसः अधि + अजायत। तस्य यत् आदिसंमानं तत् मानातिगम् इष्यते ॥ ४२ ॥

[निदान अनिरुक्त होने पर भी जो तप से उत्पन्न हैं, उनका जो आदिसंमान है वह मानातिग कहा जाता है ॥ ४२ ॥]

भाष्य—सृष्टिसूक्त में बहुशः आलोचित 'तपसोऽध्यजायत'—परम तत्त्व का यह राहस्यिक तपः एवं अधिजातत्त्व (Absolute Being, becoming prone to evolve and manifest as a system of relations)—इस मूल व्यापार में आविः का आविष्कार करना होगा। Alogical Absolute and Supreme Logical के बीच सन्धिरूप यह आविष्ट्व है। सब कुछ सम्बन्धादि 'व्यक्तिमापन्न' हो जाता है, इससे अथच पहले के शुद्ध सादे कागज की भाँति उसमें कोई रंग भी स्वयं नहीं पोतता है। परमाव्यक्तता को वह केवल खोल रहा है, एवं सभी रंगों को परिस्फुट करने के लिए (प्रति + आकरण) उसने मूल प्रस्तुति रूप में (fundamental preparedness) अपने को बिछा दिया है मात्र। इस मात्र शब्द पर ध्यान दें। व्यक्तिता के सम्बन्ध में यह जैसे 'कोई रंग भी अभी शरीर पर न मलने' जैसी अवस्था है। मेयता के सम्बन्ध में भी यही समझेंगे। अर्थात् आदिम मान एवं अमेय परम, इन दोनों के सेतुरूप में आविः को जानें। जो अमेय है, वह मानमेयरूपता ले रहा है, आविः को बीच में रखकर। इस निमित्त ठीक अमेय या मेय न कहकर इसे 'मानातिग' कहा जाता है। और, इसका निदान (हेतु)—the reason why—जो अनिरुक्त (बौद्ध व्यवहार में निर्वाचनयोग्य नहीं) है यह भी ठीक है। (१।३।१६ सूत्र में निर्वाच्यत्व लक्षित हुआ है)।

आविः को उसके स्वरूप की ओर और उसके व्यापार की ओर—इन दोनों ओर से देखकर प्रथम को मुख्यवृत्तिता, दूसरे को गुणवृत्तिता कहकर व्यवहार हो। ऐसा करने पर बीज जब कहता है - मैं अब संकुचत् + अव्यक्त नहीं रहूँगा, बड़ा बनूँगा, अपने को फैलाऊँगा, तब यह उच्छूनता (swelling from within) हुई उसकी मुख्यवृत्तिता, और अपने आवरक त्वक् इत्यादि स्थूल-सूक्ष्म बाध को हटाकर हुई उसकी गुणवृत्तिता। बीज का अपना 'उच्छ्वास' वा आवेग होने से पहले उसका आवरण त्वक् चीर देने पर तो कुछ भी नहीं होता। बीज नष्ट ही हो जाता है। जपादि किसी भी साधन में यह स्मरण रखें। बाहर की 'केंचुली' (रूपादि) को अपने-आप खिसक जाने दो। जो रहस्य-हँसी

नित्य सुवर्ण का अण्डा देती है, उसके जठर में अस्त्रोपचार में प्रवृत्त मत होना। मान लें—संख्या जप है, जबर्दस्ती उसे मत छोड़ना। वह अपने-आप छोड़ देगा। एक-एक मेरु-सन्धि में (critical function में) आकर।

अब, 'आविः' वा 'आविस्' शब्द में आदि में यह 'आ' स्वर हुआ मुख्य। यह उस परम बीज का जपना उच्छ्वास है। यह सर्वत्र मूल 'साध' रूप है। यह क्या करता है? वि='बाध' रूप का (बीज के आवरण की भाँति तोड़कर) अपसारण करता है। सम्पूर्ण भाव से? सर्वथा शून्य (Nil) हो जाता है? नहीं। वह सम्भव नहीं है। क्योंकि, परमाव्यक्त ने ही अव्यक्त रूप में ('व') बाधरूपता को 'मानो लिया है'। सुतरां यह बाध भी अमेय, अपरिसीम है। 'आ' भी परम में वही है। किन्तु 'तपोमुखात्' ऋतञ्च सत्यञ्च रूपता में एवं सृष्टि में उतरकर 'आ' ने अपने को मानो अपने पारम्य की न्यूनता में उतार लिया है; 'व' ने भी वैसे ही। इसीलिए 'आ'=साध, 'व'=बाध को आयत्त करता है (अपावृत इत्यादि)। पूर्ण भाव से नहीं, ध्रुव भाव से नहीं, परन्तु पादमात्रा में, कला में, काष्ठा में (जैसे बीज से पादपोद्गम में देखते हैं) क्रमिक धारावाहिक रूप में। फलतः, 'व' होता है 'वि'। अब हुआ अमित बाधरूपता का विशेषण वा अवच्छेद।

अच्छा, 'व' रूप मूल अव्यक्त भाण्डार (unbounded primordial potentiality) से कोई भी एक परिच्छेद ('वि') द्वारा 'वशीकृत' हुआ। 'व' रूप में कोई 'मुखीनता' नहीं, जैसे 'प्रति' में है। 'वि' में 'मुखीन' हो रहा है। तब 'प्रति' और 'वि' में प्रतिद्वन्द्व (polarity) होता है? मान लें, बीज के बाहर की त्वक् फटी। इससे क्या होता है? जो बाधरूपता गई वह असल में लोप नहीं हुई, कार्यकरी शक्ति वा तेजः इत्यादि रूप में विवर्तित (Transformed) हुई। जड़ में, प्राण में, मन में सर्वत्र ही आविः इस प्रकार अपने को आविर्भूत कर रही है। यह तेजः वा अग्नि हुआ 'र्' वर्ण। प्रकारान्तर से 'स्' वर्ण है। 'आविः' इस शब्द में भी पूर्वालोचित सभी बातें सूक्ष्म रूप से हैं। यह 'आविः' आवी रूप में मुझमें आए (म एधि)! रस में, भाव में, योग में, ज्ञान में—इस आविः को आवीरूप में किस प्रकार प्राप्त करेंगे यही सोचें। अब नीचे की ये दो कारिकाएँ हैं—

आविरिति च शब्दस्यादिमे या मुख्यवृत्तिता।
माध्यमस्याक्षरात्तस्या गुणीभावो ररूपता॥
अशेषा व्यापिका व्यक्तिरावर्णेन प्रचोदिता।
वश्चाशेषं यदव्यक्तं वीति व्यक्त्यै विशेषणम्॥ ४३, ४४॥

अन्वय—'आविर्' इति च शब्दस्य आदिमे ('आ'-वर्णे) या मुख्यवृत्तिता, तस्याः माध्यमस्य ('वि' इत्यस्य) अक्षरात् गुणीभावं र्-रूपता॥ ४३॥

आ-वर्णेन अशेषा व्यापिका व्यक्तिः प्रचोदिता । वः च यत् अशेषम् अव्यक्तम्, 'वि'-इति व्यक्त्यै विशेषणम् ॥ ४४ ॥

['आविः' इस शब्द के आदिवाले 'आ' अक्षर में जो मुख्यवृत्तिता है, उसके माध्यम (बीचवाले 'वि') का अक्षर से गुणीभाव अन्तिम 'र्'-रूपता है ॥ ४३ ॥

'आ'-वर्ण द्वारा अशेष व्यापिका व्यक्ति (व्यक्त होना) प्रेरित है । 'व' है अशेष अव्यक्त, जो 'वि' (होकर) व्यक्ति के लिए विशेषण है ॥ ४४ ॥]

भाष्य—आदिम में = आ-वर्ण में । माध्यमस्य = 'वि' इसका । रूपतः = 'र' इस प्रकार गुणीभाव । आ = अशेषा व्यापिका व्यक्ति (manifestation) है । व = अशेष अव्यक्त, 'वि' = व्यक्ति के लिए 'व' का विशेषण है ।

एक अव्यक्त के 'व्यक्तिमापन्न' होने की धारा (expanding manifestation) कोई न कोई चल रही है । यह है 'आ' । जहाँ जब बाधा या बाध उपस्थित होता है वहाँ तब उसे क्या करना होता है ? उस बाधा या बाध को कार्यतः अपसारित करके उसे फिर शक्तीन्धन बनाकर अपने तेजोभाण्डार में जमा करना होता है । ऐसा होने पर भी 'आविः' होंगी 'तेजी'—(generating and gathering momentum) नहीं तो 'मन्दी' । अनेक स्थल में रेखाचित्र आँककर यह दिखाया जाता है । साधन में इस 'आविः' के रेखाचित्र में सविशेष अवधान देना चाहिए । जैसे, डॉक्टर को रोग के रेखाचित्र में ।

'आविः' मन्त्र के व्याहरण में 'आकरण' जब अपेक्षाकृत निर्बाध लगे तब 'आ' इस स्वर का प्लुत एवं मुख्य भाव से उच्चारण सङ्गत होता है । बाध वा बाधा को स्पष्ट वा प्रबल (यथा, क्रोधादि किसी रिपु को) समझने पर 'विः' भाग में जोर देना संगत होता है । किन्तु, तत्काल 'आ' में जो व्यापिका शान्तवाहिता है उसमें लौट आना ही वाञ्छनीय है । जैसे, किसी रोग की चिकित्सा में कोई विशेष उपसर्ग दिखाई देने पर उसे निर्बाध (Counteract) करने की व्यवस्था करनी होती हैं, किन्तु 'नेचर' (Nature) की निरामयी धारा में जितना भी रख सकें या रह सकें उतना ही अच्छा है ।

अब रात्रिसूक्त है । 'आविः' की परमता की भूमिका के बिलकुल 'पास-पास' किसी परम रहस्य सन्धि में आदिम 'आविर्भाव' हुआ है । हमारी साधारण व्यवहार की भूमि तक उस आदिम रहस्य को ओतप्रोत एवं आहृत होते देखते हैं । 'रात्रि' में रहस्य घटना गहनतरा होती है । वेद में नासदीय सूक्त में जो 'गम्भीरान्तः' उद्देश्य में कहा है, कौन ऐसी धी है जो उसमें अवगाहन करते हुए तल का सन्धान पायेगी ? अथ च, 'आविः' जिस प्रकार, रात्रि भी उसी प्रकार सब भूमियों में ओतप्रोत,

अनुस्यूत है। अथवा, 'आविः' के साथ अलगाव करने के लिए कहें—आविः ओतप्रोत है, रात्रि अनुस्यूत है। रात्रि 'महारात्रि', 'मोहरात्रि' इत्यादि भेद से परमतत्त्व (महामाया) का गहनतम रहस्यरूप है। गहन शब्द कहा गया है इसीलिए कि—रात्रि ने ही परम की जो गहनता है उसे सब भूमियों में अनुस्यूत एवं उदाहृत करके रखा है। सब कुछ के (एक धूलिरेणु के भी) बीच रात्रि एक अगाध निगूढ़ता (unfathomed mystery and inscrutability) के रूप में विद्यमान है। काष्ठा में लेने पर यह हुई 'शुद्धा तामसी तनु'। तीन गुणों में से एक गुण तमः वह नहीं है। इस परा तामसी को 'कृष्णा' कहते हैं। रस का एवं रसमाधुरी का जो परम, अगाध, अनिर्वचनीय रूप है, उसे क्या कहेंगे ? 'कृष्ण ?' परमाश्चर्य नाम है ! सब भूमियों में गहनता, गम्भीरता, निगूढ़ता, अव्याकृत अव्यक्तता के रूप में जो विद्यमान है, अविनाभाव से जो विद्यमान है, वह है रात्रि। वेद ने रात्रिसूक्त में इसीका उद्देश किया है।

परम तत्त्व एक साथ परम प्रकाश और परम अव्यक्त है। परम प्रकाशरूप यदि 'आविः' को लें तो वह 'आविः' निर्व्यूढ़-निरन्तर-निरपेक्ष आविः है। और रात्रि उस परम प्रकाश भूमि में परम शून्यता है। किन्तु, परम तत्त्व को परम अव्यक्त रूप में देखें। अमेय, अलक्षण, अनिरुक्त इत्यादि को 'नेतिकरण' में देखें। जो वह कुछ भी समझने नहीं देती, कहती भी नहीं। इस प्रकार रात्रि वहाँ निर्व्यूढ़ा-निरपेक्षा-निरन्तरा है। आविः के भाग्य में शून्य है ! तुम क्या बहिःप्रज्ञ हो ? नहीं। अन्तःप्रज्ञ ? नही। घनप्रज्ञ ? नहीं। इत्यादि। शून्य के बाद शून्य !

किन्तु 'हाँ' उत्तर भी उस मूल में रहकर भी कौन मानो देता है ! "मैं ही सब हूँ—सब होकर एवं सबमें ही मैं पूर्ण हूँ।" महामाया सूत्र में यह उत्तर भी हमने विशेष रूप से सुना है। इसलिए 'न' –'हाँ' दोनों मिलकर एक निरुक्ति वा कैफ़ियत का दावा जो करते हैं। दोनों में से कोई भी सरासरी 'न स्यात्' नहीं होना चाहता। इसीलिए परम के इस आविः एवं रात्रि को परस्पर के साथ सन्धि बैठानी पड़ी है। उसका अर्थ है, वे अन्योन्यापेक्षी हैं। 'प्रति' एवं 'वि' इन दोनों को लेकर यह भी हमने विशेष रूप से देखा है। व्यवहार में, सृष्टि में, सब कुछ में ही वही यह एक आकृति है—मेरा कुछ-कुछ समझना चाहते हो तो समझो, किन्तु समझने का तो अन्त नहीं है; कुछ कहना चाहते हो तो कहो, किन्तु कहने का तो अन्त नहीं है। बुद्धि और वाक् अज्ञात अनुक्त के साथ एक 'non-final' रेस (कभी समाप्त न होने-वाली दौड़) खेलती चलती है। अर्थात् आविः और रात्रि की बारी-बारी से आँख-मिचौनी चलती है। वह 'यस्यामतं तस्य मतम्', 'विज्ञातमविजानताम्' से शुरू करके इस 'अज्ञातनाम तृण-कुसुम', अथवा, 'एखनो तारे चोखे देखि कि, शुधू बांशी शुनेछि,

शुनेछि तार बरन कालो' (अभी तक उसे आँखों से नहीं देखा है, केवल बंशी सुनी है, सुना है कि उसका रंग काला है)—इत्यादि पर्यन्त सब कुछ में ही आविः एवं रात्रि क। यह बारी-बारी चल रही है। रस का परमोत्कर्ष विलास, उसके लिए भी 'शरदोत्फुल्लमल्लिका' रात्रि चाहिए ही; फिर महानिशा भी आवश्यक है। साक्षात् कैवल्यदायिनी जो श्यामा हैं उनकी पूजा में। अंकुर अपेक्षा करता है बीज की; नादबिन्दु की; इत्यादि दृष्टान्त सर्वत्र है। जपादि साधन में केवल काल के हिसाब से नहीं, तत्त्व के हिसाब से (as principle) रात्रि का उपयोग असामान्य है। बीजाश्रय तत्त्वतः रात्रि-तत्त्व का ही समाश्रय है। दीक्षा में रात्रि-तत्त्व ही परम सम्भावना शक्ति के रूप में वृत्तिमान् होता है। साधन-भजन में उसकी आवीरूपता हुआ करती है।

नासदीय में गम्भीराम्भः के प्रसंग में 'तल' शब्द का व्यवहार किया है। 'तल' शब्द में 'त'कार है, उससे कोई भी तल वा भूमि समझें। देखेंगे कि यह केवल पारिभाषिक (conventional) मात्र नहीं है। हेतु है। केवल 'त' कहने से शुद्ध (static) तल समझ में आया। उसमें लगायें रकार। स्तब्धता गई—static हुआ dynamic। किन्तु विज्ञान में energy की भाँति यह अभी भी 'scalar' 'दिक्' वा 'मुख' को नहीं पा सका (undirected)। योग करें 'इ'। अब तल वा भूमि किसी ओर 'मुख' में गतिशील, क्रियाशील है। मिला—'त्रि'। सृष्टि की जो धारा है वह इस 'त्रि' को पाकर ही है। त्रिदेवता, त्रिगुण इत्यादि इस मूल 'त्रि' के दृष्टान्त हैं। प्रणव में त्रिमात्रा है। त्रि महाव्याहृति हैं। अब मान लें—'रा' कहने से परमा जो शक्ति है उनका (भगवत्ता का) असीम समवितान (unbounded Homogeneous expansion) समझ में आया। इस असीम वितान में शून्यता, आधिक्य (शक्ति का, प्रकाश का, रस का इत्यादि) अब भी नहीं है। 'निर्दोषं समं ब्रह्म'—निर्दोष सम ब्रह्म ही है। इसीलिए 'रा' के द्वारा ब्रह्म उपलक्षित होता है। अब 'रा' ने 'त्रि' को स्वीकार किया। अर्थात् जो असीम समता में तल वा भूमि है, उसकी स्तब्धता वा गति एवं गतिमुख की कोई प्रसज्यता (प्राप्ति) नहीं थी, उसमें वह प्रसज्यता आई। फलस्वरूप आए आवरण, गहनता, निगूढ़ता, अव्यक्तता इत्यादि। जो केवल परिनिष्ठित (as fact) है वह हुई सम्भावना, सम्भूति। अच्छी तरह सोचकर देखें। इस तरह बिन्दु नाद में, नाद बिन्दु में, दोनों 'अउम्' इत्यादि अक्षरों में 'गूढ़' होते हैं। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः।' यही हुआ रा + त्रि। परम रसवस्तु जो है, उसे 'योगमाया' के सहकार वा पुरस्कार में, उसके परम लीलायन के निमित्त इस मूल रात्रि को अपरूप करके सजाकर अपनी 'सेवा में' प्राप्त कर लेना होता है। ज्ञानयोगादि सभी साधनों में इसका स्थान निर्विवाद है। जो सर्वत्र एक भाव से पड़ा हुआ है, 'उसे स्तब्ध बनाकर' 'गोपन करके' 'संचित करके' रखती है रात्रि। विश्व में सर्वविध Currency का Reserve Bank है रात्रि। शिष्य के द्विदल में

अधिष्ठित श्रीगुरुशक्ति अपने 'रा' में 'त्रि' के इस अलग 'र' को खींच लेती हैं। फलतः 'त्रि' हो जाता है 'ति'। और शिष्य की जो 'रात्रि' (गहन कर्म एवं गहनतर संस्कारों का चोरी का भाण्डार) है वह श्री गुरुकृपा से हो जाता है 'राति' (रक्षा)। गुरु कहते हैं—"अरे, तुम्हारे 'र' को 'त्रि' के साथ जोड़कर अब अलग से मत रखो, मेरे 'रा' में सौंप दो।" 'राम', 'तारा', 'राधा'—इन महानुभावों की भावना करें। बाद में ये सब आयेंगे।

पहले रात्रि = र + अत्रि इत्यादि प्रकार से भी प्रसङ्गक्रम से समझा चुके हैं। उससे वहाँ भी ठीक ही हुआ है ऐसा लगता है। रात्रि तो स्वयं ही गहनता की, निखिल रहस्य की खनि है। रात्रि ही सब कुछ 'रहसि' है, सब विद्या को 'गुह्या', उपनिषद् बनाती है। रात्रि न होने पर तो भावरस का मजा ही नहीं मिलता! जप कहें, नाद कहें, ध्यान कहें—सब कुछ 'मजे की' रात्रि है। रात्रिसूक्त ने 'व्यख्यदायती पुरुत्रा' इत्यादि कहकर न जाने कितना बखान किया है।

और एक बात। सीधे-सीधे रात्रि=तमः वा तमस् मत कहना। राका रात्रि कैसी स्वच्छ उज्ज्वल सुनहरे घूँघट से ढकी अपरूप माधुरी है। रात्रिसूक्त स्वयं कहता है—'ज्योतिषा बाधते तमः'। ध्यान रखें कि-'रा' 'त्रि'-आकृति को लेकर कभी उसमें निःशेष नहीं हो जाता। कोई एक 'गुहा' वा 'ब्यूह' तो हुआ, किन्तु उसका आधार एवं आश्रयरूप (as containing and sustaining plenum) वह ('रा') रहता ही है। सब उसमें ही देखें। नाद अ, उ इत्यादि हो गया है, किन्तु स्वयं है ही। 'त्रि' से उस 'रा' में ही तो जाना होगा। तमस् की आकृति क्या है? कोई तल अपना अन्तिम स्पर्श पर्यन्त दे रहा है किन्तु उसके अपने तल प्रान्त में (at the end of the plane) मान लें, हमारी साधारण जो चेतना का normal consciousness है उसकी, अवधि में, प्रान्त में आकर वह अपनी 'कार्यशक्ति' को झाड़ फेंकता है, और कहता है—Thus far and no farther! यहीं तक और आगे नहीं!

आँख कहती है, और मैं नहीं देखती, मन कहता है—आगे मैं नहीं समझता, इत्यादि। इसीको कहते हैं तमस्। रात्रि तमस् वा तमसा को काम में लगाती है अवश्य, किन्तु इसीलिए रात्रि तमस् नहीं है। रात्रि तमसा को दो विपरीत कर्मों में लगाती है। अन्य सब कुछ के आवरण में तो है ही, उसके अतिरिक्त उसके अपने आवरण में भी वही बात है। उसके फलस्वरूप, आवरण स्वयं आवृत्त हो जाता है। शेष का यह आवरण 'योग', 'पूरण' अथवा 'वियोग' हो सकता है। प्रथम स्थल में—आवरण स्वयं नहीं जानता कि वह आवरण (प्रकाशावरण) है, यह 'मोहरात्रि' है। द्वितीय स्थल में—आवरण स्वयं ही मानो अपना प्रकाश

करता है—जानता है कि वह आवरण (आवरण प्रकाश) है। रात्रि का जो 'रा' है उसकी 'ज्योतिषा बाधते तमः'। प्रकाश और विमर्श दो हैं। विमर्श 'त्रि' प्रभृति आकृति में मर्शन करता है अवश्य किन्तु प्रकाश दर्शक 'रा' के रूप में अविनाभाव से ही रहता है। जिसे आवरण कहते हैं उसे पूरा (+ −) लेकर 'निरोधिका' शक्ति में प्रविष्ट होने दो।

इसीलिए निरोधिका में दोनों ओर दो विपरीत परिणाम-प्रवणता होती है। एक मुख—तमसा है, दूसरा वेदसा ('जातवेदस् में')। प्रकाश और चेतना तमसा के मुख पर आवरण के आवरण को और भी गाढ़ करके रखे हुए हैं। मनुष्य में आत्मावरण की संज्ञा वा चेतना मानो नहीं है ऐसा भी कहा जा सकता है। इतर प्राणियों में, पत्थर आदि में वैसा नहीं है ऐसा हम समझते हैं। तमसा की इस प्रकार की काष्ठा यदि है तो वह काष्ठा 'महामोहा' है। और, प्रकाश वा चेतना की ओर भी एक 'ऊर्ध्वमुखी' रुझान और गति है। उसकी काष्ठा महाविद्या हैं। ये दोनों काष्ठायें परा व परम में जहाँ मिलित और परिसमाप्त होती हैं उसे कहते हैं पराविद्या वा परमाविद्या। यह एक साथ आवरण में भी परिपूर्ण आवरण है एवं प्रकाश में भी परिपूर्ण प्रकाश है। महामाया इस अवम काष्ठा से महाविद्या और पराविद्यारूप परम काष्ठा पर्यन्त सभी का प्रकाश है। गहनता का अतल तल भी वहाँ 'दुरवगाह' नहीं है, प्रकाश की परम शुद्धता और उज्ज्वलता भी वहाँ कुण्ठित नहीं है। आवरण में भी उसकी गम्भीरता के अतल पर्यन्त यह अपने परम प्रकाश में विराजमाना है, इस कारण यह तमसा के महाघोर में 'तामसो' है। 'महा-मेघप्रभा धोरा।' कालीतत्त्व के ध्यान में आवरण की परमता और प्रकाश की परमता दोनों मिली हैं। (प्रथम खण्ड में श्री श्री कालिका षोडशी की भावना करें। विशेषतः रसमाधुर्य की जो परम अनिर्वचनीयता तथा परम प्रकाश (नित्य एवं लीला दोनों भावों में) है वह कृष्ण हैं। कृष्ण मूल भगवत्ता हैं।

आवरण का आवरण तीन प्रकार से होता है—प्रथम, आवरण को एकान्त-शून्य करके; द्वितीय, आवरण को एकान्तपूर्ण करके; तृतीय, आवरण को अवम और परम दो सीमापर्यन्त चालू रखकर; अर्थात् इस धारा में जहाँ आवरण कहता है—'इस बार मैं हटता हूँ' वहीं उसे पकड़कर रखना—बिलकुल सरकने न देना। सरकने देने पर तो 'संसार' का जो 'सार' (सृ) है वही सरक जाता है।

अवरोध प्रतिरोधादिरूप निरोधिका को हमने पहले ही देखा है। जपादि साध में निरोधिका केवल रोधिका है ऐसा नहीं, राधिका भी है। एकान्त अपरिहरणीया साधिका है। इस सम्बन्ध में विशेष-विशेष बात प्रसंगक्रम से आगे आएगी। जैसे,

तारचक्र-प्रसंग में दिवा और नक्त की बात, और नक्तम् में जो शयन करना होता है यह कहा गया है। नक्तम् = न + व्यक्तम् इस प्रकार समझें।

अब निरोधिका को आवरण एवं प्रकाश दोनों प्रकार से पहचानकर तब रात्रि असल में क्या तत्त्व है, उसे समझने का यत्न करें।

६. आवृत्य प्रतिनिरुन्धे रात्रिरिति वृत्तिः कृष्णा।

आवरण करके किसीके सम्बन्ध में वा मुख में (प्रति) जो निरोध करती (अमित सत्ता, शक्ति प्रभृति), वह रात्रि है। यह कृष्णा है।

'आविः' की जिस प्रकार, 'रात्रि' की भी उसी प्रकार स्वप्रकाशताहानि नहीं हुई है। (जैसे सुषुप्ति में सुषुप्ति का प्रकाश होता ही है)। रात्रि का स्वसम्बन्ध में आवरण नहीं है। इसीलिए सूत्र में 'प्रति' कहा गया है। 'कृष्णा' = वर्णरूपादि सब आवरण (अव्याकृत, absarb) करती है, अतः अब कुछ की प्रतीति में एवं युक्ति में असल में अव्यक्त एवं 'अमत' करके रखती है। इत्यादि।

अब, कारिका :—

वा० अनुप्रतीतिमैथुन्यं द्वन्द्वभाग्वृत्तिताश्रितम्।
व्यतिरेको निषेधश्च ह्याक्रमतेऽन्वयं विधिम्॥
सूते प्रतिप्रसूयेत प्रतिकुर्वीत कर्मणि।
रसेऽन्तरितमान-विप्रलम्भादि - वैभवम्॥ ४५, ४६॥

अन्वय—अनुप्रतीति-मैथुन्यं द्वन्द्वभाग्वृत्तिता + आश्रितम् व्यतिरेकः निषेधः च अन्वयं विधिं हि आक्रमते॥ ४५॥

रसे अन्तरितमान-विप्रलम्भादिवैभवं सूते प्रतिप्रसूयेत कर्मणि प्रतिकुर्वीत॥ ४६॥

[अनुप्रतीति का मिथुनभाव द्वन्द्वगर्भवृत्तिता के आश्रित है। व्यतिरेक और निषेध अन्वय और विधि (की ओर) पर्यन्त पहुँचते हैं॥ ४५॥

रस में अन्तरित (छिपे हुए) मान-विप्रलम्भ आदि के वैभव को (यह रात्रि) प्रसव-प्रतिप्रसव करती है, कर्म में प्रतिकर्म कराती है॥ ४६॥]

भाष्य—जिस किसी प्रतीति के बाद उसकी स्मृति इत्यादि रूप में अनुप्रतीति कराती है रात्रि (संस्कारादि को ढककर)। जहाँ 'मैं', 'वह' 'कर्ता' 'कर्म' इत्याकार कोई द्वन्द्वगर्भ वृत्ति होती है वहाँ उस द्वन्द्व का (आसङ्गादि) मिथुनभाव घटाती है रात्रि। व्यतिरेकरूप में अन्वय को, निषेधरूप में विधि को 'आक्रमण' करती है रात्रि। किसीकी भी व्याप्ति सर्वतः नहीं होती, अव्याप्ति रहती ही है,

इत्यादि भाव से इसे समझ लें। जप में अनुव्याहरण, अनुस्मरण में रात्रि का ध्यान करें। जप में कहाँ अन्वय-व्यतिरेकादि हैं एवं उनकी फिर मिलनसंगति किसमें है, कहाँ है, यह भी सोचना रात्रि का ध्यान करके। मिथुनीभाव, मिलन—यह सब रात्रि की विशेष 'कारीगरी' हैं। तत्पश्चात्, कुछ प्रसूत हुआ वा प्रसव किया (सूते), किन्तु देखते हैं—प्रतिप्रसव भी हो रहा है। किन्तु, प्रसव-प्रतिप्रसव दोनों मिलकर आते हैं कहाँ से ?—रात्रि से। कर्म और प्रतिकर्म (action-reaction) के समय भी वही है (प्रतिकुर्वीत कर्मणि)।

शेष—रस के आस्वाद में और सम्भोग में 'अन्तरिता' 'विप्रलम्भ' 'मान' इत्यादि चमत्कारी वैभव का सुष्ठुभाव से विस्तार करती है रात्रि। दृष्टान्त-स्थल संक्षेप में कह चुके हैं। सूक्ष्मभाव से चिन्ता करें। और साधन में यह रात्रिरूपा महामाया प्रसन्न होकर अनुकूल, स्वारसिक अनुप्रत्ययादि तुम्हें देते हैं, इस निमित्त उनमें, उनकी परम भगवत्ता में प्रपन्न होना आवश्यक है। जो सूक्ष्म, गाढ़, गहन, निविड, दुर्ज्ञेय, दुःसाध्य है उसे साधे बिना तो उपाय नहीं है।

'महामाया' जपसूत्र में 'आकरसूत्र' हैं, और 'आविः' एवं 'रात्रि' हैं 'सन्धिसूत्र'।

इसके बाद, 'आविः' एवं 'रात्रि' इन दोनों अपावरणी एवं आवरणी मूल वृत्तियों को 'द्यौः', 'पृथिवी', 'अन्तरीक्ष' इन तीनों में विशेष-विशेष भाव से अन्वित रूप में देखा जायगा, बाद के तीन सूत्रों में।

७. द्यौः स्वराविः शुक्लाऽनुलोमा चापूरणी।

पूर्वोक्त 'आविः' 'स्वः' इस आकृति में (आकरणपूर्वक) शुक्ला, अनुलोमा आपूरणी है द्यौः।

सृष्टिसूक्त में 'ततो रात्रिः'—कहकर क्रम दिखाया है। आदिम तपोरूप में जो आविः का आविर्भाव है उसके भी पीछे परमाव्यक्तता में जो 'रात्रि' है, उसकी तो कोई नाम-निरुक्ति इत्यादि नहीं। तब, तपः से 'ऋतञ्च सत्यञ्च' ज्योंही आविर्भूत हुआ, त्योंही पुनः रात्रि हो गई। यह रात्रि सृष्टिक्रम में और धारा में प्रवेश करने के लिए 'सम्मता' 'रात्रि' है। पूर्वसूत्र में यह रात्रि ही सविशेष कथित हुई है, यद्यपि परम का इङ्गित भी वहाँ है। सृष्टिक्रम का उपसंहार (final summing up) हुआ—'पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः'। इस उपसंहार में ही निखिल व्यवहार संगृहीत हैं। हमने प्रथम पाद में व्याहृतिसूत्र में भूरादि को मौलिक और व्यापक भाव से लक्षित किया है, 'अयमिति प्रत्ययः' इत्यादि रूप में। यहाँ द्यौः, पृथिवी, अन्तरीक्ष भाव से उनका (भूरादि का) विशेषण (determination) है। इन तीनों में से प्रथम शुक्ला 'आविः' की आकृति

(इस रूप में आकरण) है; सुतरां देवनशीला द्युतिमती (Radiant) है। सृष्टि में जो अनुलोमभाव है, वह द्यौः की प्रकृति है। अर्थात्, द्यौः है इसीलिए सब कुछ सीधा (direct) चलना चाहता है (यथा, आलोकरश्मि)। एवं द्यौः आपूरणी है—सृष्टि में सब कुछ की सत्ता शक्ति इत्यादि का आपूरण (filling in and filling up) करती है द्यौः। Cosmic Reservoir of Mass-energy। 'Mass' शब्द केवल जड़ार्थ में (Physically) नहीं लें। केवल पूरण नहीं है इसीलिए आपूरण कहा गया है। 'आ' इस स्वर में जो व्यापित्व है उसे ही लें। केवल पूरण कहने पर—कहाँ किस अवयव में, किस भूमि स्तर वा संस्था में पूरण समझेंगे?—यह प्रश्न उठता है। द्यौः सब कुछ का अन्तर्बहिः सर्वतः भर देने की सामग्री है। गति की जो प्रथमाकृति है—मैं सीधा चलूँगा, निरन्तर चलूँगा (न्यूटन ने अपने Laws of Motion में जिसका एक रूप दिखाया है)—उसे आनुलोमता वा आनुलोम्य कहें। द्यौः इसकी भी मंजूरी (assurance) देती है।

वा० प्रकाशस्य विकाशस्यावकाशसमतार्जवम्।
लोकालोकौ बिभर्ति द्यौः स्वधापूर्य महीयसा॥
(लोकालोकौ प्रधावेते ह्यापूर्यमाणतालयम्॥) ४७॥

अन्वय—प्रकाशस्य विकाशस्य अवकाशसमता आर्जवम्। द्यौः स्वधा महीयसा आपूर्य लोक + आलोकौ बिभर्ति। लोक-आलोकौ हि (आपूर्यमाणता-आलयं प्रधावेते)॥ ४७॥

[प्रकाश और विकाश की अवकाशसमता आर्जव है। द्यौः (अपने) स्वधा-महीयस् के द्वारा लोक व आलोक को आपूरित करके भरण करता है। अथवा—लोक व आलोक आपूर्यमाणता के आलय की ओर दौड़ते हैं॥ ४७॥]

भाष्य—सब कुछ के प्रकाश विकाश को सम, ऋजु (एवं उदार) अवकाश (scope) बना करके द्यौः लोक एवं आलोक दोनों का भरण कर रही है। किस प्रकार? अपने में जो निखिला अव्यया पूरणी शक्ति न्यस्त है (स्वधा), उसके द्वारा उन्हें निरन्तर आपूरित करके (आपूर्य)। लोक और आलोक दोनों ही उनके आपूर्यमाणालय (Ever filling and refilling plennum of Energy) में प्रधावित हो रहे हैं। लोक कहने से मूर्त आकृति में (as rest-energy) आविर्भाव समझें और 'आलोक' कहने से अमूर्त आकृति (as radiation) में। केवल जड़ पदार्थ की बात नहीं हो रही है। सबको समान (equal), ऋजु (free and straight) एवं उदार (unbounded) प्रकाश, विकाश, सुयोग (opportunities) प्राप्त कराके ही द्यौः निरस्त नहीं हैं। सब कुछ को दौड़-दौड़कर हरण जो हो रहा है, 'थकान' जो हो रही है! कौन निरन्तर इस हरण का पूरण कर देगा? जो पूरण करेगा उसकी

आपूरणी शक्ति क्या इतनी भी महीयसी है ? इस प्रकार विश्वजनीन महारिजर्व बैंक है, जहाँ एक धूलिरेणु का भी अनलिमिटेड क्रेडिट (Credit) है—ऐसा न होने पर इस निरन्तर विश्वभङ्गुरता और वर्धिष्णु सर्वरिक्तता के बीच केवल 'दिवालिया' होने के सिवाय आशा-भरोसा कुछ भी नहीं रहता। सुतरां ब्रह्म भगवत्ता की यह जो चिर-देवनद्योतनामयी, समताजंवदात्री, अनुलोमा, आपूरणी महामहीयसी तनु है, उसके समीप नित्य ऊर्ध्वमुख में, ऊर्ध्वकर में प्रसन्न हों। सन्ध्या में सूर्योपासनादि में जैसे करना होता है। ध्यान में अपने मानस कोरक को ऊर्ध्व के इस असीम शुभ्र आशिष की ओर पँखुड़ी के बाद पंखुड़ी खोलने दो। 'द्यौः शान्तिरन्तरीक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिः' प्रणवपुटित इस शान्तिपाठ का व्याहरण और अनुस्मरण करें। जपादि साधन को शुक्ला गति दान करने के लिए, अनुलोम करने के लिए, 'ऊर्ध्वधाम्ना' निरन्तर आपूरण करने के लिए—द्यौः है। ऊर्ध्व धाम से अवतरण धारा (Descent from Above) द्यौः के माध्यमिक में होती है। इस रहस्य शब्द की आकृति बाद में विवेचित होगी। जैसे किसी बीजमन्त्र में आदिम स्वर वा व्यञ्जन 'पृथिवी', शीर्ष में नादबिन्दु वा अर्ध-मात्रा द्यौः एवं 'ई' 'ऊ' इत्यादि मध्यम स्वर 'अन्तरीक्ष' है।

किन्तु, आविः जैसे रात्रि की अपेक्षा रखती है द्यौः उसी प्रकार 'पृथिवी' की। यह पृथिवी निश्चय ही Earth नहीं है। यहाँ तक कि केवल Matter भी नहीं है, Materiality नहीं है। यह द्यौः का एक द्वन्द्वस्थता (Polarity) रूप है। इस द्वन्द्व का अर्थ अवश्य विरोध (Contradiction) नहीं है। एक बड़ी महासङ्गति के परस्परापेक्ष, अन्योन्यसाधक पक्ष (Thesis-Antithesis) में हैं। द्यौः तत्त्व में आविः मुख्य है, पृथिवी तत्त्व में रात्रि मुख्या है। महासङ्गति के फिर परम (Supreme) सङ्गतिरूप होने पर, वेद का यह मन्त्र है—'आदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' इत्यादि।

अब पृथिवीसूत्रः—

८. पृथिवी भूः रात्रिः कृष्णा प्रतिलोमाऽऽहरणी।

'भूः' इस व्याहृति को 'अयमिति प्रत्ययप्रतियोगी' कहा है, प्रथम पाद में। द्यौः के सर्वव्यापिका होने पर भी उसे 'यह' कहकर प्रतीति करना होता है। पृथिवी के भी सर्वव्यापिका (पृथ्वी) होने पर भी उसे 'यह' कहकर प्रतीति करना होता है। यह वास्तव (Concrate) गोचरता और व्यवहार्यता की भूमि है। वैसी होकर भी (उस प्रकार आविर्भाव के होने पर भी), पृथिवी रात्रितत्त्वमुख्या (रात्रितत्त्व ही पृथ्वी में मुख्य है) है; सुतरां कृष्णा है। पृथिवी प्रतिलोमा आहरणी है।

वा० निरुध्य च समाहृत्यावकाशं वक्रतान्वया।
अवव्यापूर्वकैर्लोपैः पृथ्वी बिभर्ति सर्वगा॥ ४८॥

अन्वय—अवकाशं निरुध्य समाहृत्य च वक्रतान्वया सर्वगा पृथ्वी अव-वि-आ-पूर्वकैः लोपैः बिभर्ति ॥ ४८ ॥

[अवकाश का निरोध और समाहार करके वक्रता को अन्वित करनेवाली सर्वगा पृथ्वी अव-वि-आ-पूर्वक लोपों के द्वारा भरण करती है ॥ ४८ ॥]

भाष्य - पहले जिस सम, ऋजु, उदार अवकाश का प्रसंग आया है, उस अवकाश को 'निरुद्ध' और 'समाहृत' करके सब कुछ का जो अन्वय (प्रकाश विकाश में प्रवणता) है, उसे वक्र (curve pattern) बनाकर भी उसे भरा करती है पृथ्वी एवं उनकी जो स्वच्छन्द अनुलोमता है, उसकी भी प्रतियोगिता करती हैं (प्रतिलोमा') । कैसे ? अवलोप, आलोप एवं विलोप ये तीन परिणाम घटित कर । यह सब करके भी वे उनका भरण ही करती हैं । यह पृथ्वी सर्वत्र अनुस्यूता (सर्वगा) हैं । अन्तर्बहिः विश्व में सर्वत्र इस पृथ्वी का सन्धान करके देखें । 'पृथु' का अर्थ विस्तीर्ण इत्यादि तो है ही; उस अर्थ में द्यौः की भाँति पृथिवी भी विश्वजनीना, सार्वभौमा हैं । निरोध, समाहार आदि विश्वभुवन में—जड़ में, प्राण में, मन में, कहाँ नहीं है ? वक्रता और वक्रभाव भी सर्वत्र है । कोई विज्ञान वा विद्या इस मौलिक पृथिवी तत्त्व को छोड़कर एक पैर भी अग्रसर नहीं हो सकते । फिर पृथु का अर्थ गुरु, स्थूल भी है । सत्ताशक्ति की घनता-गाढ़ता-स्थौल्य-गोचरता (perceptibility)—इस मौलिक पार्थिवत्व से है। अवलोप=दबाकर (compress) रखना । आलोप=आड़े में वा वियुक्त करके रखना (screeming and switching off) । विलोप=किसी कुछ को उसके अपने आकर में वा बीज में लीन कर देना । अंग्रेजी के contraction, commutation, concentration—ये तीन शब्द व्यापक अर्थ में लगेंगे । physical अथवा अन्य कोई भी analysis इन्हें छोड़कर नहीं हो सकता है । इनके साथ निरोध और समाहार (counteraction and co-ordination—यथा, एक केन्द्रीण के चतुर्दिक् में इलेक्ट्रॉन इत्यादि) तो है ही । आ, अव, नि, वि, सम्—इन-इन पाँच उपसर्गों द्वारा लक्षित यह पञ्चवृत्ति है ।

अच्छा, द्यौः तो ज्योतिर्धाम की मुक्ति की ऋजुवाणी वहन करती हैं, इसीलिए उनमें प्रपन्न अवश्य ही होना पड़ेगा । किन्तु, इन पञ्च उपसर्गों के कारण जो बन्ध है, उसकी वक्रवार्ता जो वहन करता है उसे तो दूर ही रखना होगा न ? विश्वभुवन ने तो दूर (irrelevant) करके नहीं रखा, नहीं रख सका है; यदि रखने जाता तो विश्वभुवन ही नहीं होता, नहीं चलता, तुम इससे (ऋजुवाणी से) उसको (वक्रवाणी को) कैसे अलग करोगे ? तब, रात्रि का यह पृथिवीरूप एक अन्ध, अलङ्घ्य नियति है क्या ? (Blind brute cosmic Desting ?) नहीं, वैसा तो नहीं है । पृथिवी से निरोध, वक्रता—अवलोपादि अवश्य होते हैं (विश्वसृष्टि, रक्षा एवं

परिणति के लिए ही); किन्तु, पृथ्वी स्वयं (अर्थात् स्वभावतः) निरुद्धा, वक्रा, अवलुप्तादि नहीं हैं।—ऐसा होने पर, अपने स्वभाव से उनकी अपनी भी मुक्ति नहीं थी, उनके भीतर जो कुछ है उन सबकी भी नहीं थी। रात्रि एवं 'भू' होने से पृथिवी का अपना जो क्रियादिव्यवहार हैं उससे स्वाधीना अतिगा तत्त्व पृथिवी है। इसलिए इस वक्रबन्ध व्यवहार को काटने के लिए पृथिवी को प्रसन्ना देखना और पाना पड़ता है। तुम्हारे भीतर अनादि जन्म के कितने बद्ध संस्कार हैं—रिपु, भय इत्यादि। ये सब द्यौः की दौलत में 'अबाध बेपर्वाह खुले मैदान' हैं। जहाँ 'सब समान हैं'—यदि ये हमें सीधे उसी रूप में मिल जायँ तो हमारी क्या गति हो ? चाहिए—यम-नियम-प्रत्याहार-संयम-निरोध। जो 'विष का बाण' सीधा ही आ रहा है उसे किसी भी प्रकार टेढ़ा किये बिना हम बचेंगे कैसे ?

जपादि आध्यात्मिक साधना में इन पाँचों उपसर्गों को गुरुकृपा से अपने उपकारक रूप में पाना ही होता है। गम्भीर मनस्तत्त्व की ओर से भी हमारा यह चित्त स्थूल है। गोचरा पृथिवी (earth) के साँचे में ही मानो गढ़ा हुआ है। स्तर विन्यासादि की बात सोच रहे हैं। यह भी पहले कहा गया है। ॐ पृथिवी शान्तिः ॥ ॐ पृथिवी मे प्रसीदतु ॥ तुम्हारी निरोधिका शक्ति में शमदमादि से निर्विकल्प समाधिपर्यन्त सिद्ध हो। प्रत्यावृत्ति (मोड़ घुमाकर लाना, उलट देना) शक्ति में प्रत्याहार, समाहरणी शक्ति में संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) सिद्ध हो। अवलुप्ति, आलुप्ति और विलुप्ति —इन तीनों के कल्याण में हमारा जप गाढ़, गाढ़तर होकर नादलीनादि होता चले। जप-ध्यान, भावभक्ति केवल इन्हींकी गाढ़ता, निबिड़ता ही भगवान् की इस पृथ्वीरूपा प्रत्याहरणी समाहरणी शक्ति के कल्याण से आती हो, ऐसा नहीं होता; उन सबका स्थिरत्व वा स्थैर्य भी इस पृथ्वी से ही है। स्थिरता वा स्थैर्यविधान एवं रक्षा —पृथ्वी की मुख्या वृत्ति हैं। कूर्म शक्ति का आधार है। क्षिति तत्त्वरूपा होकर सब कुछ के मूलाधार पर है। द्यौः से दोहन करें योग पृथिवी से क्षेम। दोनों के मिलने पर (द्यावापृथिवी) योगक्षेम होता है। अजपा में एवं प्राणायामादि से वायु की स्थिरता होती है। जिस किसी मूर्त द्रव्य में भारकेन्द्र, 'केन्द्रीण' (nucleus) इत्यादि। सभी आवर्तनों में अक्ष होता है। रसाश्रित साधन में व्रजभूमि है—जो गोष्ठ-गोवर्धन-निधु-वनादि रूप में भूमा जो रसवस्तु है उसे एकान्त सान्द्र निबिड करके धारण किये हुए हैं। आसन की मूल आसनरूपा, यज्ञ की वेदिरूपा वह है। 'पृथ्वि त्वया धृता लोकाः'। श्रीचण्डी महीस्वरूपा महादेवी हैं। वसु (वस् + उ) को सभी रूपों में धारण करती हैं। इसीलिए वसुन्धरा वा वसुधा हैं। 'वसु' = value। उसके अतिरिक्त उ + अस् + उ इस प्रकार का भी एक रहस्य शब्द है। पूजा में आवाहन में 'इह तिष्ठ इह तिष्ठ, स्थां स्थां स्थिरा भव'—यह स्थान-स्थिति पृथिवी तत्त्व में ही है। 'पृथिवी' नाम

के बीचोबीच जो 'थि' है, वह पृथिवी की मुख्या वृत्ति का द्योतक है। प = ओष्ठ्य स्पर्श वर्ण है। ऋ = आहरण का जो 'ह्' है। 'पृ' = प्रत्याहार वा प्रतिनिवृत्ति करने की वृत्ति (let-in, let-out valve) ईकार (तालव्य) के योग से होता है, वी = अभीद्धा समाहार वृत्ति ('अभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' इत्यादि में 'अभीद्ध' को समझने की चेष्टा हुई है।) मध्य में यह 'ई'कार (पृथिवी) आकृति में निरोध-आहरणी आकृति सविशेष व्यक्त है; 'ई' लोप में क्षेमङ्करी धात्रीभाव है। गो, ओषधि, वनस्पति—इन तीन रूपों में पृथ्वी माता की धात्री मूर्ति सविशेष परिस्फुट और अङ्कित है। ये सब बाद के लक्षणों में मिलेंगे।

स्थूल जो तामसभाव है, वह बलिष्ठ (as mass inertia) होने पर भी पृथ्वी माता का शुद्ध स्वरूप नहीं है। इस प्रदर्शन के निमित्त सिंहवीर्य द्वारा मतङ्गरूपी इस जड़ तमस् को विमथित करके हमारी माँ ने 'कनकोत्तमकान्तिकान्तम्' जो जगद्धात्री रूप है उसे धारण किया है। ऐसी पृथिवी माता को माटी में सिर रखकर भूमि में लोटकर प्रसन्न करें।

जिस प्रकार अभी लक्षण दिया गया उसमें दिखाई देता है कि—द्यौः एवं पृथिवी दोनों ही शुद्ध तत्त्व हैं। इस पाद के १४वें सूत्र में 'तत्त्वतोऽवस्थितिः शुद्धिः' कहकर शुद्धि का लक्षण दिया गया है। वह कारिकासह बाद में आलोचित होगा। तब देखा जायगा—'तत्त्वतोऽवस्थिति' की कतिपय निरूप्य 'भूमि' (assignable planes) हैं। अन्त में समता और परमता हैं। इस वर्तमान पाद में महामाया से माया, तत्पश्चात् आविः एवं रात्रि, तत्पश्चात् द्यौः एवं पृथिवी—इस प्रकार अवतरण (logically descend) कर रहे हैं। आरम्भ में जो Alogical Absolute है, उसकी ही इस प्रकार 'बौद्ध परिक्रिया' (logical oppreciation) होती है। तन्त्र में षट्त्रिंशत् तत्त्व की विवृति में शुद्ध-अशुद्ध का भेद करते हैं। एकान्त वा 'निर्दोष' 'सम' एवं परम भाव में देखने पर शुद्ध एक ही है, अथवा उसे 'एक दो' कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कहने-सुनने की छूत लगते ही तो वह 'अशुद्ध' हो जाता है। वर्तमान स्थल में शुद्ध वहाँ तक नहीं है। सब कुछ होकर भी, करके भी जहाँ भगवत्ता स्वरूप में और स्वभाव में 'संस्थिता' ही ('विष्णुमायेति संस्थिता' इत्यादि) हैं, इसीलिए जिनमें भगवत्ता के आविर्भाव रूप में ही प्रपन्न होना पड़ता है, वहाँ शुद्ध ही कहा जायगा। अर्थात् जहाँ अपनी ही अवलुप्ति-आलुप्ति-विलुप्ति के कारण तत्त्वतः न सही, व्यवहारतः स्वरूप-स्वभाव में अनवस्थान नहीं होता। शान्तिपाठ में यह 'अनिराकरणम्' है। स्थिति के पाँच रूप देखेंगे—अवस्थिति, संस्थिति, परिस्थिति, उपस्थिति, अनुपस्थिति। इन पाँचों के आधाररूप में परिनिष्ठितता है। अब अन्तिम दोनों में व्यवहारतः अशुद्धि विस्पष्ट होती है। परिस्थिति में 'लेश' रूप में दिखाई देती है।

ये बातें ध्यान में रखकर अन्तरीक्षसूत्र का प्रणिधान करें।

९. द्वे द्वन्द्वान्तरिते भुवः सन्ध्ये शुद्धाशुद्धे।

द्यौः एवं पृथिवी ये दोनों स्वतः शुद्ध तत्त्व, अन्तरित वा व्यवहित होकर द्वन्द्वभाव में आकर होते हैं 'भुवः'। तब 'सन्धि' और 'सन्ध्या' रूपता आती है। एवं शुद्ध और अशुद्ध ये दोनों सम्भावित होते हैं।

कारिका—

सर्वं द्वन्द्वस्थितं येन व्यवधानेन व्यादितम्।
अन्तरिक्षं तदेव स्यादणुतनुपृथुतामितम्॥
सान्तानन्तमुदासीनञ्चेतरच्छून्यमन्यथा।
ह्रस्वदीर्घान्तरीक्षेण सन्धिः सितासितादिषु॥ ४९-५०॥

(व्याप्यन्ते शुद्धतादयः)

अन्वय—येन व्यवधानेन द्वन्द्वस्थितं सर्वं व्यादितम्। तद् एव अणुतनुपृथुतामितम् अन्तरिक्षं स्यात्॥ ४९॥

सान्त-अनन्तम्, उदासीनम् इतरत् (सापेक्षं), शून्यम् अन्यथा (गर्भितं) च। ह्रस्वदीर्घान्तरीक्षेण सितासितादिषु सन्धिः॥ ५०॥

[जिस व्यवधान (दूरी) के द्वारा द्वन्द्व में स्थित सब कुछ व्यादित (व्याकृत या व्याहृत) है वह ही अणु-तनु या पृथुता को प्राप्त हुआ अन्तरिक्ष है॥ ४९॥

वह सान्त है अनन्त है, उदासीन है और उससे अन्य (सापेक्ष) है, शून्य है और उससे अन्यथा (गर्भित) है। ह्रस्व या दीर्घ (इ या ई) के अन्तर से अन्तरिक्ष या अन्तरीक्ष के द्वारा सित-असित आदि द्वन्द्वों में सन्धि होती है। अथवा उस अन्तरिक्ष से शुद्धता आदि व्याप्त होती हैं॥ ५०॥]

भाष्य—द्वैतद्वन्द्व बना हुआ है। जिस तरह भी हो। ऐसी अवस्था में द्वन्द्वस्थित पदार्थ (जैसे, मानो क ख) जिसके लिए परस्पर के सम्पर्क में व्यवधान के साथ 'व्यादित' अर्थात् व्याकृत, व्याहृत (evolved, specifically collected and exhibited) होता है उसी निमित्त को अन्तरिक्ष (Internal Principle) कहकर समझें। इस अन्तरिक्ष पदार्थ को अणु (कारण), तनु (सूक्ष्म), पृथु (स्थूल)—इन तीन प्रकारों से वृत्तिमत् होते देखते हैं। जैसे, सुषुप्ति में स्वरूप के साथ 'आणव' व्यवधान रहता है। जप में वैखरी के साथ मध्यमा का व्यवधान 'तनु' वा 'तानव' होता है। किन्तु वाचिक-उपांशु व्यवधान 'पृथु' होता है। ('पार्थिव' शब्द का व्यवहार नहीं किया गया।) इसी प्रकार अन्यान्य स्थलों पर भी विचार करें। व्यवधान के

सम्बन्ध में 'ह्रस्वदीर्घ' यहाँ शब्द के बीच जो 'इकार' है, उसे लक्ष्य करके समझें। अन्तरिक्ष को क्रियमाण (as function) अथवा चिकीर्षु (as tendency) देखने पर दिक् का प्रश्न उठता है—किस ओर है ? 'सहः' वा 'साहस' इसका प्रश्न भी उठता है—कैसा जोरदार है ? मान लें, जप पर बैठकर, वैखरी-मध्यमा की सन्धि में (योजक अन्तरिक्ष में) पहुँच गये; उस स्थल में किसी प्रकार की क्रियमाणता (activisation) का भी बोध किया (मान लें, तुम्हारे जप में एक आविष्ट भाव आया)। तभी वे दोनों प्रश्न उठते हैं। मुख किस ओर है ? पशुनिद्रा की ओर तो नहीं है ? और, कैसा जोरदार है ? जरा सा कुछ छू गया, जरा सा कुछ भी उसे हिला गया, ऐसा नहीं है तो ?

किन्तु अन्तरिक्ष वा व्यवधान 'खुला हुआ' है, उसके फिर ये सब कर्म कैसे ? नहीं, अन्तरिक्ष वा अन्तरिक्षजन्य 'अवकाश' (void) नहीं है। यह समझने के लिए अन्तरिक्ष पर तीन प्रकार से विचार करें। यह सान्त अथवा अनन्त है; यह उदासीन अथवा सापेक्ष है; यह शून्य अथवा गर्भित है (with intrinsic relations, यथा Einstein का space)। इन तीन विकल्पों में अन्तरिक्ष क्या-क्या रूप धरेगा, यह विचारणीय है।

व्यवहारतः अन्तरिक्ष वा व्यवधान को सान्त, सापेक्ष एवं सगर्भ (with intrinsic scheme or pattern) के रूप में ही हम पाते हैं। नाम-नामी, भजन एवं रति, जप और नाद, धारणा और ध्यान, कर्म और अनासक्ति, आयास और प्रपत्ति, श्रवण और साक्षात्कार, भक्ति और भाव—इत्यादि के बीच जो 'कार्यतः' व्यवधान हैं वह अनन्त उदासीन होने पर क्या होता ? शून्य और निर्गर्भ होने पर भी जप-भजनादि व्यवहार कहाँ है ? रसाश्रित साधन में भी व्यवधान को वियोग विरहादि नाना रस निबिड भाव से पाना ही पड़ता है। 'कलहान्तरिता'—यहाँ 'अन्तरिता' तो फिर अन्तर्हिता नहीं है ! निखिल विश्व-व्यवहार में ही सान्त-सापेक्ष-सगर्भ-अन्तरिक्ष की एकान्त आवश्यकता है। जड़ विज्ञान, गणित इत्यादि से भी पूछ सकते हो। सान्त करने पर पादमात्रादि चारों प्रकार से परिमित और परिमेय (measurable) समझना होगा। सापेक्ष होने से अनुकूल में या प्रतिकूल में, यह प्रश्न विशेषतः आता है। मानो, वह ऊर्ध्वतन अध्यात्मलोक (स्वः—Higher spiritual Realm) की ओर तुम्हारी इस कारोबारी चेतना का उन्मेष घटित हो रहा है। बीच में जो अन्तरिक्ष (hiatus) है उसे (higher opening) देकर तुमने इस अद्भुत अन्तरिक्ष देश का (Psychic or Parapsychic Realm) कुछ आभास (glimpses)—नादश्रवण, भावपुलकादि के रूप में पाया। एक नूतन मार्गदर्शक ज्योति एवं रस का परिचय पाया। किन्तु सावधान ! यह नूतन मार्गदर्शक दिशाहारा बना देने में भी उस्ताद है ! यदि विभूति,

'सिद्धाई' इन सबकी झोंक में पड़ जाओ, तो 'विद्या' की उपासना करके भी 'तमः (अन्धं) भूयः प्रविशन्ति'! इसीलिए 'व्युत्थाने सिद्धयः समाधावन्तरायाः।' पथ मिलने पर, उस अणु-पन्था में सीधे ही चलना होता है।

तत्पश्चात्, अन्तरिक्ष की स्वगत (intrinsic)—यह आकृति भी किसी भी द्वन्द्वस्थित वस्तु के सम्बन्ध में वर्तमान रहती है। प्रकृत पक्ष में यही निरूपक और नियामक है—'क' 'ख' इसके सम्पर्क में किस प्रकार के हैं इत्यादि। उनके परस्पर का व्यवहार-विनिमय उनकी व्यवधाननिष्ठ 'आकृति' द्वारा निरूपित होता है—जैसे पृथिवी और सूर्य का वर्तमान व्यवधान। कर्म-अदृष्ट, इन दोनों का अनुपात-संघटक उनका व्यवधान है। व्यवधान की जो आकृति (scheme) है, उसमें कोई 'अदृष्ट' (मानो, संस्कार) किस संस्था में (position में) है; उदार होने की ओर अथवा तनु होने की ओर इत्यादि, उसीके ऊपर निर्भर करता है कि उक्त संस्कार किसी कर्म को किस प्रकार कितना प्रभावित करेगा या नहीं करेगा। अवचेतना के गति विज्ञान का—प्राणन विद्या का—एक प्रश्न है। अन्तरिक्ष वा व्यवधान इस परिस्थिति (context) में—मुख्यतः सन्धि, सेतु, मेरु में तीन आकृतियाँ धारण करता है। इनकी बात कही गयी है।

व्यवहार में सान्तादिरूप धारण करने पर भी, अनन्त-उदासीन शून्य (निर्गर्भ, निर्बीज) ये तीन शुद्ध रूप भी अन्तरिक्ष में हैं। ज्ञान कहें, योग कहें, रस कहें—इन तीन साधनाओं की परिसीमा एवं निरतिशयता की सिद्धि के लिए इन तीन शुद्ध रूपों को पाना ही होता है। मिथ्या प्रपञ्च, व्युत्थान, विशुद्ध-चिन्मय-रस विमुखीनता—इन सबको 'अनन्त' व्यवधान में हटना पड़ता है, शून्य होना पड़ता है; उदासीन (अस्पर्श) रूप भी होना पड़ता है। कहाँ, किस प्रकार यह प्रणिधान करें। जैसे, सांख्य में पुरुष तो उदासीन है ही, किन्तु मोक्ष के निमित्त प्रकृति-पुरुष के व्यवधान को भी उदासीन होना आवश्यक है। अन्योन्य 'छायापत्ति' फिर सम्भव नहीं है। इत्यादि।

इसलिए, अन्तरीक्ष स्वतः अशुद्ध तत्त्व नहीं है। होने पर अशुद्धि से अनुशुद्धि, विशुद्धि, परिशुद्धि और संशुद्धि—इस क्रम को 'क्रमग' और 'क्रान्तग', ये दोनों ही, वह न बनता। यह 'देव' वा 'देवता' नहीं होता। देवता के रूप में अन्तरिक्ष सिता-सित (शुक्ल-कृष्ण) आदि निखिल द्वन्द्वस्थता के बीच सन्धि, सेतु इत्यादि होता है। फलस्वरूप शुद्धि एवं अशुद्धि एक व्यवस्थित क्रमान्वयित्व (determinate gradedness) को पा लेती है। इस देवता को उद्देश करके सन्धि-आराधना (सन्धि को पकड़ना), सन्ध्या-उपासना (जिसमें शोधन कर्म आरम्भ से ही करना होता है) होती हैं। द्यौः एवं पृथ्वी दोनों माता और दुहिता हैं। दोनों कामदुघा गौ हैं। अन्त-

रिक्ष सन्ध्यादि रूप में दोग्धा है। आरम्भ में ही शुद्धि का। हृदय में, नाभिदेश में न्यस्त युक्त करों से शुद्धि के दोग्धा की वन्दना करें। स्वयं पृथिवी भी दुहितृ रूप में इस दोग्धा के द्वारा ही द्यौः का निरन्तर दोहन करती हैं—आलोक, ताप, तड़ित्, वारि, प्राणचेतना-कितने ही व्यक्ताव्यक्त रूपों में!

१०. साम्यञ्च तयोरनन्तरितशुद्धिसाम्ये।

जो दोनों द्वन्द्वस्थ रूप में अन्तरित (व्यवहित) हैं, उनके अनन्तरित (अव्यवहित) शुद्धि की समता होती है। वही समता होने पर उन दोनों का साम्य वा समता हुई।

कारिका—

अन्तरीक्षेण पार्थक्यमिदं ज्योतिरिदं तमः।
अनवच्छिन्नमेतेन शुद्धौ च समतामियात्॥
द्वन्द्वानामपि सर्वेषां तद्वृत्तिभेदजन्यता।
तद्वृत्तिहीनता काष्ठा साम्यं या परमा स्थितिः॥ ५१-५२॥

अन्वय—अन्तरीक्षेण पार्थक्यम्—इदं ज्योतिर् इदं तमः। एतेन अनवच्छिन्नं च शुद्धौ समतामियात्॥ ५१॥

सर्वेषाम् अपि द्वन्द्वानां तद्वृत्तिभेदजन्यता। तद्वृत्तिहीनता काष्ठा, या परमा स्थितिः (तत्) साम्यम्॥ ५२॥

[अन्तरिक्ष के द्वारा पार्थक्य होता है कि यह ज्योतिः है, यह तम है। और इस (अन्तरिक्ष) से जो अवच्छिन्न नहीं है, वह शुद्धि में समता को प्राप्त हो॥ ५१॥

सभी भेद तद्वृत्तिजन्य होते हैं, तद्वृत्ति से हीन होना काष्ठा है, जो साम्य है वह परमा स्थिति है॥ ५२॥]

भाष्य—दो पदार्थ (क-ख) तदुभय का माध्यम जो अन्तरीक्ष है, उसके द्वारा ही 'यह आलोक है', 'यह अन्धेरा है'—इस प्रकार पार्थक्य (शुद्धि-अशुद्धि रूपतादि) प्राप्त होता है। अर्थात्, यह माध्यम कह देता है—'तुम आलोक हो, और तुम अन्धेरा हो।' और भी कहता है—'यह देखो दोनों के मध्य क्रम (gradation) है, यहाँ सन्धि, सेतु, मेरु इत्यादि है। इस व्यवधान द्वारा अवच्छिन्न (विशेषित) यदि न हो तो दोनों ही समता में आ जाते हैं और स्थित होते हैं। जड़ में, प्राण में, अन्तःकरण में जो कुछ द्वन्द्व (polarity, contrariety) देखा जाता है उसका घटक (संघटन करानेवाला) व्यवधानवृत्तिभेद वर्तमान है। अर्थात्, व्यवधान कार्यतः किस आकृति में वृत्तिमान् हुआ है, उसके ऊपर द्वन्द्व निर्भर है। Internal Function उस क्षेत्र में किस आकार में (equation में) function करता है, उसके ऊपर द्वन्द्व निर्भर है। अणु, विराट् सब कुछ को लेकर परीक्षा करें। उक्त व्यवधानवृत्ति की हीनता वा

शून्यता की जो काष्ठा (limit of Evaniscence) है वह साम्य है। एवं ऐकान्तिक निर्दोष होने पर परमता की स्थिति वा परिनिष्ठित परमता होती है।

केवल अद्वैत मनन में त्वंपदार्थ तत्पदार्थ होकर क्यों, सब कुछ द्वैताद्वन्द्व को समता मे लाना हो तो दोनों को ही शुद्धि की समता में लाना पड़ता है। वैसा न कर सकें तो, दोनों का सापेक्ष (conditional) समीकरण (equation) हो सकता है; किन्तु निरपेक्ष निर्व्यूढ़ समता (identity) नहीं होगी।

एकतरफा एकदेशी शोधन में यथार्थ समता नहीं होगी। साधन एवं उसका लक्ष्य—Effert and End—इन दोनों की शोधन-सीमा प्राप्त करनी होगी। उपाय-उपेय—Means and End के सम्बन्ध में भी यही बात है। प्रकृति और माया, उसे भी सरासरी छोड़कर उपेक्षा करके कैवल्यादि नहीं होता। प्रकृति के अपनी शुद्धि की काष्ठा में न आने तक उसमें 'पर वैराग्य' ही नहीं होगा; सुतरां पुरुष की जो स्वरूप-शुद्धि है उसे वह नहीं होने देगी। इस कारण पुरुष को 'अचल गोली' बनाकर रखें, किन्तु प्रकृति की 'गोलियों' को लेकर परम कौशल से 'खेलकर' प्रकृति को भी अचल गोली बना लेना होगा; अर्थात् प्रकृति कहेगी—अब मैं किसी तरह भी खेल नहीं सकूँगी'। इसे 'निषेधी ध्रुव' वा 'वेतिध्रुव' कहना चाहें तो कह सकते हैं। ऐसे ध्रुव में आकर दो फिर दो रहता है या नहीं, यह प्रश्न अवश्य ही उपस्थित होता है। तब क्या परम ध्रुव इसमें भी नहीं मिलता है? मैं जीव हूँ, तुम भगवान् हो। मैं क्या हूँ वह तो नहीं जानता। और तुम? एक महा-अस्पष्ट आकार, महाभास, महैश्वर्य या और कुछ? मेरे बोध के एवं भाव के (feeling attitude) इन दोनों के ही परिचय में तुम्हें आना ही चाहिए, नहीं तो तुम्हारे साथ 'सम्बन्ध' स्थापित करूँ कैसे? इसीलिए यह शुद्ध सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भी उन्हें और मुझे शुद्धि-साम्य में आना होगा। जप जो अभ्यारोहविशेष, समावृत्तिरूप है, वह भी तो असल में इस शुद्धिसमता के स्थापन का यत्न है। शुद्धि की समता जिस भूमि में निरतिशय एवं एकान्त निर्दोष है, वह भूमि पूर्णता परमता की भूमि है।

मान लें, नाम और नामी हैं। अभेद सैकड़ों बार कहने पर भी तो अभेद बोध उस प्रकार होता नहीं है। निरपराध होकर नाम का व्याहरण, कीर्तन, अनुस्मरण, अनुध्यान करते-करते उसे 'परा' पर्यन्त ले जायँ। साथ में नाम की 'बाह्य' इत्यादि विकल्पना शोधन करके नामी को बिलकुल नाम के 'मरम' में 'पैठने' दो। नाम जब तक कहे—'तावकीनः'—'मैं तुम्हारा हूँ', तब भी नामी समीप में तो अवश्य है किन्तु फिर भी मानो थोड़ी-सी दूरी पर है। भेदाभेद। किन्तु ज्यों ही नाम ने कहा—'मामकीनः' 'तुम मेरे ही हो'—त्यों ही नाम में नामी में अभेद हो गया। कुरुसभा में द्रौपदी के वस्त्रहरण का प्रसंग है। द्रौपदी एक हाथ में नीवी पकड़कर अन्य हाथ

उठाकर 'वैकुण्ठनाथ द्वारकानाथ–मैं तो तुम्हारी दासी हूँ !' कहकर पुकार रही हैं, किन्तु नाम-नामी की 'दूरी' तो नहीं गई हैं; किन्तु ज्यों ही पुकारा—'मेरे सखा, मेरे प्राणनाथ !' त्यों ही क्या हुआ ? कहो तो ! साधन-भजन में उपाय-उपेय-उपेत, इन तीनों को शुद्धि-साम्य में लाने का यत्न करना होता है। जान लें कि––अपने यत्न में कार्पण्य न करके कृपा की पावनी धारा में अपने को पातित कर सकने पर ही यह शुद्धिसमता सुष्ठु सम्पन्न होती है। क्योंकि, व्यवधान की विपुलता, गभीरता, जटिलता इत्यादि का निमेष में निराकरण करने में समर्था कृपा है––'पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्' इत्यादि। 'मनुआ रे दाँड़ खेता चल'––यदि उस परमानन्द की करुणा धारा में अपनी भजन-डोंगी को डालना चाहे तो।

किन्तु वैसा होने पर भी शुद्धिसमता के साधन में एक अभ्यारोही क्रम का अवश्य ही आश्रय लेना होता है। इसीलिए बाद का सूत्र है—

११. द्वैधेन धारावाहिता त्वन्यथा।

किन्तु अन्यथा स्थल में (तु अन्यथा) द्विधारूप में धारावाहिता लक्षित होती है।

शुक्ला च भामती धारा कृष्णाऽपरा च तामसी।
शुद्धे शुद्धेऽन्तरीक्षे ते शुद्धा द्विधैतयोर्गतिः॥ ५३॥

अन्वय– शुक्ला च भामती धारा, अपरा कृष्णा च तामसी। शुद्धे अन्तरीक्षे ते शुद्धे, एतयोः द्विधा गतिः शुद्धा॥ ५३॥

[शुक्ला धारा भामती (ज्योतिष्मती) है, और दूसरी कृष्णा (धारा) तामसी (अन्धकारमयी) है। शुद्ध अन्तरिक्ष में ये दोनों शुद्धा हैं। इनकी द्विधा गति शुद्धा है॥ ५३॥]

भाष्य—धारा वा धारावाहिता जो आदि शुद्धरूप है, उसे पहले कहते हैं। एक शुक्ला भामती (ज्योतिष्मती) धारा है, दूसरी कृष्णा तामसी धारा है। इन दोनों का मध्यस्थ द्वन्द्वभाव यदि शुद्ध अन्तरिक्ष सहकृत हो तो ये दोनों ही (शुक्ला और कृष्णा) शुद्धा हैं। और इनकी (एतयोः) जो द्विधा गति ('शुक्लकृष्णे गती ह्येते') है, वह गति भी शुद्धा है। अन्तरिक्ष शुद्ध होना अर्थात् (अन्तरिक्ष सूत्र में) अनन्त, उदासीन (निरपेक्ष) एवं शून्य (निर्बीज) होना। अन्तरिक्ष के इस अनन्तत्वादि 'मान' की भूमि में आकर परम की भूमि में 'मान' जाता है, इसीलिए वहाँ 'अनन्त' इत्यादि अन्य प्रकार से हैं। मान के बीच आकर भी अनन्तवत् इत्यादि रूप में यह व्यवहार में लगा है। अब, शुक्ला एवं कृष्णा को शुद्धा रहना हो तो उनका 'व्यवधान' और नहीं है (अन्तवत्) ऐसा होने पर नहीं चलता। व्यवधान यदि एक 'रेखामान' भी हो तो, उसे अवश्य निरपेक्ष और निर्बीज होना चाहिए।

अर्थात्, रेखा यदि कहे—'मैं शुक्ला की ओर थोड़ा-सा जाऊँगी, या कृष्णा की ओर' तो भी नहीं चलता, फिर, अपने गर्भ से कुछ प्रसव करके इसके भाग में उसके भाग में डालने से भी नहीं चलता। शुद्ध भाव से 'शुक्ल' को 'अहः' एवं 'कृष्णा' को 'क्षपा' के रूप में प्रसन्न करें। पहले आविः सूत्र में एवं रात्रि सूत्र में शुक्ला और कृष्णा ये दो शब्द व्यवहृत हुए हैं। उस-उस स्थल में शुद्ध रूप में ही। अमेय भगवत्ता ने 'मान' में अवतरण करते हुए शुक्ला एवं कृष्णा यह मौलिक शुद्धा वृत्ति एवं शुद्धा में धारारूपता धारण की है। सुतरां इन दोनों रूपों में ही यह भजनीय तत्त्व है। तामसी शुद्धा का अर्थ आसुरी नहीं है। 'Black', 'Dark' ये सब कहने पर Devil की गन्ध मिलती है, वह इसमें जरा भी नहीं है।

शुद्धा शुक्ला अथवा शुद्धा कृष्णा—इन दोनों में से कोई भी 'असुरविद्धा' 'पाप्मा-विद्धा' पदार्थ नहीं है। इन दोनों को शुद्धि की पराकाष्ठा में लेने पर शुक्ला = उमा, हैमवती, गौरी, कृष्णा = श्यामा मा। फिर गौर = कृष्ण, कृष्ण = गौर। गोरी = श्यामा, श्यामा = गौरी। शुक्ल अर्थात् प्रकाश (अ-ढँका), कृष्ण अर्थात् गोपन (ढँका), व्यक्त और अव्यक्त – इस प्रकार लेकर इन दोनों अभेद-समीकरणों को सोचकर देखें। श्यामा रूप में सब कुछ को ही वे मानो ढँक रही हैं; गौरी, त्रिपुरादि रूप में सब कुछ ऐश्वर्य माधुर्य को प्रकाशित कर रही हैं। गौड़ीय वैष्णव सिद्धान्त में राधाभाव का जो अपूर्व चमत्कारित्व है वह कृष्ण में मानो 'गोपन' है। उसी गोपन के साक्षात् आस्वादन के निमित्त कृष्ण हुए गौर। अन्तरिक्ष वा व्यवधान को पूर्वोक्त प्रकार से अनन्तवत् इस अर्थ में न लेकर यदि अनन्त, असीम इस अर्थ में लें, उस क्षेत्र में, शुक्ला को यदि समझें + x, और कृष्णा को -x तब इस दो प्रकार के आनन्त्य में दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। उदासीन = द्वन्द्वातीत समझने पर भी वही है। एवं शून्य समझने पर भी वही है। वर्तमान में, व्यवहार में आकर भी वृत्ति एवं धारा रूप में इन दोनों पदार्थों का (real concept) जो शुद्धिभाव है, उसको बात ही लक्षण में एवं कारिका में कही जा रही है। यहाँ पदार्थद्वय न मिलकर द्वन्द्वस्थित ही रहे हैं (as polarised) एवं न मिलकर समानान्तर दो धारा का रूप ग्रहण किया है (parallelism) दोनों पैरेलॉल व्यवहारों में युक्त एवं समानान्तर हैं, किन्तु परा काष्ठा में (अनन्त में) मिलित, अभिन्न हैं।

साधना में इन दोनों का यह शुद्ध मुक्त समानान्तर भाव प्राप्त करना होता है। इसलिए शुद्धा शुक्ला एवं शुक्ला कृष्णा भजनीय तत्त्व हैं। दोनों को साधकर कहना पड़ता है, 'तुम दोनों वृत्ति एवं धारा इन दोनों रूप में मेरे जीवन में, मेरे साधन में शुद्ध होकर आओ।' जैसे, सुषुप्ति यदि कृष्णा का शुद्ध रूप हो तो कहना होगा—'ब्रह्म-स्वरूप में अभिसम्पन्न भाव से ही आओ, भङ्गा होकर, विद्धा संकीर्णा होकर मत

आना।' भाव को भी वैसा ही कहना होता है। दिन के आलोक को जैसे कहना होता है,—'तुम सबका प्रकाश करो, कुछ भी ढँककर मत रखो', वैसे ही रात्रि के अन्धकार को कहना होता है,—'तुम्हारे अतल काले स्नेह के तले डूबकर मुझे स्निग्ध बनने दो, बाहर से तुम्हें नहीं देखा जा सकता' इत्यादि। एक ओर परिपूर्ण प्रकाश प्रवणता—अब अकुण्ठ-अकृपण हो। अन्य ओर परिपूर्ण मौनविश्रान्ति एवं भावगभीरता तन्मयता--यह भी निश्चिन्त-निबिड हो। वहाँ पर कुण्ठा, यहाँ पर चिन्ता आने पर कोई सा भी शुद्ध नहीं होगा, चरितार्थ भी नहीं होगा। मोटा-मोटी एक को प्रकाश की धारा, दूसरे को भाव की धारा कह सकते हैं। भाव का अपना स्वभाव ही हुआ—'चुप'। वह कुछ नहीं कह सकता, नहीं कहता। उसे कुछ सोचने या बोलने के लिए बाध्य करें तो मुरझा जाता है या कपूर की तरह उड़ जाता है। इसी-लिए तो ज्ञानमिश्रा भक्ति उत्तम नहीं है। पक्षान्तर में, प्रकाश के समय वस्तु को जितना 'खोलकर फैलाकर' देख पाओ उतना ही अच्छा है। एक फूल है। कवि की भावयुक्त दृष्टि में वह एक प्रकार है। विज्ञान के अनुवीक्षण और विश्लेषण की दृष्टि में अन्य प्रकार है। दोनों को ही शुद्ध करके पाना ही अच्छा है।

जप चल रहा है। जपाक्षर के सुष्ठु व्याहरणादि को पूरे और शुद्ध भाव से ही चलने दो। यह प्रकाश की धारा शुक्ला है। इसमें अप्रकाश वा अस्फुटरूपता को न मिलने देना ही अच्छा है। तत्पश्चात्, अर्धमात्रा में जपाक्षर ने जब स्फुटरूपता को छोड़कर लीनरूपता पाई तब उसीमें निश्चिन्त स्थित और चालित रहो। इस बीच 'झकोरा देकर' जपाक्षर को एवं उसके स्फुटरूप को स्फुटित करने का यत्न मत करना। दोनों को शुद्ध रख सकने में ही श्रेयः एवं चरितार्थता है। जप अन्त में जब व्युत्थान व्यवहार में होता है तब (सम्भव होने पर) जपधारा को अविच्छेद रूप से फल्गु धारा में बहाना होगा। गोपन में, भाव की और रस की भूमि में जप चल रहा है, भङ्ग नहीं हुआ है। वरन् और भी गाढ़, और भी सरस हो गया है। बाहर पढ़ना-सुनना वा अन्य व्यवहार खूब सजग व निपुण भाव से ही करते जा रहे हैं। यहाँ बाहर निविष्टता रूप में शुक्ला हैं, भीतर आविष्टता रूप में कृष्णा है। आरम्भ में यह शुद्धिरूप सहज में अधिकार में नहीं आता। दोनों को प्रसन्ना करना होगा। दृष्टान्त अनेक क्षेत्रों में ही मिल जायेंगे।

किन्तु, यह शुद्धि तो साधन की निधि है। पहले जो द्विदल का प्रसंग आया है, उसीमें ये दो शुद्ध उपाय (अर्थात् शुद्ध प्रकाश और शुद्ध भाव) दिए गए हैं। जो कुछ मिश्र-विमिश्र है उसे अमिश्र-अविमिश्र बनाने का परम कौशल इस द्विदल में है। वह परम कौशल कुशली होता है अपनी कृपा से और कुशल होता है तुम्हारी प्रपत्ति से।

अब, शुद्ध से मिश्र, जिह्म, संकर में पड़ गवा। क्यों ? उत्तर कौन देगा ? 'कुत इयं विसृष्टिः ?' किन्तु पतन तो जैसे भी हो, हो गया है।

१२. सान्तादित्वे मिश्रतापत्तिः ।

अन्तरिक्ष वा व्यवधान यदि सान्त (अन्तवत्—और नहीं) प्रभृति होता है तब मिश्रता आती है । सान्त आदि कहने से सान्त, सापेक्ष, सगर्भ वा गर्भित समझना होगा ।

सान्तादित्वेऽन्तरीक्षस्य पारस्परिकताश्रयात् ।
उभयव्याप्तिविद्धत्वाद् भवेद् भवादिसङ्करः ॥ ५४ ॥

अन्वय—अन्तरीक्षस्य सान्तादित्वे पारस्परिकताश्रयात्, उभयव्याप्ति-विद्धत्वाद् भवादिसङ्करः भवेत् ॥ ५४ ॥

[अन्तरिक्ष सान्त आदि (सापेक्ष, सगर्भ) होने पर पारस्परिकता का आश्रय होने से, उभयव्याप्तिविद्धता होने के कारण भव आदि का सङ्कर होता है ॥ ५४ ॥]

भाष्य—साधारण विश्व-व्यवहार में और भावप्रत्यय में क्या भाव दिखाई देता है ? दोनों का मिश्रभाव वा सङ्कर होता है । शुद्ध आकार में कोई सा भी नहीं मिलता है । व्यवधान (Interval Principle) सान्त, सापेक्ष और सगर्भ होकर दोनों को मिलाकर विश्व में एवं उसके प्रत्यय में बहा देता है । परम में प्रकाश एवं 'स्वप्रकाश' (अव्यक्त) दोनों ही अभेद में रहते हैं । परम प्रकाश वा स्वप्रकाश में 'अप्रकाश' फिर क्या है ? वह अप्रकाश अनिरुद्धअलक्षणादिरूप अवाङ्मनसगोचरता है । वहाँ सोच-समझकर कहने के लिए कोई भूमि नहीं है । उस प्रकार वह परम शुक्ला अथ च परम कृष्णा है । 'उतरकर' भी जब तक शुद्ध भाव से स्थिता एवं व्याहिता है, तब तक शुक्ला कृष्णा पूर्वोक्त भाव से भजनीया एवं समाश्रयणीया हैं । 'बोध' को उसके 'शोध' में रखो, भाव को भी उसके अपने-आपमें रखो । यदि न रहे तो वैसा ही बना लो । ज्ञान का आलोक जितना ही 'सादा' (uncoloured, impartial) होता है, उतनी ही ज्ञान की यथार्थता होती है । भाव की भङ्गी जितनी ही सान्द्रमौन आविष्टता में अपने को मिलाकर रखेगी, उतनी ही उसकी भी स्वाभाविकता होगी । इस निमित्त साधना में शुक्ला एवं कृष्णा इन दोनों शुक्ला धाराओं में से जब जो मिल जाय, तब उसीका शुद्ध भाव से भजन करने को कहते हैं निष्ठा ।

प्रणवादि नाम-जप चल रहा है । उस जप के ध्वनिरूप में जो प्रकाशरूपता (परिस्फुटता) है, वह तत्काल में शुक्ला है । उस शुक्ला का ही शुद्धा रूप से भजन करें । भावरस, ज्योतिः इत्यादि जो कुछ यहाँ अव्यक्त है, उसके लिए विक्षिप्त, विचलित मत होना । खींच-तानकर उसे इसके भीतर घुसाने के लिए व्यस्त मत होना । वह सब कुछ पर्दे के उस ओर ठीक प्रस्तुत ही है । तुम्हारा इधर का 'पार्ट' शेष होने, खूब भलीभाँति ही शेष होने की अपेक्षा में वह सब कुछ है । फूल-फल जैसे अपनी कली की अपेक्षा में रहते हैं । कली के नष्ट होने पर तो सब कुछ ही

नष्ट हो गया। निष्कर्ष यह कि प्रकाश्य एवं नेपथ्य इन दोनों को ही अपनी बारी ठीक से निभाने दो, प्रकाश्य के बीच में नेपथ्य का पर्दा उठाने से तो बारी टूट जाती है। उसके चक्र के समाचरण में जब बिन्दु लीन भाव से 'शयन हुआ' तब शयन ही करो, कहाँ गया 'अउम्', ऐसा कहकर व्यस्त मत होना। इस प्रकार शुद्धा का शुद्ध भाव से भजन करें। कितने ही सुयोग एवं क्षेत्र पड़े हुए हैं और आ रहे हैं! शुद्धि की समता एवं परमता के साधन के लिए निष्ठा आवश्यक है।

किन्तु व्यतिक्रम व्यभिचार तो दिखाई दे रहा है। ज्ञान में भी भाव आकर दृष्टि को सजल कर देता है; स्वच्छ उन्मुक्त भूमि से शायद थोड़ा च्युत भी कर देता है। उससे प्रकाश का आवरण होता है। अच्छे भाव की ही बात कह रहा हूँ। किन्तु राग-द्वेष-विप्रलिप्सादि भी तो हैं। उन सबकी बात बाद में होगी। भाव के बीच भी उसे 'उलट-पलट' कर देखना, 'जाहिर' करना—इत्यादि भी हैं—जिससे उस भाव की शुद्धता एवं आविष्टता दोनों ही टूट जाती हैं। इस प्रकार, यदि पूर्व-व्याख्यात शुक्ला एवं कृष्णा दोनों की व्याप्ति दोनों द्वारा विद्ध होती है, अर्थात् दोनों वृत्तों की भाँति यदि वे दोनों काटाकाटी करती हैं, अथवा दोनों ऊर्मिश्रेणियों (wave system) की भाँति परस्पर आघात (interfere) करती हैं, तब उसके फलस्वरूप जात होती है मिश्रता वा सङ्कर। परस्पर को वेध वा आघात करने के पहले (as pre-condition) क्या होना चाहिए? जो दो थे स्वतःशुद्ध, वे किसी प्रकार एक पारस्परिकता धर्म (correlationality) का आश्रय ले बैठे। इस पारस्परिकता (हम परस्पर कुछ तोड़ेंगे, गढ़ेंगे—यह भाव) के कारण ही उनकी स्वतःशुद्धि की जो व्याप्ति है वह विद्ध होती है। इस पारस्परिकता सम्बन्ध का घटक कौन है? वही अन्तरिक्ष? अन्तवत् अन्तरिक्ष सापेक्षताधर्मी भी हुआ। अर्थात्, वह कभी शुक्ला को लेकर कृष्णा में मिलाएगा और कभी कृष्णा को लेकर शुक्ला में। सफेद और काला—दोनों के इस प्रकार व्याप्तिवेध के कारण ही न इतना वर्ण-वैचित्र्य है! विश्व में अशेष मिश्रता की उत्पत्ति है। इस मिश्रता से सङ्कर (अन्तर्बहिः विश्व में) भावसङ्करादि अनेक प्रकार के हैं। इन सबको क्रमशः देखेंगे।

अच्छा, अन्तरिक्ष के इस प्रकार के घटकत्व का फिर घटक कौन है? यह अतिदुरवगाह समस्या है। मूल में एक वा दो जो कुछ भी रहे, उससे विश्व में यह अशेष मिश्रण कैसे हुआ? विज्ञान के पूछने पर इसका उत्तर नहीं मिलता--शेष प्रश्न के शेष उत्तर के सम्बन्ध में प्रज्ञान के पूछने पर, वे सिर झुको लेते हैं और नासदीयादि सूक्त सुनाते हैं। इसीलिए, मिश्रण को मान लेने के सिवा क्या गति है? किन्तु साधन की ओर से भरोसे की बात यही है कि मिश्रण का अर्थ ही संकर नहीं है, जो सङ्करो नरकायैव। मिश्रण में अनुरूपता-विरूपतादि होते हैं। इसीलिए, मिश्रतापत्ति

से शुद्धिसमापत्ति तक पहुँचने के लिए एक अभ्यारोही पन्था भी है। अर्थात् मिश्र के भीतर भी मिश्रभाव हैं! श्रेयः एवं हेय हैं। आरि और मित्र हैं। जैसे नाम-जप के साथ पूजा, स्तव, पाठ, कीर्तन, साधुसंग आदि मित्र हैं। किन्तु व्याज-विघ्नजनक सङ्कर मिश्रण सर्वथा परित्याज्य है। बाद के सूत्र में यही लक्षित करते हैं।

१३. तथा च वक्रता जिह्मतापत्तिः।

पूर्वोक्त मिश्रतापत्ति होने पर वक्रतापूर्वा जिह्मता सम्भव होती है।

शुद्ध में साधननिष्ठा उत्तम अधिकार में होती है एवं वह विरल है। शुद्ध को, ध्रुव भाव से ही हो, और धारावाहिक भाव से ही हो, निष्ठा के साथ विशुद्ध बनाकर आश्रय लेना सहज नहीं है। शुद्ध ज्ञान, शुद्धा भक्ति, शुद्ध कर्म (निष्काम, अनासक्त, अथ च दक्षभाव से) ये तीनों ही सर्वत्र पहुंच के बहुत बाहर हैं। अथ च साधन मात्र ही शुद्धि और निष्ठा का (एकतत्त्वाभ्यास) साधन है। शुद्धि बाद में लक्षित होगी। वहाँ जो तत्त्वतः अवस्थिति का प्रसङ्ग है, वह तो एक ही बार, साथ-साथ नहीं हो जाती, क्रमान्वय से, धारावाहिकता से सिद्ध होती है (कार्यतः)। और, इस क्रमानुसारिता में मिश्रण को, साहित्य को भी मान लेना पड़ता है। इसलिए सहित जप, वैधी भक्ति, कर्मादि द्वारा चित्त-शुद्धि करते हुए ज्ञान—इत्यादि साधारण मार्ग चले आ रहे हैं। किन्तु शुद्धि की समता एवं परमता ही जब लक्ष्य है तब यह अवश्य ही देखना होगा कि—मिश्रण में 'साहित्य' ही हो, राहित्य-पातित्यादि नहीं हों। वैरूप्य (व्याज) एवं वैगुण्य (विघ्न) जिससे हों, ऐसे कुछ का मिश्रण, अथवा इस प्रकार, इस अनुपात में मिश्रण से बचना ही पड़ता है। रसायन में जैसे करना होता है। संगीतादि साधन में जैसे करना होता है। मूल स्पन्द के साथ सारूप्य को यदि कहें शुद्धि, तो जिसके साथ वैरूप्यादि जनक कुछ भी मिलाने से नहीं चलता। ऐसे अपमिश्रण को व्यामिश्रादि (incompatibility, incongruity) कहना होगा।

इस व्यामिश्रादि परिहार के निमित्त वर्तमान सूत्र है। पहले ही मिश्रतापत्ति तो हुई। किन्तु वह आपत्ति अनिष्टापत्ति ही होगी, ऐसा नहीं है। इस सर्जन को सरासरी वर्जन कौन कर सका है? और, इसमें क्या अपरूप विचित्रता है। वर्ण कहो, सुर कहो, छन्द कहो, भाव कहो, व्यञ्जना कहो—सब कुछ के मूल में ही यह मिश्रतापत्ति जो है। सुतरां इस आपत्ति में 'आपत्ति' नहीं है। किन्तु—यदि उसके साथ, उस प्रकार होकर फिर (तथा च), वक्रतापूर्ण जिह्मतापत्ति घटित हो तब तो सचमुच ही, 'आपत्ति' की बात दिखाई देती है। वक्रतापूर्ण क्यों? वक्रता (curving, curvature), मिश्रण की भाँति सर्जन के मूल की बात है। वरन् और भी मूल की बात है। इसका भी वर्जन

सम्भव है, पर वह इन सबके रहते नहीं होता। पहले रात्रिसूत्र में इसीलिए वक्रतान्वय की बात कही गयी हैं। जो व्यक्तरूप में आविः (manifest, Kinetic) है उसके अव्यक्त (unmanifest, potential) भाव को पाता हो, तो आविः की ऋजुरेखा को वक्र (curve, fold, envelop) आकृति में आना पड़ता है। नहीं तो, किसीको भी गाढ़, गूढ़, गम्भीर भाव नहीं मिलेगा। सत्ता, शक्ति, आकृति एवं छन्दः—ये चारों ही वङ्किम के भजन में नियुक्त हैं। एक क्षुद्र रेणु से विराट् विश्व, एक सामान्य मात्रा-स्पर्श से गम्भीरतम भाव—कहीं भी इस वङ्किम भङ्गिमा में भङ्ग वा रद्द नहीं मिलेगा। रस की ओर से 'वङ्किम' रसनिगूढ़ता का प्राण है, रसास्वाद का सर्वस्व है। किन्तु ऐसी मिश्रता एवं वङ्किमता के साथ यदि जिह्मता जुट जाय तब क्या होता है? वैसा होने पर, सुषम मिश्रण के स्थान पर व्यामिश्रादि विषम (विगुण) मिश्रण होते हैं, और वङ्किम सुन्दर विरूपवक्र हो जाता है। जैसे, सङ्गीत में स्वरभ्रंश तालभङ्ग आदि होने पर, होता है। जैसे फिर, मान लें कोई ज्योतिष्क अपने निर्दिष्ट कक्ष में सुषम छन्द में चक्कर काट रहा है। किन्तु उसके कक्ष में यदि यह जिह्मता (विषम विरुद्ध वक्रता) दिखाई दे तो उसका छन्दोगत्व टूट जाता है। फलतः आपद् है। स्थूलतः ये सब रेखाविज्ञान और गतिविज्ञान के प्रश्न हैं, भूतविद्या है। सूक्ष्म में स्पन्दविज्ञान एवं प्राणविद्या है। कारण में महाविद्या हैं। मूल में, महामाया हैं। कोई रेखा सुषम वक्रता वा वङ्किमतारूप प्राप्त करेगी या विषम वक्रता वा जिह्मतारूप, यह निर्भर करता है वक्रता सम्पादक सहग (components वा co-fectors) तत्त्वों के अनुपातित्व पर। अनुपात के सुषम की ओर वा अनुकूल न होने पर यह जिह्मताजनित कुटिल जटिल इत्यादि रूप होते हैं। जो समस्त प्रतिकूल सहग त्रुटि को बनाता है उसे कहते हैं आसुर, पाप्मा, एनस्, मन्यु इत्यादि। इनके भेद हैं। अर्थात् वैजात्य में भी 'जाति' है।

अच्छा, वैजात्य का (जिह्म का) घटक वही अन्तरिक्ष है तो? मान लें, दो ज्योतिष्क हैं—सूर्य और एक तारा। 'स्वाधिकार' में वे ठीक हैं एवं चल रहे हैं, किन्तु बीच का व्यवधान यदि विशेष रूप से बदल जाय तो दोनों में ही विप्लव हो जाता है। इस प्रकार के विप्लव के फलस्वरूप ही पृथिव्यादि ग्रह भूमिष्ठ हुए हैं, ऐसा वैज्ञानिक समझते हैं। इस क्षेत्र में, अन्तरिक्ष स्रष्टा है, संहर्ता नहीं। किन्तु संहर्ता भी होने में कितनी देर लगती है! इस दृष्टान्त में भी अन्तरिक्ष के 'बदलने' का व्यापार गहराई से सोचकर देखना होगा। अर्थात्, ज्योतिष्क द्वय के पास-पास होने के कारण, मध्य का अन्तरिक्ष नूतन आकृति में 'गर्भित' (intrinsically predisposed) हुआ है या नहीं। इस प्रकार की स्वगत प्रवणता द्वारा 'प्रचोदित' होकर अन्तरिक्ष द्वन्द्वस्थित किन्हीं दो के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है या नहीं, यह प्रणिधान का विषय है। विश्व-व्यवहार में सर्वत्र अन्तरिक्ष सगर्भ वा गर्भित है (शून्य नहीं)। एक बीज भाव,

सम्भाव्य-सम्भावना शक्ति अपने में धारण करके रहना ही उसका गर्भितत्व है। एक incalculable potential charge है। बीजप्रद पिता ने अन्तरिक्ष को भी बीजाधानपूर्वक गर्भित किया है। इस गर्भितत्व के कारण उसकी (अन्तरिक्ष की) एक स्वगत-प्रवणता है, जो समष्टि वा विश्व के 'प्रारब्ध' की अपेक्षा से, किसी विशेष क्षेत्र में, 'सुर' पक्ष में अथवा 'असुर' पक्ष में, होती है। असुर पक्ष में होने पर (अन्तरिक्ष में सापेक्षता भी रहती है), पूर्वोक्त जिह्मता, पाप्मा, एनस्, मन्यु प्रभृति होते हैं। इसके लिए अन्तरिक्ष को 'जिम्मेदार' न ठहराकर भवप्रारब्ध को ठहराना होगा। वह बेचारा फिर किसकी ओर उँगली दिखायेगा? अन्तरिक्ष स्वयं देवता है, गायत्री मन्त्र में 'धीमहि' द्वारा इस देवता को प्रसन्ना बनना होता है। 'वरेण्य' भर्गः = द्यौः, 'धियो यो नः' = पृथिवी, और यह 'धीमहि' = अन्तरिक्ष। 'प्रचोदयात्' = प्रसादन।

अब दो कारिकाएँ—

देशकालात्मके युग्मे वस्तुनि चापि छन्दसि।
वक्रता व्याप्यताकृतेस्तज्जनिः सान्तव्यूढता॥
आनन्त्यमृजुवृत्तित्वं शान्तवृत्तिश्च शून्यता।
सङ्करे चासुरी वृत्तिर्वक्रतायां हि जिह्मता॥ ५५, ५६॥

अन्वय—देशकालात्मके युग्मे, वस्तुनि छन्दसि अपि च वक्रता व्याप्यताकृतेः तज्जनिः सान्तव्यूढता॥ ५५॥

ऋजुवृत्तित्वम् आनन्त्यम्, शान्तवृत्तिः च शून्यता। सङ्करे च आसुरी वृत्तिः, वक्रतायां हि जिह्मता॥ ५६॥]

[देशकालात्मक युग्म में वस्तु में और छन्द में वक्रता द्वारा व्याप्य आकृति से उत्पन्न है सान्तव्यूढता॥ ५५॥

ऋजुवृत्तिता अनन्तता है और शान्तवृत्ति शून्यता है। सङ्कर में आसुरी वृत्ति और वक्रता में कुटिलता हैं॥ ५६॥

भाष्य—देशकालरूप युग्म को (space-time) शक्तिसम्भाव्यतारूप जो वस्तु है, विद्यमानता-सम्भाव्यता-क्रियमाणता रूप में जो छन्द है—इन सभी की आकृति (pattern) पूर्वोक्त वक्रता द्वारा व्याप्य (covered) है; अर्थात् यह सभी वक्रतापन्न हुए हैं (विश्व-व्यवहार में)। इसलिए सब कुछ में ही सान्त एवं व्यूढभाव (measured and involved) दिखाई देता है। एकान्त ऋजु होने पर अनन्तता, एकान्त शान्त होने पर शून्यता (पूर्वोक्त निर्जीव भाव) होती है। और वक्रता होकर सान्त व्यूढ़ होने पर यदि फिर उनका पारस्परिक 'वेध' (mutual pene-

tration) हो, तब वह 'वेध' यदि पूर्वोक्त क्रम से आसुरविद्धता एवं तन्निमित्त आसुरी वृत्ति को जन्म दे तो उस प्रकार का मिश्रण 'संकर' हो एवं वह अवश्य ही जिह्मरूपता है। मिश्रणमात्र ही 'सङ्कर' नहीं है। 'वक्र' मात्र ही 'जिह्म' नहीं है। इन सबकी व्याख्या पहले मिली है, बाद में भी मिलेगी। अब बाद का सूत्र है—

१४. उभयथा सङ्करधारा सा च शुद्धिमुख्या धूम्रा मलमुख्या मलिना।

उभयप्रकार होने पर, अर्थात् मिश्रभावापत्ति के साथ यह वक्रतापूर्णा जिह्मतापत्ति होने पर संकरवृत्ति एवं संकरधारा होती है, और वह शुद्धिमुख्या (सुरभाव प्रबल, असुरभाव दुर्बल) होने पर होती है 'धूम्रा'; एवं मलमुख्या (विपरीत) होने पर होती है 'मलिना'।

देखा है कि, अन्तरिक्ष का जो सगर्भ (intrinsic potentiality) है वह जिह्मता को सम्पन्न करने में मुख्यतः घटकत्व करता है। इस निमित्त जातक की जन्म-कुण्डली (राशिनक्षत्रादि संस्था) उसके भाग्यनिरूपण में इतनी प्रधान है। किन्तु अन्तरिक्ष के दो रूप—सान्त एवं सापेक्ष—सहकारी, उपकारक भाव से साथ रहते हैं। सान्त—एक रेखा खींचकर मानो कहता है, निरूपण जैसे भी करना हो करो, किन्तु इस रेखा की ओर नज़र रखकर ही करो। निरूपण साधारणतः इस रेखा वा सीमा के बीच ही होता है। एक सान्त, परिमित, देशकालादि संस्था में निरूपण होता है। एक नापा-जोखा कागज़ दो, स्केल दो, तुम्हारा 'मैप' (नक्शा) आँक देता हूँ। और, सापेक्ष क्या कहता है ? जिसका मैप आँक रहे हो, जिसको आँक रहे हो, जिस स्केल इत्यादि से आँक रहे हो अर्थात् (ऊपर के दृष्टांत में, जातक एवं राशिचक्रादि) दोनों पक्षों की (निरूप्यनिरूपक) स्वतःसंस्था (basic make-up) की तुम्हें अपेक्षा रखकर ही आँकना होगा। फिर स्वतःसंस्था और स्वभावधर्म में ही जो निष्ठ (नितरां स्थित) है, उसकी अपेक्षा रहती ही है। नक्शा अवश्य ही कहेगा कि मुझमें सभी कुछ अङ्कित है। वह एक दृष्टि से ठीक है। वह हुआ नक्शे को 'खोलकर फैलाकर' देशकालादि के आधार पर विश्वान्वय में (cosmically) देखना। यह नक्शे का उद्भूत वा सद्भूत रूप है। इससे पहले ही पासा खेलने की बारी समाप्त हो गयी है। जो सम्भाव्य ('probable') मात्र है उसने अपने को संवरण कर लिया है। अणु के जगत् में भी यह देखते हैं।

प्रत्येक वस्तु की 'नाभि' में स्वयं महामाया ही 'बिन्दुवासिनी' हुई हैं। अर, नेमि यह सब विस्तार करते हुए अपने को माप में लाती हैं, नक्शे में डाल रही हैं। किन्तु पूरा नहीं, असली भी नहीं। यह भी हमने देखा है कि—बोध का जो 'भान' रूप है उसके सम्बन्ध में कोई भी 'आँकाआँकी' नहीं है। भान, भासादि-

रूपता में आने पर होता है। किन्तु इतनी गहराई तक अब उतरने की चेष्टा नहीं करेंगे। हाँ, यह बात यहाँ कहकर रखना अच्छा है कि—मेरे स्वभाव में, 'केन्द्र' में, 'नाभि' में ऐसा एक महारहस्य है, जो बाहर के सभी नक्शों को सतर्क करके कहता है, 'बस यहीं तक, और नहीं।' और कहता है—'मेरा जो 'स्वत्व' है वह न स्यात् करके, अर्थात् नहीं है ऐसा मानकर, तुम्हारा कुछ भी आँकना नहीं चल सकता। इस स्वत्व में भी आनन्द का जो लीलाकैवल्य है, सुतरां लीलासम्बन्ध स्थापित करने का स्वत्व है; वह रद्द नहीं हुआ है। साधन के जीवन में यह मूल भरोसा छोड़ देने से तो नहीं चलता।

इस निमित्त जो सङ्करभाव और सङ्करधारा का प्रसङ्ग आया, उसमें भी शुद्धि-मुख्या और मलमुख्या ये दोनों वृत्तियाँ हैं और उनकी यथाक्रम भजनीयता का प्रसंग भी आया। क्योंकि, साधारण जीव इस संकरधारा में ही पतित है। उसे किस स्रोत की ओर तिनके की तरह बहते ही जाना होगा? अवश्य, धारा में भी वे दो 'मुख' हैं, जो बारी-बारी से भी रहते हैं। शुद्धिमुखी का भजन करूँगा, करना चाहता हूँ, किन्तु कर पाता हूँ क्या? यहीं हमारा मूल स्वत्व है, मूल दलील की बात है। वह दलील अवश्य 'तमादी' होने का नहीं, किन्तु बाहर के नक्शों के ढेर में वह दबा हुआ है। 'पहले आत्मकृपा' ही उसका पता ढूँढ़ लेती है। तत्पश्चात् 'गुरुकृपा' से 'पक्का' होता है। शुद्धिमुख्या सङ्करधारा को कहते हैं 'धूम्रा'। 'धूम्रायै सततं नमः।' यह भजनीय तत्त्व है, सङ्कर में अवगाहन करके भी। इन्होंने ही सङ्कर को बनाया है 'शङ्कर'। धूम्रा धूमा भी बनती हैं—परमा व्याहृति के रूप में। मलमुख्या धारा मलिना है। इसे लाँघ जायँ।

अन्तरिक्ष की वह पारस्परिकता और उभयवेधविद्धता याद है? धूम्रा में बाद में यह विद्धतादि प्राय नहीं होती, किन्तु पारस्परिकता है। अर्थात् शुद्धा शुक्ला एवं कृष्णा में परस्पर छायापत्ति होने पर होती है धूम्रा। वेध की मुख्यता नहीं है। इसीलिए सहज ही, दोनों को फिर शुद्ध भाव से ही, पाया जा सकता है। मलिना में वेध मुख्य है। जैसे—mechanical mixture (लकड़ी के आरे का बुरादा, लोहे का बुरादा) और chemical compound।

कारिका—

शुद्धा शुक्ला च कृष्णा चैकस्यामितरेतराश्रया।
जहत्यजहतीत्येवं सङ्कीर्णा स्याच्च जिह्मगा॥ ५७॥

अन्वय—शुद्धा शुक्ला कृष्णा च एकस्याम् इतरेतराश्रया जहती-अजहती इति एवं सङ्कीर्णा जिह्मगा च स्यात्॥ ५७॥

[शुद्धा, शुक्ला और कृष्णा एक (धूम्रा) में इतरेतराश्रया हैं। जहती + अजहती इस रूप में वह सङ्कीर्णा और जिह्मगा होती है ॥ ५७ ॥]

भाष्य—एक में (धूम्रा में) शुद्धा शुक्ला एवं शुद्धा कृष्णा इतरेतराश्रया मात्र हैं। इसे पहले वेधस्पर्शरूपा छायापत्ति कहा है। यह सङ्कर के बीच भी शुद्धिमुख्या होती है; यह भी सन्ध्या देवता का रूप है। उपासीत। दूसरी ने वेधमुख्यता के कारण शुक्ला कृष्णा में अपने-अपने शुद्ध रूप को 'जहत् अजहत्' (तिरोहित अथच नहीं भी) आकार में लिया है एवं 'संकीर्णा' बनाया है। सङ्कर में इस प्रकार वेधवृत्ति की मुख्यता होने पर 'सङ्कीर्ण' रूपता होती है। तब उसे जिह्मगा समझें। इस कारण, जीवन में और साधन में असुर पाप्मा आदि के द्वारा 'वेध' विशेष भाव से सतर्क होने का स्थल है। रोगादि के समय जैसे होता है। सन्ध्यावन्दनादि में यत्नपूर्वक आश्रय करना होता है। गायत्री में भी 'धीमहि' पद के 'ध' और 'म' इन दो वर्णों का ध्यान करें। अब की बार शुद्धि-सूत्र है।

१५. तत्त्वतोऽवस्थितिः शुद्धिः।

तत्त्वतः अवस्थिति को शुद्धि कहते हैं।

शुद्धि की बात पहले बार-बार नाना प्रसंग में नाना आकार में आ चुकी है। यहाँ शुद्धि का स्वरूप लक्षण मात्र दिया गया है। द्वितीय खण्ड में शेष भाग में 'तत्त्व' सूचित हुआ है! इसी प्रकार तत्त्वभाव से ही अवस्थान को यहाँ शुद्धि कहा हैं। जब किसीमें से बाद देने का भी कुछ नहीं है, अन्य से योग करने का भी कुछ नहीं है, तब उसी तत्त्वरूप में परिनिष्ठित होने, अथवा अच्युत प्रतिष्ठ होने को, पूर्ण शुद्धि कहते हैं। यही नीचे की इस कारिका का भाव है—

न किञ्चिद्धेयमत्रास्ति न वोपादेयमन्यतः।
शुद्धिः पूर्णा हि विज्ञेया तत्त्वेऽचलप्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

अन्वय—अत्र न किञ्चिद् हेयम् अस्ति, न वा अन्यतः उपादेयम्। तत्त्वे अचलप्रतिष्ठिता शुद्धिः हि पूर्णा विज्ञेया ॥ ५८ ॥

[यहाँ कुछ भी हेय नहीं है, और न अन्य कहीं से उपादेय है। तत्त्व में अचल-प्रतिष्ठिता शुद्धि ही पूर्ण है—ऐसा जाना जाय ॥ ५८ ॥]

भाष्य—यह चरमा और परमा शुद्धि है। जब तक द्वन्द्वस्थता है, तब तक शुद्धि समता का साधन है। द्वन्द्व के बाद परमा वा तत्त्वपरिनिष्ठिता शुद्धि होती है। Elimination and Addition दोनों ही उस स्थल में अनवकाश हैं। किन्तु शुद्धि समता के निमित्त भी जो साधन है, उसमें क्रम वा धारारूप अवश्य ही है। जपादि साधन में जो अभ्यारोह वा 'समावृत्ति' है वह तो इस श्रेयः क्रम वा धारा के ही आश्रित है।

श्रेयः क्रम क्रमशः प्रेयः क्रम भी हो जाता है। शुद्धि समता में पहुँचने पर जो श्रेष्ठ है, वही प्रेष्ठ होता है। रसभूमि में उस धारा में क्रमशः राधाभाव-सुवलिता काया की छाया का स्पर्श लगता रहता है।

क्रम में आकर शुद्धि होती है अनुशुद्धि, प्रतिशुद्धि, विशुद्धि, परिशुद्धि, संशुद्धि, समशुद्धि एवं स्वतःशुद्धि। संगीतादि साधन में इन स्तरों को मिला लें। उस्ताद का अनुकरण अनुशुद्धि है। अपने सुरछन्द की जो मान संस्कार भूमि है उसकी अथवा अनुरणनादि की 'पोषक' प्रतिक्रिया द्वारा शुद्धि—प्रतिशुद्धि है। विश्लेषणपूर्वक विशेष-विशेष स्वरादि की व्यष्टिशुद्धि है, वह है विशुद्धि। समग्र समष्टिभाव से शुद्धि होती है परिशुद्धि। राग वा छन्द के निगूढ़ भाव अथवा व्यञ्जना की शुद्धि है संशुद्धि। विशेष गुणी साधक के सिवाय शुद्धि की इस भूमि में आरूढ़ प्रायः कोई नहीं होता। सुर और छन्द का जो वैराज रूप (नाद इत्यादि) है उसमें समन्वय घटा सकने पर होती है समशुद्धि। और अन्त में परमाव्यक्त रसमाधुर्य में एकान्त आविष्टता में होती है स्वतःशुद्धि। जिस प्रकार किंवदन्ती के अनुसार तानसेन के गुरु हरिदास स्वामी इन शेष दो भूमियों में भी आरूढ़ थे। जपादि साधन में भी इन भूमियों को प्राप्त करने का यत्न करें। 'गुरु के साथ ध्वनि पुकारो' इसीमें शुद्धि का असली अनुक्रम है। पूर्ण पाद में, परिणयि प्रभृति जो पाँच छन्दों का साधन साधक स्तर कहा गया है, उन पाँचों का भी स्मरण करें। इस पाद के भी आरम्भ में 'भूतशुद्धि' प्रकरण भी अनुधावनीय है। शुद्धि तत्व के विशेष-विशेष स्थल में प्रयोग वर्तमान स्थल में विवेचित नहीं हुआ है। हाँ, मूल में जब प्राण एवं स्पन्द का व्यापार है, तब शुद्धि साधन में अध्वगत्व के निमित्त मननध्यानादि का समाश्रय करना ही होगा। अशुद्धि की भी एक अधोगा धारा है। जैसे, किसी पातक के गुरुत्व एवं पौनः पुनिकत्व के कारण 'पातित्य'। यहाँ भी संख्या है। मान लें, मनुष्य का क्रोमोसोम नम्बर यदि ४८ हो, तो कोई भी गुरु-पातक ४८ बार एकादिक्रम से होने पर, पातित्य बना सकता है। प्रायश्चित्त तत्त्व के मूल में प्राण और स्पन्दविज्ञान इसीलिए प्रासङ्गिक हैं। श्री भगवान् का वा माँ का नाम महाशोधन है। उस नाम का निष्ठा के साथ जप, कीर्तन करने से संख्या शङ्काद्रि पाटन तक हो जाता है। सुतरां पातक ने अपनी संख्यादि का जो भय दिखाया वह संख्या शङ्का ही तो उन्मूलित हो गई!

बाद के सूत्र में शुद्धि वा पावनी धारा विशेष भाव से सूचित है—

१६. धूम्रमलिनयोर्मन्थनशुद्धिकृच्छङ्करधारा।

पूर्वोक्त छायापत्तिरूपा (अवेधमिश्रा) धूम्रा एवं वेधसङ्करा मलिना इन दोनों का मन्थन करके शुद्धि का सम्पादन करती है शङ्करधारा।

अवेधमिश्रा शुद्धिमुख्या धूम्रा स्वयं ही यह छायापत्तिरूप धूम्रभाव का उन्मोचन करते हुए साधक को शुद्ध में पहुँचने में सहायता करती हैं। किन्तु वेधमिश्रा मलिना (मलमुख्या) सङ्कुरधारा है, उसीमें ही जीव विशेष भाव से पतित है। इसकी शुद्धि ही नितान्त आवश्यक है। इस सङ्कुरधारा का एक घोरावर्त रूप हुआ वेदमन्त्र की वह 'मर्त्यस्य धूर्तिः'। असुर वा आसुर इसका (जिह्म का) साधारण रूप है। एनस् (कौटिल्य) मन्यु (जाटिल्य) इत्यादि। इसका शुद्धिसाधन मन्थनपूर्वक होता है। मन्थन इसलिए कि – अशुद्धिमुख्य वेधमुख्य जो सङ्कुर है, उसकी निम्नगा अधोगा वृत्ति होती है। उसके फलस्वरूप, उस क्रम में ही 'पाताल' में गूढ़व्यूढ़ादि रूप में अड्डा गाड़ना चाहते हैं फ्रायड (Freud)। मग्न चेतना (subconscious) में 'repression', 'fixation', 'complex' यही सब हैं उसके गोपनदुर्ग। मग्न चेतना के किस तल में वे लोग जुटे हुए हैं, एक-दूसरे से उलझे हुए हैं, उसका ठिकाना नहीं है। समय-समय पर किसी 'fault', 'fissure' वा अन्य weak crust को उपलक्ष्य करके वे ऊपर उभरकर अनर्थ की सृष्टि करते हैं। फ्रायड प्रभृति अनेकों ने वर्तमान युग में इन सब गम्भीर स्तरों में 'बोरिंग' करके दिखाया है। पुराण विद्या में (वेद-तन्त्र-योगादि में) इन सब अवतलों (sub-surface formations) की खबर खूब ही रखी जाती थी। असुर लोग सम्मुख युद्ध में पराजित हो गए––शायद वे नष्ट भी हुए, किन्तु 'शेषाः पाताल-मायय्युः'। वहाँ दलपुष्टि एवं बलवृद्धि करने लगे। इन्हें जीतने के लिए दक्ष-कुशल मन्थन आवश्यक होता है। केवल समतालिक क्रिया से काम नहीं चलता– surface reaction does not metrically help। सङ्कुरधारा का उपद्रव ऊपर प्रकाश्य में जितना है, उससे कहीं अधिक (मात्रा में और विक्रम में) अचेतना के भीतर, नेपथ्य में है। ऊपर लक्षण (symptom) है, भीतर व्याधि का बीजाधार है।

अब कुटिल, जटिल, सर्पिल अथ च प्रमाथी इस सङ्कुर का मन्थन करते हैं शंकर। दन्त्य का मन्थन तालव्य से है। मन्थन में चार अङ्ग हैं—आधार, अक्ष, गुण, गुणी। मन्त्र में – वाग्भव ऐं है। इसके भीतर अ = आधार, अ + ई = ए हुआ आधाराश्रित अक्ष; नादबिन्दु = गुण, अग्नि और सोम = गुणी। मन्थन से अमृत ही निकलता है, किन्तु अग्नीषोम के असमञ्जस (किंवा सुर-असुर) होने पर, विष भी निकल सकता है। जपादि साधन में साधारण मन्थन की यह आकृति सविशेष कार्यकरी है—श्री भगवान् की कृपाघनमूर्ति श्री गुरुतत्त्व ही आधार है, साधक का दृढ़ शुभ सङ्कल्परूप आत्मा ही हुआ अक्ष, दीक्षादिपुरःसर जपादि के साथ भगवत्सङ्ग ही हुआ गुण, और अशेष कल्याण गुणाकर श्री भगवान् स्वयं गुणी हैं। अन्य प्रकार से भी मन्थन की भावना करें (आवश्यकतानुसार), एवं निष्पादन करें। शङ्कुरधारा ऊर्ध्वंगा है, सुतरां अधश्चेतना की प्रच्छन्न व्यूढ जो आसुरी सम्पत् है, उसका मन्थन करते हुए तुम्हारी 'यह'

चेतना में 'उठाकर' दिखाकर, एवं यथासम्भव शोधन करके ही वह क्षान्त नहीं होती। उसका 'अक्ष' ऊर्ध्व, समूद्ध्वं चेतना में भी समुत्थित वा समुत्थानसमर्थ है। सुतरां ऊर्ध्वलोक-परम्परा की दैवी सम्पत् का वह दोहन करने में पारग है।

प्रकृति बाद में सूत्रित हुई है। जो गीता की 'अपरा' है वह वेधसम्भवा (जिसमें वेध की सम्भावना है वा हो सकती है) है। सङ्कर इस अपरा पर ही विशेष भाव से आक्रमण करते हैं। 'परा' ('जीवभूता सनातनी') है, वेधविरह छायापत्ति के अधिकार में आती है। परा असुरादिविद्धा नहीं होती। किन्तु परा में अपरा की छाया पड़ती है, फिर परमा की आभा भी फूटती है। शङ्कर इस परा को ही परमामुखी करते हुए अपराघ-वेध एवं परा की छाया इन दोनों का मन्थन करते हैं। क्योंकि, वह छाया वेधविद्धा अपरा की ही छाया है। 'धीमहि' इस छाया को हटा कर उसमें परम की शुद्ध आभा प्रस्फुटित करने के लिए ही है। अब कारिका—

जिह्मं व्यूढमधः स्रोतस्तस्य ह्यक्षादिमन्थनम्।
शुद्ध्यै शान्त्यै शिवायापि शङ्करधारयैमिति॥ ५९॥

अन्वय—स्रोतः जिह्मं व्यूढम् अधः, तस्य हि अक्षादिमन्थनम्। शङ्करधारया ऐं इति शुद्धयै, शान्त्यै शिवाय अपि॥ ५९॥

[स्रोत जिह्म, व्यूढ और अधः है, उसीका अक्षादिमन्थन होता है। शङ्करधारा द्वारा 'ऐं' यह मन्त्र शुद्धि, शान्ति और शिव (कल्याण) के लिए (प्रयुक्त) है॥ ५९॥]

भाष्य—इसका भाव पहले ही व्यक्त हुआ है। स्रोत के विशेषणत्रय—जिह्म, व्यूढ़, अधः—पर मनोयोग दें। अक्षादि कहने से आधार-अक्षादि चार हैं। श्लोक के अन्त में शङ्करधारा की मान्त्री तनु है—'ऐं इति'। शङ्कर की भी तीन वृत्तियों का ध्यान करें—शुद्धयै, शान्त्यै, शिवाय। ध्यान दें कि धूम्रा और धूमा ये दोनों तत्त्व ही मिश्रतापत्ति के होने पर भी विद्या और सुरपक्ष के हैं। सुतरां शङ्करसाधिका हैं, सङ्करपालिका भाव से नहीं हैं। 'आ' का वर्जन करने से 'धूम्र' (यथा धूम्रलोचन) एवं धूम (जैसे, धूमयान)—ये दोनों सङ्कर के भाग में हैं। इनमें से प्रथम (धूम्र) 'र' के योग से राजस है, एवं दूसरा (धूम) 'तामस' है।

अच्छा, तब क्या जो तत्त्व शुद्ध, शान्त, शिव, सत्य, सुन्दर है, वह तत्त्व—अर्थात् परब्रह्म क्या इस जिह्म के ग्रास में ही कवलित हैं? ब्रह्म को जिह्ममुक्त करना ही क्या शुद्धि है! इस आशङ्का के वारण के लिए बाद का सूत्र है—

१७. न ह्यनित्येन नित्यस्य प्रसज्यप्रतिषेधत्वम्।

नित्य वस्तु जहाँ 'प्रसज्य' अर्थात् प्रसंगतः लक्ष्य वा उद्देश्य है, वहाँ किसी अनियत अनित्य व्यापारादि के द्वारा उसी प्रसज्य नित्य का ही प्रतिषेध हुआ है, ऐसा नहीं होता।

प्रसज्य हुआ है प्रतिषेध जिसका, ऐसा नित्य प्रसज्य प्रतिषेध नित्य होता है। यहाँ प्रसज्य = निर्व्यूढ़ प्रसज्य समझें। अनित्य और अनित्य में बाध = प्रतिषेध हुआ करे। किन्तु जिस प्रसंग में नित्य ही उद्दिष्ट है वह प्रसंग किसी भी क्रम से नित्य प्रतिषेध प्रसंग नहीं हो सकता। क्योंकि वह असम्भव है। उसमें प्रतिज्ञाहानि होती है। नित्य का (जो प्रसज्य नहीं ऐसा) प्रतिषेध होता है—जैसे 'इस घट में नित्यता नहीं है।' इस स्थल में इस घट में नित्य का प्रतिषेध हुआ। 'शब्द अनित्य है'—तार्किकादि के इस सिद्धान्त में भी नित्य का प्रतिषेध होता है एवं मीमांसक का शब्द, वैयाकरण का 'स्फोट' इत्यादि की भाँति शब्द में नित्यता की प्रसज्यता तो है ही, किन्तु निर्व्यूढ़ प्रसज्यता नहीं है। सब अनित्य है, सब क्षणिक है—यह सब कहकर भी अन्त तक 'शून्य'—को ही तो बनाना पड़ता है। यदि वैसा ही हो तो किसी अनित्य के द्वारा उस शून्य की निर्व्यूढ़ प्रसज्यता का प्रतिषेध नहीं होता है। अर्थात्, जिस स्थल में शून्य ही उद्दिष्ट है उस स्थल में शून्य ही नहीं है, ऐसा कहने से नहीं चलता। वैसा कहने पर आत्मघातित्व होगा। यह सब दार्शनिक विचार यहाँ अब आगे नहीं चलाएँगे। जप का जो आधार-सिद्धान्त है उसमें ऐसा एक 'सत्' (१।१।३०) प्रतिष्ठित है जो बाधमात्र विरह है। उसका बाध कहीं भी नहीं है। और जिस स्थल में वह निर्व्यूढ़ प्रसज्यता है, उस स्थल में उसका प्रतिषेध भी नहीं होता। ये दोनों बातें स्मरण रखनी होंगी। No absolute contradiction, and no negation in the case of unconditional affination। वैसा करने जायँ तो self-contradiction होता है।

अब, नित्य में, सत् में शुद्धत्व भी नित्यत्व है। जिस स्थल में इस शुद्धता का प्रसंग ही निर्व्यूढ़ भाव से (unconditionally) आता है, उस स्थल में, किसी अनित्य (अनियत व्यभिचारी) द्वारा उस शुद्धत्व का प्रतिषेध (negation) नहीं होता—यह कहना सूत्र का अभिप्रेत है। 'तत्सत्' की किसी भी अवम भूमि में शुद्धता की अनियतता, व्यभिचार इत्यादि देखा जा सकता है। सुतरां उन सब भूमियों को लक्ष्य करके ही सङ्कर एवं शङ्कर धाराद्वय वृत्तिमती हैं। परम भूमि में शङ्कर की भी परमसमाहिता विश्रान्ति होती है। शुद्ध रसभूमि में, धारारूप ह्लादिनी के सारात्सारा रूप में अपने 'विवर्त' रूप में शुद्ध रस का परम अनिर्वचनीय लीलायन करता है। ज्ञानभूमि और योगभूमि और रसभूमि की शुद्धि को लेकर यहाँ चर्चा नहीं करेंगे। शुद्ध, बुद्ध, मुक्त—इन तीनों का लक्षण इस स्थल में आलोच्य नहीं है। तब, जप

के आधार-अधिकरण में ये तीन मिल-मिलकर अखण्ड पूर्ण हैं। ज्ञान में विशेष करके बुद्ध, योग में मुक्त, रस में शुद्ध। किसी सम्प्रदाय सिद्धान्त की बात नहीं हो रही है। जपादि साधन सर्वाधिकरण में ही होता है, इसीलिए जप के निजस्व आधार का सम्प्रदायपक्षपात मुक्त होना ही वाञ्छनीय है। शुद्ध क्या वस्तु है, वह परमा ही जानती हैं। किन्तु, जपादि साधन में शुद्धि को ज्योतीरस की एक परम पावनी धारा में भी हम पाते हैं। पाते हैं इसीलिए तो कुछ रक्षा है! विचारक लोग इस धारा को सापेक्षशुद्धि कहकर विचार में क्षान्त हों; युञ्जान मुमुक्षु इसे ऋतम्भरादि शुद्धि कहकर युक्तमुक्त होने का उपाय करें। और, भक्तरसिक इसे वैवर्तशुद्धि समझकर इसमें आकृष्ट-अनुग-धामग बनें। अब कारिका—

या धूमधूम्ररोधाभ्यां शाश्वती स्यन्दते सरित्।
धूमधूम्रायमाणायां तस्यामनवकाशता॥ ६०॥

अन्वय—या शाश्वती सरित् धूमधूम्ररोधाभ्यां स्यन्दते। तस्यां धूमधूम्रायमाणायाम् अनवकाशता॥ ६०॥

[जो शाश्वती सरित् धूम और धूम्र रोध तटों के बीच से प्रवाहित होती है, उस धूमधूम्रायमाना (सरित्) में अवकाश नहीं है॥ ६०॥]

भाष्य—जो शाश्वती सरित् (विश्वपावनी शुद्धिधारा) निम्न व्यवहार की भूमि में अवतरण करके धूम एवं धूम्र (तामस और राजस)—इन दोनों तटों की मध्यवाहिनी हुई हैं (स्यन्दते), वह सरित् इस तटद्वय का कलुष धौत करके स्वयं ही मानो धूम-धूम्रायमाना हो गयी हैं, ऐसा लगता है अवश्य, किन्तु निखिल कलुषमल को धौत करके अशुद्ध का शोधन करना ही जिनका स्वभावधर्म है, उनमें इस धूमधूम्र के मालिन्य को अवकाश कैसे हो सकता है? निखिल अशुद्धिशोधन में उनकी सांसिद्धिकी शुद्धि जवश्य ही व्याहत नहीं होती। जैसे, साधारण क्षेत्र में अग्नि, सूर्यरश्मि, गङ्गादि पुण्य प्रवाह हैं। इतना कुटिल, इतना जटिल जो 'सङ्कर नरक' है, घूर्ति ही जिसकी नीति है, उससे परित्राण का भरोसा ही तो यह 'शाश्वतौ स्यन्दमाना सरित्' है! 'सर्वभावेन' इसका समाश्रय लें। पंचगंगा एवं श्री भगवान् की अनुग्रह-शक्ति के विग्रह श्री गुरुतत्त्व में इस पञ्चगङ्गा के एक साथ समावेश का प्रसङ्ग प्रथम खण्ड में ही आ चुका है।

अच्छा, जो प्रकृति है उससे च्युति--स्खलनादि न होने पर तो विकृति नहीं होती और विकृति न होने पर उससे पुनः 'प्रकृतिस्थ' होने के लिए शुद्धिसंस्कार का भी प्रसंग नहीं आता। इसलिए शुद्धि का आधार एवं 'अनुबन्ध' (विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन, अधिकार) रूप 'प्रकृति-प्रत्यय' सूत्रित होता है।

१८. तत्त्वमधिकृत्य प्रकृति-प्रत्ययौ ।

तत्त्व को अधिकार करती हुई प्रकृति भी है, प्रत्यय भी है ।

जहाँ कुछ बाद देने की अथवा योग देने की अपेक्षा नहीं है, वहाँ 'तत् + त्व' है । यह ठीक यही है, इससे बाद कुछ नहीं दिया गया, इसके साथ योग भी कुछ नहीं किया गया—इस प्रकार हरण-पूरण दोनों को ही शून्य में लाने पर जो रहता है, वह तत्त्व है । तत्त्वसूत्र में यह बहुधा आलोचित हुआ है । यदि कहें, वंद गोभी (पत्ता गोभी) की तरह पत्तों को बाद देते-देते शून्य ही ठहरता है, यदि सचमुच वैसा ही हो तो शून्य ही तत्त्व है । रूपसंज्ञादि स्कन्धों के कट जाने पर यह मूल ही शेष रहता है, ऐसा माध्यमिकादि लोग समझा करते थे । परम में वा चरम में जाकर तत्त्व शून्य है या और कुछ है, वह विचार यहाँ प्रासङ्गिक नहीं है । दार्शनिक विचार के कूट कला-कौशलों का प्रदर्शन तो उद्देश्य नहीं है ! वह यत्न अन्यत्र हुआ है--आवश्यकतानुसार गणित की परिभाषा ग्रहण करके भी विचार की साधिष्ठ विशदता की रक्षा के लिए । प्रथम पाद में तत्त्व के निर्देश में 'भान' ही पुरोभाग में चला था । भान से मर्शपञ्चक के फलस्वरूप भासपञ्चक होता है । अस्मद् भान या युष्मद् भान, अत्र भान या तत्र भान, इदानीं भान या तदानीं भान, इस सम्बन्ध में या उस सम्बन्ध में—इस सब प्रकार से यदि भान को ग्रहण करने जायँ तो वह ठीक भान नहीं रहता–यह भी कहा गया है ! निर्व्यूढ़ अखण्ड समग्र जो भान है वही तत्त्व है, इस भाव से ही उपसंहार करके परब्रह्म में जो परम पूर्णता है वही तत्त्व है, इस प्रकार सिद्धान्त-स्थापन किया गया है ।

यह पूर्ण और परम जो तत्त्व है, उसमें अर्थात् उस अधिकार में, प्रकृति भी तद्रूप है, प्रत्यय भी अनुरूप है । उस तत्त्व में जो प्रकृति है वह भी परमा है, एवं उससे जो प्रत्यय (जैसे, पूर्वसूत्र में धारा एवं नीला रूप में आविर्भाव) है, वह भी परम है । भगवत्ता की जो प्रकृति है वह परमा है, उसमें जो लीलादि प्रत्यय है वह भी प्रत्यय है । किन्तु 'मान' में वा व्यवहार में आकर; तत्त्व भी फिर निर्व्यूढ़ भाव से (unconditionally) इसीलिए नहीं रहता; अर्थात् तत्त्व का लक्षण वहाँ पूरा-पूरा नहीं घटता । 'यथासम्भव' निरपेक्ष और स्वतन्त्र भाव से (ज्ञानोपादानरहित) कोई भान (experience) होने पर, वह तत्व (fact) के रूप में ही आदृत (appreciated) होता है । इसमें मान-व्यवहार (limitation) रहता है, सुतरां इस तत्त्व को लेकर ध्रुवा स्थिति नहीं है । एक काष्ठा वा: limit का प्रश्न साथ-साथ होता है । किन्तु 'यथासम्भव स्वयं स्वत्व' (self existing and functioning independently) भाव से ही उसका 'समादर' करना होता है, उसे 'मर्यादा' भी देना होता है । मनुष्य समाज में 'व्यक्ति' को 'राष्ट्र' को जिस प्रकार देने की चेष्टा होती है । इस युक्ति से,

ठीक लक्षण में न आने पर भी, जीव भी तत्त्व है, जीव की प्रकृति भी गीता (के अनुसार) परा प्रकृति है। फिर, क्षिति प्रभृति पञ्चतत्त्व, एवं भीतर के और तीन को लेकर यह सब अपरा प्रकृति है। सांख्य में, पातञ्जल में, शैवशाक्तागम में, तत्त्व की भिन्न-भिन्न संख्या है। अथ च, मूल लक्षण की तरह तत्त्व संख्येय पदार्थ ही नहीं है। जप में मन्त्रतत्त्व, गुरुतत्त्व, इष्टतत्त्व—इत्यादि तीन, पाँच एवं और-और संख्या में भी तत्त्वपदार्थ को लेना होता है। जप्य अक्षर क्या तत्त्व है, अर्धमात्रा क्या तत्त्व है, कला क्या तत्त्व है—इत्यादि तत्त्वघटित प्रश्नों का तो अन्त नहीं है! और, उन सब तत्त्वों के अधिकार में प्रकृति भी क्या, विकृति भी क्या, उन सबके सम्बन्ध में शुद्ध, यथार्थ, 'ऋत' प्रत्यय ही क्या—विपरीत ही क्या; इन सब प्रश्नों की प्रयोजनीयता जैसे लाघव नहीं है, इनकी संख्या का भी उसी प्रकार गौरव नहीं है। 'ॐ' का व्याहरण किया; प्रकृति में हुआ तो ? जप कर रहे हो; तुम्हारा प्रत्यय किस मात्रा में है ? अग्नि या सोम ? उदय में किधर अभिमुख है, और विलय में किधर ? ये सब प्रकृति और प्रत्यय-घटित प्रश्न बहुत ही जरूरी हैं। उस प्रणव वा उसके तत्त्व को अधिकार करते हुए यह सब प्रश्न हैं। मीमांसा में याग के समय जैसे प्रकृति-विकृति इत्यादि का विचार होता है। उस स्थल में तत्त्व याग है। उसके पीछे भी 'आम्नाय, चोदना, अपूर्व' इत्यादि कितने कुछ हैं! तत्त्व एवं तदधिकार में प्रकृति-प्रत्यय का निरूपण और समाचरण ही तो सर्वविध विद्यापूर्वक व्यवहार में (जड़ादि विज्ञान में भी) मुख्य बात है। किसी तत्त्व को लेकर प्रकृति-प्रत्यय करते हुए यह अनुबन्धचतुष्टय-प्रसङ्गतः उठता है। यह सब बातें जैसे आवश्यक हैं, वैसे ही सहज हैं। किन्तु आरम्भ के इस मूल तत्त्व को,—उसकी मूला प्रकृति (रसभूमि में स्वरूपशक्ति), और मूल प्रत्यय (लीलाकैवल्य)—मूल में रखकर ही इस समस्त 'रूढ़' तत्त्वादि का 'आदर' करना होगा। जो निर्व्यूढ़ हैं, इस सबमें आकर रूढ़ भी हुए हैं, गूढ़ भी हुए हैं। जो Fact Absolute है, वह Pragmatic Fact बना है। जो शुद्ध तत्त्व नहीं है, उसे किसी व्यवहार-निष्पत्ति के लिए, अवच्छिन्न-परिच्छिन्न करके, अथवा उस भाव में लेकर, समझना होता है, यही इस क्षेत्र में तत्त्व है। इस प्रकार लेने पर, रूढ़ि और व्यूढ़ि—ये दो आकृतियाँ अवश्य ही आती हैं। एक तत्त्व का एक टुकड़ा (शायद उसकी नाभि वा केन्द्र को ही बाद देकर) आदृत (in acceptance and usage) हो रहा है; यही रूढ़ि है। बाक़ी अनादृत (veiled and ignored) हो रहा है; यही व्यूढ़ि है। तत्त्व को अधिकार करते हुए जो प्रकृति और प्रत्यय होते हैं, वे भी इन दो आकृतियों को प्राप्त होते हैं।

पङ्क में तो शम्बूकादि भी जन्म लेते हैं, किन्तु पङ्कज कहने से पद्म ही समझना होता है; मन में तो क्रोधादि भी जन्म लेते हैं, किन्तु मनोज वा मनसिज कहने से काम

ही होता है। इन सबमें व्यापिका जो अभिधादि शक्ति है उसे एक निर्दिष्ट गण्डी में लाकर 'रूढ़' (जड़, rigid, स्थिर) बना लिया जाता है। अक्षर, वर्ण एवं रेखा—इन सबकी निखिल अभिव्यञ्जकता है। होनी ही चाहिए, क्योंकि प्राणब्रह्म उन सबमें से प्रत्येक में ही पूर्ण ही हैं, सुतरां, प्रणव का अ, उ, म्, ह्रीं आदि बीज, काली कृष्णादि महानाम—इनके प्रत्येक अक्षर में व्यञ्जकता नहीं है क्या ? हाँ, विशेष-विशेष अधिकारादि अनुबन्ध के अनुरोध से ये सब अक्षर, वर्ण, रेखादि एक-एक विशिष्ट आकृति में मानो 'रूढ़' होकर आविर्भूत होते हैं। बाक़ी सभी, तदधिकारानुरोध से, गूढ़ि एवं 'व्यूढ़ि' हैं। अक्षरादि की विशेष-बिशेष संहति, समूहादि के कारण भी उनके प्रकृति-प्रत्यय का विचित्र 'रसायन' और 'रूपायन' (basic bio-chemistry and spectrography) है। प्रणव के ये तीन अक्षर तो नाना-अधिकारादि में नानाभाव से रूढ़ हुए हैं एवं होंगे; किन्तु माण्डूक्यश्रुति ने उनका अमात्र-तुरोया में ही पर्यवसान किया है। ह्रीं आदि बीज के सम्बन्ध में वही है। अनुबन्ध के अनुरोध से तत्त्व, एवं उस तत्त्व के अधिकार में प्रकृति-प्रत्यय हैं। Pragmatic का अनुवाद व्यावहारिक कुछ बुरा नहीं है, किन्तु इस क्षेत्र में 'आनुबन्धिक' नाम और भी स्पष्टार्थ है। व्याकरण में 'स्फोट' नित्य है एवं उसमें ब्रह्म-भावना भी हुई है। यह परा-पश्यन्ती भूमि से 'हृदय' में मध्यमा में स्थित होकर भी 'कण्ठ' में वैखरी रूप में जब व्यक्त होता है, तभी विशेष-विशेष देशकालनिमित्त सम्बन्ध में अवतरण करते हुए विशेष-विशेष अनुबन्धानुरोध से विशेष-विशेष रूढ़ता अङ्गीकार करता है। रूढ़ता भी नमनीय (elastic, Plastic) है। संकोच-प्रसार होता है, व्याप्ति बढ़ती है, घटती है। क्योंकि स्फोट का निजस्व जो तत्त्व है एवं उस तत्त्वाधिकार में प्रकृति-प्रत्यय है, वह वैखरी में ठीक वही रहकर व्यक्त नहीं हुआ है। साधारण-व्याकरण में धातु-प्रातिपदिक में हुई प्रकृति; और, सुबन्त-तिङन्तादि उसमें प्रत्यय हैं। पराविद्या में (उपनिषद् में) प्राण, आकाशादि शब्द विभिन्न अनुबन्ध में विभिन्न भाव में अर्थबोध हुए, किन्तु अनुक्रमोपसंहारादि षड्लिंग द्वारा उन सभी शब्दों की परब्रह्म में ही लक्ष्यतात्पर्याप्ति करने के लिए कितना प्रयास हुआ ! तब भी गोलमाल नहीं मिटता, उपलब्धि में महासमन्वय एवं परमसमन्वय न आने तक।

इन सब कारणों से, तत्त्व एवं तदधिकृत्य प्रकृति-प्रत्यय शुद्ध लक्षण में 'परम' एवं 'निर्व्यूढ़' रहकर भी, व्यवहार की अपेक्षा से एवं अनुबन्धनिबन्धन रूढ़व्यूढ़ादिद्वन्द्व की धारा में उतर आये हैं। इस निमित्त, तत्त्वशुद्धि, प्रकृतिशुद्धि, प्रत्ययशुद्धि भी प्रासंगिक हुई है।

प्रणवादि के जपध्यानादि कर्म में इन तीनों को ही दीक्षा-शिक्षासम्मत क्रम में 'आनुबन्धिक' भाव से ही साधना पड़ता है अवश्य, किन्तु सांसिद्धिक की ओर लक्ष्य

रखकर ही। रसाश्रित साधन में भी अन्यथा नहीं। क्या तुम्हारा भजनीय तत्त्व है, उनकी एवं तुम्हारी क्या प्रकृति है, एवं उस सम्बन्ध के आधार पर किस प्रकार प्रत्यय होता है या होना चाहिए – यही तो प्रश्न है !

किं नित्यं किमनित्यं वा साधितं किं च बाधितम् ।
न तत्त्वमधिकृत्येदं निरूप्यमाणतां व्रजेत् ॥ ६१ ॥

अन्वय—किं नित्यं किम् अनित्यं वा, किं साधितं बाधितं च । तत्त्वम् अधिकृत्य इदं निरूप्यमाणतां न व्रजेत् ॥ ६१ ॥

[क्या नित्य है ? अथवा क्या अनित्य है ? क्या साधित है और क्या बाधित है ? तत्त्व के विषय में इसका निरूपण नहीं हो सकता ॥ ६१ ॥]

भाष्य—क्या नित्य है, क्वा अनित्य है, क्या साधित है, क्या बाधित है – इन सबकी कोई भी निरूपणीयता नहीं है, तत्त्व के अधिकरण-मननादि में लाए बिना। अर्थात्, तत्त्व यदि सांसिद्धिक एवं आनुबन्धिक भाव से होता है तभी इन सब प्रश्नों की समाधेयता का प्रसंग होता है, अन्यथा नहीं।

अब प्रकृति सूत्र—

१९. प्रकृतिरनन्तरिततथात्वं तत्त्वस्य ।

तत्त्व का जो तथात्व है, अर्थात् स्वभाव है, समरूपता है, उसे यदि अनन्तरित भाव से, अर्थात्, समरूपता से किसी अन्तर वा व्यवधान में न रखकर लिया जाय तब उस भाव को कहते हैं प्रकृति।

यह अवश्य प्रकृति का स्वभावलक्षण है। अन्तर वा व्यवधान = वही Interval Principle and Function। देशकालादि नाना अवच्छेद-परिच्छेद के आकार में यह व्यवधान 'क्रिया' किया करता है। अन्तरिक्ष सूत्र में इसका परिचय पाया है। इस क्रिया का भी अव्यक्त-व्यक्त (Potential-Kinetic), व्यस्त-समस्त (differentiated integrated) इत्यादि आकृतियाँ होती हैं। व्यवधान की प्राथमिक वृत्ति हुई—जो स्वतन्त्र-निरपेक्ष (self-existing unconditional) है, उसे किसी प्रकार अपरत्व की अपेक्षा में (Conditionality में) ले जाना। अब, इस व्यापार को शून्य की ओर ले जा सकते हो अथवा अनन्त की ओर। एकान्त शून्य करने पर तत्त्व का तथात्व और प्रकृति एक ही हुई। शून्यवत् वा शून्यकल्प करने पर, इस अपेक्षा का किञ्चित् 'लेश' वा 'छायामात्र' हुआ। तत्त्व, यदि ध्रुव एवं पूर्ण की भूमि होता है तो इस शून्यकल्प (evanescent) के स्थल में, प्रकृति हुई—ध्रुवायमाणता एवं आपूर्यमाणता की प्रान्त-भूमि। 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय' इत्यादि में यह अनिर्वचनयोग्य अचिन्त्यभेदाभेद पड़ा हुआ ऐसा लगता है। किन्तु तत्त्व = भगवत्ता = परमा प्रकृति, यह इस अभेद-समीकरण रूप में ग्राह्य है। अर्थात् शून्य शून्य ही है। अन्तर को अनन्त करने पर भी महाश्चर्य है !

फिर वही परम है। क्योंकि, शून्य और अनन्त केवल इस क्षेत्र में ही समाप्त हैं। अन्तर के सान्त होते ही कुछ-न-कुछ सापेक्षभाव आ जाता है। और, 'अन्तर' शान्त होता है शून्य में अथवा अनन्त में। परा, अपरादि अशेष प्रकृति वैचित्र्य—सभी आते हैं शून्य और अनन्त, इन दोनों पराकाष्ठाओं के बीच में। व्यवधान की दोनों वृत्तियों की बात पहले विशेष रूप से कही गई है—एक पारस्परिकमुख्या, दूसरी वेधमुख्या है। श्री भगवान् अथवा भगवती अपने अनन्त ऐश्वर्य के प्रकटन अथवा अशेष माधुर्य के रसायन के निमित्त जिस स्वीया प्रकृति का समाश्रय लेते हैं, वह उनकी परमता में परमा ही है, अथच, उसमें मानो पारस्परिकता मुख्यारूप से प्रकाशित होती है। वह उसकी प्रकृति मानो 'दोनों' अन्वित, मिलित रूप में अपने ऐश्वर्य-माधुर्यादि प्रत्यय को सम्भावित, विस्तारित करती है। किन्तु अपरा प्रकृति में इस प्रकार शुद्ध पारस्परिकता की भूमि मानो ढँक गई है, वेधमुख्यता ने भी दिखाई देकर वैरूप्य वैगुण्यादि अशुद्धि को सामने बैठा लिया है। जीव की परा प्रकृति—पूर्वोक्त प्रकृतिद्वय की 'तटस्था' है। शुद्ध पारस्परिकताभिमुखीन होने पर पराक् होती है। किसी विशेष सिद्धान्त के अनुसरण में नहीं, किन्तु जो मौलिक तत्त्वाधार है, उसके साथ सङ्गति रखकर ही यह विवृति देने का यत्न हो रहा है। 'तटस्था'—वह तो भक्ति की बात है, ज्ञानी क्या कहते हैं, योगी क्या कहते हैं—ये सब जिरह उठाकर गोल-माल करने की कोई बात नहीं है। जैसे, ज्ञान में—त्वं पदार्थ और तत् पदार्थ इन दोनों का पारस्परिकतामुखीन जो शोधन संस्कार है, वह प्रत्यक् प्रवणता है। इस प्रवणता के लिए, उभय पदार्थ में अध्यस्त जो वेधमुख्यता है, उसे समाप्त करना होता है। 'वेध' सूत्र में वेध की प्रकारता आदि विवेचित होगी। 'वेध' के शोधन से 'वेद' होता है। योगी लोग प्रकृति-पुरुष की 'छायापत्ति', 'सान्निध्यमात्रोपकारकता' इत्यादि कहते हैं अवश्य, किन्तु कार्यतः भवप्रत्यय में वेधमुख्यता हुई है। आरम्भ में 'बौद्धवेध' (logical interpenetration) है, किन्तु बुद्धि की जो प्रत्ययधारा है, वह तो केवल इस 'बौद्ध' में भी बद्ध नहीं रहती—अपने को 'गोचर' की, concrete की भूमि में भी, 'घनीभूत' कर लेती है। इसीलिए, योग में भी वैराग्यादि का मुख (मुहाना) होगा—बद्धवेध से बौद्धवेध, उससे फिर प्रकृति-पुरुष की 'शुद्ध' पारस्परिकता मात्र में। जैसे, अयस्कान्त और लौहसन्निधि के स्थल में परस्पर को खींचकर परस्पर आसक्त ही होते हैं; किन्तु जवा और शुभ्र स्फटिक, परस्पर में छायापात करते हैं (जवा भी स्फटिक के समीप उज्ज्वल हो उठती है), किन्तु दोनों परस्पर 'लग' नहीं जाते। इसके बाद, पर वैराग्य भूमि में—विवेकख्याति होती है। किन्तु यहाँ भी तत्त्व और तदधिकृत्य प्रकृति-प्रत्यय की ओर से कुछ गोलमाल होता है। वह इस स्थूल में विवेच्य नहीं है। जो भी हो, 'अनन्तरित तथात्व' इस पारिभाषिक लक्षण को अनुबन्धानुरोध से कथञ्चित् संकुचत्-प्रसरत् (elastic) बनाकर ही विश्व-व्यवहार में जो सब प्रकृति-

वैचित्र्य एवं प्रत्ययबाहुल्य की भूमि है, उसमें उतरना होता है। जप साधन-विज्ञान है; इस विज्ञान में सिद्ध विद्या की खोज तो चाहिए ही; किन्तु उस पर अधिरूढ़ होने की सोपानावली विशेषतः चाहिए। अब मान लें, गायत्री-जपध्यान कर रहे हैं। गायत्री में (यथा, कामदेव) 'विद्महे' अधिरूढ़ भूमि है; कलीं उनकी अनन्तरित तथात्वरूपा प्रकृति है। उनमें 'धीमहि' इस अधिरुरुक्षु प्रत्यय (व्याहरण अनुस्मरणादि) के माध्यम से 'विद्महे' इस अधिरूढ़ प्रत्यय में उपनीत हो जाओ। रसभूमि, ज्ञानभूमि – सब ओर से ही इस प्रकृति-प्रत्यय पर ध्यान दो। अपनी प्रकृति (आग्रहरूपा), गुरुतत्त्व की प्रकृति (अनुग्रहरूपा) को नाम-जप-ध्यानादि प्रत्यय में मिला लो। दीक्षाद्वय प्रकृति के समीकरण की आकृति अङ्कित करते हैं। तुम्हें अपने प्रत्यय में समीकरण का समाधान (solve करना होगा। equation का शोधन करते-करते अन्त तक identity में पाना होगा।

अच्छा, अब कारिका—

रज्जुसर्पे भुजङ्गत्वं बद्धत्वमपि चात्मनि।
अन्तरिततथात्वे हि नातः प्रकृतिता मता॥
अनुबन्धानुरोधेनाभेदेऽभिन्नाऽपि भिद्यते॥ ६२॥

अन्वय—रज्जुसर्पे भुजङ्गत्वम् आत्मनि च अपि बद्धत्वम्, अतः अन्तरिततथात्वे हि प्रकृतिता न मता। अभिन्ना अपि अनुबन्धानुरोधेन अभेदे भिद्यते॥ ६२॥

[रज्जुसर्प में भुजङ्गता है (वैसे ही) आत्मा में बद्धता है। अतः तथात्व अन्तरित (छिपा) होने में प्रकृतिता (सत्यता नहीं है। (वह) अभिन्ना होते हुए भी अनुबन्ध के अनुरोध से अभेद में (भी) भिन्न-भिन्न (भासित) हो रही है॥ ६२॥]

भाष्य—रज्जुसर्प में जो भुजंग ज्ञान है, आत्मा में बन्ध का ज्ञान है—इन सब दृष्टान्तों में तत्त्व का तथात्व 'अनन्तरित' ('unremoved') नहीं है, इसीलिए पहले उदाहरण में रज्जुत्व ही प्रकृति है, भुजगत्व नहीं, दूसरे उदाहरण में शुद्धत्व-मुक्तत्व ही प्रकृति है, बद्धत्वादि नहीं। तथापि, अनुबन्धानुरोध से, जो अभिन्ना है वह तत्त्व में अभेद में रहकर भी भिन्न-भिन्न प्रकृतिवाली होती है (भिद्यते)।

प्रत्यय-सूत्र बाद में आ रहा है। यहाँ पहले आकृति-सूत्र है—

२०. आकृतिरन्तरितत्वेन।

तत्त्व का जो तथात्व है वह किसी क्रम से 'अन्तरित' होने पर होता है 'आकृति'। 'अन्तरित' का अर्थ सीधे-सीधे 'अन्तर्हित' समझने से नहीं चलेगा।

जपसूत्र में 'आकृति' शब्द शायद सबसे अधिक व्यवहृत हुआ है। सत्ता, शक्ति, छन्दः, आकृति—इस चतुष्टयी में बार-बार। इसे स्पष्ट रूप में धारणा करने के

लिए ही यह लक्षण है। 'आ' इस स्वर की मुख्य वृत्ति भी बहुधा आलोचित और उदाहृत हुई है। जो आवृत है उसे अपावृत करना—यह तो सुस्पष्ट है। किन्तु उसके साथ-साथ व्याप्ति और काष्ठा की बात रहने के कारण दिक् वा मुख की बात आती है। अर्थात्, 'आ' स्वर से एक मुख में (दिशा में) जैसे अपावरण हुआ, अन्य मुख में वैसे ही आवरण भी हुआ। एक को धनमुखी, दूसरी को ऋणमुखी कह सकते हो। साधारण दृष्टान्त में—दिवा में सूर्य का आलोक। यह एक ओर तम का आवरण हटाकर रूपादि अनेक को प्रकाशित करता है; किन्तु फिर आलोक के आवरण में नैश गगन के नक्षत्रादि ज्योतिष्क पुञ्ज को ढँक देता है। 'आ' स्वर में यह द्वैध दिङ्मुखता है। इसके साथ 'कृ' एवं 'ति' आकर इसे प्राण की एक विशिष्ट (धर्मसम्बन्धादि-विशिष्ट) आकृति (Pattern) दान करते हैं। बाद में विश्लेषण में देखेंगे कि यह पैटर्न तलवृत्तिता, लम्बवृत्तिता, वेधवृत्तिता एवं इन तीनों की संहतवृत्तिता एवं अतिगवृत्तिता,—इन सबकी वही द्योतना करता है। विषयों का बाद में परिष्कार होगा। तलवृत्ति को इस स्थल में मूलवृत्ति वा 'भित्तिवृत्ति' (Basic Function) समझें। अर्थात् यह है तो और सब ही है वा रह सकता है। अब इसे मानकर ही आकृति का लक्षण समझने जायँ। अर्थात्, समझें कि—आरम्भ में तत्त्व का जो तथात्व है वह अपनी भूमि में ही है, और, उस प्रकार रहकर ही एक 'अन्तर' वा अन्तराल (आड़) स्वीकार कर रहा है। सुतरां, आकृति का आदिम रूप हुआ—

(आकृतिसम्बन्धी उपसूत्र)

१. तथात्वे सति अन्तरालवृत्तितावच्छिन्नसत्तादिकत्वम्।

तत्त्व का तथात्व ही रहा, अथ च अनिर्वचनीय भाव से एक अन्तराल वृत्ति (अपने को सत्ताशक्ति प्रभृति में मानो 'आड़' देना) आ गई है, एवं तत्त्व को तदाकार में विशेषित कर रही है। परब्रह्म में जो निर्विशेष भाव है, उसे इस प्रकार (तथात्वे सति) आड़ करके उनमें सविशेष सर्वज्ञत्व-सर्वशक्तिमत्त्वादि भाव (अद्वैत सिद्धान्त में—मायाधीश का शुद्ध मायोपाधिकत्व) है; भक्तिसिद्धान्त में भगवत्ता स्वीय विभुत्वादि को 'अन्तराल' करके द्विभुज-चतुर्भुजादि आकारमत्ता में रहती है; इसमें भगवत्त्व का तथात्व ही है; वरन् केवल विभुत्वादि में तत्त्व का जो तथात्व है, उसका एकदेशित्व, असम्यक्त्व इत्यादि होगा। रसतत्त्व में भगवत्ता का जो ऐश्वर्य है, उसे अन्तराल में रखकर माधुर्य एवं माधुर्यलीला का प्रकाश हो रहा है। इन सब स्थलों में आकृति शुद्ध है। भक्तिसिद्धान्त में चिन्मय, अप्राकृत इत्यादि हैं। दृष्टान्तरूप में ही कुछेक बातें कही गयीं। विचार का यहाँ अवकाश नहीं है।

२. तथात्वे सति पारस्परिकतासम्बन्धावच्छिन्नसत्तादिकत्वम्।

तत्त्व का तथात्व ही है, अथ च तत्त्व की सत्ताशक्ति प्रभृति एक अनिर्वाच्य पारस्प-

रिकता के सम्बन्ध को स्वीकार कर रही हैं। जैसे, ब्रह्म का 'स्त्री च पुमांश्च' भाव, शक्तिशक्तिमान्भाव; युगलभाव; नाम-नामीभाव—ये कुछेक दृष्टांत हैं। यह आकृति शुद्ध है। इस स्थल में दोनों 'पक्षों' में ही भगवत्ता की अखण्ड विद्यमानता हे। Such Basic Polarity is not division and separation.

३. तथात्वावितथत्वे सति सापेक्षतावच्छिन्नसत्तादिकत्वम्।

दार्शनिक प्लेटो जिन्हें Pure Archetypes वा Idea कहते थे, वे 'आकृति' हैं, किन्तु इस आकृति-परम्परा (hierarchy) के साथ वर्तमान 'धारा' की तुलना करें, मिला न दें। पूर्वोक्त दोनों स्थलों में तत्त्व का तथात्व नियत परिनिष्ठित ही है। किंतु इस तृतीय स्थल में, वह 'अवितथ', अर्थात् अन्यरूप (other than itself) नहीं हुआ है अवश्य, किन्तु नियत परिनिष्ठित भाव से 'येन' नहीं है। जैसे, भगवत्ता का श्रीविग्रह, अवतारादि हैं। अनुग्रहशक्ति के मूर्तरूप श्रीगुरु हैं। इन सब स्थलों में सापेक्षत्वनिबन्धन (यथा, शिष्य का आग्रहसापेक्ष श्री गुरु अनुग्रह) जन्तर वा व्यवधान में यह 'येन' मात्र प्रविष्ट हुआ है। श्रद्धा-विश्वास-भावभक्ति इन सबके द्वारा इस 'येन' मात्र का शोधन-क्षालन कर लेना होता है।

४. तथात्वाविकलत्वे सति सपक्षेतरसापेक्षतावच्छिन्नसत्तादिकत्वम्।

तथात्व फिर ठीक अवितथ नहीं है, किन्तु उसकी विकलता भी नहीं हुई है, ऐसी अवस्था में 'सपक्ष' के अतिरिक्त अन्य की सापेक्षता के अनुरोध से सत्ताशक्ति प्रभृति का जो भाव है उसे भी आकृति हो जायगा। ध्रुवादि साधक के ध्यानादि में जिस आकार वा भाव का 'दर्शन' होता है उसमें ध्याता एवं ध्येय इन दोनों सपक्षों के अतिरिक्त अन्य किसी-किसी पक्ष की भी (अनुकूल वा प्रतिकूल) अपेक्षा कुछ रहती है, किन्तु उस अपेक्षा के कारण तथात्व का वैकल्य (वैरूप्य-वैगुण्यादि) यदि न सम्भावित हो, तब भी वह भी इतर छायापात के होते हुए भी, यथासम्भव शुद्ध आकृति है। पश्यन्ती भूमि में ही दर्शनमात्र से ही 'अवितथ' नहीं होता। किन्तु, यथासम्भव अविकल होना चाहता है, यदि बाधक वा परिपन्थी की प्रबलता नहीं होती। इसलिए—

५. तथात्वप्रत्यक्त्वे सति विपक्षवेधगौणसापेक्षत्वसम्बन्धावच्छिन्नसत्तादिकत्वम्।

तथात्व अवितथ भी नहीं, ठीक अविकल भी नहीं, अथ च विपक्ष (बाधकसंस्कारादि) जनित जो 'वेध' है, वह यदि गौण ही हो, एवं गौणभाव से ही सपक्षद्वय की जो सापेक्षता है, उसे विशेषित (qualify, condition) करे, तो तत्त्व की सत्तादि का जो रूप है, वह 'प्रत्यक्' आकृति के पर्याय में पड़ेगा। मान लें, तुम जापक हो, प्रणवादि तुम्हारा जप्य है। तुम दोनों सपक्ष हो। प्रणव ब्रह्मवाचक है, उनका सपक्ष-विपक्ष

क्या है ? तब कृपापरवश वे तुम्हारे सपक्ष हुए। किन्तु तुम्हारे विपक्ष राजस-तामस (घूम्र-धूम) अनेक हैं। इनका वेध भी है (व्याधिस्त्यानदौर्मनस्यादि)। मान लें, वेध रहकर भी गौण है, सुतरां सापेक्ष भाव को वेधमुख्य नहीं बना रहा है। ऐसे स्थल में प्रणव के व्याहरणानुस्मरणादि में, जो आकृति है, वह प्रत्यङ्मुखी है। इस क्षेत्र में घूम-घूम्र के मार्जन में घूमा-घूम्रा आकृति का सविशेष उपयोग है। क्यों—वह सोचकर देखें। साधारण भाव से—बहुत धुआँ भरा है – बंद कमरा खोलकर उसे फैल जाने दो। वही 'आ' स्वर है। घूम के 'म' में (स्पर्शान्त में) जो ज्वाला (चक्षुरादि में) है, उसका परिहार कैसे होगा? घूम-स्थल को आवृत करो, अधूम-स्थल को आयत वा आतत करो। फिर, वही 'आ' स्वर है।

६. तथात्वपराक्त्वे विपक्षवेधमुख्यसापेक्षसम्बन्धावच्छिन्नसत्तादिकत्वम्।

विपक्ष का (जैसे तुम्हारे जपादि में) वेध गौण न होकर मुख्य होने पर तथात्व का पराक्त्व—पराग्भाव होता है। तथात्व के अभिमुख में नहीं, परन्तु विपरीतमुख में, आकृति सम्भावित होती है। पूर्वोक्त (पञ्चमसूत्र में) की शुद्धिमुखता, इस स्थल में अशुद्धिमुखता है।

७. अतथात्वे सापेक्षस्य विपक्षवेधबाधितसत्तादिकत्वम्।

इस अन्तिम स्थल में जहाँ तत्त्व तथारूप न रहकर अतथारूप हो गया है सापेक्ष सम्पर्क में (सापेक्षरूप), तत्त्व के सत्तादिवेधबाधित (विरुद्ध हानोपादान-निमित्त-तिरोहित) आकृति को प्राप्त करते हैं। पहले जिस तथात्व की ओर विपरीत रूप पराक् की बात कही गई, उस पराक् की काष्ठा कहाँ है?—इस प्रकार वेधबाधित अतथाभाव में। नाम-जप में 'अपराध'—यह पराक् की विमुखीन प्रवणता है। अपराध के नितान्त गुरु होने पर नाम का 'तत्सापेक्ष' तिरोभाव होता है। नहीं तो, नाम एवं नामशक्ति दोनों ही तत्त्वतः निरपेक्ष हैं। सापेक्षता में आते ही आविर्भाव-तिरोभावादि का प्रसग उठता है।

आकृति के सम्बन्ध में और अधिक विस्तार अब अनावश्यक है। इस सप्तभूमि में आकृति को 'आकरण' बनाना होगा। नहीं तो, ठीक आकृति नहीं मिलेगी। जपादि का उदाहरण ही दिखाया गया। अपरा विद्या में (विज्ञानगणितादि में) यह सब पर्याय यथासम्भव उदाहृत हैं। अर्थात्, आकृति एक सार्वभौम पदार्थ है। अब कारिका—

रज्जुः सर्पाकृतिर्वैषा चात्मा देहाकृतिः पुनः।
एवं यामाकृतिं धत्ते प्रकृतेः सा भुवर्वशात्॥
पारस्परिकसापेक्षे प्रत्यक् परागिति द्वयम्।
वेधमुख्यत्वगौणत्वे यथोपयोगमाकुरु॥
कायच्छाये च मायेति त्रिधा चेह स्थिताकृतिः।
कुण्ठिता गुण्ठिता चापि लुण्ठिता चाबपूर्विका॥ ६३–६५॥

अन्वय—एषा रज्जुः सर्पाकृतिः वा, आत्मा च पुनः देहाकृतिः। एवं प्रकृतेः वशात् याम् आकृतिं धत्ते सा भुवः ॥ ६३ ॥

पारस्परिकसापेक्षे प्रत्यक् पराक् इति द्वयम्। वेधमुख्यत्वगौणत्वे यथोपयोगम् आकुरु ॥ ६४ ॥

इह च कायच्छाये माया इति च त्रिधा आकृतिः स्थिता। अवपूर्विका च कुण्ठिता, गुण्ठिता, लुण्ठिता च अपि ॥ ६५ ॥

[यह रज्जु सर्पाकृति है, और फिर आत्मा देहाकृति है। इस प्रकार प्रकृति के वश से (आत्मा) जिस आकृति को धारण करता है, वह भुवः है ॥ ६३ ॥

पारस्परिक सापेक्ष (आत्मा) में प्रत्यक् और पराक् ऐसे दो (पक्ष) हैं। वेध की मुख्यता-गौणता में यथोपयोग आकरण करो ॥ ६४ ॥

यहाँ पर काया-छाया और माया ऐसी त्रिधा आकृति स्थित है, जो क्रमशः अवकुण्ठिता, अवगुण्ठिता और अवलुण्ठिता है ॥ ६५ ॥]

भाष्य—प्रकृति (तत्त्व से अनन्तरित तथात्व) है, वह 'भुवः' अर्थात्, अन्तरिक्ष वा अन्तरित रूपता के 'वश में' (इस स्थल में—'चेह'—साधारण प्रत्यय भूमि का प्रसंग है, नहीं तो, पूर्वोक्त शुद्ध आकृति के स्थल में कोई वश्यता नहीं) रज्जुसर्पाकृति, देहात्माकृति प्रभृति आकृतियाँ धारण कर रही है। शुद्ध भूमि में वश्यता नहीं है, किन्तु स्वीकार वा इस प्रकार अनिर्वाच्य कुछेक है। पहले जिस आकृति को शुद्धाशुद्ध उभय भाव से सप्तधा दिखाया गया उसके घटक संक्षेपतः कहे गए द्वितीय श्लोक में। इस घटक का यथोपयोग आकरण करें (आकुरु)। 'इह'—अर्थात्, साधारण प्रतीति स्थल में—कायाकृति, छायाकृति एवं मायाकृति, इन तीन रूपों में आकृति को स्थित देख सकते हैं। अवकुण्ठित, अवगुण्ठित, अवलुण्ठित—वे तीन उनके भेदक लिङ्ग हैं। वस्तु (काया) ठीक है, किन्तु स्वच्छन्द में नहीं है; वस्तु का जो स्वरूप है वह ढँका पड़ा है; वस्तु का जो स्वभाव है वह उस भाव में नहीं है। स्वभाव में परभाव, स्वधर्म में परधर्म अध्यस्त अथवा विद्ध हुआ है। दीप को वा जीव को निर्वातगृह में रखने पर वह स्वच्छन्द में नहीं रहता। चन्द्र-राहु द्वारा ग्रस्त होने पर, स्वरूप में नहीं रहता, प्रतिबिम्ब में भी ठीक रूप में नहीं रहता। दूध नष्ट होकर दूध की भाँति दिखाई देता है, किन्तु स्वभाव में नहीं, रज्जुसर्प, देहात्मा इत्यादि स्थल में भी नहीं। अवच्छेद, प्रतिबिम्ब, आभास—ये तीनों ही मायाबाद में माया के ही रूपभेद वा प्रकारभेद हैं। किन्तु, इस स्थल में हम अन्तिम दोनों दृष्टान्तों में (एक परिणाम, अन्य विवर्त) मायाकृति की परिभाषा दे रहे हैं। जहाँ ठीक भाव से नहीं, 'भाण' भाव से कोई आकृति फूटती है, वहाँ यही मायाकृति है। बाह्यादि साधारण अनुभव में इन तीनों का उदाहरण सर्वदा मिलता है। जपादि साधन

में इनकी खोज रखना होता हैं। व्याहरण-अनुस्मरणादि के व्यवहार में ये तीनों प्रश्न करके उनका जवाब पा लेना होता है। और, आकृति का शोधन करते हुए व्याहरण-अनुस्मरणादि को क्रमशः जो वेधरहित शुद्ध भूमि है, उसमें उठा लेना होता है। किसी द्वारा जपध्यान कुण्ठित हो रहा है या नहीं; किसी द्वारा छायाग्रस्त हो रहा है या नहीं, किसी द्वारा वह वञ्चित, प्रसारित हो रहा है या नहीं;—ये तीनों प्रश्न करके चलना होता है। काया, छाया, माया – इन तीनों को प्रयोजनानुसार स्थूल-सूक्ष्म सब प्रकार से लें। जैसे, कथञ्चित् सूक्ष्म में—जप में नाद-भाव काया है; व्याहरण में एवं अनुस्मरण में नाद-भाव का स्पर्श ही छाया है; और जप के अक्षरादि की जो जन्यत्व, नाश्यत्व, अभिघातादि बाध्यत्व इत्यादि साधारण आकृतियाँ हैं, वह है माया।

आकृति की आलोचना कुछ 'पारिभाषिक' रूप से हुई। जिन सब सिद्धान्तों का प्रसंग उपस्थित हुआ, वे सब विचार के प्रयोजन से नहीं आए हैं; जप के साधन में जो सर्व-सिद्धान्त-साधारण उदार आधारभूमि प्राप्त करनी चाहिए, उसी आधारभूमि के दिग्दर्शन के रूप में आए हैं। सिद्धान्त-संघर्ष एवं सिद्धान्त-संकर—इन दोनों का ही यथासम्भव परिहार करके अभ्यारोह एवं समावृत्ति साधन साधना होगा।

[उपसूत्र समाप्त]

अब विकृति का लक्षण—

२१. विकृतिः सत्यन्तरितत्वेऽतथात्वे चेतरवेधापत्तिः।

अन्तरित होने पर जो 'अतथा' भाव आता है, उस अतथाभाव में अन्य का वेध होने को विकृति कहते हैं।

आकृतिसूत्र में सप्तधा का विवरण देते हुए वेधसम्भव (गौण वा मुख्य) स्थल में विकृति को हमने पाया है। तत्त्व से अनन्तरित होने पर तो प्रकृति ही रही; किन्तु अन्तरित होने पर भी (जैसे पूर्वोक्त शुद्ध आकृति के स्थल में) उसे विकृति नहीं कहा जायगा, यदि, उस प्रकार अन्तरित होने से, तत्त्व (सत्तादि में) जिस रूप में था, उस रूप से च्युत नहीं हुआ। किसी रूप के अन्तरित होते ही, लक्षण में एवं परिभाषा में कुछ 'अन्तर' (difference) अवश्यम्भावी हो जाता है। यह भी खूब व्यापक अर्थ में अतथात्व ही है। किन्तु जो 'लक्ष्य' एवं 'अभिधेय' (The thing without respect to its logical appreciation and description) है, वह यदि तत्त्वतः हानोपादान का प्रतियोगी वा विषय नहीं होता है, (अर्थात् logical difference without real distinction), यदि तत्त्वतः, अर्थात्, सत्ताशक्ति इत्यादि के स्वत्व सम्पर्क में, उससे सचमुच ही कुछ बाद नहीं गया, अथवा युक्त भी नहीं हुआ;—तो ऐसे स्थल में उसे विकृति नहीं कहा जायगा। 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्च'—यहाँ कौन-सा विद्याविषयक है, कौन-सा अविद्याविषयक, इस प्रश्न को आचार्यों ने उठाया है, एवं विविदिषा के साथ विस्तर विवदमानता भी आई है। किन्तु, ब्रह्म के मूर्त भाव को

विकार वा विकृति नहीं कहते हैं, 'विवर्त' कहते हैं; एवं अद्वैत पक्ष में, विवर्त में तत्त्व की अन्यतापत्ति नहीं होती, यद्यपि अनिर्वचनीय ख्यातिवशतः अन्यथापत्ति सम्भव है। विवर्त को अन्यों ने अन्य प्रकार से भी समझा है - विशेषतः रसिक भावुकों ने। 'दोनों ओर' अस्ति और भाति; 'बीच में' प्रियं वा आनन्द वा रसवस्तु। दोनों ओर के ये दोनों मानो बीचवाले को 'निद्रित करके' रखे हुए हैं—रस के शान्त, मौन स्वलसित भाव से। रस अपने को शुद्ध 'अस्ति' और 'भाति' रूप से ही जान रहा है। रसिक लोग इसे परमता का स्वयं स्वादुभाव कहने को राजी होंगे; किन्तु सम्पूर्णता का स्वयमास्वादन-भाव कहने में कुण्ठाबोध करेंगे। आनन्द वा रस मानो जागकर अपने इस स्वयंवेद्य भाव को स्वयमावेद्य भाव में स्फुटित कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त रसवस्तु के उल्लास-विलासादि की 'लीला' नहीं होती, ऐसा लगता है। आरम्भ में रसवस्तु का 'मुख' है शुद्ध अस्तिता-भातिता की ओर; वह 'मुख' घूमकर फिर गया अपनी ओर; साथ-साथ, रसवस्तु के स्वरूपाकर्षण में, अस्ति-भाति भी, घूम गया उसीकी ओर। अपनी रसजागृति में यथासम्भव इस आदिम 'ब्रह्मवैवर्त' को मिला लें। रसवस्तु का स्वभाव ही है इस प्रकार ब्रह्मवैवर्त —यही स्वलसित है, यही फिर विलसित है। इससे रसवस्तु का अन्यथात्व (अन्यथाभाव-भासितत्व) होता है, किन्तु अन्यतापत्ति नहीं होती। जपसूत्र में, अन्यथा और अन्यता, इन दोनों का व्यवहार नहीं हुआ है, किन्तु 'अतथात्व' कहा गया है। ब्रह्म के अधिष्ठान में जीवत्वादि के अध्यास को अद्वैतपक्ष विकार वा परिणाम नहीं कहता। फिर रसिकपक्ष, रस में स्वलसित के आधार पर जो विलास-उल्लास है उसे भी विकार नहीं कहता। नित्य अपरिणाम के आधार पर परिणाम पक्ष भी, परिणाम मात्र को ही विकार नहीं कहता। आकार फिर जहाँ चलता है, विकार वहाँ भी अचल है। इसलिए 'व्यापक' जो 'अतथा' है, उसके साथ इतर रेखापत्ति को जोड़कर पक्षों को बुलाकर एक पंक्ति में बैठाना पड़ा है। सिद्धान्ताभिघात के कारण जो आवर्त है, उससे बचकर जप की तरणी को स्वच्छन्द चलाने के निमित्त यह सब किया गया है :

इसीलिए काम की बात है। याग में प्रकृतियाग, विकृतियाग, यह सब हैं; संगीत में शुद्ध एवं विकृत स्वरादि हैं। गणित में, विज्ञान में प्रमेय पदार्थ की प्रकृति एवं विकृति दोनों ही विवेच्य हैं। जैसे, सोडियम का 'स्पेक्ट्रम, प्योर कर्व' वा 'फार्मूला'; इत्यादि। जपादि में विकृत की खोज विशेष करके रखनी होती है, विशेषतः व्याज-विघ्न इन दोनों आकृतियों में। गायत्री-जप में 'धियो यो नः' विकृति है, तार चक्र में विलय में भी उदय का रूप विकृति है। सूक्ष्म के क्षेत्र में—प्राण और भाव की भूमि में विकृति की ही अतिवृद्धि है। Sub-conscious (अन्तश्चेतना, चित्त) के उपद्रव-उपसर्ग तो वहीं अधिकाधिक हैं। प्राणभूमि, भावभूमि, मनन-चिन्तनादि भूमि के जो सब रूप 'अतथा' हैं, अर्थात् स्वभाव में, प्रकृति में नहीं हैं, उन्हें (जपस्पन्द, भावच्छन्दः, एवं

ज्योतिःस्पन्द—इन तीनों के द्वारा) 'तथा' बना लेना ही तो साधन है। गणित में, विज्ञान में, संगीतादि के व्यवहार में अतथा का तथात्व साधन ही तो साधन है। जहाँ वैरूप्य-वैगुण्यादि (वे एक ग्रह के कक्ष-वर्त्म में ही हों, या संस्कार की भूमि में ही हों) हैं, वहाँ इस 'वि' को कैसे 'सम' बनाया जाय, यही तो चिन्ता की बात है। जो 'इतरवेधापत्ति' है, वह, आकृति के विचार से जिस प्रकार दिखाई गयी है, शुद्ध स्थल में सचमुच ही नहीं होती। अभी पहले जो दो प्रकार के विवर्तों की बात हुई, उनमें भी नहीं होती। नित्य अपरिणामी, परिणाम में पहुँचकर भी विद्ध नहीं होते। इन सब बातों में, किसीने सम्मति दी, किसीने नहीं दी। किन्तु जपादि में ये सब 'वाद' छोड़कर एक सुस्थिर-सामान्य आधार पर स्थित होना ही श्रेयस्कर है। अभ्यारोह और समावृत्ति सुष्ठुभाव से होने पर, महासमन्वयी एवं परमसमन्वयी भूमि में पहुँच हो जाती है। वहाँ सर्वविसंवादसंवादिनी स्थिति है। Supreme Synthesis and Reconciliation। किन्तु विसंवाद छोड़कर स्वानुबन्धानुरोध से सिद्धान्त-समाश्रय होना चाहिए। इसी स्वीयानुबन्धानुरोध का रास्ता स्वच्छन्द में खुला रखकर ही जपसूत्र में विज्ञेय-एक-साधारण-तत्त्व-तथ्य-मार्ग-चर्याधार को प्रस्तुत करने का यत्न हो रहा है! 'तथा' शब्द खूब व्यापक अर्थ में 'ठीक उस प्रकार', 'ठीक उस भाव से' इत्यादि समझाता है। न्याय की रीति से एक 'माँजा-घिसा' लक्षण भी दिया जा रहा है। तत्प्रकारता, तद्-विशिष्टता इत्यादि का जहाँ अभाव है उस अभाव का प्रतियोगित्व इस तथात्व में है। यह भी मोटामोटी है। और भी बहुत सूक्ष्म कारीगरी चल सकती है। इसका अब क्या प्रयोजन है? इस तथा का तो घेरा है। किन्तु आकृतिसूत्र ६।७ में इन दोनों में ही 'अतथा' वेधरूपता में ही दिखाई दिया है। और, पक्षद्वय के परस्पर वेध के बिना, इतर (अन्य) विपक्ष का वेध यदि सम्भव हो, तब उस क्षेत्र में, आकृति का जो गुरुव्यतिक्रम है, उसे विकृति कहना उचित है।

'वेध' शब्द को भी अच्छी तरह समझना आवश्यक है। बाद में सूत्र भी है। यहाँ, दो वृत्त अंकित करके परस्परवेध एवं इतरवेध की एक छवि आँक लें; मान लें, वर्गीय समीकरण है—quadratic equation। इसमें अज्ञात राशि एक ही होती है। इसकी आकृति में 'c' कहकर एक राशि को भी दिखाया जाता है। इसका मान किन्तु प्रस्तावित किसी स्थल में ध्रुव (constant) है। किन्तु यह यदि ऊपर एक अज्ञात द्वारा (मान लें y) इस प्रकार विद्ध हो कि, यह उक्त प्रस्तावित स्थल में भी, अध्रुव हो उठे, तब उक्त समीकरण का 'दो मूल' के द्वारा जिस प्रकार समाधान किया जाता है उस प्रकार नहीं होगा। सत्ता, शक्ति, छन्दः एवं आकृति, इन चारों में विपक्षवेध सम्भावित है, एवं जपादि साधन में इस वेध का उद्धार (लक्ष्मण के उस शक्तिशेल की भाँति) होता है। जैसे, जप में अक्षर वा वर्ण (अउम् इत्यादि) को यदि कहें सत्ता,

प्राण और भाव को कहें शक्ति, व्याहरणादि की यथार्थ रीति को कहें छन्दः, और अर्ध-मात्रादिसह सम्पूर्ण आकृति को कहें आकृति, तब इन सबमें से किसीमें भी वेधजन्य-विकृति को आने देना उचित नहीं।

आकृति की भाँति वेध को भी काया-छाया-माया, इन तीन प्रकार से परखना होता है। अक्षर कहें, नाद कहें, ज्योति कहें, भाव कहें—जपकाल में जिसे स्पष्टतः एवं मुख्यतः लेकर जप चलता है, वही तत्काल काया है; इसी काया के साथ अनुषङ्ग वा आनुषङ्गिक भाव से जो रहता है वा रहना चाहिए, मुख्य के उपकारक भाव से, मुख्य की 'सेवा' करके वह छाया है। और, इन दोनों के अतिरिक्त जो कुछ कल्पित-आरोपित भाव से रहता है अथवा रहना चाहता है, वह माया है। सृष्टि के सब कुछ में ही यह त्रिधा-विन्यासरूप है। अब, कोई वेधाशंका होने पर, इन तीनों में से कौनसा 'विद्ध' हुआ—यह सोचकर, देखकर प्रतीकार करना होता है। मुख्यप्राण असुर विद्ध नहीं होते—ऐसा श्रुति कहती है। सुतरां, जपादि को मुख्यप्राणभूमि में पहुँचा सकने पर, वेधाशंका तिरोहित हो सकती है। वह कैसे हो? नादादि सन्धान से। इसमें मुख्य प्राण की जो अवेध्य भूमि है वहाँ का पथ खुल जाता है, किन्तु साथ-साथ एक बार में ही नहीं। नाद, ज्योतिः, भाव—इनके साथ समाश्रय करते हुए 'बहुत दूर तक' चलने पर, बहुत चढ़ाई-उतराई पार करने पर, तब मिलता है—यह वेधरहित। बाधरहित और भी आगे है। वेधभूमि में एक सङ्कटस्थान है वह हुआ—वधभूमि। इसे लाँघकर, शंकरधारा के आश्रय में, अवेधभूमि में (अर्थात्, शुद्ध में) आना पड़ता है। आ सकने पर तब बोध-भूमि है—शुद्ध ज्ञान की एवं शुद्ध रस की। इस शुद्धि के फिर 'बाधमात्रविरह' रूप होने पर, बाधभूमि भी समाप्त हो गयी। तब, 'स्वतःसिद्ध' भूमि है। इस भूमि में 'साध' और 'बाध' दोनों की ही परमता है।

वेध के सम्बन्ध में जो सूक्ष्म विज्ञानभूमि है, उस पर बाद में फिर दृष्टिपात होगा। अणु से महान् पर्यन्त विश्व में, अन्तर्बहिः स्थितिस्थापकता (elasticity) दिखाई देती है। विकार (strain) एवं संस्कार (stress)—सर्वत्र सहग और सहानुपाती होकर विद्यमान हैं। अनुपात कहीं सौषम्य, कहीं वैषम्य की ओर है। सितार वा बेला के तार वा ताँत एक प्रकार से बाँधने पर (strain करने पर), सुषमता होती है, अन्य भाव से नहीं, इत्यादि। भीतर के व्यापार में भी वही है। विकार के बेढब हो जाने पर, संस्कार कहता है—मेरा काम नहीं, शङ्कर वा शङ्करी को बुलाओ। लट्टू घूम रहा है, एकाध धक्का सम्हालकर वह फिर स्वच्छन्द घूम सकता है। पातक के पौनःपुन्य में पातित्य होता है। इन सबके मूल में मौलिक स्पन्द वितान है। इसलिए, एनस्, मन्यु, पाप्मा—इस ओर इतने वेध-सङ्कर में नहीं आने देना चाहिए, जिससे कि संस्कार—प्रकृति की अपनी स्थितिस्थापकता को 'जवाब' देना पड़े, अथवा, अन्यत्र उँगली दिखा देनी पड़े।

और एक बात। वेधमात्र ही बाधक नहीं भी हो सकता है। व्याधि के शरीर में अस्त्रोपचार क्या बाधक है? दूध सड़कर नष्ट होने पर, एक प्रकार है, बढ़िया दही बन जाने पर और एक प्रकार है। दोनों ही विकार हैं। हमारे भुक्त द्रव्यों का विकार में आकर ही परिपाक होता है। उदर में जाने पर जैसे का तैसा होने पर—गोलमाल है। याग में विकृतियाग भी आवश्यक है, गान में विकृत स्वर भी होता है, इसलिए, विकृति को भी, प्रयोजनानुसार, हेय न करके उपादेय बनाना पड़ता है। इस विकार में सड़े दूध की दुर्गन्ध नहीं, ताजे बढ़िया दही का सुघ्राण है। बास में भी अच्छा है, रस में भी अच्छा है। मान लो, तुम्हारा जप साधारणतः सोम मात्रा में ही चलता है, और उसमें अच्छा ही चलता है। किन्तु 'स्त्यान' आ गया। गुरु ने कहा—कुछ दिन अग्नि मात्रा में जाओ। इस विकार में संस्कार ही होता है। पेट में शुद्ध दूध सहन न होने पर व्यवस्था होती है। प्यार करते हो, ठीक ही, फिर भी तो बीच-बीच में 'मान' करते हो, मुँह फेरते हो! उससे रस का बाध नहीं होता है, साध ही होता है इसीलिए तो। तब फिर विकार दो प्रकार का है—सङ्कर विकार, और शङ्कर विकार। यह सब प्रसंग आगे विशद होता रहेगा, ऐसी आशा है।

दोनों ओर बहुत-सी 'चोर-बालू' से बचकर डरते-डरते पैर बढ़ाना पड़ रहा है। फिर भी इस प्रसंग में सब बातें आभास में भी कही गई हैं। अब कारिका—

द्वे वृत्ती अन्तरीक्षे स्तः स्वर्भूरित्यत्र मेलनात्।
एकया ह्रियते सर्वमन्यया पूर्यते तथा॥
एतयोः सहपातित्वेऽन्यथाभावेऽपि तत्त्वतः।
वेधे प्रसज्यमाने च विकृतिर्व्यपदिश्यते॥
सहपातित्वानुपातित्वाद् व्याप्यन्ते गुणकर्मणोः।
वृत्तयो वक्रजिह्माद्या अनुलोमविलोमतः॥ ६६-६८॥

अन्वय—स्वर्भूरित्यत्र मेलनात् अन्तरीक्षे द्वे वृत्ती स्तः। एकया सर्वं ह्रियते, तथा अन्यया आपूर्यते॥ ६६॥

एतयोः सहपातित्वे तत्त्वतः अन्यथाभावेऽपि वेधे प्रसज्यमाने च विकृतिर्व्यपदिश्यते॥ ६७॥

गुणकर्मणोः सहपातित्वानुपातित्वाद् वक्रजिह्माद्या वृत्तयः अनुलोमविलोमतः व्याप्यन्ते॥ ६८॥

[स्वः और भू को मिलाने से अन्तरीक्ष में दो वृत्तियाँ होती हैं। एक के द्वारा सब-कुछ का हरण होता है और दूसरी के द्वारा पूरण॥ ६६॥

इनके एक साथ होने पर तत्त्वतः अन्यथाभाव होने पर भी, वेध का प्रसङ्ग आने पर विकृति कही जाती है ॥ ६७ ॥

गुण-कर्म के सहपाती-अनुपाती होने के कारण वक्र-कुटिल आदि वृत्तियाँ अनुलोम-विलोम रूप से व्याप्त होती हैं ॥ ६८ ॥]

भाष्य – पूर्वालोचित स्वः एवं भूः के अन्तरिक्ष में मिलित होने से अन्तरिक्ष में युगपत् दो वृत्तियाँ हैं—हरण और पूरण। अर्थात् निखिल पदार्थ में ही 'अन्तर' वा व्यवधान तत्त्व पड़ा हुआ है, और उसकी ये दो वृत्तियाँ हैं। जैसे, मान लें, चित्त में, जीवकोष में (metabolism), इत्यादि। इन दोनों का सहपातित्व वा सहगत्व होने पर, जो तत्त्व (Thing as it is, without plus or minus) है, उसका अवश्य अन्यथात्व होता है। क्योंकि, हरण भी हो रहा है, पूरण भी हो रहा है। किन्तु मान लें कि यह हरण-पूरण ठीक स्वच्छन्द में (in its own rhythm) नहीं रहा, वेध आ गया (कोई intruding, interfering factor)। तब क्या हुआ ? विकृति। निखिल पदार्थ के गुण एवं कर्म की वक्रजिह्मादिक नाना वृत्तियाँ, अनुलोम में अथवा विलोम में, दिखाई देती हैं (बाहर भी, भीतर भी), वह निर्भर करती हैं—इस अन्तरिक्ष की हरणी पूरणी, इन दो सहगा वृत्तियों के अनुपात (ratio) के ऊपर। जैसे बाहर में—किसी ग्रह के अपने कक्ष में 'व्याज' दिखाई देने पर समझा जाता है, अन्य कोई ज्योतिष्क उसे अपने आकर्षण में वेध कर रहा है। यहाँ अनुपात का ही प्रश्न है। साधन में कामादिवासनाजन्यवेध—प्रायशः जप में ध्यान में कीर्तन में इस प्रकार जिह्मता कराता है। वासनावेध में भी गुरुवेध है। आरम्भ में इसका Isolation, मध्य में elimination, अन्त में sublimation करने का उपाय देखना होता है। वह जो 'अनुलोम' कहा गया है, उसमें शत्रुपुरी में भी मित्र को भी प्राप्त कर लेने का संकेत है। कामना-वासना विलोमा हैं, इसलिए प्रमाथिनी हैं; अनुलोमा बना लो, वे हो जायँगी प्रमन्थिनी। काम के द्वारा काम, क्रोध के द्वारा क्रोध, लोभ के द्वारा लोभ को प्रमथित करो, तब वे लोग फिर तुम्हें प्रमाथित नहीं करेंगी। जप में नाद एवं भाव ये दोनों ही 'अन्तर्गोपौ'—भीतर रक्षक हैं। द्वितीय खण्ड के परिशिष्ट (क) में जो 'निरक्षा' भूमि है, वहाँ वेध का प्रश्न ही नहीं है[1]। 'ध्रुवाक्ष' में वेध प्रतिहत होता है, यथा उस दिव्य किरात कलेवर में। 'अन्तरक्षा' वेध सम्भावित है, किन्तु नाद और भाव रक्षा में हैं। उन्हें छोड़ना नहीं चाहिए और 'बहिरक्षा' में वेध से बचना कठिन है। [सहपातित्व = Co-incidence; अनुपातित्व = Co-ordination and correlation, Proportionality, स्थूल रूप से इस प्रकार।]

२२. प्रकृतिमुद्दिश्य व्यापारवत्त्वं प्रत्ययत्वम्।

प्रकृति को उद्देश करते हुए (in regard to, with reference to) व्या पार-

वत्ता को प्रत्ययभाव समझें। [यहाँ प्रति + अय (ई धातु) उसमें जो 'प्रति' है, उस गति को केवल तदभिमुखीन (to-wards) अर्थ में नहीं लिया गया। किन्तु प्रकृति-सम्बन्ध सापेक्षत्वावच्छिन्न जो व्यापारवत्ता है, उस व्यापारवत्ता के प्रतियोगी भाव में (अर्थात् किसका व्यापार, कौन व्यापार ?) लिया गया। 'व्यापार' शब्द न्यायादि की परिभाषा के अनुसरण से ठीक लिया भी नहीं जा रहा है। जप साधनशास्त्र है, इसी-लिए मुख्य प्राण (बाद में सूत्रित) के किस विषय में, 'किस ओर' इत्यादि विशेष-विशेष 'मान' स्वीकार करते हुए गतिप्रयोगादिरूप जो वृत्तिमत्त्व है, वह प्रत्ययरूप में इस स्थल में अभिप्रेत है। खूब ही व्यापक लक्षण है; व्याकरण में प्रकृति के सम्बन्ध मे जो प्रत्यय होता है वह भी छूटा नहीं; चित्त का, बुद्धि का भी नहीं।]

आकृतिभिश्च स आकार्यविध्यो विकृतिभिः पुनः।
उद्दिश्य प्रकृतिं याति भावज्ञानक्रियात्मकः ॥ ६९ ॥

अन्वय—भावज्ञानक्रियात्मकः सः आकृतिभिः विकृतिभिः च आकार्यविध्यः। पुनः प्रकृतिं उद्दिश्य याति ॥ ६९ ॥

[भाव-ज्ञान-क्रियात्मक वह (प्रत्यय) आकृतियों और विकृतियों से आकार्य और आवेध्य है और फिर प्रकृति की ओर जाता है ॥ ६९ ॥]

भाष्य—पूर्वोक्त आकृतियाँ प्रकृति को नाना भाव से आकारित करती हैं; विकृतियाँ नाना भाव से वेधविद्ध भी करती हैं कितनी दूर तक (आ); प्रकृति का इस प्रकार आकरण-आवेधनादि करके प्रत्यय व्यापाररूप में चल रहा है। प्रत्यय का जो व्यापार है उसकी अवश्य समग्र विस्पष्ट छवि वा आकृति है, वह इस आकृति-विकृति में ही नहीं मिल रही है। प्रतिकृति-अनुकृति-प्रकृति के योग में वह फूट सकती है; तब आन्तर-दृष्टि में प्रत्यय को भावना-ज्ञान-क्रिया इन तीन रूपों में पहले ही पहचान लें। भाव = होना, होने जाना (to be and to become); मन की ओर से यह 'Feeling' we are and become as we feel) है। द्वितीय, जानना (to apprehend, know) 'Thinking' है; और उस डेकार्ट का 'cogito ergo sum '—'जान रहा हूँ, अतएव हूँ'—स्मरण करें। तृतीय, करना (सङ्कल्प और कार्य)—'willing'; पुनश्च, सोपेनहावर का The world as will—स्मरण करें। योगवाशिष्ठ आदि ने भी विश्व की इस चित्तसङ्कल्परूपता वा स्पन्दरूपता को बहुधा 'प्रपञ्चित' किया है। ये आन्तररूप (to-be, to-know, to-do) मौलिक प्रत्यय हैं। बाहर में इनका संकोच-रूप है। यह प्रत्यय प्रसंग के अनुसार होता है, इसीलिए यहाँ और विस्तार नहीं है। तब एक दृष्टान्त है। जप में मन्त्र, ऋषि, देवता, छन्दः एवं विनियोग—बहु पञ्चावयव रहते हैं। मन्त्र को यदि कहें प्रकृति, ऋषि और देवता हुए शुद्ध आकृति, विनियोग प्रत्यय; छन्दः सन्धिरक्षा एवं पुष्टि दोनों ही करता हैं। अर्थात्, छन्दः (प्राण में, भास

में एवं रस में) सन्धि में रहकर प्रकृति की जो शुद्ध आकृति है, उसकी विषम विकृति से रक्षा करता है, एवं मन्त्र की जो परमा प्रकृति है, उसको प्राप्ति करता है। इसीलिए, 'सन्धि को पकड़ो'। छन्दोभङ्ग मत होने देना।

२३. वाक् कायबुद्धिप्रत्यया अपि।

(जप के सम्बन्ध में उपयोग relevancy और भी विस्पष्ट हो रहा है इस सूत्र में।)

प्रत्यय को वाक्प्रत्यय, कामप्रत्यय एवं बुद्धि वा धीप्रत्यय—इन तीन आकृतियों में भी लें।

जैसे, साधारण गायत्रीजप में—वाक्प्रत्यय है व्याहरण; कायप्रत्यय है पूर्वास्यादि-पूर्वक आसन, यतेन्द्रियभाव, प्राण की समता, इत्यादि; धीप्रत्यय है—'धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'—इसीमें धीवृत्ति का साहित्य है। ये सब दृष्टान्त एक साधारण आकृति में लाये जा रहे हैं—

वाचाङ्गेनापि बुद्ध्या च कारकान्वयवृत्तिता।
प्रत्यये सति वर्त्तन्ते वाक्प्रत्ययादयः क्रमात् ॥ ७० ॥

अन्वय—वाचा अङ्गेन बुद्ध्या अपि च कारकान्वयवृत्तिता। प्रत्यये सति वाक्प्रत्ययादयः क्रमात् वर्तन्ते ॥ ७० ॥

[वाणी, अङ्ग (शरीर) और बुद्धि से कारकान्वयवृत्तिता होती है। प्रत्यय होने पर वाक्-प्रत्यय आदि क्रमशः रहते हैं ॥ ७० ॥]

भाष्य—वाक् के द्वारा हो, या अंग के द्वारा ही हो या बुद्धि के द्वारा ही हो—प्रत्यय का जो 'अय' (गति-वृत्ति) है, वह 'अनु' पश्चात् गमन करता है, अनुषंग करता है—imply and enquire करता है किसका ? कारक का। गीता में—'अधिष्ठानं तथा कर्ता' इत्यादि रूप में इस कारक का ही समाचार दिया गया है, और, बाद में जो कहा गया है उसे भी देखें। 'कारक' कहने से—कौन ? किसे ? किसके द्वारा ? किसके निमित्त ? इत्यादि अनेक प्रश्न आते हैं। प्रत्यय को 'तोड़कर' देखने जायँ तो कुछेक मूल प्रश्न उठते हैं। जैसे, वाक् जप कर रही है। कौन कर रहा है, क्या कर रहा है, किसके द्वारा कर रहा है, किसलिए कर रहा है, कहाँ से कर रहा है, किसके सम्बन्ध में कर रहा है (षष्ठी का भी ग्रहण हुआ), किस अधिकरण में कर रहा है—इन सब कारकान्वय वृत्तियों को न लेने पर तो इस जपरूप वाकप्रत्यय का ग्रहण नहीं हुआ। काय एवं धी के सम्बन्ध में भी यह कुछेक मूल प्रश्न हैं। सबको लेकर प्रत्यय का 'आधार-पट' है। प्रत्यय की रेखा (curve) को इस आधार में स्फुटित होने देना होगा। तब मिलेगी पूरी आकृति—complete picture के निमित्त 'X-ray' का प्रयोजन भी है। प्रत्यय को काटकर टुकड़ा बना लेने पर लाभ नहीं होता। 'पूरे' को यदि कहें

ब्रह्म, तब—माऽहं ब्रह्म निराकुर्याम् । अर्थात् प्रत्यय के 'प्रत्ययय्योग्य' पूरे रूप और भाव को मैं कहीं निराकृत करके ही न रखूँ । रेखा की बात आई, इसीलिए—

२४. अणुतनूरव ऋजुवक्रप्लुताश्चापि ।

प्रत्ययवृत्ति सार्वभूमिकी है—सर्वभूमि में ही प्रकृति को उद्देश करके (गणित में जैसे, 'Base', 'Origin', 'Frame', 'Field as given' इत्यादि होते है) प्रत्ययरूप व्यापारवत्त्व है ही, एवं प्रत्येक स्थल में ही (स्पष्टतः अथवा अन्यथा) यह 'कारकान्वय' भी है। अन्वयनिर्णायक सूत्र (Equation) को प्राप्त कर सकें तो प्रत्यय को निरूपित (कम-से-कम अंशतः) रेखाचित्र में दिखाना भी सम्भावित होता है । रोग में ताप वा अन्य परिमेय उपसर्ग भी (गणित की सूक्ष्मता के अभाव में भी) रेखा में दिखाए जाते हैं । इससे रुज् प्रत्यय के सम्बन्ध में विद्या का विनियोग सम्भव होता है । जप में भी वही है । प्रथमपाद में छन्द के प्रसंग में यह सोदाहरण आलोचित भी हुआ है । अब कहा गया कि—

एक आकृति में प्रत्यय अणु-तनु-ऊरु, अन्य आकृति में ऋजु-बक्र-प्लुत है । केवल बहिर्विज्ञान में नहीं, जपादि साधनस्थल में भी इस त्रिपुटीद्वय का सविशेष उपयोग है ।

ऊरुर्व्यक्तं तनुः सूक्ष्मं कारणमुद्दिशेदणुः ।
प्लुतिविप्लुतिसंप्लुतिरूपा प्लुतिस्त्रिधा मता ।
ऋजुस्तत्त्वं छविं वक्रः प्लुतश्च धुरमिच्छति ॥ ७१ ॥

अन्वय—ऊरुः व्यक्तं, तनुः सूक्ष्मं, अणुः कारणम् उद्दिशेत् । प्लुति-विप्लुति-संप्लुतिरूपा प्लुतिः त्रिधा मता । ऋजुः तत्त्वं, वक्रः छविं, प्लुतः च धुरम् इच्छति ॥ ७१ ॥

[स्थूल व्यक्त को, तनु सूक्ष्म को, और अणु कारण को दिखाता है । प्लुति, विप्लुति, संप्लुति—इस प्रकार प्लुति तीन प्रकार की मानी गयी है । ऋजु को तत्त्व की, वक्र को छवि की और प्लुत को धुर की अपेक्षा रहती है ॥ ७१ ॥]

भाष्य—स्थूल जो व्यक्त है, उससे, पूर्वोक्त कारकान्वय में, अर्थात्, कौन, किसे इत्यादि भाव से, जो प्रत्यय है, वह ऊरु है । जैसे टेबल के ऊपर तुम्हारी एक गेंद है, मैंने, हाथ से गेंद को टेबल से हटाकर जमीन पर रख दिया । इस स्थल में प्रत्यय बराबर स्थूल में व्यक्त-भाव से ही हो रहा है । विज्ञान में Molar, Molecular, Atomic, Sub-Atomic इत्यादि क्रम से प्रत्यय को क्रम से सूक्ष्म में लाया जाता है । सूक्ष्म में, एक सीमा पार होने पर, पहले का छन्दः बदल जाता है, ऐसा भी दिखाई देता है । चिकित्सा में एलोपैथी भी क्रमशः सूक्ष्म में उतरती है, होम्योपैथी का तो सूक्ष्म में ही कारोबार है । जप में स्थूल वैखरी रूप में—प्रत्यय व्यक्त एवं स्थूल ही

समझ में आता है; किन्तु सूक्ष्मा गति है। मध्यमा में सूक्ष्मभाव प्रधान है। सूक्ष्म में जाने पर प्रत्यय को कहते हैं तनु। और, कारण में अणु। मध्यमा में अव्यक्त सूक्ष्म—गाढ़ता (density) अधिक है। 'स्फोट' इस मध्यमा को आश्रय करते हुए अव्यक्त रहता है। किन्तु व्यक्त की भूमि केवल स्थूल वैखरी ही नहीं है। वैसी हो तो जो, 'द्रष्टा', 'ऋषि' हैं उनका मन्त्रादिदर्शन स्थूल होता, एवं स्थूल के जन्यत्व-नाश्यत्वादि धर्म से आक्रान्त होता। पश्यन्ती में सूक्ष्म—वितत (expanded), विशोधित (refined) एवं सुव्यक्त है। यहाँ कारण का सन्धान (अणुप्रत्यय) भी शुरू होता है, किन्तु समाप्त होता है परा में। क्योंकि, परा भूमि में गये बिना मूल प्राणब्रह्म स्पन्दन को ठीक-ठीक 'प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्' रूप में नहीं पाया जा सकता।

अन्य दृष्टि से, प्रत्यय फिर त्रिविध हैं—ऋजु, वक्र, प्लुत। उसके बीच तत्त्व को ही 'प्रकृति' बनाकर उससे एवं तदभिमुख जो प्रत्यय है, वह ऋजुप्रत्यय है। जिसमें हान वा उपादान इन दोनों का निषेध है, वह तत्त्व है। Pure Thatness। निर्व्यूढ़ भाव से लें, किंवा सापेक्षभाव से भी व्यवहार में ले सकते हैं। अब, तत्त्व के सम्बन्ध में प्लस्-माइनस्—दोनों का यदि निषेध करें, तब उसके सम्पर्क में जो 'अन्तर' वा 'व्यवधान' होगा वह उदासीन (neutral) का रूप ग्रहण करेगा। आपेक्षिकतावाद की चर्चा में, वह अन्तरिक्ष (Space-Time Interval with respect to that pure Thatness), सूक्ष्म होगा, अवक्र ('even') होगा। उसमें किसी प्रकार पक्षपातादि-जनक संस्कारवेध (intrinsic unevenness and Partiality) नहीं रहेगा। इसी-लिए उस सम्बन्ध में प्रत्यय के वक्रादि होने का हेतु नहीं रहा। इस निमित्त, जपादि-साधन में जिस परिमाण में अस्मिताधार पर 'रागद्वेषाभिनिवेश' इस अनृतत्व-अनृजुत्व-उत्पादक (Factor) को शून्य के पास-पास ला सकेंगे, उतना ही प्रत्यय वक्रता छोड़-कर ऋजु होगा। ऋजु होने का, आर्जव का साधन वही मुख्य साधन है। उत्पादक 'वासना' क्षेत्र में ही अधिक वास करता है। 'असतो मा' इत्यादि अभ्यारोह तो अनृत-अनृजु को ऋत-ऋजु बनाने की सरणि है। समावृत्ति में समापन है।

तत्पश्चात् वक्र है। यह 'बाँका' वा 'बाँके' होने पर तो उत्तम होता है, किन्तु 'बेंका' होने पर भयानक हो जाता है। वक्र को छोड़कर तो कुछ भी नहीं होता, नहीं हो रहा है और नहीं होगा। किन्तु वक्र का जिह्मक्रूरादि रूप समाप्त कर, उसे 'उदासमुख' बनाना होगा। अर्थात्, वह केवल टेढ़ा-मेढ़ा होकर बन्धन के ऊपर बन्धन ही नहीं फँसाता रहेगा, वह बन्धन की कड़ी गाँठों को और भी कड़ी नहीं करता चलेगा। परन्तु उल्टे पेंच से उन सबसे 'अलग' होने की ही चिन्ता दिखाएगा। अन्त में फिर प्लुत है। प्रत्यय का जो 'मान' (measure-quantitative, qualitative) है, धारारूप में (प्लव) चलना ही चाहता है। ह्रस्व से दीर्घ, दीर्घ से प्लुत—इस प्रकार एक ओर

वेगवान् होने पर प्लुत होता है। विपरीत दिशायें—ऋणमुखी होने पर विप्लुत होता है। फिर, आरोह-अवरोह—तल, लम्ब, वेध—इन तीनों के होने पर संप्लुत होता है। जैसे, तारचक्र में उदय में प्लुत, विलय में विप्लुत, समग्र अभ्यास में (मेरुलङ्घन न करते हुए)—complete revolution में संप्लुत होता है। प्रणवादि के द्वारा यह संप्लुत-भाव संसिद्धि होने पर—'तावान् सर्वस्य वेदस्य' इत्यादि। अर्थात्, ऐसा होने पर, सर्ववेद का जो 'अर्थ' (प्रयोजन) है, वह अर्थ चरितार्थता में आता है। 'वेद-टेद सब बह जाते हैं'—यह अर्थ नहीं है। जप के प्रत्यय में इस प्लुति का विचार अत्यावश्यक है। इस निमित्त कारिका में कहा है—'ऋजु जैसे तत्त्व को चाहता है, वक्र curvature principle) जैसे चाहता है छवि को (world as picture, as representation, as review) , उसी प्रकार, प्लुत चाहता है; आवर्तमान भुवन चक्र का जो 'धुरा' (Axis) है, उसे। धुरा थमने पर तो सभी कुछ थम जाता है। अभ्यास, आवृत्ति नहीं है। जप में किन्तु यह चाहिए विषम चक्रजालच्छित्, सुषमचक्रवृद्धिकृत् एवं भुवनचक्रनाभिभित्—इन तीन रूपों ही में चाहिए। तत्त्व (Pure Griven or Presentation) और छवि (Review) इन दोनों का भेद भी जपादि में करना ही होता है। दोनों एक ही नहीं हैं। छवि में 'छाया'; 'वेध' इन सबकी सम्भावना रहती है। 'छाया' अभाव पदार्थ नहीं है। भाव पदार्थ है—'छायारूपेण संस्थिता'।

तत्पश्चात् आती है यह 'गाँठ' वा ग्रन्थि की बात।

२५. विशेषतः प्रत्ययपरिपन्थिनो ग्रन्थयः।

विशेष भाव से प्रत्यय के जो परिपन्थी हैं, वे ग्रन्थि हैं।

हृदयग्रन्थि, ब्रह्मग्रन्थि इत्यादि आकार में ग्रन्थि बहुत स्थलों में श्रुत एवं स्मृत हुई है। वर्तमान में repression fixation, complex, इत्यादि आकार में ग्रन्थि बहुधा विवेचित हुई है। कुछ लोग 'अहं' को चिदचिद्ग्रन्थि भी कहते हैं। मान लें, गृह्णाति = ग्रहण करता है। इसमें मध्य में जो 'हा' उच्चारित है, वह शक्ति की व्याकृत विस्तारूपता सूचित करती है। यथा, स्रोत की वाहिता और व्यापिता। यह चालू रहने पर; 'गाँठ बाँधना' (यह fixation and complex) सम्भावित नहीं होता। अब मान लें, 'आ' छूट गया। फलतः, 'ह' हुआ स्थाणु (Static or rest energy) यह, बाद के 'त' का आश्रय करता है, एवं उसके फलस्वरूप, 'त' यदि अपनी तलवृत्ति में (in its given plane and state) 'बद्ध' (bound, congealed, stagnated) हो जाय, एवं आदि में नति वा प्रत्ययसूचक जो 'गकार' है, वह अपने 'ऋ' कार को (कर्षणी को) 'गुण' बना लें; जिसके फलस्वरूप 'ऋ' होता है 'अर्'; एवं इसे उल्टा करके ('र' रूप में) अपने को ही बद्ध करे, तब, इन सब प्राणिक व्यापारों

की संहति का फल हुआ—ग्रन्थि। 'गृ' एवं 'ग्र' इन दोनों का उच्चारण करके देखें कि 'गृ' में 'ग' मुक्त है, 'ग्र' में 'ग' बद्ध है। 'ग्रन्थि' 'गृह्णाति' की ही मानो 'उलझी हुई' छवि है। प्रत्यय गतिरूप में ही कुछ पकड़ने जाता है, ग्रन्थि कहती है—'यहीं पर अटक जाओ।' सुतरां प्रत्यय परिपन्थी ग्रन्थि है। 'अन्तराय' जो अन्तर वा व्यवधान में आकर अटक जाता है। परिपन्थी वही है जो पन्था में—प्रत्यय के अपने पथ में ही (curve में) जो भेदापेक्ष संकटरूपता है। भेदापेक्षा है, भेद करना चाहिए—इसीलिए 'विशेषतः'। काया, छाया, माया—इत्यादि अनेक प्रकार से इन सब विशेषों को सविशेष जानना है। ग्रन्थि पड़ी है कहाँ? यही प्रश्न है। जप में नाद को यदि काया कहें तो—नाद के श्रवण में कोई ग्रन्थि तो नहीं आती है, यदि आती है तो किस आकार में? आश्रित भाव के सम्बन्ध में भी यही बात है। भगवत्प्रीति-काम होकर जप करते हैं; किन्तु वह अधोग, जिह्वाग, सकाय भाव में उतरकर वहाँ 'गाँठें' तो नहीं बाँध रहा है? काय वा काया के साथ नित्य अनुषङ्ग रूप में विद्यमान है छाया। यह काया के साथ अन्वित रहती है, एवं काया के चारों ओर सूक्ष्म 'परिमण्डल' (spherical projection) भाव से भी रहती है। सम्भवतः स्थूल, सूक्ष्म सब वस्तुओं का इस प्रकार 'कायापरिवेश' है। 'छाया' कहने से सचराचर shadow समझते हैं, किन्तु वह असली छाया की तुलना में उपच्छाया है। मान लें, यह पृथिवी हैं। इसकी जो कठिन काया है, उसे बहुत दूर तक घेरकर जो परिवेश है, वह केवल वायुमण्डल नहीं है। आइनस्फियर की स्तर (layer)-परम्परा भी देखी गई है। ये अनेक क्षेत्रों में एक सूक्ष्म वर्म की भाँति पृथ्वी की मर्म वस्तु की रक्षा करती हैं। साधारण छाया आलोकादि रेडियेशन और उन्हें 'आइ' (screen) में करने का व्यापार है। जो हो, कायग्रन्थि की भाँति, छाया-ग्रन्थि भी है। पृथिवी की कायग्रन्थि के फलस्वरूप भूकम्प, अग्न्युत्पात इत्यादि होते हैं; छायाग्रन्थि के फलस्वरूप झंझावात, मैग्नेटिक स्टरम् इत्यादि होते हैं। जो 'आरोपित' है उसे माया कहने से, पृथिवी की मायाग्रन्थि होती है, जब धूमकेतु प्रभृति का सान्निध्य होता है। जातक के वा शिष्य के राशिचक्रादि के विचार में भी यह विविध ग्रन्थि विवेचित हो सकती है। गान में राग के रूप को काया कहें तो, गमक मूर्च्छनादि में उसके तान-वितान (resonance) को कहें छाया; और उस पर दूसरा कुछ आरोप करके उसे अन्य प्रकार से दिखाना, जिसके फलस्वरूप विभ्रान्ति हो, संशय हो, वह हुई माया। यह सब स्थूल दृष्टान्त लेकर अध्यात्म जीवन में साधन को तीन भूमियों में सजा लें और कहाँ ग्रन्थि है, उसका सन्धान करें। मान लो, तुम्हारे मन्त्र, गुरु, इष्ट हैं। इनमें से प्रत्येक का अपना रूप (काया) जिस प्रकार है, उसी प्रकार फिर नित्य-अनुषङ्ग-परिवेश रूप भी है। यह काया की निज छाया है। किन्तु तुमने

फिर अपने संस्कार एवं कल्पनावश होकर इस निज कायतत्त्व में और निज छायातत्त्व में अनेक कुछ 'आरोप' वा प्रत्यारोप किया है। तुम्हारा देना, यह हान-उपादान कल्पित है। इसीलिए मायिक है। किन्तु कल्पित होने से ही बाधक ग्रन्थि नहीं होती, साधक ग्रन्थि भी होती है, कभी-कभी। यदि समझो, बाधक ग्रन्थि क्या तुम्हारी यह कल्पना है, तब उस ग्रन्थि को काटें। उसमें (मिथ्या काल्पनिक में) विचार एवं असङ्ग ही काटने का दृढ़ अस्त्र है। यहाँ और दृष्टान्त नहीं लेंगे। किन्तु—सन्धिग्रन्थि, सेतुग्रन्थि, मेरुग्रन्थि भी क्रमशः विवेच्य हैं।

इन सबको एक साथ लेकर—

क्रियाजन्यान्वयाज्जन्या कारकैश्च समुद्भवा।
वृत्तिर्विषमवेधत्वे गृह्णाति ग्रन्थिरूपताम्॥
ग्रथ्नाति ग्रन्थते ग्रन्थिर्ब्रह्मविष्णू च रुद्रकः॥ ७२॥

अन्वय—क्रियाजन्या अन्वयात् जन्या कारकैः च समुद्भवा। वृत्तिः विषमवेधत्वे ग्रन्थिरूपतां गृह्णाति। ब्रह्म-विष्णू रुद्रकः च ग्रथ्नाति, ग्रन्थते ग्रन्थिः॥ ७२॥

[क्रिया से उत्पन्न, अन्वय से उत्पन्न, और कारकों से उत्पन्न वृत्ति विषय-वेध होने पर ग्रन्थि का रूप ले लेती है। ब्रह्म, विष्णु और रुद्र नामक ग्रन्थि ग्रथन और ग्रन्थन करती है॥ ७२॥]

भाष्य—क्रिया से जात जो वृत्ति है, क्रिया के साथ जन्य-जनक सम्बन्ध से रहती है जो वृत्ति, कारक से, एवं क्रिया कारक के अन्वय से जो-जो वृत्तियाँ जात होती हैं, वे वृत्तियाँ विषमवेध-ग्रस्त होने पर, ग्रन्थिरूप ग्रहण करती है। 'विषमवेध' कहने से 'टेढ़ा-मेढ़ा, बँटा हुआ, बिंधा हुआ, जकड़ा हुआ, उलझा हुआ, बँधा हुआ'—इन सबको समझना होगा। 'ग्रन्थ' धातु भी यही सब समझाता है। मान लें, जप है। यह क्रिया है; तुम तुम्हारी वाक्, प्राण, मन इत्यादि कारक है; क्रिया और कारक के बीच 'आनुगत्य' सहयोग ही अन्वय है। इन तीनो के सम्पर्क में ग्रन्थि के इन पाँच विषम रूपों की खबर रखकर जप करें। जप का अक्षर, उनका साहित्य, मात्रा, छन्द—इन सबको इसीलिए 'गाँठ' बाँधकर उठने नहीं देना चाहिए। तुम्हारे स्वयं के बीच भी नहीं। तुममें और मन्त्र के जप में, जो सहपातित्व, सहयोग, सौहार्द-सामरस्य है, उसमें भी नहीं। concordant relation रहना चाहिए। विश्व ही द्वन्द्व की भूमि है। इसीलिए ग्रन्थि भी सङ्कर एवं शङ्कर दो प्रकार की है। एक क्षय-क्षोभ ग्रन्थि, दूसरी योग-क्षेम ग्रन्थि है। यज्ञोपवीत में ग्रन्थि की बात सोचें। शङ्कर में, इन पाँच के मध्य, शेष दो की मुख्यता है—अच्छी वस्तु को भलीभाँति कसकर, बाँधकर रखना होता है। भीतर के अच्छे भाव या अनुभूतियों के

सम्बन्ध में भी वही बात है। उन्हें खोलकर, फैलाकर जाहिर करके नहीं रखना चाहिए। इस प्रकार शङ्कर ग्रन्थि, अशुद्धि प्रत्यय की परिपन्थी है; किन्तु शुद्धि प्रत्यय के पथ में (पन्था में) परितः पन्थी—सहाय एवं सुहृत्पन्थी है—जैसे, पथयात्री का गाँठ में बँधा हुआ पथ का संबल हो, नदी के पार जाने की 'उतराई' हो। अपने संबल को गाँठ बाँधकर ही रखो, किन्तु गाँठ उलझी हुई, कसी हुई, टेढ़ी न हो, ऐसा होने पर सङ्कर-सङ्कट है।

ग्रन्थि को सब प्रकार से दर्शाने के लिए कारिका में 'ग्रथ्नाति ग्रन्थते' दोनों रूप (ग्रथ्यते ग्रन्थ्यते) दिए गए हैं। अन्त में, बिलकुल मूल में जाकर, क्रियामात्र से जो व्यक्ताव्यक्त मुक्त-रुद्ध द्वन्द्व रहता ही है, वह सदसद्ग्रन्थि (ब्रह्मग्रन्थि) है; कारक में जो सुख-दुःख, आत्म-पर द्वन्द्व रहता है, वह मुदमुद्ग्रन्थि (रुद्रग्रन्थि) है; और, इन दोनों के अन्वय में जो द्रष्टृ-दृश्य, ज्ञातृ-ज्ञेय द्वन्द्व रहता है, वह चिदचिद् ग्रन्थि (विष्णु-ग्रन्थि) है। इन मूल ग्रन्थि रूपों को और भी सूक्ष्म करके समझना होता है। यहाँ ग्रन्थित्रय की 'फलतः' (Practical) आकृतियाँ ही दिखाई गई हैं। सङ्कर-शङ्कर को जिस प्रकार ही लें, इस मूल ग्रन्थि-त्रय में आकर अन्त में टकराना ही होगा।

अब ग्रन्थिभेद के उद्देश्य से शुद्धि-प्रत्यय—

२६. ग्रन्थिभेदे सव्यापारः शुद्धिप्रत्ययः।

ग्रन्थिभेद-कर्म में व्यापारवान् प्रत्यय को कहते हैं शुद्धिप्रत्यय। सङ्कर ग्रन्थियों का तो भेद करना ही होगा। इस 'भेद' का अर्थ है ग्रन्थि के इन पाँच अवयवों के बीच प्रथम तीन (जिह्मता, क्रूरता, वेधकता) का परिहार करना। ॐ, ऐं, 'गुरु', 'शिव-शिव'—इत्यादि नामों का व्याहरण एवं स्मरण सहायक है। वे शङ्कर-ग्रन्थियाँ (जैसे, इस पथ का सम्बल, पार-उतराई है, उसे शठ-तस्करों से बचाने के लिए गाँठ बाँधी, ताकि 'मर्त्यस्य धूर्तिः' छीन न ले जाय) तो खोलनी होंगी—श्री गुरु के चरण में, इष्ट के द्वार में ! कहना होगा—सम्बल कहें, कौड़ी (उतराई) कहें, सभी तुम्हारी कृपा है, तुम्हारा नाम है ! मैं यदि आत्म-अभिमान में गाँठ बाँधकर रखूँ तो तुम ही उस गाँठ को खोलकर अपनी अयाचित दी हुई निधि को फिर से नितान्त अपनी ही बनाकर रखना। निष्कर्ष यह कि, शङ्कर-ग्रन्थियों के मोचन का भी एक परम स्थान प्राप्त करना चाहिए। नहीं तो, तालु पर जिसे उठाकर रख दिया है, उसे दाँत से काटने में (श को स बनाने में) कितनी देर लगेगी ! और, सबके अन्त में यह मूल ग्रन्थित्रय तो है ही।

उद्दिश्य प्रक्रांते याते प्रत्यये हि पदे पदे।
शुद्धिमिच्छति बाधन्ते ग्रन्थय आणवादयः॥ ७३॥
आणवो बीजनिष्ठो योऽङ्कुरग्रन्थिस्तु तानवः।
प्ररोहग्रन्थिरन्यश्च पाशव (पाटव) और्व एव च॥ ७४॥

अन्वय—शुद्धिम् इच्छति प्रत्यये पदे पदे हि प्रकृतिम् उद्दिश्य याते आणवादयः ग्रन्थयः बाधन्ते ॥ ७३ ॥

बीजनिष्ठः आणवः (ग्रन्थिः), यः अङ्कुरग्रन्थिः (स) तु तानवः। प्ररोहग्रन्थिः च और्वः, पाशवः अन्य एव च ॥ ७४ ॥

[शुद्धि का इच्छुक प्रत्यय जब पदे-पदे प्रकृति की ओर जाता है, तब आणव आदि ग्रन्थियाँ बाधक होती हैं ॥ ७३ ॥

बीजनिष्ठ ग्रन्थि आणव है, जो अङ्कुरग्रन्थि है वह तानव है; प्ररोहग्रन्थि और्व (उर्वी का) है, और अन्य ग्रन्थि पाशव या पाटव है ॥ ७४ ॥]

भाष्य—शुद्धि प्रत्यय अपनी प्रकृति वा स्वभाव को उद्देश्य करके जाते-जाते पद-पद पर (शुद्धि की इच्छा करने पर भी) आणवादि ग्रन्थि-परम्परा द्वारा बाधा प्राप्त होता है। यह आणवादि ग्रन्थिभेद न होने तक शुद्धिकामी जपादि प्रत्यय की सच्ची शुद्धि नहीं होती। इस स्थल में, ग्रन्थि को आणव, तानव एवं और्व—इन तीन रूपों में देखा जा रहा है। एक बीज का दृष्टान्त लें। जो बीज में ही निहित है, वह आणवग्रन्थि है। तुम्हारे जप्य बीज में (यदि वह मैत्र-सम्बन्ध में न रहे), यह ग्रन्थि रह सकती है; फिर दोनों का अन्वय, जिस छन्द में, शक्ति में वा आकृति में हो रहा है, उनके बीज वा मूल में भी रह सकता है। सूक्ष्म जो अङ्कुरभाव है, वह ग्रन्थि-ग्रस्त होने पर, तानव होता है; और, प्ररोह होने पर और्व होता है। बीज से प्ररोह-पादप होता है। मध्य में, अङ्कुर अन्वय है। अङ्कुर में (अर्थात्, वाक् प्राणचित्त की सूक्ष्म-उन्मेष भूमि में) ग्रन्थि आने पर, अङ्कुर फिर प्ररोह नहीं होता। प्ररोह वा पादप में (स्थूल में, ऊरु में) ग्रन्थि होने पर, ठीक सफलता नहीं होती, विफलता-निष्फलता ही होती है। स्थूल का ग्रन्थि-भेद करें 'पाटव' से। इससे पाशव वा पशुभाव की जो ग्रन्थि है, वह कटेगी। सूक्ष्म में, 'लाघव' में, पाश की ग्रन्थि के गौरव को घटाकर लघु, लघीयान्, लघिष्ठ बनाएँ; और अपना (अभिमान) कल्पित गुरुत्व, श्री गुरु के गौरव में नितान्त लघु बनाकर उसीमें मिलाएँ। लघु-गुरु का ज्ञान ठीक-ठीक होना चाहिए, नहीं तो गुरु-गुरु में गुत्थमगुत्थी होगी। यही प्रकृष्ट वीरभाव का साधन है। पाश के पास वज्र है, किन्तु उनके पाँव के पास धूल है! अन्त में आणव में जाकर, 'आर्जव' में। ऋजुनिष्ठ होते-होते पाशयुक्त सदाशिव होते हैं। टेढ़ा-मेढ़ा हुए बिना तो ग्रन्थि नहीं होती। इसमें स्थिति को स्वभाव कहें, दिव्यभाव कहें। प्रकारान्तर से, और्वादि इन तीन ग्रन्थियों को यथाक्रम ब्रह्मग्रन्थि प्रभृति तीनों के रूप भी समझ सकते हैं। फिर देखें—बीज कारकरूप है, स्थूल प्ररोहादि क्रियारूप है, और सूक्ष्म अङ्कुर अन्वयरूप। बीज में ही प्रकृति वा स्वभाव अव्यक्त, अव्याकृत रूप में पड़ा रहता है। वह प्रकृति वा स्वभाव

विकृति में न जाकर अथवा रुद्ध न होकर प्रकाश पाता रहे तो बीज का शुद्धि-प्रत्यय है। अच्छे लंगड़े आम के पेड़ में लंगड़ा खूब फला! किन्तु वह रूप क्या है?—इसी लिए बाद के दो सूत्र हैं।

[यह भी स्मरण रखना होगा कि शुद्धि-प्रत्यय को वस्तुगत्या (as fact), भावगत्या (as feeling) एवं बोधगत्या (as appreciation) इन तीन प्रकार से अपने को प्रत्यय में लाना चाहिए।]

२७. प्रकृतेः प्रत्ययलेपनिमित्तकप्रत्यनुप्रत्ययः प्रतिकृत्यनुकृती।

प्रकृति में प्रत्यय के लेप के कारण जो प्रतिप्रत्यय, अनुप्रत्यय सम्भावित होता है, उसे प्रतिकृति और अनुकृति कहते हैं।

भाष्य—'लेप' शब्द को व्यापक बनाकर लिया गया है। प्रत्यय व्यापार-सम्बन्ध सापेक्षत्वावच्छिन्नव्यापारवत्त्वं—प्रत्ययरूप व्यापार होने पर, उस व्यापार के सम्बन्ध में सापेक्ष व्यापार की प्रकृति में भी होने पर (Nature reacting to a process or action bearing upon it), वह हुआ प्रकृति में प्रत्यय का लेप। फोटोग्राफिक प्लेट—उसमें रश्मि-प्रत्यय होता है; फलतः, वह प्लेट की प्रतिक्रिया है। इस प्रकार प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जो 'छवि' प्राप्त होती है, उसे सर्वत्र प्रतिकृति कहते हैं। यहाँ लक्षण व्यापक है। 'कनकेव्' मिरर (नतोदर दर्पण)—उसमें शब्द-आलोकादि-वीचि-प्रत्यय में मिलती है केन्द्रीणता—(फोकसिंग्)। त्रिपार्श्व काँच, स्फटिक इत्यादि कितने ही दृष्टान्त हैं। रसायन में, द्रव्यक्रियादिरूप प्रत्यय के फलस्वरूप अशेष परिणाम हो रहे हैं। रोग में कोई भेषज व्यवहार करके देखना होता है, 'नेचर' वा धातु ने किस प्रकार की प्रतिक्रिया की या नहीं की। सभी क्षेत्रों में सर्वत्र दृष्टान्त है। किन्तु 'नेचर' को तो सूक्ष्म, सूक्ष्मतर बनाकर समझना होता है। मोटा-मोटी, अपरा एवं परा हैं। बादवाला ही (परा में) मौलिक (Basic) बीजमव्ययम् है। अपरा में स्थूल-सूक्ष्म, तामस-राजस इत्यादि अन्तरिक्ष वा media बीच में रखकर प्रकृति-प्रत्यय का कारोबार होता है। इसीलिए, वेधजिह्मतादि (absorption, refraction, defraction इत्यादि) सम्भावित होते हैं। व्यवधान के शुद्ध होने पर यह विक्षोभ (विक्रिया, अपक्रिया) विशेष नहीं रहता। बिलकुल शुद्ध होने का मतलब है—अपरा के 'अधः' से परा को मुक्त करके ऊर्ध्व में रखना। उसके होने पर, नाम-जप, ध्यान-भजनादि जो कुछ परमा को उद्देश करके करते हैं, वे सब शुद्ध भाव से स्वच्छन्द में ही परा में पहुँचेंगे (शुद्ध प्रत्यय लेप), एवं परा भी शुद्ध, अवितथ भाव से उस शुद्ध प्रत्यय की प्रतिकृति एवं अनुकृति दोनों ही स्फुटित करके दिखाएगी। वह शुद्ध प्रतिकृति (Pure reflection and representation) देखकर समझेंगे—जप में इतनी महिमा, इतनी गरिमा, इतनी मधुरिमा है! फिर, केवल प्रतिकृति ही नहीं, अनुकृति भी है। प्रकृति एवं प्रत्यय दोनों की शुद्ध कृति में (व्यापार में) कृति की अपूर्व पुष्टि एवं ऋद्धि भी होती है।

इसके भीतर पड़ता है—Resonance Effect—सुषम स्पन्द-समुच्चय—जिसकी चर्चा बार-बार हुई है। इसके द्वारा क्या होता है ? प्रकृति करती है—आपूरण, प्रत्यय का। भाव स्वभाव को जगाता है, स्वभाव भाव को बढ़ाता है। प्राण की सभी भूमियों में ही यह होता है।

किन्तु अपरा के उपद्रव में 'लेप' के अशुद्ध, अशुचि होने पर शुद्धि-प्रत्यय का कर्म ही होगा—उस लेप को क्रमशः 'लेश' में, फिर 'लोप' में लाना। लेप के अशुद्ध होने पर ही जपादि में समझेंगे कि मैल से ढँककर आड़े-टेढ़े झूले में झूलकर सभी साधन न जाने कैसे 'हतश्री' हो रहे हैं, 'मन्द' हो रहे हैं। ठीक प्रकृति को छू न सकने पर केवल कुछेक हतश्री प्रतिकृतियाँ और मन्दी अनुकृतियों को लेकर साधन झकमारी की तरह चलता है। श्रीगुरुकृपा को सम्बल बनाना चाहिए। तब फिर हतश्री हो जायगा सुश्री, मन्द भी होगा तेज और सान्द्र।

क्रियानुपातिनी या हि प्रत्ययस्य प्रतिक्रिया।
प्रकृतेरनुरोधात् सा प्रतिकुर्याद् द्विरूपतः।
आभासप्रतिबिम्बावच्छेदविकल्पना ततः ॥ ७५ ॥

अन्वय—या हि प्रत्ययस्य क्रियानुपातिनी प्रतिक्रिया सा प्रकृतेः अनुरोधात् द्विरूपतः प्रतिकुर्यात्। ततः आभास-प्रतिबिम्ब-अवच्छेद-विकल्पना ॥ ७५ ॥

[प्रत्यय की जो क्रिया के अनुपात में होनेवाली प्रतिक्रिया है, वह प्रकृति के अनुरोध से दो रूपों में प्रति-कर्म करती है। उसके बाद आभास, प्रतिबिम्ब और अवच्छेद की विकल्पना होती है ॥ ७५ ॥]

भाष्य—प्रकृति के उद्देश्य में कोई प्रत्यय होने पर, उस प्रत्यय की जो क्रिया है, उसके 'अनुपात' में एक प्रतिक्रिया भी अवश्य ही होती है। वह प्रतिक्रिया प्रकृति के 'अनुरोध' से पूर्वोक्त दोनों रूपों (प्रतिकृति एवं अनुकृति) में आकारित होती है (प्रतिकुर्यात्)। लक्ष्य करें कि प्रत्यय की ओर से अनुपात, प्रकृति की ओर से अनुरोध होता है। परा में पहुँचने पर, यह अनुरोध परमा की जो अनुग्रह शक्ति है, उसी शक्ति के अनुरोध का आकार ग्रहण करता है। तब, क्रिया का जो अनुपात (Proportionality) है वह, अनुग्रहानुरोध से, जैसा अपरा में है वैसा फिर नहीं रहता। तब क्रियाभावादि फिर अनुपातभूमि में नहीं रहते। अपरा की भाँति परा 'बाध्य' प्रकृति भी नहीं है। सुतरां, वहाँ स्वसत्तासम्बन्धादि अनुरोध है। वह कह सकता है—'उस भाव में, उस सम्बन्ध में, मैं नहीं रहूँगा।' प्रकृति में जो 'लेप' हुआ, वह क्या आभासमात्र है, न प्रतिबिम्ब है, न अवच्छेद है—इत्यादि जो सब विकल्पना है, वह सब बाद में। यहाँ कुछ प्रासङ्गिक नहीं है।

प्रकृति में प्रत्ययलेप अशुद्ध होने पर प्रतिकृति की शोधन-क्रिया हुई संस्कृति, अनुकृति को 'स्वस्थ सबल' बनाने की क्रिया हुई उपकृति। श्रीगुरु, सन्त—इनकी सेवा आनुगत्यादि द्वारा ये दोनों ही सहज सम्भावित होती हैं। संस्कृति के लिए विशेषतः दीक्षा है; उपकृति के लिए शिक्षा है। उभयतः—प्रत्यक् सङ्ग है।

अब, प्रकृति को अपनी प्रतिकृति में देखने का यत्न करो। सब कुछ का, 'लेखा' तो तुम बैठा रहे हो—कौन हतश्री है, कौन सुश्री है। किन्तु अपनी प्रतिकृति? अपना लेखा?

२८. बीजनिष्ठशक्तिकूटप्रतिकृतिर्हृल्लेखा।

बीज वा कारण में निगूढ़ एवं अविनाभाव में स्थित जो शक्तिकूट है, उस शक्ति-कूट की प्रतिकृति को 'हृल्लेखा' कहते हैं।

मान लें, बीज वा कारण को कहते हैं प्रकृति। यह प्रकृति कैसी है, उसमें क्या निगूढ़ भाव में है या नहीं है, यह तो हम नहीं जानते। उस सम्बन्ध में कोई प्रत्यय नहीं हो रहा है। किन्तु जानने के लिए प्रत्यय आरम्भ हुआ (जैसे, विज्ञान में, जैसे योगज ज्ञान में, इत्यादि)। विज्ञान का प्रत्यय यन्त्रपंक्ति की सहायता से परीक्षा में एवं समीक्षा में है; योग का प्रत्यय—संयम (mind concentration) है। इन सब प्रत्ययों के फलस्वरूप, प्रकृति ने जिस-जिस भाव में प्रतिक्रिया वा प्रतिप्रत्यय किया है, वही-वही उसकी प्रकृति हैं। किन्तु छवि तो अनेक प्रकार की उभरती हैं--अन्दर की छवि (inside picture) भी उभरती है। बाहर में अणु-विराट् सब कुछ की 'धरेलू छवि' और 'रसोईघर की खबर' अधिकाधिक ही मिली है और मिल रही है। मन की ओर से 'साइको-एनालिसिस' प्रभृति ने भी बहुत भीतर के 'गुप्त चित्र' स्फुट किये हैं, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु 'शनैः पन्थाः' भाव से ही। शेष वा अवधि कहाँ है? वरन् गिनने-गुथने की सुविधा क्रमशः अधिक होने पर भी, अर्थात् छन्दः और आकृति अधिकाधिक आपके भीतर आने पर भी, सत्ता एवं शक्ति मानो और भी 'गहन' और 'गभीर' में डुबकी मार रही हैं। असल में किन्तु छन्दः और आकृति सत्ताशक्ति के ही प्रकट रूप हैं। बीज, कारण, प्रकृति उसीमें निगूढ़-निश्चित पड़े हुए हैं। वह सत्य प्रतिकृति है, सच्ची छवि जब तक न उतार सकें, तब तक, सभी कुछ 'बाह्य'—छायाचित्र वा मायाचित्र है। विज्ञान अणु की केन्द्रीण प्रतिकृति उतार रहा हैं, उसे काम में भी लगा रहा है, किन्तु बिलकुल अर्थचित्र का क्या? प्राण, चेतना, आनन्द—इन सबको अवान्तर रखकर क्या किसीका भी मर्मचित्र उतर सकेगा? यह बात ठीक है कि—प्रत्येक पदार्थ का जो 'मर्मौकः' (inmost core) है, वहाँ सत्ताशक्ति ने अपने को एक निगूढ़ व्यूढ़रूपता में न्यस्तभाव से ही पाया है। बाद के सूत्र में मर्मौकः को 'हृत्' नाम दिया जायगा। सुतरां, इस हृत् का जो निगूढ़-निश्चित शक्तिव्यूहरूप

(inmost Power-Structure or Basic Dynamic Diagram) है, वही हृल्लेखा है। उस हृल्लेखा के पहुँचने पर तब बीजादि के सम्बन्ध में विज्ञानादि का प्रत्यय शुद्धिप्रत्यय होगा। और, हृल्लेखा में पहुँचने पर ही शक्ति-मण्डल (Power Field) की, केवल नेमि और अर नहीं, मूल नाभि तक गति होती है। और नाभि तो 'सभी कुछ' है! जो बीज-प्रत्यय इस नाभि में ले जाने में और उससे सभी कुछ के दोहन में साधिष्ठ, समर्थ है, वह है ह्रीं।

यहाँ अवश्य 'परम' तक ही प्रत्यय को ले जाने का प्रयास नहीं हो रहा है। परम में जो प्रपञ्चोपशम, एकान्त शुद्ध निरञ्जन भाव है, वहाँ सब कुछ 'लेखा' एवं प्रत्ययों की अवसान भूमि है। निरञ्जन भाव को ही अवास्तव (माया) अथवा अवान्तर (छाया) समझने पर, ऐकान्तिक निर्व्यूढ़ता की भूमि ही नहीं रहेगी, सभी सापेक्ष-व्यूढ़-रूपता की 'छाया' में पड़ जायेंगे। पक्षान्तर में, निरञ्जन-निर्विशेष परम के साथ चाहे जिस आकार में (आभासादि वाद अब अखाड़े में उतर सकते हैं) एक अनिर्वचनीय सकल सविशेष रूप भी है। इस पाद के प्रथम (महामाया) सूत्र में वह भी तत्त्व की पूर्णता में समाहृत हुआ है। अब, इस परिपूर्ण सकल भाव में मूल में जो परिपूर्णा कला-शक्ति हैं (मान लें क्लीं, वे सृष्टि के सब कुछ में अपनी हृल्लेखा रूप में अनुप्रविष्टा हैं। और उस भाव में, वे ह्रीं हैं। इस बीज को, एवं अन्य सभी बीज-शक्तिव्यूहों को, परम-व्रनता में लेने पर हुआ--परम बिन्दु। इस बिन्दुरूप में ही ब्रह्म सर्वत्र अनुप्रविष्टा हैं। सुतरां, बिन्दु ही हुई परम हृल्लेखा। अथ च, यह परम हृल्लेखा (बिन्दु) सब कुछ में पूर्ण हैं, विशेष-विशेष हृल्लेखा के आकार में भी (सत्ताशक्ति में, छन्द में, आकृति में) मानो अपने को अशेष सुषमा में, सौष्ठव में, लीलायित किये हुए हैं। यह अशेष सुषम लीलायन हुआ श्रीं। और, परमा सकला का यह सब शुद्ध सम्पूर्ण आकृति-प्रकृति में जो निर्बाध शुद्धि-प्रत्यय है, वह ऐं है। वाग्भव वा गुरुबीज।

बीजे या पुटिता शक्तिश्छन्दसा व्यूढतां गता।
हृल्लेखा साऽपि विज्ञेया स्वव्यूहच्छान्दसच्छविः ॥ ७६ ॥
श्रीलेखा कामलेखा च वज्रलेखा पुनस्त्रिधा।
सौष्ठवं कामतन्त्रं च चामोघत्वं यथाक्रमम् ॥ ७७ ॥

अन्वय— छन्दसा व्यूढतां गता या शक्तिः बीजे पुटिता, सा स्वव्यूहच्छान्दस-च्छविः हृल्लेखा अपि विज्ञेया ॥ ७६ ॥

पुनः श्रीलेखा कामलेखा वज्रलेखा च त्रिधा। यथाक्रमं च सौष्ठवं कामतन्त्रं अमोघत्वं च ॥ ७७ ॥

[अपने छन्द से व्यूढ़ बनी हुई जो शक्ति बीज में पुटित (भरी) है, उसे अपने व्यूह और छन्द की छविवाली हृल्लेखा भी जाना जाय ॥ ७६ ॥

पुनः वह श्रीलेखा, कामलेखा और वज्रलेखा—इस प्रकार त्रिविध है, और वही यथाक्रम से सौष्ठव, कामतन्त्र और अमोघत्व हैं ॥ ७७ ॥]

भाष्य—बीज में शक्ति सम्पुटिता, निगूढ़ निष्ठिता है। छन्दसा = अपने (intrinsic) छन्द में ही वह व्यूढ़रूपा (बीज प्रकृति ही आकृति रूप में विन्यस्ता) है। बीज प्रकृति के एवंविध 'स्वशक्ति-स्वच्छन्दः-स्व-आकृति' रूप को हृल्लेखा कहते हैं। यह श्रीलेखा, कामलेखा एवं वज्रलेखा भेद से तीन प्रकार की है। सौष्ठव, कामतन्त्र वा स्वतन्त्र और अमोघत्व—Rhythmic, Spontaneous, Sure—ये तीन यथाक्रम से लक्षण हैं। श्रीं क्लीं ह्रीं-बीजत्रय के योग से—श्रीं ह्रीं, क्लीं ह्रीं, ह्रीं ह्रीं। एवं इनके साथ शुद्धि-प्रत्यय बीज ऐं है।

अब 'हृत्' सूत्र है।

२९. स्थेष्ठनेदिष्ठसम्मौकिस्त्वं हृत्त्वं सर्वस्य।

भाष्य—सब कुछ की स्थिरतम, अन्तिकतम वा निकटतम, जो मर्म-स्थानता है वह 'हृत्' इस शब्द द्वारा अभिधेय है। 'स्थेष्ठ' कहने से अस्थिर, अनियत (Varying, fluctuating) के बीच जो (ऐकान्तिक निर्व्यूढ़ रूप में न होने पर भी, अपरा एवं उसकी विचित्र विकृति की अपेक्षा में) नियत एवं ध्रुव (यथा, बहिर्विश्व में cosmic constant; प्राणिजगत् में continuity of the germplasm, इत्यादि) है। सब कुछ चक्र वा मण्डलाकृति में (as 'sphere', 'packet', 'field') होकर भी अपने को एकाधिक 'प्रकोष्ठ' (ring) में सजाये हुए हैं, ऐसा देखते हैं (यथा, पृथिवी, वायुमण्डल, अणु, कोष इत्यादि)। इन सब प्रकोष्ठों के बीच अन्तरतम जो है, वह नेदिष्ठ है। इस भूमि में रासमण्डल का केन्द्र वा नाभि रासकमल कर्णिका है। जीव में पञ्चकोष वा सप्तकोष उसका निज 'जगत्' है। 'ययेदं धार्यते जगत्'—वह जीवत्व वा जीव की निज प्रकृति है। अन्य वाक् के सम्पर्क में प्रणव; प्रणव के निज सम्बन्ध में नाद-बिन्दु-कला, यह त्रयीरूपा अर्धमात्रा है। उसे समाश्रय करते हुए, उसके ही अन्वय में और अनुवाद में (as dependent relation, and as its rendering)—इस वस्तु के व्यापार-व्यवहार की पटभूमि (frame of reference) निर्धारित हो रही है—इस निमित्त कहा है—मर्म्मौकः। पहले, अनुबन्ध-चतुष्टय की बात (विषय-सम्बन्धादि) कही गयी है, वह, किसी विशेष क्षेत्र में, निरूपित होती है इस मर्म्मौकः भाव और धर्म के द्वारा। प्रतिबन्ध चतुष्टय (अवरोध-प्रतिरोधादि) में भी वही है। सम्बन्धचतुष्टय (मन्त्र-मन्त्री-मन्त्रदाता-मन्त्रित) में भी वही है। इस मर्म्मौकः वा, Basic Frame को छोड़कर किसीका भी 'खाका बनाना' नहीं है। इस मर्म्मौकः में व्यष्टित्व (individuality) और जीवत्व (Personality) ने ही केवल अपने को स्थेष्ठ-नेदिष्ठ रूप में 'केन्द्रीण' किया है, ऐसा नहीं। यहाँ बिन्दु और बिन्दु-वासिनी भगवत्ता का जीवत्व के

साथ मिलाकर ही रखा गया है। Divinity वा Life Divine का मर्म उत्स (Basic Spring) यहाँ है। 'अहं जनानाँ हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।'

चतुर्मानानवच्छिन्नवृत्तिता प्रतियोगिता।
अस्यास्तीत्यत ओकस्त्वं तदधिकरणञ्च हृत् ॥ ७८ ॥

अन्वय—चतुः-मान-अनवच्छिन्नवृत्तिता प्रतियोगिता। 'अस्य अस्ति' इति अतः ओकःस्त्व, तदधिकरणं च हृत् ॥ ७८ ॥

[अर्थ भाष्य में ही देखें।]

भाष्य—बहिर्व्यापार में जो चतुर्मान (कालसमेत देश के तीन मान) आवश्यक हैं, वे चतुर्मान (four dimensionability) इसे विशेषित (अवच्छिन्न) नहीं करते; वरन् चतुर्मान के द्वारा अनवच्छिन्न जो वृत्तिता है, उसीकी विषयता इसमें है। अर्थात् हृत् देशकाल-सम्बन्ध में 'उतरकर भी' (स्मृति-ज्ञान-अपोहन इत्यादि में) उनके अतीत है। ऐसा न होने पर, स्मृति ज्ञानादि की भाँति वह (हृत्) अनियत, बहिरंग, परतन्त्रादि होता। इस प्रकार, उस अनुबन्धादि के सम्बन्ध में, अवतरण करने पर भी, सभी के द्वारा विशेषित वा बाध्य नहीं है। ऐसा होने पर, अनुबन्ध-प्रतिबन्धादि के परिवर्तन के साथ यह भी परिवर्तित होता! 'ओकः' शब्द अनुग (immanent) है अथ च अतिग (transcendent) भाव को व्यक्त करने का निमित्त है। ['लोकः' एवं 'ओकः' शब्द में व्यञ्जना एक-सी नहीं है। 'लोकस्' कहने से किसी विशिष्ट रूप में निरूपित—देश-कालादि-सम्बन्ध में—जो आधार लेख है, उसीमें भी वृत्ति को लिया गया है।] उक्त मर्म्मौकः को अधिकरण बनाते हुए, बिन्दुभाव के स्थेष्ठ-नेदिष्ठ-सम्पर्क में, जो विद्यमान है, उसे कहते हैं 'हृत्'।

हृत् और स्थेष्ठ-नेदिष्ठ मर्म्मौकः—इन दोनों का परस्पर तादधिकरण्य है, अर्थात् जहाँ हृत्व है, वहाँ मर्मौकस्त्व है। दो वृत्त कहने पर, वे बिलकुल मिल जाते हैं। और, जो हृल्लेखा है? हृल्लेखा हुई हृद्वस्तु की निगूढ़-निष्ठित-शाक्ती प्रतिकृति। यह हृद्वस्तु के अधिकरण में ही रहती है, किन्तु तादात्म्य-समीकरण करने से काम नहीं चलेगा, अर्थात् हृल्लेखा = हृत्, सीधे-सीधे इस प्रकार लेने से काम नहीं चलेगा। जैसे, नाभि वा केन्द्र को आधार बनाकर ही चक्र वा मण्डल आकृति रहती है, किन्तु मण्डल = नाभि कहना समीचीन नहीं होता। नाभि बिन्दुरूप में समग्र मण्डल को अपनी बिन्दुरूपता में लीन करने में समर्थ है, पुनश्च अपने से वह विस्तार करने में भी समर्थ है। एक वृत्त है; उसकी परिधि एवं व्यास ह्रस्व होते-होते केन्द्र में ही मिल गया। तब फिर वृत्तरूपता ही नहीं रहती। किसी वस्तु की जो हृल्लेखा है, उसके विशेष-विशेष देश-काल-निमित्तादि की अपेक्षा में आने में बाधा नहीं है। यद्यपि हृत्स्थ होने के कारण वह उस अपेक्षा में नितान्त बाध्य-बाधित

भी नहीं होती। वह उस वस्तु का अपना Basic power pattern अवश्य है, किन्तु प्रत्यय-प्रतिप्रत्यय में उदासीन नहीं है। किन्तु हृद्वस्तु में जो परम अहं (भगवत्ता) सन्निविष्ट है, वह निखिल की हृल्लेखा का भी लेखाधार है। सुतरां, हृल्लेखा की विशेष-बिशेष आकृति-प्रतिकृतियाँ, उसीमें ही आहित होने पर भी, उसे तत्तद्भाव से अवच्छिन्न-परिच्छिन्न नहीं करतीं ('न च तेष्वहम्')। यह प्रसंग भी अब यहीं तक रहने दें।

उसके बाद के दो सूत्रों में कथञ्चित् अनुसरण होता है।

३०. विशेषतः देशसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिता हृद्देशत्वम्।

हृल्लेखा विशेष सम्बन्ध में उदासीन नहीं है। यह जब विशेष भाव से देश-संबंध-विशिष्ट होती है, तब हृत् को कहते हैं हृद्देश। 'हृत्' स्वयं उनका ही 'धाम' है। यहाँ देशादि सम्बन्ध के द्वारा अवच्छेद-परिच्छेद नहीं है। किन्तु देश-सम्बन्धातीत इस वस्तु को देश के सम्बन्ध में समझने पर, यह होता है हृद्देश। यह देश अवश्य बाहर का Space मात्र नहीं है। यह अन्तर्बहिः सर्वत्र वितत (as Extension, co-existence) रूप में प्रत्यय का आधार-पट है। आन्तर भावना में भी यह रहता है। सुतरां, 'अन्तर' वा व्यवधान वस्तु भी यहाँ सावकाश है।

'हृद्देश' पदार्थ भी सार्वभौम है, 'अर्थात्, निखिल वस्तु में ही 'हृद्देश' है। हृदि-स्थिता हृल्लेखा अपने को जब इस प्रकार युगपत्ता के साथ (as co-existence) वितत, विस्तृत बनाकर दिखाती हैं, तभी होता है हृद्देश। जैसे अणु की प्रतिकृति में देखते हैं इलेक्ट्रॉन-प्रोटॉनों का। जीवकोष में भी। आन्तर भावना में चित्त में भी।

यन्त्रारूढं हि यत्रैव भ्राम्यते निखिलं जगत्।
सदसत् स्थूलसूक्ष्मञ्च तस्य हृद्देशता मता॥ ७९॥

अन्वय—यत्र एव हि निखिलं सद्सत् स्थूलसूक्ष्मं च जगत् यन्त्रारूढम् भ्राम्यते तस्य हृद्देशता मता॥ ७९॥

[जहाँ पर सत्-असत् और स्थूल-सूक्ष्म निखिल जगत् यन्त्रारूढ (की तरह) घुमाया जाता है, उसीको हृद्देश माना गया है॥ ७९॥]

भाष्य—गीता का वही 'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' श्लोक स्मरण करें। देशसम्बन्ध के साथ निमित्त सम्बन्ध को भी लें। 'हृदि' सन्निविष्ट होकर उन्होंने एक परम भाव दिखाया है। वह—'अहमेव वेद्यः' है। विद्या का भाव है। मध्य में हृल्लेखा यदि विद्यारूपा हों, तब 'हृदि' वे ही परमवेद्या हैं। इस वेद्यता का रूप स्मृति-ज्ञान-अपोहन (अपास्तम् ऊहनं यस्मिन्) है। किन्तु हृल्लेखा 'हृन्मुखी' न होकर देशनिमित्त-काल-

निमित्त-सम्बन्ध की अपेक्षा में अपने को लाने पर क्या होती है ? ज्ञान के स्थल में अज्ञान इत्यादि। इसीलिए तब उस हृद्देश को माया यन्त्र के रूप में लेकर सदसत्, स्थूल सूक्ष्म निखिल जगत् को, वे ईश्वररूप में भ्रामित करती हैं। पराङ्मुखीन होने पर हृद्देश मायारूढ़ सब कुछ को भ्राम्यमाण करने का स्थान है। स्थूल में, सूक्ष्म में, व्यक्त में, अव्यक्त में,—सर्वत्र। यहाँ 'युगपत्ता' धर्म होने के कारण, कोई वा कुछ भी परस्पर का यह देशनिमित्त बन्ध (co-existence bond) सहज में काट नहीं सकता। सभी ने परस्पर को एक अवस्थिति में चाँपकर, बाँधकर रखा है। कोई किसीको भी सहज में माया काटने नहीं देगा। यह यन्त्रारूढ़ भाव है। कोई भी यन्त्र से आसानी से उतर पड़ने में या उसमें चढ़ बैठने में समर्थ नहीं है। (The inexorable concourse of cosmic whirl of events)। प्रत्यक् प्रवणता में इसमें इस हृत् में वा नाभिमुख में एक वृत्ति दिखाई देती है। वहाँ वे स्वयं सन्निविष्ट—परम वेद्य भगवत्ता हैं। ऐसा होने पर—'मामेव ये प्रपद्यन्ते' इत्यादि होता है।

सुतरां हृद्देश देशबन्धमुख्यता के कारण (predominantly space-bound and plane-bound) महामाया का मायायन्त्र फैलाने का स्थान है अवश्य, केवल मनुष्यादि के लिए नहीं, 'सर्वभूतानाम्'। यह माया—अविद्या, मद्भ्रान्ति एवं तद्भ्रान्ति है। अपने को भी नहीं पहचानता हूँ। उनको भी नहीं पहचानता हूँ, इसीलिए यन्त्रारूढ़ के पक्ष में निरन्तर निष्पेषित होने का जो महाभय है, उसी महाभय का स्थान है। किन्तु महाभरोसा का स्थान भी इसी हृद्देश में है। इस हृद्देश को ही वेदी बनाते हुए तुम्हें जपादि यज्ञ का अनुष्ठान करना होगा। ध्यान का, भावगाढ़ता का स्थान है हृद्देश। चलती चक्की में चाँपकर सब कुछ को भ्रान्तिरूप में निरन्तर घुमाकर जो मार रहे हैं, वे अन्ध नियति नहीं हैं, वे ईश्वर—'गतिर्भर्ता' इत्यादि हैं। चलती चक्की की कील को भी वे प्रपन्न को दिखा देते हैं और पकड़ा देते हैं। कीलकाश्रय में हृन्मुखी हृल्लेखा में स्थिति है, सुतरां इस परम वेद्य के ध्रुवपद में ही स्थिति होती है। ध्रुवपद से लेंगे—'तद् विष्णोः परमं पदम्'। जिस वेदी पर जपादियज्ञ करेंगे, स्वयं यज्ञेश्वर भी वहाँ - हृद्देश में हैं। बलि की भाँति तुम्हारी अपनी बलि भी सम्पूर्ण बनाने के लिए वे भी हृद्देश में मानो साथ ही बँधे हुए हैं! हृत् एक जगह है, हृद्देश और एक जगह है, ऐसा मत समझना। हृद् वस्तु ही विशेष भाव से देश-निमित्त-सम्बन्ध में आकर हृद्देश होती है, यह स्मरण रखना चाहिए। वैयधिकरण्य नहीं है। वह अन्य अधिकरण है, इसीलिए वहाँ अधिकारी कोई और है, ऐसा नहीं। तुम भी और वह—त्वं एवं तत्—सब उसमें ही हैं, वेष बदलकर नहीं है।

माया के तलदेशबद्धता-रूप आवरण के आधिक्य में यह माया यन्त्रारूढ़ अधिभूत भाव होता है। इससे अधिदैव, अध्यात्मादि क्रम में अभ्यारोह साधना होगा। प्रथम

दोनों दृष्टियाँ मुख्यतः पराक्—बाहर होती हैं। अध्यात्म में होती है मुख्यतः प्रत्यक्। 'भोल' (छद्मवेष) और 'भोला' (आत्मविस्मृति) को छोड़कर भोलानाथ की खोज करनी होगी।

अब, इस देश-तल-बद्धवृत्तिता की मुख्यता (predominance) घटती है, कटती है कैसे ? घटती है कटती है यदि इस चलती चक्की से कहा जाय—'तुम घूमती हो, घूमो; किन्तु देश का बन्धन और तल का बन्धन क्रमशः अलग करके घूमने का यत्न करो।' यह कैसे किया जाय ? एक उपाय है—यदि इसके साथ कालनिमित्त सम्बन्ध भी स्वच्छन्दतः जोड़ सको। उससे इस देश-तलबद्धता से क्रमशः रिहाई—क्रममुक्ति—होगी। विज्ञान में न्यूटन के युग का देश आइन्स्टाइन-युग के काल के साथ मिलकर विज्ञान के जड़ 'अभिभूत' भाव का 'भूत' हटा चुका है। भूत अब शक्ति है। अच्छा, यह अविद्या देश एवं तल में बद्ध जो भाव है उसमें काल को स्वच्छन्दतः लेने का अर्थ क्या है ? उसका अर्थ है—काल आकर कहेगा 'समय पकड़कर घूमो, घूमने की झोंक में बाध्य होकर मत घूमो; ब्राह्म मुहूर्त में उठो, शौचादि से निवृत्त हो सन्ध्याजपादि करो। देश का बन्धन अलग करके काल के नियम में आओ। यदि आना ठीक हो जाय तो शमदमतितिक्षादि होंगे। उनके भी ठीक होने पर, उपरति, श्रद्धाभावभक्ति एवं अन्त में समाधान होता है। समाधान होने पर जो परमवेद्य एवं परमास्वाद्य है उसके साथ साक्षात् सम्बन्ध संघटित हो जाता है।

बाद के सूत्र में, इसी काल-सम्बन्ध की बात है—

३१. तस्य विशेषतः कालसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिता हृदयत्वम्।
तथा च ग्रन्थिभेदे उपावरणं सत्यस्येति।

विशेष भाव से कालसम्बन्ध में आने पर, हृद्वस्तु की जो आकृति है, उसे कहते हैं 'हृदय'। उस प्रकार होने पर यदि ग्रन्थिभेद होता है, तब 'सत्यस्य मुखम्' अपावृत (निरावरण) होता है। (पादशेष – इति।)

उभयसूत्र में ही 'विशेषतः' पद पर ध्यान दें। पूर्वसूत्र में हृद्देश किस विशेष आकार में माया में बद्ध एवं भ्राम्यमाण भाव का हेतु होता है, और किस विशेष आकार में उससे युक्त होने की भी सहायक भूमि होता है, यह विवेचित हुआ। किन्तु, हृद्देश हृदय होने पर, उसमें (हृद्देश में) देशतलबद्धता का हरण करना है, सुतरां ऐसी एक विशेष वृत्ति आई, जो युक्तता का पूरण करती है। उसे काल-निमित्त वृत्ति कहते हैं। 'ई' गत्यर्थ से 'अय' है। अथवा जात्यर्थ 'अय' धातु है। स्वरों का आदि एवं सभी व्यञ्जनों का आश्रय जो 'अ' वर्ण है, उसके साथ वायुबीज 'य' के योग में यह धातु है। आधार वा अधिकरण ठीक ही है, अथ च वहन करता है, विस्तार करता है, ऊर्ध्वंग

करता है ('इ' एवं 'य'--दोनों ही ऊर्ध्वंग हैं), यह वायुबीज 'य' है। पक्षान्तर में 'हृदेश' की आकृति में, दो दन्त्यवर्णों के योग में तलवृत्तिता एवं दन्त द्वारा (कील) बद्धवृत्तिता ही प्रधान हुई है। किन्तु 'ए' अ+ई) एवं ऊष्म तालव्य (शकार) उसमें रहने से वक्र अथच ऊष्म तालव्य (शकार) उसमें रहने से वक्र अथच ऊर्ध्वंग एक सहग (component) सम्भावित हुआ है। अर्थात् चक्की घूम रही है अवश्य, किन्तु इस सहग को ठीक-ठीक (ऋतच्छन्द में) बढ़ने दें तो शङ्खाकृति में (as spiral) ऊर्ध्वंग हो सकता है, एवं काष्ठा में (in the limiting position 'वह' कील (axis) 'यह' में लाकर मिला दे सकता है। हृद्देश एवं हृदय शब्दों का उच्चारण करते हुए उनकी प्राणिक आकृति पर ध्यान दें। हृदय में इस द्वित्व 'द' की क्रिया का एक 'द' से लाघव हुआ है। दोनों 'द' में से एक लम्बक (vertical) है, और दूसरा समतालिक (horizontal)। दोनों 'द' चक्की को कहते हैं,—हम कीलक दण्डरूप में अक्ष एवं ऊर्ध्वंग तो हैं, किन्तु तुम्हें अपने इस निर्दिष्ट तल में ही घूमना होगा। खूब कस-कर, दबाकर घूमना होगा, जिससे यन्त्रारूढ़ सब कुछ की अच्छी तरह पिसाई हो। हृदय में बाद का 'द' फिर नहीं है, 'अय' है। वायु को सूक्ष्म भाव से देखने पर काल होता है। काल की एक मुख्य वृत्ति संख्यान है। दार्शनिक काण्ट ने भी उसे पकड़ा था। Magnitude and Number। जो देश-आकार में केवल magnitude है, उसे काल के आकार में संख्यान में न लाने तक, वह मानो बद्ध (tied, bound) रहता है। संख्यारूपता पाने पर वह होता है—मुमुक्षु-मुक्त। एक कहता है—'दो होऊँगा, बहु होऊँगा', हरण-पूरण इत्यादि में। बीज जब तक स्तब्ध है तब तक वह 'हृद्देश' है; ज्यों ही उच्छून हुआ, अङ्कुर हुआ, त्यों ही वह 'हृदय' है। भाव प्रभृति सब कुछ के ही ये दो भाव हैं। श्रीगुरु जो बीज वा नाम देते हैं, उसके हृद्देश-भाव में ही रहने से तो नहीं चलेगा, उसे जप (संख्यानपूर्वक) द्वारा हृदयभाव में लाना और पाना होगा। इसके अतिरिक्त काल = ऋतच्छन्दः है। इन सबका आवश्यकतानुसार विस्तार बाद में होगा। 'कल' में पड़े हुए हो, कल को समाप्त करने का उपाय है—'कालिक' (regular) बनो, 'तल' में बँधे हुए हो; तल को काटने का उपाय है 'तालिक' (rhythmic) बनो।

कालनिमित्त सम्बन्ध का 'विशेषतः' 'अवलम्बन' कर सकने पर 'हृदय' (काम का, भाव का 'heart') मिलता है।

अव्यक्तं कारणं हृद् वै तदधिष्ठानता परे।
हृदयं व्यक्तमव्यक्तं यत् परावरतां श्रितम्॥
व्यक्तञ्च विद्धि हृद्देशं मायायोगेन चावरम्॥ ८०॥

अन्वय—अव्यक्तं कारणं वै हृद्, परे तदधिष्ठानता। यत् व्यक्तं अव्यक्तं हृदयं (तत्) परावरतां श्रितम्। व्यक्तं च हृद्देशं विद्धि, मायायोगेन अवरं च॥ ८०॥

[अव्यक्त कारण है हृत्, उसका अधिष्ठान है 'पर'। जो हृदय व्यक्त और अव्यक्त है जो कि (क्रमशः) पर और अवर है। व्यक्त को 'हृद्देश' समझो. (और वही) माया के योग से अवर होता है ॥ ८० ॥]

भाष्य—हृत्, हृल्लेखा और हृदय को और एक दृष्टि से देखें। सब कुछ का जो अव्यक्त कारणभाव है, वह हृत् है। यह परतत्त्व वा परम को अधिष्ठान बनाये हुए है। कारण की दो दिशाएँ—उपादान एवं निमित्त क्या हैं एवं क्यों हैं ? बाद में देखेंगे कि, 'किस' प्रकार सब कुछ ही हृत् है आनन्द (जिसके स्वलसितादि भाव विवेचित हुए हैं)। 'अस्ति' 'भाति' के साथ तत्त्वतः इसका तादात्म्य भी है। किन्तु एक 'क्यों' वा हेतु वा निमित्त की दिशा भी है, नहीं क्या ? वह मूल (Basic) शाक्ती-प्रतिकृति - हृल्लेखा है। किसीके सम्बन्ध में सब कुछ 'क्यों' का मूल जवाब यही है। हृल्लेखा हृदि अधिष्ठिता है। भगवत्ता का मूल निमित्तभाव का ही रूप है। हृदि जो अव्यक्त है, वह हृल्लेखा में व्यक्ताव्यक्त इस द्विर्भाव से 'विसृष्ट' होने की शक्तिरूपता है। बीज और उच्छून भाव में इसे देखें। बीज में जो है, वह अव्यक्त, अजाना है। बीज 'फूलकर' (चीयमान) मानो कहता है—'यह देखो, विमर्श हुआ है, कलन हुआ है, शाक्ती आकृति को देखो। शाक्ती लेखे को देखो—The Basic power Formula, बीज-रूप में देशकालनिमित्त सम्बन्ध में 'निद्रित' था (जैसे, सुषुप्ति में)। उच्छून होकर देशकालनिमित्त की ओर 'उन्मुख' हुआ। किन्तु 'विशेषतः' उस सम्बन्ध में अवगाहन नहीं करता। विशेषतः होता है—हृद्देश में एवं हृदय में। उच्छून बीज का जो आवरण त्वक् है, उसे हृद्देश की भूमिका में ले सकते हो। वह 'फटकर' अङ्कुरादि उद्गम में बनता है—हृदय। जो आवरण त्वक् है, वह व्यक्त ही है। किन्तु अङ्कुर ? व्यक्ताव्यक्त है। इस कारण हृदय को कहा गया है—व्यक्ताव्यक्त। और, वह 'परावर' को आश्रय करते हुए है। और, हृद्देश को जानें व्यक्तभाव—यह मायायोग में 'अवर' है। इन बातों को अपने जप-भावादि के साथ भी मिलाकर समझ लें। केवल वैखरी व्यक्ता, अवरा है। बीज का छिलका जैसे। किन्तु वह भी चाहिए। श्रद्धापूर्वक संख्यादि के साथ जप करो। अक्षर उच्छून होगा, एवं मध्य में नाद-भावाङ्कुर के उदित होने पर, वह अङ्कुर ही आवरण का भङ्ग करेगा। डिम्ब के कुसुम से शावक डिम्ब का आवरण तोड़कर बाहर होगा। तब मध्यमा की सूचना होगी इत्यादि। भीतर में अङ्कुरभाव न होने तक आवरण भङ्ग नहीं होता। इसीलिए हृद्देश के हृदय होने पर तब ग्रन्थिभेद होता है। ग्रन्थिभेद की भी परम्परा है। काष्ठा में जो है – वह ग्रन्थिभेद में परावर दिखाई देता है। अर्थात्, तब हृदय स्वयं को एवं अपने आधार तत्त्व को पूरा जान सकता है। और, वह जान लेने पर क्या होता है ? सत्य—वह परतत्त्व ही—हृत् एवं हृल्लेखा का आधार जो हैं वे ही निरावरण होते हैं। योगभूमि, ज्ञानभूमि और रसभूमि—इन तीनों भूमियों में हृदयग्रन्थिभेद की परिसीमा देख लें।

योग में धारणा का देशबन्ध होने से हृद्देशता-आकृति है; ध्यान में प्रत्यय की एकतानता—निरन्तर-वाहिता है, इसीलिए हृदयत्व है। (नाभिदेश में ध्यान-धारणादि होने पर भी, ये दोनों आकृतियाँ वहाँ भी हैं, जैसे, वाचिक-उपांशु-मानस, यह बैखरी रूप में ही विशेष आकार में परिस्फुट तो है किन्तु मध्यमादि भूमि में भी है; अन्य प्रकार से; वेद-पाठ में जैसे फिर (उदात्त-अनुदात्त-स्वरित) है। ध्यान में भी फिर देशबन्धभाव अधिक होने पर (जैसे ध्रुवादि ध्यान में), यह हृद्देशता आई; ध्यान में लीला-प्रत्यक्ष के निमित्त आवश्यक हृदयत्व है। अब, योग में हृदयग्रन्थिभेद की परिसीमा—प्रकृति एवं पुरुष की शुद्धिसमता में है। ज्ञानभूमि में त्वं एवं तत्पदार्थ हृद्देश है, 'असि' = हृदय; एवं शोधन परिसीमा ही ग्रन्थिभेद है। अनुभव में—परमव्यक्त (प्रकाश) एवं परम अव्यक्त को मिला सकने पर ग्रन्थिभेद होता है। रसभूमि में, 'हम' छोड़कर 'तुहूँ' को पकड़ने पर हृदय होता है। तव, तुहूँ के साथ, उसके अनुगभाव से 'हम' करता है रसाश्रित भजन। आस्वाद्य-आस्वादकभाव जब अभिन्न परमास्वादन निबिडता में मिल जाता है ('अद्वैताद्वैतदशकम्' देखें), तब शेष रसग्रन्थिभेद होता है।

प्रथम खण्ड में श्री श्री कालिका षोडशी के उपान्तिम श्लोक का यहाँ पुनः प्रणिधान करें।

'हृद्याद्या या शयाना' (१२३) इत्यादि। 'काल' शब्द में जो 'कल' है वह भी उक्त षोडशी में व्यक्त हुआ है। 'कालस्य कलनात् काली।' कलन के स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तीन भाव हैं। जप में 'अउम्' प्रभृति अक्षर इत्यादि स्थूल कलन है। प्रधानतः यह स्थूल कलन जब तक है, तब तक हृद्देश है। नादबिन्दु रूप में अर्ध मात्रा हुई सूक्ष्मकलन। और, कारणरूप में होती हैं आद्या कला वा कलनी शक्ति (काली); वे समस्त कलन करके भी अतीता हैं। यह भाव इस षोडशी के अन्तिम श्लोक में दिखाया गया है। यहाँ, सूत्र में जो विशेषतः काल सम्बन्ध की बात कही गयी है, वह क्या है ? वह है—स्थूल व्यक्त जो हृद्देशता है, उसे सूक्ष्म व्यक्ताव्यक्त माध्यम में अव्यक्त कारणभूमि एवं परमाव्यक्त कारणातीत भूमि में लेने का संवेग। इस संवेग की सूचना होने पर हृद्देश हुआ हृदय।

पुनश्च, सत्य के मुख के अपावरण के सम्बन्ध में भी कालिकाषोडषी का 'सत्यास्यं या पिधाय' इत्यादि श्लोक अनुधावनीय है। 'तत्सत्यं बाधमुक्तं हृदयनभसि नः कुर्वती सा सुहासा'[1]—इस अन्त के चरण में 'हृदय' शब्द पर भी ध्यान दें। 'आदित्यहृदयम्' इत्यादि स्थल में 'हृदयम्' वस्तु क्या है, वह भी भावनीय है।

महामाया-माया-हृल्लेखा-प्रकृति-विकृत्यादि-निरूपणं नाम प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः।

---

१. उपोद्घात में १११ संख्यक पद्य।

॥ जपसूत्रम् ॥

(प्रथमाध्याये तृतीयः पादः)

ग्रन्थ में पुनः पुनः 'वृत्ति' शब्द व्यवहृत हुआ है। यह वृत्ति इसके बाद प्रस्तुत पाद के प्रथम पाँच सूत्रों में 'वृत्तिपञ्चकम्' नाम के साथ सूत्रित और विवृत हुई है। 'वृत्ति' न्यायवेदान्तादि दर्शनों के व्यवहार में अत्यावश्यक एक पदार्थ है। साधनशास्त्र में भी अन्यथा नहीं है।

१. अस्ति भात्यच्छति मोदत इति प्रत्ययप्रतियोगित्वं वृत्तित्वम्।

अस्ति (है), भाति (प्रकाशित होता है), ऋच्छति (गमन करता है) एवं मोदते (प्रिय भाव से अनुभव करता है), इन चार मूल प्रत्ययों की प्रतियोगिता (विषयता) जहाँ है, वह हुई वृत्तिता। चारों के समुच्चय में भी है, विचय में भी है।

प्रथम तीन के सम्बन्ध में संशय वैसा नहीं है, किन्तु मोदते ? यह भी एक मूला वृत्ति है। सुख-दुःख, राग-द्वेष—इस प्रकार द्वन्द्वाश्रित अनुभव सर्वत्र होता है अवश्य, किन्तु मूल में है अस्मि (अहंमात्र नहीं) बोध, एवं इसी अस्मिबोध के साथ प्रियताबोध तादात्म्य में ही रहता है। 'मा न भूवं' इत्यादि प्रत्यय का मूल यहाँ है। ऐसा होने पर वृत्ति हुई —Whatever affirms in terms of the four fundamentals of experience। 'ऋच्छति'—इसके न रहने पर; प्रत्यय ही नहीं होता, इसीलिए वृत्ति भी नहीं होती। 'अस्ति' 'भाति' 'प्रियं' शुद्ध ब्रह्मत्व ही है। किन्तु अस्ति, भाति इत्यादि रूप में प्रत्यय होने के लिए, 'ऋ' धातु चाहिए ही। तब होती है 'अस्ति' इस आकार-वाली वृत्ति। शुद्ध ब्रह्मत्व में यह अवश्य नहीं है। तन्त्र में प्रकाश के साथ विमर्श होता है। विमर्श जपसूत्र के अनुसार मर्शपञ्चक है एवं उसके भासपञ्चक होने पर वृत्ति होती है। 'मोदते' के सम्बन्ध में यह कारिका है—

मोदत इति या वृत्तिः संविदि भाति मुख्यतः।
एष आकाश आनन्दो नो चेदन्यान्न कोऽपि च ॥ १ ॥
आनन्दं खलु जानीत भुवननाभिमित्यतः।
कोऽन्यात् प्राण्यादिति ज्ञातनृतमप्यस्मिताश्रयम् ॥ २ ॥

अन्वय—मोदते इति या वृत्तिः मुख्यतः संविदि भाति, 'एष आकाशः आनन्दः' नो चेत् कः अपि च न अन्यात् ॥ १ ॥

आनन्दं खलु भुवननाभिम् इति जानीत। अतः कः अन्यात् प्राण्यात् इति ऋतम् अपि अस्मिताश्रयं ज्ञातम्॥ २॥

[अर्थ भाष्य में स्पष्ट है।]

भाष्य—संविद् में वा चैतन्य में 'मोद' वा प्रियता मुख्य भाव से है। इस निमित्त संवित् स्वभाव से ही प्रिय संवित्, स्वरस संवित् है। दुःखद्वेषादि-व्यतिक्रम स्वभाव में नहीं है। श्रुति ने 'एष आकाश आनन्दः' कहा है, अर्थात् आकाश आनन्द का ही सर्वव्यापी विश्वाधार रूप है। 'आनन्दाद् ह्येव' इत्यादि की भी भावना करें। नहीं तो (नो चेत्), कोई मूलस्पन्दरूप जो 'अनन' है (जिससे प्राणन होता है), उसका निर्वाह न कर सकता। अर्थात्, आनन्द ही उल्लसितादि रूप ग्रहण करके होता है मूल प्राणस्पन्द। इस निमित्त (इत्यतः) आनन्द को ही विश्वभुवन की मूल नाभि (हृत्) जानें। नाभि की बहिरपेक्ष (बाहर की अपेक्षा रखे ऐसी) कार्यरूपता है। इसे भेद करना होता है। अन्तरपेक्ष कार्यरूपता भी है, प्रत्यक् प्रवण होकर इसे समावृत्त करना होता है। उसके बाद, कारणरूपता होती है। वह परतन्त्रता परिहारपूर्वक स्वतन्त्र होकर होती है हृत्, तब वह आनन्द ही है। हृत् वा केन्द्रीण आनन्द की तन्त्रतायिका हृल्लेखा है। कौन सूक्ष्म प्राणस्पन्द में अथवा अभिव्यक्त प्राणस्पन्द में वृत्तिमान् होता? यह जो जिज्ञासा है, यही जिज्ञासा ही, अस्मिताश्रय रूप में जो मूल है 'ऋतं' (ऋच्छति भाव), उसे मानो अङ्गुलिनिर्देश से दिखा देती है। अर्थात्, यह जिज्ञासा ही मानो कहती है—'आकाशानन्द ही हमारा परमाधार है'। इसी आधार पर 'हृत्' रूप में आनन्द ने ही 'केन्द्रीण' भाव ग्रहण किया है। इसीलिए मोद वा प्रियता हमारे केन्द्र में है। वह केन्द्र विशेष-विशेष 'अहं' रूप में न आकर ही स्वयं को जानता है—'अस्मि'। इस अस्मि का विषय प्रथम पाद के व्याहृति सूत्र में सविशेष आलोचित है। 'अहं' में संकीर्ण होकर 'अहं सुखी, अहं दुःखी', यह सब प्रत्यय होता है। 'अस्मि' में मूलप्रियता अभी भी उस प्रकार द्वन्द्वस्थ (Polarised) नहीं हुई है। योग में अस्मिता-समाधि की बात समझें। 'हृत्' रूप यह जो आनन्द संवित् है, रससंवेदन-केन्द्र है, इसीमें ही वे सन्निविष्ट हैं, इसीलिए कहाँ आनन्द का मर्मकेन्द्र है, कहाँ मेरे रस का मूल उत्स है – इस प्रकार मेरे अन्तरतम स्थल में जो भगवत्ता है, उसे खोजना और पाना होगा। व्यथा के सब प्रदीप जलाकर भी इसी उद्देश्य में परम मरमी की आरती करनी होगी। क्योंकि वह हमारा परम दरदी सुहृत् जो है!

चार मूल प्रत्यय हैं, विशेष करके, 'मोद' प्रत्यय को तत्तद्-विषयक वृत्तिरूप में देख-कर, बाद का सूत्र है—

२. वाग्बुद्धिविषयत्वावच्छेदकत्वं वा।

वाग् एवं बुद्धि का जो विषय (वाग् बुद्धि के साथ विषयता-सम्बन्ध से जो है) उसे अवच्छिन्न, अर्थात् विशेष करके निरूपित करती है जो, वह भी वृत्ति है। ('वा' =

समुच्चये किंवा विकल्पे।) Whatever defines the Predicable, Namable and Thinkable।

वाग्विषयं च यत्किञ्चिद् बुद्धिविषयकं तथा।
तस्य तद्विषयतावृत्तं वृत्तितया विशिष्यते।
वत्सो जातो मृतो वाऽत्र जन्मादेर्वृत्तिता मता॥ ३॥

अन्वय—स्पष्ट है।

[जो कुछ वाणी का और बुद्धि का विषय है, उसका तद्विषयक होना वृत्ति के रूप में विशिष्ट बनता है। 'वत्स उत्पन्न हुआ' अथवा 'मर गया' इन वाक्यों में जन्म और मृत्यु की वृत्तिता मानी गयी है॥ ३॥]

भाष्य—वाग्विषय जो कुछ है, जैसे अकार, उकार, मकारादि स्वर, व्यञ्जन, वर्ण अथवा कोई शब्द (ध्वनिसुर के साथ), कोई नाम (जिसकी निरूपित अभिधा, लक्षणादि शक्ति है); बुद्धि का विषय होता है जो कुछ, जैसे अर्थ, भाव, भावार्थ, मर्म, रहस्य; वह (अर्थात्, यत्किञ्चित् उस-उस भाव से वाक् एवं बुद्धि के विषयरूप में 'आकृत' है) यहाँ 'वृत्ति' के लक्षण द्वारा लक्षित हुआ। साधारण एक दृष्टान्त लें—वत्स जन्मा अथवा मरा, यहाँ जन्मादि वाक् एवं बुद्धि के विषय के रूप में वृत्ति होगी।

लक्ष्य करें कि वाक् का विषय वाच्य है, बुद्धि का विषय बोद्धव्य वा 'भाव्य' है, यावत् अनिरूपणीय वा अनिरूपित (अवच्छेदक के द्वारा अनवच्छिन्न)—undefined and undefinable—है तावत् वह इस लक्षण में नहीं आता है। सामान्यतः, यह वाक् वा वाक् का विषय है, अथवा यह बुद्धि वा बुद्धि का विषय है, अथवा वाक्, बुद्धि दोनों का विषय है—इस प्रकार निरूपणीय वा निरूपित होने पर भी वृत्ति होती है। 'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह'—इस स्थल में परम अव्यक्त में एवं अनिर्वचनीय में वृत्तिमात्र का निषेध कहा गया है। जप-वैखरी से पश्यन्ती के प्रान्त तक वृत्ति रहती है, परा में समावृत्त (नदी जैसे नदीनाथ में) होती है। परम में कोई लक्षण, निरुक्ति देते नहीं बनना। वृत्ति सम्भूत एवं सम्भाव्य भी होती है। जैसे, प्रणवजप में 'अउम्' रूप वृत्ति सम्भूत है, नादादि सम्भाव्य है। ज्ञानभूमि में शेष ब्रह्माकारा वृत्ति होती है—'अहं ब्रह्मास्मि'। योग में वृत्ति-निरोध-भूमि भावनीय है। प्रणव ब्रह्मवाचक रूप में त्रिमात्रा, अर्धमात्रा पर्यन्त वृत्ति के लक्षणों में है; अमात्र में, तुरीय में, नहीं। रसभूमि में विलसित तक वृत्ति है। एकान्त स्वलसित वृत्ति की व्याप्ति में नहीं आता।

अच्छा, अनिरूपणीयता एवं अनिरूपितत्व (वाक् एवं बुद्धिप्रत्यय के द्वारा) एक प्रकार से तो सब कुछ में ही है, एक धूलिरेणु में भी। रहने की ही बात है। महामाया ही यह धूलिरेणु हुई हैं एवं तद्रूप में अपने को दिखा रही हैं। माया द्वारा माप में

(नाना भाव से) अपने को लाकर भी अमेया ही हैं। इसीलिए, अमेयता के आधार पर अवच्छेद-परिच्छेदादि रूप में यह मेयता है। अनिरूपणीयता की भित्ति पर निरूपणीयता का नक्शा है। यह नक्शा भी सर्वदा बुद्धि और वाक् के व्यवहार में बदल जाता है। विज्ञान में, योगज ज्ञान में विशेषतः। मूल अनिरूपणीयता की भित्ति पर यह व्यावहारिक अनिरूपितत्व भी है। किन्तु वाक् एवं बुद्धि के प्रत्यय में जितना गृहीत वा ग्राह्य है, उतना ही वृत्ति के इस लक्षण में आया है। व्यवसाय ('यह घट है'), अनुव्यवसायादि ('मैं यह घट देख रहा हूँ') आकृति में उद्भूत एवं व्यक्त न होने पर भी वृत्ति होने में बाधा नहीं है। साधारण निर्विकल्पक, 'आलोचन मात्र' ज्ञान में भी वृत्ति का लक्षण जायगा; किन्तु तटस्थ होकर। इन सब ज्ञानों में अन्य सम्बन्ध वा प्रकारता यदि न 'भासित हो' तब भी 'इदं' वा 'यह' रूप में निरूपितत्व रहता है, एवं वह यदि व्यक्त भाव से न होकर भी अव्यक्त भाव से (implicitly, incipiently) वाक् बुद्धि का विषय बने, तब वह लक्षण में आया। 'यदि' कहकर एक शर्त लगाई गयी, इसीलिए तटस्थ है।

यह हमेशा स्मरण रखना चाहिए कि विस्पष्ट चेतना (focus of consciousness) में जो नहीं है, अस्पष्ट चेतना में वा छाया-चेतना में (In the umbra of consciousness) वह सम्भवतः है; और, अव्यक्त वा अवचेतना में क्या नहीं है और क्या नहीं हो रहा है, यह कहना कठिन है। जपादि-साधन में जो 'वृत्तिलेख' है उसे इस विस्पष्ट भूमि में कितना सा अथवा किस प्रकार हम देख पाते हैं? साधारण प्रत्यक्ष स्थल में भी इन्द्रिय के साक्षात् सम्बन्ध में जो ला दे, परोक्ष भाव से (संस्कार भूमि से) उसके साथ और भी बहुत कुछ जोड़ न देने पर तो यह प्रत्यक्ष ही नहीं होता। जैसे, रूप प्रत्यक्ष में, स्थौल्य-काठिन्य-दूरत्वादि। वाक् एवं बुद्धि को भी साधारण ज्ञानभूमि के तल में ही आबद्ध रखने पर नहीं चलेगा। जहाँ वाक् वा बुद्धि का कोई भी व्यापार वा प्रत्यय नहीं समझते हैं, वहाँ भी व्यापार का पूर्ण लेख न मिलने तक निश्चय वा अवधारण नहीं किया जा सकता।

जपादि अध्यात्म-साधन में यह 'पूर्ण लेख' ही मुख्यभाव से प्राप्त करने की वस्तु है। ऊपर, सतह पर किस प्रकार वृत्ति हो रही है, वा नहीं हो रही है, वह उसकी तुलना में गौण, किन्तु आवश्यक है। जपादि में वाक् केवल बैखरी तो नहीं है। चारों भूमियों में वाक् है। इसीलिए, वृत्ति (अभीष्ट वा अनभीष्ट) किस भूमि तक है, उसे जानना जरूरी है। बैखरी में नहीं, अथच मध्यमा में है, ऐसी वृत्ति तो विशेष रूप से अनुसन्धेय है। किन्तु जिस स्थल पर बैखरी का ही प्रसंग है, उस स्थल पर वृत्ति को बैखरीभूमिकावच्छिन्न बनाकर देखना और कहना होता है। बुद्धि को भी उसकी साधारणी भूमि में लेने पर भी तो नहीं चलेगा। तनुमानसादि विशारदी भूमि है। यह

भूमि फिर 'उतराई' में धूमवर्त्म में उतर गई है, साधारण चेतना के अधस्तन 'आसुर' तल की ओर। यहाँ भी विभूति, 'सिद्धाई' है। फिर, 'चढ़ाई' में अर्चिः वर्त्म—सुर या दिव्य अनुभूति के लोक-समूह भी ओर भी उठा है। बुद्धि तमसा की ओर भी खुल सकती है (जैसे समुद्र की गहराई में जो सब प्राणी रहते हैं, उनका अन्न-अरि इत्यादि बोध); फिर 'वर्चसा' की ओर भी खुल सकती है। जो कुछ भी हो, बुद्धि को एवं बुद्धि की वस्तु को (Thinkable) इस हमारे कारोबारी 'आठपहर' भूमि में ही 'नजरबन्दी' करके रखना उचित नहीं है। किन्तु यहाँ भी तत्तद्भूमिकावच्छिन्न करके वृत्ति को कहा-सुना जाता है। अध्यात्म-साधना में वाक् और बुद्धि की विषयता को व्यापिका रूप से ही लेना होता है। सुतरां, वृत्तिलेख अयथाखण्डित (तललम्बादि मान में—dimensions में) होने पर पादहीन, तत्त्व एवं तथ्य के सम्पर्क में अयथार्थ होता है।

निरूपितता एवं निरूप्यता (Definability as predicable and Thinkable), यह सूत्रसम्मत वृत्ति का लक्षण ग्रहण करने पर, यह मुख्यतः दो प्रकार की है—तात्त्विक और व्यावहारिक। व्यावहारिक के बीच फिर प्रातिभासिक को भी स्थान देना होता है—जैसे, हमारी यह पृथिवी एक स्थान में स्थिर ही है; यह चन्द्रमण्डल स्वतः ही उज्ज्वल है, इत्यादि। तत्त्वतः दोनों प्रकारों में केवल व्यतिरेकी वृत्ति; यथा, एकान्त अमेय, अनिरुक्त, अलक्षण पदार्थ में वाग्बुद्धिनिरूपिकारूप वृत्ति एकान्ततः नहीं है। अन्वय-व्यतिरेकी; यथा, 'ॐ' इस शब्द में त्रिमात्रादि रूप में निरूप्य वृत्ति तो है, किन्तु अमात्र रूप में नहीं है। केवल प्रणव नहीं, सब कुछ का (एक धूलि का भी) वही है; कुछ निरूपण में आता है, कुछ निरूपण में आ सकने को कहता है, किन्तु सम्पूर्ण कहता है—'मैं निरूपण में नहीं आऊँगा।' व्यावहारिक (प्रातिभासिक को छोड़कर) तीन प्रकार के हैं—प्रथम, वाक् बुद्धि के साधारण (Pragmatic and normal) अधिकरण में है। यहाँ वृत्ति (Predicables and thinkables) को लेकर ही साधारण कारोबार हैं। द्वितीय—ऊर्ध्वग्राम में—अर्चिः वर्त्म में है। वाक् और बुद्धि को, एवं इन दोनों के योजक प्राण को—एवं उनकी संहति में निरूप्यमाण अनुभूति समूह को उत्तरोत्तर ऋद्धिमत्तर, ज्योतिष्मत्तर, रसवत्तर भाव से प्राप्त करना होता है। तृतीय—निम्न ग्राम में—धूमवर्त्म में है। वर्तमान विज्ञान-विद्या अपनी विद्या वा टेक्नीक (वाक्—enunciation) एवं बुद्धि—(reasoning and verification दोनों के द्वारा ही) को खूब उन्नत करके जो विराट् वृत्तिलेख अङ्कित किये जा रहा है, वह ऋजुगामी नहीं हुआ है, सुतरां वह विद्या ऊर्ध्वग्राम में श्रेयस्करी होकर भी निम्नग्राम में 'भयङ्करी' हो रही है।

३. वस्तुसम्बन्धविषयताघटकत्वमपि वा।

वस्तु को सम्बन्ध के विषय में (relatedness में) लानेवाली (घटक) जो है, वह भी वृत्ति है।

लक्षण परस्पर को व्यावृत्त (exclude) नहीं करते, दोनों परस्पर के बाहर के वृत्त की भाँति हैं, यह सूचित करने के लिए 'अपि' शब्द है। 'वा' कहने पर संशय होता है कि ये क्या अन्योन्य-व्यावर्तक (mutually exclusive) हैं ?

ब्रह्म से एक तृणपर्यन्त सब किसी न किसी सम्बन्ध में आते हैं, ऐसा हम देखते हैं। जैसे, ब्रह्म आदि-कारण हैं, मूल निमित्त हैं, इत्यादि। तृण अमुक जातीय है, अमुक गोत्र है—इत्यादि। यह पुष्पयोनि है, यह पुष्परेणु हैं, दोनों के मिलने में घटकत्व करता है मधुकर, इत्यादि ! शिष्य, गुरु, दीक्षा इत्यादि ! सम्बन्ध बहुधा प्रपञ्चित हैं, कुछेक श्रेणियों में उन्हें बाँधने की चेष्टा हुई है। सम्बन्ध में आने पर सम्बन्धीय प्रतियोगिज्ञानाधीन ज्ञानविषयत्व हो जाता है। जैसे, कारण। किसका कारण ? कार्य है इसीलिए न कारण है ! कार्य क्या है, यह न जानने पर भी 'कारण' इस पदार्थ को जानने के लिए 'कार्य' पदार्थ को भी जानना पड़ता है। इसीलिए, प्रतियोगी जो कार्य है, उसके ज्ञान की अपेक्षा रखकर ही कारण का ज्ञान होता है। 'दीक्षा', 'मन्त्र', 'शुद्धि', 'प्रत्यय'—प्रभृति भी इसी प्रकार हैं। सम्बन्धजन्यप्रतियोगिता कहीं-कहीं आड़ में भी रहती है। सादृश्य, अभाव—इनके समय प्रतियोगिज्ञानाधीन ज्ञान विस्पष्ट है। राम की पुस्तक अथवा प्रदीप का तेल इन सब क्षेत्रों में एक के ज्ञान को अन्य के ज्ञान के साथ जैसे कसकर जोड़ा नहीं गया है, ऐसा लगता है। किन्तु पुस्तक को उसके स्वामी के सम्पर्क में, तेल को उसके आधार के सम्पर्क में जानने की अपेक्षा है ही। जो कुछ हो, वस्तु को किसी सम्बन्ध में लाकर उसके ज्ञान को (जैसे ब्रह्म का स्रष्टृत्व), तत्सम्बन्ध में जो प्रतियोगी (जैसे, जगत्) है, उसके ज्ञान का सापेक्ष जो बनाती है, वह वृत्ति है।

इस लक्षण में जो वृत्ति है, उसमें वस्तु होती है प्रमेय। पहले के लक्षण में क्या वह नहीं थी ? थी, किन्तु सम्बन्ध-विषय-भाव (relatedness) यहाँ सविशेष व्यक्त है। 'अयं' वा 'यह' कहने से सामान्यतः निरूपण हुआ; किन्तु 'अयं' एवं 'असौ' इन दोनों के समय सम्बन्ध-रूप परिस्फुट (explicit) हो उठा। ॐ एक वाक् हैं, यह कहने से सामान्यतः निरूपण हुआ। किन्तु यह 'वाचक' है ऐसा कहने से सम्बन्धख्याति हुई। सुतरां, इस सम्बन्ध का प्रतियोगी जो वाच्य—ब्रह्म—हैं उनके ज्ञान की अपेक्षा प्रणव के ज्ञान में है। 'प्रमेय' कहने से यह अपेक्षा स्पष्ट होती है। प्रमाता एवं प्रमाण की अपेक्षा रहती है। इस प्रमेय का प्रमाता कौन है, प्रमाण क्या है ? प्रमा भी किसे कहते हैं ? इन सबके सम्बन्ध में कुछ-कुछ सूत्र भी बाद में हैं। किन्तु यहाँ कहा गया कि जो वस्तु को सम्बन्ध में लाकर प्रमेयरूपता (सङ्ग में अवश्य प्रमाता एवं प्रमाण

हैं) देती है वह वृत्ति है। इन तीनों के साधारण-असाधारण दृष्टान्त तो सर्वत्र हैं। वेदान्तादि में वृत्ति का जो लक्षण दिया जाता है, वह मुख्यतः इन तीनों को लेकर है। प्रमात्रवच्छिन्न चैतन्य, प्रमेयावच्छिन्न चैतन्य, इत्यादि। वृत्ति के प्रसङ्ग में ही अवच्छेद, आभास, प्रतिबिम्ब—ये सब विकल्पनाएँ हैं। शुद्ध अधिष्ठान जो चैतन्य है, उसमें वृत्ति की प्रसज्यता ही यदि न रहे तो वृत्ति किसे लेकर, किसके सम्पर्क में है, एवं अधिष्ठान चैतन्य न रहने पर वृत्ति का किस प्रकार भास होता है—इन सबकी आलोचना में वेदान्तविचारिणी धी ने अपनी वृत्ति वा गति को सूक्ष्म की पराकाष्ठा में लाना चाहा है। योग एवं रसभूमि में भी वृत्ति मूल सिद्धान्त का मूल स्पर्श करके ही मनन-चिन्तन के क्षेत्र में उतर आई है। जप मुख्यतः साधन है। इस साधन-विज्ञान को भी एक दृढ़ भूमिक सिद्धान्त की भित्ति पर सुस्थिर होने की अपेक्षा है। किन्तु विचारादि सब कुछ ही स्वीय अनुबन्धानुरोध से होते हैं। जैसे, जप-विज्ञान वा गणित में अपेक्षा करनी होती है आवश्यकतानुसार, किन्तु इसीलिए विज्ञान वा गणित की भाँति Differential Equations इत्यादि फैलाकर उनके समाधान की चेष्टा में लग नहीं जाना होगा। मनन-विचारादि की अनेक सूक्ष्म भूमियों के सम्बन्ध में भी यही बात है।

इस स्थल में मूल अनुबन्ध यह है—जप करते-करते नाद की भाँति कुछ सुनाई दिया। यह ध्वनि-श्रवण इस स्थल में वृत्ति है। इसे प्रमेय कहने पर, मैं उसका प्रमाता हूँ और मेरा जप उसका प्रमाण है। किन्तु प्रश्न है—यह प्रमेय वृत्ति क्या यथार्थ है? यह प्रश्न करने पर, 'प्रमा' वा यथार्थ ज्ञान का एक लक्षण एवं आदर्श (standard) आवश्यक होगा। 'प्रमा'—वस्तु लक्षण और आदर्श के अनुरूप होने पर, तब देखना होगा—'मैं' प्रमाता क्या ठीक उसे पकड़ने योग्य हूँ, और मेरा वर्तमान जपरूप प्रमाण भी क्या उसे ठीक प्रमानुरूप भाव से पाने में समर्थ है? यदि उत्तर हो—'नहीं', तब उपाय की बात, शुद्धि की बात (प्रमाता एवं प्रमाण दोनों की) उठेगी। शास्त्र, गुरु, सन्त, महाजन वर्ग ने शुद्ध अबाधित जो प्रमा है, उसका आदर्श साधक के सम्मुख रखा है। मेरा प्रणवादि व्याहरण क्या ठीक हो रहा है, उसका चक्र क्या ठीक चल रहा है, अनुध्यान भावादि क्या ठीक-ठीक हो रहे हैं? - ये सभी तो वृत्ति के प्रश्न हैं, एवं वृत्ति-शुद्धि के प्रश्न हैं। विज्ञानादि सर्वविध व्यवहार में ही प्रमाता एवं प्रमाण इन दोनों के क्रमिक शोधन द्वारा प्रमेय-शुद्धि को साधकर चलना होता है।

ययैव वस्तु यत्किञ्चित् सम्बन्धित्वेन गृह्यते।
अत्रामुत्र कथञ्चैव कदा-तदादि-रूपतः॥
सा वृत्तिस्तत्त्वमस्यादौ याऽसिपदेन लक्षिता॥ ४॥

अन्वय—यया (वृत्त्या) एव यत्-किञ्चित् वस्तु 'अत्र'-'अमुत्र' कथं च

एव 'कदा'-'तदा'-आदिरूपतः सम्बन्धित्वेन गृह्यते, सा वृत्तिः, या 'तत्त्वमसि'-आदौ असिपदेन लक्षिता ॥ ४ ॥

[जिस वृत्ति से जो कुछ वस्तु 'यहाँ-वहाँ' 'कैसे' और 'कब-तब' आदि के सम्बन्ध से गृहीत होती है वह वृत्ति है, जो कि 'तत्त्वमसि' आदि में 'असि' पद से लक्षित होती है ॥ ४ ॥]

भाष्य—जिसके द्वारा वस्तु सम्बन्धी वा सम्बन्ध-विशिष्ट भाव में गृहीत होती है—'यहाँ', 'वहाँ', 'किस निमित्त', 'अब', 'तब' इस प्रकार (प्रधानतः) देश, काल एवं निमित्त सम्बन्ध में गृहीत होती है, वह है वृत्ति। 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य में 'असि' 'अस्मि' इत्यादि पदों में वह लक्षित हुई है।

४. भानविषयतानिरूपकत्वमपि च।

(पूर्व में सविशेष आलोचित) जो 'भान' है, उसके 'विषय' एवं 'विषयी' (object and subject) भाव, एवं इस भान का विषय, यह निरूपण करती है जो, उसे भी वृत्ति कहें। (यहाँ सूत्र के अन्त में 'अपि च' है। पूर्व सूत्र की व्याप्ति ठीक रखकर उसे भान-विषयता की ओर से दिखाया जा रहा है।)—whatever defines the alogical, undefined whole of experience।

सब कुछ प्रत्यय एवं प्रतीति के मूल एवं आधार-रूप में जो है, उसे समग्रभाव से 'भान' कहा गया है। यह स्वयं समग्र भाव से एवं साक्षात् भाव से किसी सम्बन्ध-निरूपण में नहीं आती। किन्तु उससे ही 'विषय-विषयी' इत्यादि सम्बन्ध फूट रहे हैं, 'अंश-अंशी' इत्यादि भी। यह हुआ भान का स्वविमर्श (self-review, self-treatment)। यह मूल विमर्श अनुमर्शादि पञ्च आकृतियों में भासादि भासपञ्चक को भान के आधार पर ही स्फुट करता है। यह सब विस्तार से कहा गया है। भान में मूल विमर्श के कारण एवंविध विषय-विषयी इत्यादि रूपों के स्फुट हो उठने को भी वृत्ति कहा गया है। Alogical Fact एवं Reviewing Fact वा Logical होने के घटक को यदि कहें विमर्श, तो घटक-घटित-घटना हुई वृत्ति।

यत् सामग्रीतया भानं सहते न निरूपकम्।
तत्रेदन्तादिरूपेण निरूप्यमाणता यया।
निर्वाच्यत्वमनिर्वाच्ये दीयते वृत्तिता हि सा ॥ ५ ॥

अन्वय—यत् भानं सामग्रीतया निरूपकं न सहते, तत्र इदन्तादिरूपेण निरूप्यमाणता, अनिर्वाच्ये यया [च] निर्वाच्यत्वं दीयते, सा हि वृत्तिता ॥ ५ ॥

[जो भान सामग्रीरूप से निरूपक को नहीं सहता (समग्र रूप से जिसका निरूपण नहीं हो सकता) वहाँ इदन्ता आदि रूप से जिसके द्वारा निरूप्यमाणता आती है, और अनिर्वाच्य में निर्वाच्यत्व लाया जाता है, वह वृत्तिता है ॥ ५ ॥]

भाष्य—अखण्ड सामग्रीभाव से भान है 'अदिति', उस भाव में भान किसी भी निरूपक को ('इस प्रकार' कहकर जो निर्दिष्ट कर देता है उसे) सहन नहीं करता। अथच, उस भान में 'अहं' 'इदं' (विषयी-विषय) इत्यादि आकार में निरूप्यमाणता (difinability, determinate-ness) फूट उठती है, और, जो तत्त्वतः अनिर्वाच्य (alogical) है, वह निर्वाच्य (logical-predicable, thinkable, related) भी होता है, ऐसा देखते हैं। यह घटना (घटक-घटित के साथ) वृत्ति है।

जप में प्राणसामग्री को एक ओर वाक्, दूसरी ओर भावप्रत्यय और बोधप्रत्यय रूप में 'निरूप्यमाण' करके चलना होता है। यही जपाकारा वृत्ति है। इस निरूपण में प्राण समग्रतः निरूपण में नहीं आता। जपारम्भ में अथवा जपपूर्व में प्राण का जो अनिरूपित भाव है, वह जपप्रमाता के समीप 'तमसा' (veiled and covered indeterminate-ness) है; जपप्रमाण द्वारा आवृत प्राण-प्रमेय क्रमशः छन्द, आकृति में, भाव में, बोध में अपावृत होता चलता है। किन्तु asymptote जैसे hyperbole को निकट से निकटतर होकर भी बिल्कुल स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार प्राण-सम्पर्क में, प्रमाता-प्रमाण एवं प्रमेय की 'दौड़' चलती रहती है। प्राण स्वयं को क्रम से उज्ज्वलतर, मधुमत्तर, समृद्धतर करके प्रस्फुटित करता चलता है। इसका शेष कहाँ है ? अनन्त में। अथवा, शून्य में। इनकी बात बाद में आ रही है। किन्तु इस चलने के पथ पर, प्रमाता को गुरु-सन्त-शास्त्र के सम्मुख रखकर क्रमागत प्रश्न करते हुए ही चलना होता है कि वृत्ति आभास (illusion), अपभास (delusion) इन सबकी ओर तो नहीं जा रही है ? भान नव-नव, भास के रूप में ही भास रहा है, किन्तु भाणरूप में तो नहीं पड़ रहा है ? और, अन्त में (in the last limit)—सब भास ही वही परम प्रकाश, परम-स्वरस अथ च परम अनिर्वाच्य जो भान है, उसमें ही पर्यवसान की ओर ही चल रहा है तो ! परम की यह अनिरूप्यता 'ज्योतिषा' एवं 'रसौजसा' वा 'रसमहसा' है।

५. अभावप्रत्ययाभावप्रतियोगित्वमिति च।

'कुछ भी नहीं है' इस प्रकार जो अभाव का प्रत्यय होता है उस प्रत्यय का फिर जो अभाव (अर्थात् यह 'कुछ भी नहीं है' इस भाव से प्रत्यय का न-होना) है, उस अभाव का (अर्थात्, अभाव के अभाव का), जो प्रतियोगी है, अर्थात्, विषय है, वह वृत्ति है—Whatever negates pure negation। 'इतिच' कहकर वृत्तिपञ्चक का उपसंहार किया गया। वृत्ति के पाँच लक्षण यहाँ समाप्त हुए।

वृत्ति में जो 'ऋच्छति' वा गतिरूपता निहित है, वह पूर्व के चार लक्षणों में एक-एक आकृति में, स्फुटित है। प्रथम में 'मोदते' वा आनन्द-जागृति इत्यादि रूप में ऋच्छति है; 'बहु स्याम्'—सदसद्रूप में अस्तिता में ऋच्छति है; अस्मि-असि-व्यक्ताव्यक्त रूप में भातिता में ऋच्छति है। द्वितीय में, वाक् और बुद्धि का विषय-रूप होकर

ऋच्छति है। तृतीय में, वस्तु-सम्बन्ध घटक-घटना-रूप में ऋच्छति है। चतुर्थ में, भान के निरूपक रूप में ऋच्छति है। और इस पञ्चम में, ऋच्छति कहने से ही जो भावाभाव (Becoming = Being + non-Being) सूचित होता है, वह भावाभाव अभाव में ही समाप्त है या भाव में ही, इसका निर्देश है। प्रकारान्तर से—प्रथम लक्षण तत्त्व को उद्देश करते हुए है; द्वितीय लक्षण, विशेषतः प्रमाण को; तृतीय, प्रमेय को; चतुर्थ, प्रमाता को; एवं अन्तिम विशेषतः शून्य को। इस शून्य पदार्थ का लक्षण बाद में किया जायगा। यह ऐकान्तिक अभावमात्र नहीं है। अभाव, व्यवहार में अन्तर वा व्यवधान है। भूतल में घट नहीं है, किन्तु अन्यत्र है; खपुष्प आकाश में नहीं है, किन्तु कल्पना में वा उपमा में है, कटहल का आम-पापड़ कल्पना में भी नहीं है, किन्तु शब्द में है। व्यवहार में जिसे कहते हैं 'भाव' वा 'रहना', उस भाव के साथ इन सबका अन्तर वा वियोगरूपता है। इसलिए, व्यवहार में अभाव का अर्थ है (न्याय के आत्यन्तिकादि चारों प्रकार के अभाव के स्थल में) किसी निर्दिष्ट वा निरूपित भाव का अभाव—भावाभाव। भाव का यह अन्तर वा वियोगरूप जो अभाव है, उसे यदि शून्य किया जाय, तब भाव ही हुआ।

पुनश्च, व्यवहार में, सभी पदार्थ भावाभावमिश्रित हैं। 'क' में केवल जो 'ख' 'ग' इत्यादि का अभाव है, ऐसा नहीं; 'क' ही अपनी मात्रा-पाद-कला में कुछ हद तक है, बाकी नहीं है। अब, जो बाकी नहीं है, वह हुआ जितना-सा है, उसके साथ 'अन्तर'। इस अन्तर को शून्य में लाइए। 'क' मात्रापादादि में काष्ठा में आया। जपादि सभी साधनों का उद्देश्य यही है, इस प्रकार अन्तर वा अभाव को शून्य करके भाव में पूरा कर लेना। Gap, hiatus को reduce करते-करते nil बना लेना। ऐसा होने पर, शुद्ध एकान्त अभाव नहीं, सब अभावों को क्रमशः शून्य में लाकर पूरा भाव बनाया जाता है जिसके द्वारा, वह वृत्ति है। वृत्ति पूरणी एवं हरणी होती है। 'क' में 'ख' मिश्रित है। अर्थात्, सम्पूर्ण 'क' ही नहीं, थोड़े से 'क' का अभाव है। 'ख' का हरण करने पर ही, इस अभाव का अभाव हुआ, अर्थात्, 'क' शुद्ध हुआ, असली हुआ। साधन में दृष्टान्त तो पद-पद पर है। 'क' को शून्य के स्थल में रखें। शून्य के दोनों ओर दो रेखायें खींचें—एक हरण है, दूसरी पूरण। अब, 'क' को पूरा करने के लिए पूरण रेखा (on the positive side) में जो कुछ अन्तर पर है, 'क' और पूरण रेखा के उस अन्तर को शून्य में लाकर 'क' में मिला दो। जप में छन्द नहीं है ? नाद नहीं है ? रस नहीं है ?—अन्तर को शून्य बनाने का यत्न करो। जो दूर है, क्वचित्-कदाचित् है, उसे अन्तिक में, अव्यभिचार में लाओ। नाद को एक-आध बार सुनने से ही नहीं होगा, इत्यादि। फिर, 'क' में शुद्धि लाने के लिए 'क' में 'ख' 'ग' इत्यादि जो कुछ भूल-चूक हैं, उनका हरण करते हुए जाओ शून्य की दूसरी ओर। इसमें 'ख' इत्यादि

जितने अन्तर में सरकने लगे, उतना ही 'क' के अपने स्वभाव वा शुद्धि का अभाव शून्य की ओर आता चला। अब, 'क' को यदि कहें तत्त्व, तो हरण-पूरण, हान-उपादान दोनों रेखाओं को असीम बनाना होता है। असीम से कुछ पूरण की ओर आ रहा है, किन्तु तत्त्व को स्पर्श नहीं कर रहा है और कुछ निर्वापित (हान) हो रहा है, वह भी हरण की ओर असीम में पड़ा हुआ है, जो तत्त्व में (इस शून्य स्थल में) आकर उसे अपनी वृत्ति से व्याप्य नहीं बनाता। दोनों ओर + x और −x दोनों ही एक योग से मध्य में शून्य को तत्त्व में ही रख रहे हैं। इन सबका प्रसंग बाद में और भी आएगा।

आत्यन्तिकतया योऽपि चाभावप्रत्ययो भवेत्।
शून्यमिति हि यत्किञ्चित्त्वेन सोऽपि निषिध्यते।
शून्यमपेत्य वृत्तित्वं धनमृणमितिद्वयम्॥ ६॥

अन्वय—यः अपि च आत्यन्तिकतया अभावप्रत्ययः भवेत्, सः अपि शून्यम् इति हि यत्किञ्चित्त्वेन निषिध्यते। शून्यम् अपेत्य वृत्तित्वं धनम्, ऋणम् इति द्वयम्॥ ६॥

[जो भी अभावप्रत्यय आत्यन्तिक रूप से होता है, 'शून्य' ऐसा कहने पर उसके 'जो कुछ' कहने का भी निषेध हो जाता है। शून्य से हटकर वृत्तिता—धन और ऋण—इस रूप में द्विविध है॥ ६॥]

भाष्य—घट में जल बिल्कुल नहीं है, घट बिल्कुल शून्य है, इस प्रकार अत्यन्त रूप से जो अभावप्रत्यय होता है, वह 'यत्किञ्चित्' रूप में निरूपित जो भाव है (जैसे जल, वायु वा आकाश नहीं), उसके सम्पर्क में है। अर्थात्, घट को बिल्कुल शून्य कहने पर इस यत्किञ्चित्त्व का निषेध (negation) हो गया। शून्य ऐकान्तिक अभाव नहीं है। शून्य (जैसे, पूर्वोक्त दृष्टांत में) हुआ वह ध्रुव स्थल (यथा, गणित में origin), जिसकी अपेक्षा से 'धन' (पूरणी), एवं 'ऋण' (हरणी) यह द्विविधा वृत्ति दोनों ओर 'अपेत'—अपेक्षा के साथ 'इत' वा चलित हुई है। यहाँ भी 'ऋच्छति' है, किन्तु शून्य में आकर उसका समापन हो रहा है। समापन का अर्थ ध्रुव होता है। इस प्रकार शून्य है तत्त्व, स्वभाव—प्रकृति।

वृत्ति के बीच जो 'ऋच्छति' कला (aspect or partial) है, उसकी एक अवसान-भूमि भी है, उसका इस सूत्र में निर्देश किया गया है। नाना ओर ऋच्छति-रूप वृत्ति हो रही है, यदि उनका समास (algebraic sum) शून्य है, तब वस्तु स्थिर भाव से ही है। 'सचल' और 'अचल' गतिविज्ञान के मूल में इस 'ऋच्छति' कला की मात्रा, पाद एवं काष्ठा में अनुधावन होता है। अध्यात्म-विज्ञान में भी अन्यथा नहीं है। जप, ध्यान, पूजा, कीर्तनादि जो कुछ साधन किये जायँ, उन्हें इस ऋच्छति कला को

सुष्ठुभाव से मात्रा में, पाद में, काष्ठा में चलाना होगा। जप में मुख्यतः शुद्ध आकृति (व्याहृणादि में), शुद्ध छन्दः, शुद्ध भाव एवं शुद्ध भाति—ये चार आश्रयणीय वस्तुएँ हैं। जपवृत्ति की यह 'ऋच्छति' कला किस प्रकार, कितनी इसमें अग्रसर हो रही है, अग्रगा एवं क्रमशः अग्र्या हो रही है, यह लक्ष्य रखने का विषय है। 'ऋच्छति' ऋजु वा अनृजु होता है। अनृजु फिर सुषम अथवा विषम (जिह्मादि) हो सकता है। प्रत्यक्षादि स्थल में भी इन सबकी प्रसज्यता है, यह देखा जाएगा। बाह्य प्रत्यक्ष-स्थल में अन्तः-करणावच्छिन्न चैतन्य एवं विषयावच्छिन्न चैतन्य, इन दोनों की समानाधिकरणता के संघटन में ऋजु-सुषम 'ऋच्छति' को रहना चाहिए। इत्यादि। जो प्रमाता और जो प्रमेय है, इन दोनों के बीच 'अन्तरिक्ष' वा व्यवधान नाना स्तरों में एवं नाना भङ्गियों में वर्तमान है। इसीलिए, उससे यह, अथवा इससे वह—'ऋच्छति'—वर्त्म 'सम' (homogeneous) नहीं है। इसे जिस परिमाण में समता के अभिमुख में लाया जायगा (यथा, प्रमाता रागद्वेषादि-पक्षपातमुक्त होकर), उतना ही 'ऋच्छति' ऋजु और सुषम होने की ओर जायगा। यहाँ और दृष्टांत नहीं लेंगे।

शून्य का ध्यान, शून्य का साधन (केवल बौद्ध चर्या में नहीं), योगतन्त्रादि में सविशेष उपदिष्ट है। ध्यान में जो एकतानता (ऋजुसुषम ऋच्छति) है, वह किसी भूमि में जाकर अपना अवसान प्राप्त होती है, यह सूक्ष्मभाव से लक्ष्य करने की वस्तु है। किन्तु शून्य पदार्थ क्या है ?

६. सर्वसापेक्षकाष्ठारम्भकत्वं शून्यत्वम्।

सकल सापेक्ष (जो आरम्भ, सीमा वा काष्ठा, एवं इन दोनों का व्यवधान—इन तीनों की अपेक्षा रखता है), अपनी काष्ठा में जाने पर जो (अपेक्षारहित) आरम्भ को आश्रय करता है, वह शून्य है।—The unspecified (i. e. neither plus function nor minus) starting point or origin of any specification (such as a series) moving (positively or negatively) to a limit.

स्पन्दं द्वन्द्वं तथा स्यन्दमाश्रित्य यदपेक्षते।
तद्वृत्तिवृत्तसङ्कोचे यत्रर्णं याति लीनताम्॥
यत आरभते सर्वं धनं तच्छून्यमुच्यते॥ ८७॥

अन्वय—स्पन्दं द्वन्द्वं तथा स्यन्दम् आश्रित्य यत् अपेक्षते, तद्वृत्तिवृत्त-सङ्कोचे यत्र ऋणं लीनतां याति। यतः सर्वं धनम् आरभते तत् शून्यम् उच्यते॥ ८७॥

[स्पन्द, द्वन्द्व तथा स्यन्द का आश्रयण करने पर जो अपेक्षित होता है, उस (सापेक्ष पदार्थ) की वृत्ति के वृत्त का सङ्कोच होने पर जहाँ ऋण लीन हो जाता है, वही शून्य कहा जाता है॥ ८७॥

भाष्य—स्पन्द = आदि जो ऋच्छति भाव (Basic Stress), द्वन्द्व = आदि पारस्परिकत्व (Basic Reciprocity), स्यन्द=आदि सचल भाव (Basic Mobility or Currency) । मूल स्पन्द ठीक स्यन्द नहीं है, किन्तु स्यन्द होने के ठीक पहले उसका कारणरूप जो अव्यक्त आवेग (elan) है, वह है । बीज में जैसे उच्छूनता, इत्यादि । अब, इन तीनों का आश्रय करते हुए जो सापेक्षता (relatedness or conditionality) है, उसकी (अर्थात्, उस सापेक्ष पदार्थ की) काष्ठा की ओर वृत्ति होती है (तद्वृत्ति) । मान लें, एक वृत्त आँककर इस वृत्ति का निर्देश करता हूँ । अर्थात्, इस वृत्ति की (जैसे, मान लें, वैखरी जप में मानस तक) व्याप्ति (sphere or field) अब यहाँ तक है यह तय किया । इस वृत्ति की व्याप्ति को यदि संकोच की ओर ले जाता हूँ, तब वह वृत्ति की ऋणमुखता (negative phase) है, प्रसार वा अग्रगति की ओर लेने पर 'धन' है । अब, संकोच वा ऋणमुख में वृत्त आते-आते जहाँ आकर कहता है—'यह शेष है, अब मैं नहीं हूँ' (याति लीनताम्); और 'धन' भी जहाँ कहता है, 'मेरा यह आरम्भ है', वह (धन और ऋण, और उनकी वृत्ति की अपेक्षा से रहित) 'स्थल' हुआ शून्य । वियोग वा हरण कहता है—'मेरी काष्ठाभिमुख वृत्ति का इसी स्थल में आरम्भ है'; योग वा पूरण भी वही कहता है । शून्यता ही सर्व-सापेक्ष की आरम्भक है । यह योग है या वियोग, धन है या ऋण ?—यह जानने के लिए इस आरम्भक को ही पकड़ना होता है । इसे पकड़कर ही (as fixed origin or point of reference) सब कुछ मेय का (धन में-ऋण में, हरण में-पूरण में) मान होता है । शून्य में केवल आरम्भकता नहीं है, अवसान-भूमि भी है, उसे कहने के लिए, यह वृत्त-संकोच का दृष्टांत है । वास्तव पक्ष में, एक रूप से जो आरम्भ हैं, अन्य रूप से वह अवसान है । असीम भी 'प्लस्-माइनस्' (धन-ऋण) में मिलकर शून्य में अवसान पाता है । स्पन्द कहाँ से आरम्भ होगा—ऋच्छति भाव जहाँ शून्य है, वहाँ से । द्वन्द्व आरम्भ होगा, जहाँ दो reciprocal or polar द्वय का व्यवधान शून्य है, वहाँ से । स्यन्द low or currency का जो विश्राम वा विराम-भूमि है, वह शून्य से है । जैसे सुषुप्ति । यहाँ स्यन्द एवं द्वन्द्व दोनों ही शून्य निरपेक्ष आरम्भक में आ गये हैं, किन्तु स्पन्द नहीं आया है । स्पन्द भी शून्य में आने पर तुरीय होता है । निखिल सृष्टि का आरम्भक इस प्रकार शून्य है, किन्तु वह शून्य Void नहीं है, ऐकान्तिक अभाव पदार्थ नहीं है, नैरात्म्य नहीं है । गणितादि व्यवहार (उच्चाङ्क में भी) शून्य को आश्रय करके ही होता है । समाप्ति वा अवसान 'गोचर' में आना नहीं चाहता, किन्तु आरम्भ जब मानो गोचर में आया, इस बोध से ही सब व्यवहार होता है । शून्य स्वाभाविक आरम्भक है, इसीलिए तारचक्र जप में एवं अन्यविध जप में, 'मेरु' का लङ्घन नहीं करना चाहिए । यथा, गायत्री जप को यथासम्भव बिन्दुलीन बनाकर, अर्थात् शून्य के

सान्निध्य में लाकर, फिर वहाँ से नाद में उदय हो, इस प्रकार जप करना होता है। जपारम्भ भी यथासम्भव शान्त विराम की भूमि से ही होना उचित है। संगीतालाप में वह और भी सुस्पष्ट है। तालादि में शून्य अङ्क अन्यत्र होने पर भी, 'सम' पर ही यथार्थ मेरु है, एवं वहीं पर विराम देना होता है, यद्यपि आरम्भ सर्वत्र खाली पर वा शून्य अङ्क स्थल पर होता है। यहाँ और दृष्टान्त नहीं लेंगे। शून्य-अधिकार में कतिपय सूत्र हैं। किन्तु उनसे पहले 'पूर्ण' सूत्र है। शून्य में आरम्भक भाव मानो 'गोचर' है, और अवसान भाव मानो अगोचर है। 'मानो' इसलिए कहा है कि दृष्टि कहाँ है—ऋच्छति के, 'ऋ' में, या 'ति' में—इस पर यह गोचर-अगोचर भाव निर्भर करता है। यदि 'ऋ' यह गत्यात्मक धातु ही हो, तब शून्य आरम्भक (starting point) है, और कालवाचक 'ति' यदि दृष्टि में रहे, तब विराम वा अवसान रूप में शून्य है। चल तो रहा है, किन्तु कितनी दूर तक, कब अन्त है, कहाँ अन्त है ?

यह ठीक ही है कि घट को शून्य करके ही घट भरना होता है—आत्मेन्द्रियतर्पणेच्छा जो काम है, उस काम की गन्धमात्र रहने से शुद्ध प्रेम उसमें नहीं होगा, इत्यादि। घट भरता है किससे, किस प्रकार ? आरम्भ और अवसान, ये 'ऋ' और 'ति' हैं। किन्तु समापन ?

७. सापेक्षत्वानपेक्षत्वयोः समत्वं पूर्णत्वम्।

सापेक्ष और अनपेक्ष दोनों की ही समता में आने की जो भूमि है, वह पूर्णत्व है—The limit where the related and the unrelated meet and unite।

अन्तरितत्वेन सर्वस्य सापेक्षतानपेक्षते।
अपूर्णत्वादिवैषम्यमादधाते विशेषतः॥
तस्य विलोपकाष्ठायां समता पूर्णता मता॥ ८८॥

अन्वय—सर्वस्य अन्तरितत्वेन सापेक्षतानपेक्षते। विशेषतः अपूर्णत्वादिवैषम्यम् आदधाते। तस्य विलोपकाष्ठायां समता पूर्णता मता॥ ८८॥

[सब कुछ के अन्तरित (भिन्न) होने के कारण सापेक्षता-अनपेक्षता हैं। विशेष रूप से अपूर्णता आदि वैषम्य धारण होता है। अपूर्णत्व के विलोप की सीमा पर जो समता है वही पूर्णता मानी गई है॥ ८८॥]

भाष्य—'क' पदार्थ 'ख' की अपेक्षा रखता है, उसका सापेक्ष है; 'ग' की अपेक्षा नहीं रखता, उसके सम्पर्क में अनपेक्ष है। व्यवहार में इस प्रकार भेद सर्वत्र किया जाता है। यह भेद करना सम्भव होता है, 'क', 'ख', 'ग' इत्यादि को सत्ताशक्ति इत्यादि में यथासम्भव परस्पर अलग रखकर (अन्तरितत्वेन)। प्रत्येक पदार्थ मानो एक-एक वर्त्तुल (Spheriod) है; प्रत्येक है एवं क्रिया कर रहा है, अपने वर्त्तुल में रहकर (by limitation and separation)। यह घट है, पट नहीं; यह वट का बीज

है, अश्वत्थ का नहीं; इत्यादि। अवश्य, ये वर्त्तुल परस्पर अवच्छेदादि भी करते हैं; यथा मिश्रण में, रसायन में, इत्यादि। अङ्ग-अङ्गी, अंश-अंशी, कार्य-कारण इत्यादि के सम्बन्ध में भी वे (वर्त्तुल) आया करते हैं। किन्तु यह सब कुछ होने पर भी, सापेक्षता (relatedness) एवं अनपेक्षता (unrelatedness) इन दोनों का व्यवधान व्यवहार में रह जाता है। व्यवहार में 'क' ऐसा नहीं सोचता कि विश्व के भूत-भव्य सबके साथ उसकी सापेक्षता है, अथवा, अन्य रूप से, वह शुद्ध 'केवल' है, किसीके साथ भी उसका अपेक्षा सम्बन्ध नहीं है। universal relatedness and pure unrelatedness—इन दोनों में से किसी स्थिति में भी वह अपने को अवस्थित नहीं देखता। उदार का जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' है, वह भी उसमें नहीं है, फिर उदासी का जो 'मुक्तसङ्गः समाचर' है, वह भी उसमें नहीं है। 'प्रत्यगात्मा' शब्द में द्विविध वृत्ति है, वह ('क') उन दोनों में से कोई-सा भी नहीं है। सुतरां परस्पर से अन्तरित जो व्यावहारिक सापेक्षता और अनपेक्षता हैं, वे विशेष रूप से अपूर्णता का अशेष वैषम्य प्रपञ्चित करके रखे हुए हैं (आदधाते विशेषतः)। केवल अपूर्णता नहीं, उसका आनुषंगिक एवं आनुपातिक अपरापर वैषम्य भी। अधिक ज्ञानी, कम ज्ञानी, इत्यादि। बहिर्जगत् का जो समालोचन (appreciation) है; उसमें भी अपूर्णादि वैषम्य का अन्त नहीं है।

अब सापेक्षता-अनपेक्षता के बीच यह जो अन्तरित भाव है, मान लें कि उसका संकोच करके उसे विलोप की काष्ठा में ले आए। फलतः, सापेक्ष-अनपेक्ष दोनों मिलकर समता में आए। यही समता की पूर्णता है। मान लें, मैंने अपने सापेक्ष को एक वृत्त आँककर उसमें भर रखा है। वृत्त के बाहर अनपेक्ष है। वृत्त की परिधि बड़ी करता हूँ, अनपेक्ष हटता जा रहा है, किन्तु है सही। किन्तु वृत्त यदि अनन्त हो जाय, अर्थात् परिधिरूप 'अन्तर' रहित ही बन जाय, तब ? सभी कुछ सापेक्ष (universal inter-relatedness में आ गया; कुछ भी फिर बाकी न रहा। ठीक दूसरी ओर, यदि फिर सापेक्ष का वृत्त क्रम से छोटा करके शून्य (आरम्भक केन्द्र बिन्दु) में ले आए, तब ? तब भी वृत्त का परिधिरूप 'अन्तर' विलुप्त हुआ। फलतः, सभी अनपेक्ष है—'आकाशो नोपलिप्यते'। दोनों ओर से यह समता साधित होने पर होती है पूर्णता। एक ओर अनन्त (x), अन्य ओर शून्य, इन दो काष्ठाओं में 'अपेक्षा' को लेने पर, तब इसमें स्थिति होती है। अपेक्षा की जो आनन्त्य-कोटि है, उस भूमि में 'बोध' में एवं 'भाव' में आने पर, अपेक्षा का 'अप' अपगत हो जाता है। तब, 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'[1] बोध में 'आत्मैवेदं सर्वम्' इस परम बोध की समीक्षा-परीक्षा-अन्वीक्षा होती है। 'सर्वं ब्रह्मौपनिषदम्।'[2] और, भाव में—"जहाँ-जहाँ नेत्र पड़े,

१. श्रीमद्भगवद्गीता ६.२९।

२. श्रीमद्भागवत।

तहाँ कृष्ण स्फुरे।" उत्तम भागवत की यह स्थिति होती है। सुतरां, cosmic inter-relatedness as a fact एक बात है और उसका appreciation and realization दूसरी बात है। इसके साथ परम अनपेक्ष भाव का भी भान चाहिए। इन दोनों के मिलान की समता लाने की साधना में तुम यदि एक कीट के क्लेश से भी अपने को क्लिष्ट समझो, तब वह क्या है जानते हो?—'परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः।' अनपेक्ष परम प्रकाश और आनन्द के आधार पर यह परम मरमी, परम दरदी भाव एक परमाश्चर्य सामग्री है। भगवत्ता में अपार अहेतुक करुणारूप में, भगवत्ता की अनुग्रह शक्ति के मूर्त विग्रह श्रीगुरु में यह परमाश्चर्य समन्वय-समता वर्तमान है। इस पाद के प्रथम सूत्र में पूर्णता-सामग्री विस्तारित की गई है। यहाँ यह लक्ष्य करें कि—सापेक्ष भाव अपनी परिसीमा में आकर (क) अनपेक्ष भाव के साथ व्यवधान (hiatus) को समाप्त करके, समता में आ गया; (ख) सुतरां, वह एक विश्वव्यापी जाल में (cosmic destiny or determination) नहीं फँसा; (ग) क्योंकि, यह समता ही 'योग' है, एवं निर्दोष और परिनिष्ठित होने पर ब्रह्म है, इसीलिए वह नित्ययुक्त, नित्यमुक्त भूमि (प्रकाश और आनन्द) है; (घ) इस भूमि में 'अपेक्षा' शून्य में नहीं आती, किन्तु छन्द के महासमन्वयी और परम समन्वयी में अपेक्षा को पहुँचा देती है, इसीलिए, Cosmic inter-relatedness बन जाता है एक Cosmic Symphony, Divine orchestra—जिसमें जहाँ जितने करुण कोमल परदे बजते हैं, उतनों को परम सुरब्रह्म, परम मरमी, परम दरदी भाव से ही अपने परम संवेदन में जोड़ लेते हैं, गूँथ लेते हैं। 'अज्ञातनामा यह तृण कुसुम' भी उसमें से छूटता नहीं, इसलिए (ङ) यह हुई Universal, Unmeasured Resonance and Responsiveness की भूमि।

शून्य में जैसे आरम्भ एवं अवसान है, पूर्ण में उसी प्रकार समता और समापन है। यही समापन बाद के सूत्र में कहा गया है—

८. तत्र सर्वसापेक्षानपेक्षकाष्ठासमाप्तिः।

पूर्ण में सभी सापेक्ष एवं अनपेक्ष अपनी काष्ठा को समाप्त करते हैं।

व्यवहार में सापेक्ष एवं अनपेक्ष दोनों ही पाद-मात्रा-कला-काष्ठा में रहते हैं। सर्वतोभाव से, काष्ठा में कोई-सा भी नहीं होता। सापेक्ष का जो वृत्त है, वह अपने विस्तार में 'क्रम' (seriality) दिखा रहा है, अनपेक्ष भी वही कर रहा है। दोनों के बीच अन्तरित भाव (hiatus) को हमने पूर्वसूत्र में देखा है। वर्तमान सूत्र में यह जो क्रम वा क्रान्ति है, उसकी समाप्ति की बात कही जा रही है। ये सब सूत्र सब क्षेत्रों में—बहिर्विज्ञान, गणितादि में भी प्रासङ्गिक हैं। जल बर्फ़ बनेगा। ताप को ह्रास की अपेक्षा है। शून्य डिग्री सेन्टिग्रेड में वह अपेक्षा अपनी काष्ठा में आ गई। बर्फ़ होकर

ताप-ह्रास व्यापार के सम्पर्क में वह (जल) अनपेक्ष भी हुआ। ताप और भी कम करें, कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है; किन्तु बढ़ायें नहीं। जहाँ दोनों भूमियों में (field में) 'Energy Level' का पार्थक्य है, वहाँ 'उच्च' भूमि से 'निम्न' भूमि में स्पन्द (flow) होगा, जब तक समता नहीं होती। इत्यादि। जप की संख्या पूर्ण, अथवा पुरश्चरण पूर्ण हुआ ऐसा कब कहते हैं ? पूर्ण होना अर्थात् (इन सब स्थलों में), क्रिया-कारक-फल का किसी एक निरूपित भूमि में आना। जपादि जब तक पूर्ण नहीं हुए हैं, तब तक संख्यादि की अपेक्षा होती है, एवं पूर्ण कहने से जो समझते हैं, उसके साथ एक अन्तरित भाव (hiatus) भी है। संख्यादि के पूर्ण होने पर यह 'अन्तर' अन्तर्हित हुआ, संख्यादि-सापेक्ष भाव अपनी काष्ठा में आया, एवं साथ-साथ उसके सम्पर्क में अनपेक्ष भी हुआ। पूर्ण हो गया है, अब संख्यादि चलाने की अपेक्षा नहीं है। चित्त शुद्धि के द्वारा विविदिषा आई, तब एषणात्रय के त्यागपूर्वक संन्यास हुआ। तब, पूर्वसापेक्ष भूमि में कर्त्तव्य (विधि-निषेध) काष्ठा में उपनीत होकर इस विविदिषा संन्यास में अनपेक्षा में आया—इसके बाद उन सबकी अपेक्षा नहीं रही। विद्वद्भूमि में, पारमहंस्य में दोनों की काष्ठा-समाप्ति एवं समता होती है। रजसाश्रित साधन में भी मुख्यतः भाव को लेकर अपेक्षा-अनपेक्षा की कहाँ समता और समाप्ति है, उसे अनुधावन करें। जैसे, भाव रागानुग होने पर विधि 'अपेक्षा' द्वारा काष्ठा में आगई, एवं 'अनपेक्षा' में समता को प्राप्त हुई। वैखरी जप में नादादि की अपेक्षा है। जपादि के सुष्ठुभाव से चलने पर, अपेक्षा का अन्तर कम होता चलता है, तब 'बीच-बीच में एक-आध' अन्तर आया करता है। अपेक्षा की दो दिशा हैं—एक यह व्यवधान; वह शून्य में आने पर अनपेक्षा है; अब और अपेक्षा नहीं, नाद मिल गया है। दूसरा—जप सौष्ठवादि क्रिया और भाव रूप में; यह एक काष्ठा में आकर जब तक अपने को समाप्त नहीं कर देता तब तक नाद नहीं मिलता। क्रिया भाव को एक critical efficiency level reach करने देना ही होगा। व्यवहार क्षेत्र में, 'पूर्ण' होने के ये सब दृष्टान्त हैं। लक्षण मिला कर चलें। अब मूल की कुछ एक बातें—

बिन्दौ केन्द्रत्वमापन्ने ह्येको बहुत्वमर्हति।
व्यावृत्तत्वञ्च केन्द्राणां पारस्परिकसंग्रहः॥
पारस्परिकभेदोऽपि योऽन्तरिक्षव्यवस्थितः।
सर्वसापेक्षता सीमा पूर्णे हि परिनिष्ठिता॥ ८९, ९०॥

अन्वय—बिन्दौ केन्द्रत्वम् आपन्ने एकः बहुत्वम् अर्हति। केन्द्राणां व्यावृत्तत्वं च पारस्परिकसंग्रहः। यः अपि पारस्परिकभेदः (सः) अन्तरिक्ष-व्यवस्थितः। सर्वसापेक्षतासीमा हि पूर्णे परिनिष्ठिता॥ ८९-९०॥

[बिन्दु जब केन्द्र में आता है तब एक बहु बनता है। केन्द्रों का व्यावृत्त होना पारस्परिक संग्रह है। जो पारस्परिक भेद है वह अन्तरिक्ष द्वारा व्यवस्थित है। सभी सापेक्षताओं की सीमा पूर्ण में परिनिष्ठित है ॥ ८९-९२ ॥]

भाष्य—बिन्दु पहले बहुधा कथित हुआ है, बाद के सूत्र में लक्षित है। इस बिन्दु के 'केन्द्र' रूप में आने पर 'एक' तब 'बहु' होकर दिखाई देता है। बिन्दु=Absolute as 'Perfect Point,' सुतरां, one and indivisible—एक एवं अविभाज्य है। केन्द्र=centre of being and functioning, सुतरां, many; बहु (पूर्वालोचित वृत्तिरूपता में अभिव्यक्त होने के लिए इस प्रकार के बहु केन्द्रों की आवश्यकता पड़ती है)। तत्पश्चात्, फिर केन्द्र से बीज भाव एवं प्ररोह भाव (Potential and Kinetic) भी आते हैं। अच्छा; केन्द्र रूप में बहु होकर वे व्यष्टि और व्यक्ति हुए, व्यष्टि रूप में परस्पर को पृथक् किया (व्यावृत्ति), और व्यक्ति रूप में परस्पर को अपने साथ सम्बद्ध किया (संग्रह)। व्यष्टि-व्यक्ति केन्द्रों (centres of segregation and individualization) का जो पारस्परिक भेद (differentiality) है, वह उनके बीच जो अन्तरिक्ष है, उसी अन्तरिक्ष द्वारा 'व्यवस्थित' (conditioned and maintained as such) होकर पड़ा हुआ है। यह भी पहले देखा जा चुका है। बिन्दु को आधार बनाते हुए यह जो भुवनाकृति है, इसमें सापेक्ष-अनपेक्ष (अर्थात्, अपेक्षा) व्यावहारिक भाव से 'क्रम' में आकर 'आपेक्षिक' हुई है; मात्रा-पाद-कला में आई है; वस्तु, शक्ति, छन्दः एवं आकृति को उसने विचित्र रूप में विषय बनाया है। किन्तु आपेक्षिक के दोनों पक्ष (व्यावहारिक सापेक्ष एवं अनपेक्ष) परम काष्ठा को (जहां, एक ओर शून्य भाव से आरम्भ और अवसान हैं, दूसरी ओर पूर्ण भाव से समता और समापन हैं) चाहते हैं। वह आदि में बिन्दु है, इसीलिए। अध्यात्म भूमि में यह परम काष्ठा-प्रवणता फूट उठती है—आवेग, आकूति, आग्रह, आस्पृहा इत्यादि के आकार में। एक fulfilling and perfecting end की ओर ही निखिल विश्व की अनिर्वाण अपेक्षा है!

इसीलिए, बाद में 'बिन्दु' सूत्र है—

९. सर्वारम्भ-समाप्ति-काष्ठावच्छेदकत्वं बिन्दुत्वम्।

सब आरम्भों की काष्ठा की जो परमता है, एवं सब समाप्तियों की काष्ठा की भी जो परमता है, इन दोनों परमताओं का अवच्छेदक ('यह यहां'--'अत्रैव' कह कर निरूपक) हुआ बिन्दु। बिन्दु इन दोनों परमताओं का अवच्छेदक है, किन्तु स्वयं 'अवच्छिन्न' नहीं है। अर्थात्, बिन्दु मानो दोनों परमताओं से कहता है 'तुम दोनों यहीं एकत्र होओ', किन्तु यह नहीं कहता कि 'यह लो, मैं यहीं पर निरूपित होकर पड़ा हुआ हूँ।' तब तो बिन्दु स्वरूप में कोई भी लक्षण संगत नहीं होता। लक्षण ताटस्थ्य-

परिसीमा (closest possible approximation) तक है। वस्तुतः, 'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्'—ब्रह्म वस्तु को मैंने जान लिया है, ऐसा भले ही किसी ने कहा, किन्तु बिन्दु ? तारादि सब बीजों ने इसी बिन्दु को सिर पर धारण किया है, ब्रह्म इस बीज रूप में ही सृष्टि में अनुप्रविष्ट हैं, इत्यादि। किन्तु धारणा में, ध्यान में लाना क्या सहज है। Relativity theory में 'Now-line' और 'Here-line' को जिस प्रकार cross करके 'here-now' यह प्रतीति बनाती है, यहाँ भी मानो उसी प्रकार है। 'क' का आरम्भ 'ख' है, 'ख' का 'ग'—इत्यादि क्रम से आरम्भ-काष्ठा है; इस प्रकार समाप्ति-काष्ठा होती है। ये दो काष्ठाएँ व्यवहार में विपरीत-मुखिनी प्रतीत होती हैं। किन्तु, उनके परस्पर अवच्छेद की एक भूमि होती है। जैसे, बीज से अङ्कुरादि-क्रम से पादप की फल में समाप्ति है। यहाँ, अर्थात्, फल में आरम्भ-रेखा एवं समाप्ति-रेखा ने परस्पर को प्राप्त किया। फलतः फिर बीज होता है। इसीलिए फल कहता है—'मैं अङ्कुरादि क्रम से धारा की समाप्ति हूँ, फिर आरम्भ भी हूँ।' तारचक्रादि जप में बिन्दु से आरम्भ, फिर बिन्दु से ही समाप्ति होती है। वृत्तादि के केन्द्र बिन्दु में ही आरम्भ है एवं उसमें ही समाप्ति है—'अरा इव नाभौ समर्पिताः'।[1] सृष्टि में दृष्टान्त सभी क्षेत्रों में हैं।

आरम्भश्च समाप्तिश्च गच्छतः क्रमिकतान्वयम्।
काष्ठायां बिन्दुभावेन सङ्गच्छेते परस्परम्।
सर्वाद्यन्तविभेदस्य स बिन्दुरद्वयस्थितिः॥ ९१॥

अन्वय—आरम्भः च समाप्तिः च क्रमिकतान्वयं गच्छतः। काष्ठायां बिन्दुभावेन परस्परं संगच्छेते। स बिन्दुः सर्वाद्यन्तविभेदस्य अद्वयस्थितिः॥ ९१॥

[आरम्भ और समाप्ति दोनों क्रमान्वित होते हैं। काष्ठा में ये बिन्दु-भाव से परस्पर संगत होते हैं। वह बिन्दु सबके आदि, अन्त और विभेद की अद्वयस्थिति है॥ ९१॥]

भाष्य—आरम्भ और समाप्ति दोनों ही धारा रूप में क्रमान्वय से (one link or stage after another) चल रहे हैं। यह क्रमान्वय दो विपरीत दिशाओं में वा मुख में हैं, ऐसा भी देखा जाता है, जैसे, गङ्गा नदी का आरम्भ खोजते-खोजते (इहलोक में) गोमुखी है, समाप्ति के सन्धान में गङ्गासागर है। जड़ विश्व आरम्भ हुआ सम्भवतः cosmic nebula में, समाप्त किसमें होगा, उसकी खोज अभी भी नहीं हुई है। पृथिवी का प्राणिजगत् एक घरेलू दृष्टान्त है। अध्यात्म जगत् में भी आदि एक में है, अवसान किसी दूसरे में है। इन दोनों के क्रमान्वय का 'लेख' हम अंशतः पाते हैं, समग्रतः नहीं। विश्व अन्त तक घूमकर 'यथापूर्वम्' आता है या नहीं,

१. छान्दोग्योपनिषत् ७.१५.१.

हमारे 'लेख' में वह दिखाई नहीं देता। किन्तु काष्ठा वा परिसीमा माननी पड़ती है न? इस काष्ठा वा परिसीमा में, आरम्भ एवं समाप्ति, इन दोनों के क्रमान्वय आकर परस्पर में सङ्गत होते हैं (सङ्गच्छेते परस्परम्)। देश असीम है, किन्तु 'अखण्ड मण्डलाकार' चराचर सबकी ही संस्था रूप में है; काल भी निरवधि है, किन्तु विश्वघटनापुञ्ज के साथ एक महानेमिवत् आवर्तन कर रहा है। चराचर के सम्पर्क में यह अखण्ड मण्डल है, और 'चर'—संचर, प्रतिसंचर आदि रूप में भी—as cosmic cycle of events-अखण्ड-मण्डल है। ये दोनों मण्डल ही सङ्कोच-प्रसार-धर्मी हैं। ठीक ध्रुव-आकृति में नहीं हैं। किन्तु इन दोनों मण्डलों का ही एक 'ध्रुव' ओकः वा स्थल है, सङ्कुचत्-प्रसरत् सब कुछ का ही जैसे रहता है। उसी में ही—देश में हो, काल में हो, निमित्त में हो—सब आरम्भों का मूल आरम्भ, और सब समाप्तियों की चरम समाप्ति है। विश्व में आदि और अन्त कह कर जो विभेद है, उसकी इस 'ध्रुवौकः' स्थल में ही अद्वयस्थिति है, अर्थात्, दो नहीं, एक होकर स्थिति होती है। देश-काल-निमित्त—मुख्यतः इन तीन भागों को पकड़ कर सब कुछ का आरम्भ और समाप्ति हम खोजते चले हैं। तीनों मार्ग कभी पास-पास होते हैं—जैसे सारनाथ में बुद्धदेव ने इस समय अपने उपदेश का प्रचार किया था। किन्तु इस प्रकार का साहित्य अनियत है। काष्ठा में चलते हुए—उसका भी आरम्भ किसमें, कहाँ है, इत्यादि प्रश्न आते हैं और फिर अध्रुव में, अनिश्चय में पड़ जाना पड़ता है। महामण्डल-परिक्रमा करके भी 'ऐकान्तिक' को, 'अनापेक्षिक' को नहीं पाते हैं। जिस स्थल में पायेंगे, वह बिन्दु है। जैसे, दो या तीन सरल रेखाएँ हैं। वे यदि परस्पर को किसी बिन्दु में छेद करती हैं तब उस बिन्दु में आकर ही मैं कह सकता हूँ कि मैं तीनों में ही हूँ। अन्यत्र, इसमें हूँ तो उसमें नहीं हूँ। केवल उतना ही नहीं, इसी एक स्थल पर आकर मैं कह सकता हूँ कि यहीं पर सब रेखाओं का एक साथ आरम्भ और शेष हैं। बिन्दु को शून्य समझने पर भी वही बात है और असीम, अनन्त समझने पर भी वही है।

सुतरां, बिन्दु को इन चार भावों में मानो 'तोड़कर' समझने की चेष्टा करें:—(क) आरम्भक का क्रमान्वय (series of beginnings); (ख) समाप्ति का क्रमान्वय (series of endings); (ग) इन दोनों अन्वयों के दोनों ओर काष्ठा (limits, infra and ultra); एवं (घ) जिस 'स्थल' में (शून्य अथवा पूर्ण) है ये दोनों काष्ठाएँ समसंख्या में आई हैं (the point or continuum where the limits co-inhere)। मान लें, 'अउम्' है। 'अ' में आरम्भ समझ रहे हो; और 'म्' में समाप्ति। किन्तु दोनों को ही 'क्रमान्वय' में देखो। आरम्भ का भी आरम्भ कहाँ है, समाप्ति की समाप्ति कहाँ है? सन्धान करें। यह सन्धान ही तो प्रणव जप है। सन्धान का अन्त बिन्दु में होता है। बिन्दु नाद-रूप में उदित होकर 'अ' स्वराकृति में उच्चारित

है; 'म्' भी नाद को ग्रहण करके बिन्दु में ही लीन होता है। यह उदय-स्थिति-अस्त-समस्त वृत्ति रूप में कला शक्ति स्वयं को आकलित करती हैं। शक्ति रूप में कला, अपनी शाक्ती तनु रूप में अर्धमात्रा हैं।

बाद के सूत्र में स्पष्ट करके—

१०. तत्र शून्यतापूर्णते एकत्र।

उस 'स्थल' में शून्यता एवं पूर्णता दोनों ही एकत्र हुई हैं, अर्थात् समसंख्या में मिली हैं। —Point as pure, and continuum as perfect both meet and unite.

आदिरारम्भधारायाः स्पन्दादीनामभावो यः।
[1]असदेवाग्र आसीद् वै श्रूयतैवं हि शून्यता॥
सदेव चाग्र आसीद् वै पूर्णतापि विवक्षिता।
सदसद्व्यापिका वृत्तिर्बिन्दुत्वेन हि गृह्यते॥ ९२-९३॥

अन्वय—यः स्पन्दादीनाम् आरम्भधारायाः आदिः अभावः;[1] "असद् एव अग्र आसीत्"—एवं वै शून्यता हि श्रूयते। 'सद् एव च अग्रे आसीत्' (इति) वै पूर्णता अपि विवक्षिता। सदसद्व्यापिका वृत्तिः हि बिन्दुत्वेन गृह्यते॥ ९२-९३॥

[जो स्पन्द आदि की आरम्भधारा का आदि है वह (स्पन्दादि का) अभाव है। 'असत् ही पहले था'—इस प्रकार श्रुति में शून्यता कही गई है। "पहले सत् ही था" इस प्रकार पूर्णता भी श्रुति में विवक्षित है। सत् और असत् दोनों की व्यापिका वृत्ति ही बिन्दु रूप से गृहीत होती है॥ ९२-९३॥]

भाष्य—स्पन्दादि-रूप में विश्व में जो आरम्भ-धारा है, उसका आदि जो है, अथच जो स्वयं स्पन्दादि रूप में आरम्भ-धारा नहीं है; 'असदेवेदमग्र आसीत्'—यह सब पहले 'असत्' (मानो 'नहीं हैं' होकर) हुए—इस प्रकार जो श्रुत है; वह एवंविध शून्यता को उद्देश करके ही है, ऐसा समझना होगा। पुनश्च, श्रुत है—'सदेवेदमग्र आसीत्'—यह सब पहले 'सत्' (है हो, 'नहीं है' कह कर तो कुछ नहीं) था—इसके द्वारा पूर्णता भी कही गई है। साधारण दृष्टान्त में एक बीज, अथवा सुषुप्ति, अथवा एक अक्षर को लेकर समझने का यत्न करें। इस प्रकार 'सत्' (सब हैं) एवं 'असत्' (कुछ नहीं है), इन दोनों को व्याप्त करके जो वृत्ति है उसे बिन्दु के लक्षण में ग्रहण करेंगे।

इस 'सदसत्' को उपलक्ष्य करके बृहदारण्यकादि के भाष्य में एवं अन्यत्र जो विपुल विचार है, उसे यहाँ उठाने से लाभ नहीं। किन्तु ध्यान दें कि, सब विवादों से

---

१. तुलनीय :—छान्दोग्योपनिषत् ३.१९.१; ६.२.१।

यथासम्भव बचते हुए, अथच सब पक्षों को (विज्ञान गणितादि को भी) मिला कर, मुख्यतः जपादि साधन के अनुबन्धानुरोध से, लक्षण सूचित और आलोचित हो रहे हैं। मान लें, तारचक्र में अथवा नाम जप में जब 'बिन्दु लीन' हो रहे हैं, तब क्या केवल शून्य में ही अवसान है ? नहीं, तब तार की अथवा नाम की जो पूर्णता है, उसमें भी स्थिति है। It is a state of perfected equilibrium and harmony। पाद में, मात्रा में, कला में, काष्ठा में जो व्यक्तभाव उन्मेष के बाद उन्मेष, विकाश के बाद विकाश में चला है, वह यहाँ फक् से बुझ कर समाप्त नहीं हुआ; वह एक परम निबिड़ता में सम्पूर्ण हुआ। युग्मभाव (शून्यता-पूर्णता) सृष्टि के समष्टि-व्यष्टि सब भावों में ही है। जैसे, काले में सब रंग मिलकर तीन भाव को प्राप्त हुए हैं, उसी प्रकार जिसे व्यवहार में 'blank'(खाली) कहते हैं, (जैसे, सुषुप्ति) वही सब कुछ की समता और समापन में (perfect equilibrium) में आने का स्थल है। यह आरम्भ और अवसान का स्थल है। यह आरम्भ और अवसान का स्थल भी है। Equilibrium (समता) एवं Harmony (सुषमता) दोनों ही इस भूमि में Perfected (समाप्त) हैं, अथच, यह निखिल विश्व-व्यवहार का आदि आरम्भ और शेष अवसान भूमि है। व्यक्त-अव्यक्त, व्याकृत-अव्याकृत—इस द्वन्द्व की सन्धिभूमि यह है। इसलिए—

११. तमेवाधिकृत्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः।

इसी बिन्दु को अधिकार करते हुए ब्रह्म सृष्टि में अनुप्रविष्ट है।

ब्रह्म का बिन्दु रूप में अनुप्रवेश इसके पूर्व ('ह य व र ल' इत्यादि प्रसङ्ग में) विस्तार के साथ आलोचित हुआ है। महामाया सूत्र पुनश्च प्रणिधेय है।

सृष्ट्वानुप्राविशद् ब्रह्म सर्वं खल्विदमेव च।
बिन्दुब्रह्मत्वमायाति समन्वयादिति द्वयोः॥
पूर्णापूर्णे न वा शून्यं समेत्य यन्ति सर्वताम्।
कलावाचौ तथा बिन्दुर्दित्यदिती च कश्यपः॥ ९४-९५॥

अन्वयः—'सृष्ट्वा अनुप्राविशत्' 'सर्वं खलु इदम् ब्रह्म' एव च इति द्वयोः 'समन्वयात्' बिन्दुब्रह्मत्वमायाति॥ पूर्णापूर्णे, शून्यं, न वा समेत्य सर्वतां यन्ति। कलावाचौ दित्यदिती तथा बिन्दुः च कश्यपः॥ ९४-९५॥

['इस की सृष्टि करके इसमें अनुप्रविष्ट हुआ' 'यह सब कुछ ब्रह्म ही है'—ऐसे दोनों (वाक्यों) के समन्वय से (ब्रह्म) बिन्दुब्रह्मता को प्राप्त होता है। पूर्ण-अपूर्ण, शून्य-अशून्य मिलकर 'सब-कुछ' बनते हैं। कला और वाक् क्रमशः दिति और अदिति हैं। और बिन्दु कश्यप हैं॥ ९४-९५॥]

भाष्य—श्रुति ने कहा है—उसकी सृष्टि करते हुए ब्रह्म ने उसमें अनुप्रवेश किया; फिर और भी कहती हैं—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। शुद्ध निर्विशेष रूप में (शुद्ध सद्रूप में) इन दोनों का समन्वय है ही। किन्तु, सविशेष स्थल में भी, ब्रह्म की बिन्दुरूपता में इन दोनों का (अर्थात्, सम में ही वे अनुप्रविष्ट हैं, एवं सभी वे हैं) समन्वय हुआ है। सृष्टि में सर्वत्र यह समन्वय उदाहृत है। केवल, बीज, सुषुप्ति ही क्यों, यह एक धूलिकण, मन का यह एक भाव लेकर देखें। आरम्भ-अवसान एवं समता-समापन की भूमि खोजें। सर्वत्र यह समन्वय है। इन दोनों भावों की काष्ठा का अवच्छेदक और संयोजक रूप में वह (समन्वय) है। वह ऐसा एक स्थान है—जहाँ आरम्भ-अवसान भी कहते हैं—और नहीं, समता और समापन भी कहते हैं—और नहीं, मैं पूरा हूँ। व्यवहार में, अर्थात्, पादमात्रादि में, सब रूप किस आकार में है और चल रहा है? पूर्ण-अपूर्ण एवं शून्य-अशून्य—यह युग्म द्वन्द्व-स्थित होकर ही। इस युग्म द्वन्द्व को छोड़कर तो 'सर्व' का कोई भी रूप नहीं बन रहा है। अर्थात्, सृष्टि में अनुप्रविष्ट जो बिन्दु ब्रह्म हैं उनका शून्य-पूर्ण—ये दो भाव छोड़कर कुछ भी नहीं है। कला (कलाशक्ति नहीं, वर्णादि रूप में जो करना = aspect or partial) है, वाक् (स्फोट एवं नाद रूप में)—ये दोनों यथाक्रम से दिति और अदिति (स्फोट वा नाद छिन्न नहीं हुए हैं), और, बिन्दु स्वयं कश्यप है, इसकी भावना करें। जैसे किसी भी बीज वा नाम में यदि बिन्दु 'भरण' नहीं करते हैं तो उसमें बीजाधान वा बीजत्व ही नहीं होता है। अक्षर को ब्रह्म, वाक् को ब्रह्म समझने का उपदेश है। ब्रह्म बिन्दु-रूप में यदि उनका भरण न करें तो उनकी ब्रह्म भावना निष्ठित नहीं होती। इस बिन्दु में बीजादि के स्थित होने पर 'बिन्दु-धारणं' होता है एवं तब फिर, बीज का 'जीवनम्', और, 'मरणं बिन्दुपातेन'। यह सगुण-सविशेष स्थल में, अनुप्रवेश = केन्द्रनाभिबीजादि आकृति में सब कुछ का केवल सूक्ष्म नहीं, परन्तु कारणभूमि पर्यन्त, अधिकार करते हुए, वृत्तिमत्ता—Involution of Becoming into Being। जैसे मान लें, एक त्रिभुज वा वृत्त में उसके सब धर्म अनुप्रविष्ट हैं। इस स्थल में logical implication है। बीज के समय भी functional implication है।

अब इस परमारम्भक शून्य में फिर आरम्भ किया जाय।

१२. शून्यमपेत्य वृत्तित्वं द्वन्द्वत्वम्।

शून्य से अपेत, 'हटकर' जो वृत्तिमत्ता है, उसे कहते हैं द्वन्द्व। द्वन्द्व = Polarity; state of being 'something' and its opposite। The condition of a becoming 'A and not-A'। सुतरां, 'हट जाना' अर्थात् देश में, काल में अथवा निमित्तादि में अन्यथा होना ही नहीं है। किसी प्रकार अन्यथात्व (otherness) होने पर द्वैत का भेद होता है। पहले जिस विमर्श की बात कही गई है, उस विमर्श की

अपेक्षा में प्रतियोगिता सम्बन्ध उदित होने पर, द्वन्द्व दिखाई दिया। यथा अहं-इदं, अस्मि-अस्ति, पुं-स्त्री, इत्यादि। दिवा-रात्रि, सुख-दुःख, शीतोष्ण, नॉर्थ-पोल-साउथ पोल, ये सब भी। जो द्वैत वा भेद मात्र रूप में प्रतीत है, वह भी द्वन्द्वगर्भित रहता है। जैसे, घट घट है, घट पट नहीं है—इस प्रकार अन्योन्याभाव व्यक्त होने पर द्वन्द्व होता है। अथवा घट उत्तर में है, पट दक्षिण में। इसीलिए, भेद स्थल में 'द्वन्द्व बीज' रहता है। 'द्वन्द्व प्ररोह' न होने पर भी रहता है। हर गौरी भी कलह करते हैं, 'द्वन्द्व अहर्निश;' व्रज में श्रीमती भी तो कलहान्तारिता होती हैं। इन सब परमयुगल में द्वन्द्व स्वारस्य-सामरस्य के आधार पर द्वन्द्व है। प्रापञ्चिक द्वन्द्व के साथ सजातीय नहीं है। जप में नाद बिन्दु का जो द्वन्द्व है वह स्वभाव-मैत्र एवं पुष्टि का द्वन्द्व है। किन्तु अग्निमात्रा एवं सोममात्रा के द्वन्द्व में मैत्र एवं पुष्टि की बाधा भी हो सकती है। अर्थात् मात्रादि की समता के स्थल में विषमता आकर विघ्न कम कर सकती है।

एक चुम्बक को लेकर देखें। मध्य में एक उदासीन (neutral) स्थल है। उससे आरम्भ करके दोनों ओर चुम्बकत्व धन और ऋण इन दो प्रकार से द्वन्द्वस्थ हुआ। उदासीन स्थल में चौम्बक वृत्ति ('reaction index') शून्य है। यह दृष्टान्त व्यापक भाव से लेकर कहा जा सकता है—शून्य हुआ वह 'स्थल' (state or point or plane), जहाँ किसी निर्दिष्ट क्रिया वा प्रतिक्रिया का जो सूचक वा मापक (बाह्य समीक्षादि में हो अथवा आन्तर प्रतीति में हों)—है वह कहते हैं 'और किसी सूचक वा मापक से सूचन वा मापन नहीं हुआ' (zero or measureless)। उस स्थल से 'अचेत' होने पर सूचन और मापन सम्भावित होता है।

वा० शून्यन्त्वात्यन्तिकाभावश्चाथवा द्वन्द्वशून्यता।
अथवाऽऽलोचनाधारमूलबिन्दुर्निरूपकः ।
ऋणता धनता वा स्याच्छून्यतास्थित्यपायतः ॥ ९६ ॥

अन्वय—शून्यं तु आत्यन्तिकाभावः अथवा च द्वन्द्वशून्यता अथवा आलोचनाधारमूलबिन्दुः निरूपकः। ऋणता धनता वा शून्यतास्थित्यपायतः स्यात् ॥ ९६ ॥

[आत्यन्तिक अभाव, अथवा द्वन्द्व-शून्यता ही शून्य है। अथवा आलोचना के आधार का मूलबिन्दु (शून्यता का) निरूपक है। शून्यता की ही स्थिति से ऋणता और शून्यता के अपाय से धनता होती है ॥ ९६ ॥]

भाष्य—शून्य सूत्र में सविशेष कथित हुआ है। इस स्थल में, 'अपेत' भाव विशेष रूप से दिखाने के लिए कहते हैं—आत्यन्तिक (ऐकान्तिक नहीं) अभाव (जैसे, घट बिल्कुल शून्य है) कहने से शून्य कहा जाता है द्वन्द्व नहीं, अर्थात्, उदासीन, निरपेक्ष

भाव कहने से भी शून्य है; अथवा कोई 'आलोचन' (review or representation, जैसे गणित में विज्ञान में analysis के स्थल पर) होने के लिए, उसका आधार (frame) निरूपक जो मूल बिन्दु (यथा, 'origin') है, उसे भी शून्य कहते हैं। केवल मात्र बहिरालोचन के क्षेत्र में नहीं, आन्तरालोचन के क्षेत्र में भी (subjective analysis में) एक आलोचनाधार एवं उसका कोई (point or plane of reference) आवश्यक होता है। जैसे, जप में ध्वनि-सम्बन्ध, भाव-सम्बन्ध, भाति-सम्बन्ध, क्रान्ति सम्बन्ध इत्यादि भाव में आलोचना धारा परिकल्पित हो सकती है। और प्रत्येक आधार पर एक-एक निरूप्यमाणता-निरूपक 'स्थल' (जैसे, ध्वनि में नाद वा बिन्दु) चाहिए। अब, निरूप्यता-निरूपक (जिस स्थल से आरम्भ करते हुए समस्त वृत्तिलेख की समीक्षा करती होगी, एवं उसकी अवसान भूमि भी जहाँ है) इस स्थल को भी शून्य कहने पर, उस शून्य स्थिति (ध्रुव) से कितना किस ओर 'अपाय' हुआ, नहीं हुआ, यह देखकर सब वृत्तियों का 'ऋण' वा 'धन' मान निरूपित होता है। जैसे, जप में नाद स्फुरण होता तो है किन्तु झिल्ली-चुल्ली इत्यादि के साथ मिल कर, खण्डित भाव से। 'लेख' को सावधान होकर देखना होता है। शुद्ध अखण्ड नाद को यदि इस शून्य स्थल में रखते हैं, तब हमारा 'लेख' किस ओर कितना है—यह निरूपणीय होता है।

द्वन्द्व की प्रकारता पहले ही कुछ कही गई है। भेद स्थल में द्वन्द्व प्ररोह रूप में न रहने पर भी बीज (गर्भित) रूप में रहता है। भेद की भाँति द्वन्द्व को भी स्वगत, सजातीय, विजातीय करके देखा जा सकता है। एक ही Germplasm से दो सहोदर वा सहोदरा में अनेक स्थलों में द्वन्द्व विजातीय आकार में भी देखा जाता है। किसी बीज मन्त्र में अग्नि और सोम स्वगत-सजातीय द्वन्द्व में ही सर्वत्र रहते हैं, किन्तु वैजात्य भी हो सकता है। अर्थात्, अग्नि = केवल हरण, और सोम = पूरण, यह आकार होने पर। अथवा, उनके आदि के अनुपात-वैषम्य में जपलेख सुषमता (rhythmicity) छोड़ कर विषमता में आने पर। प्रकाश-विमर्श, निष्कल-सकल, शून्य-पूर्ण, हर-गौरी प्रभृति 'नित्य युगल' इन सब में द्वन्द्वभाव सविशेष प्रणिधानयोग्य है। कतिपय आकृतियाँ पहले ही सविशेष देखी गई हैं। सूत्र में जो 'अपेत्य' पद है, अथवा, कारिका में जो 'अपायतः' है, उसे स्वानुबन्धानुरोध से समझ लेना होगा। शून्य (अथवा पूर्ण) को यदि कहें अनपाय, तब इससे 'भिन्न' होकर कोई एक भाव हुआ, एवं यह इस अनपाय भूमि के सम्बन्ध में प्रतियोगी हुआ (जैसे, निष्कल और सकल भाव)। यहाँ अपाय क्या है उसे ध्यान देकर देखें। फिर, लौह में चुम्बकत्व नहीं था, फिर आया। यहाँ भी अनपाय से अपाय समझ लें। अनपाय का साक्षात्सम्बन्ध में अथवा परम्परा-सम्बन्ध में, दोनों प्रकार से ही द्वन्द्व-विचार करें।

१३. शून्यमपेक्ष्य वृत्तित्वं सव्यापारत्वम् ।

शून्य की अपेक्षा करते हुए जो वृत्तिमत्त्व है उसे कहते हैं सव्यापार (व्यापारवान्) होना ।

अन्तर्बहिः जिस किसी व्यापार की परीक्षा करें, क्या देखेंगे ? किसी न किसी अभाव (मात्रा-पाद-कला में, अथवा 'आत्यन्तिक') की अपेक्षा में व्यापार होता है । अथवा, केवल अभाव न कह कर उदासीनता भी कह सकते हैं । जिस प्रकार भी कहें, व्यापार मात्र ही किसी निरूपक बिन्दु के सम्बन्ध में ही जाता है । अर्थात्, बाह्य वा आन्तर व्यापार मात्र ही कहता है—"मैं जो अपना 'लेख' आँकूंगा, उसका निरूपक बिन्दु (Point of Reference, Base of operation) दो ।" इस 'Base' को अभाव अथवा उदासीनता के आधार पर (frame and context में) पाना होता है । कुछ नहीं है अथवा कम है, उसे पूरण करना होगा, अथवा 'हेय' होने पर उसे हरण करना होगा, किन्तु किस ध्रुवस्थान में रहने पर (End, Ideal, Finished Result), हरण-पूरण व्यापार चलेगा ? अथवा अभाव ठीक न रहने पर भी, एक उदासीन अनपेक्ष भूमि को आधार बना कर, निरूपक बिन्दु को लेकर व्यापारवान् होना पड़ता है । जैसे, एक सफ़ेद काग़ज़ । 'लेख' के सम्बन्ध में उदासीन है । काग़ज़ में एक स्थल पर एक बिन्दु बैठा दो एवं कहो कि इस बिन्दु को निरूपक स्थल में रख कर वृत्त अथवा पेराँबल आकूंगा । जो युक्तसङ्ग हैं, वे उदासीन भूमि में स्थित होकर भी व्यापारवान् होते हैं । जप में नाद-स्फोट भूमि में स्थित होकर भी जपादि किया जाता है । जिसका नाद-स्फोट नहीं हुआ है, उसकी भूमि अभाव भूमि है । त्वं पदार्थ और तत्पदार्थ के शुद्धि-साम्य में, अर्थात् उदासीन भूमि में, आकर भी श्रवणादि व्यापार (जीवन्मुक्त क्षेत्र में भी) चल सकता है । रस भूमि में भी दृष्टान्त देखें ।

इस बिन्दु को देशबिन्दु, कालबिन्दु, कालदेशावच्छेदक बिन्दु (Here-Now Point) बीज वा कारण बिन्दु एवं अहंकृति इन पाँच प्रकार से कारिका में कहा है । इसमें बाह्य-आन्तर निखिल व्यापार में व्याप्ति हुई । प्रथम तीन को आश्रय करके Event in the Space Time Continuum निरूपित होगा । शेष वाला चेतना की भूमि में विशेषतः अभिव्यक्त होने पर भी, व्यष्टि-सृष्टि में मौलिक है । अर्थात् यह अहं बिन्दु न आने पर सृष्टि कहीं भी व्यष्टि आकार में (यथा, एक बट-बीज, एक हाइड्रोजन अणु) नहीं आएगी । अहंकृति इन सभी दृष्टान्तों के स्थलों में भी है । बीज बिन्दु इस मौलिक के भी मूल में हैं ।

जपादि साधन में भी इस पञ्चधा बिन्दु के आश्रय का विशेष उपयोग है । जप में अभावभूमि और उदासीन भूमि की बात कही गई है । अभाव अनुकूल वेदनीय (धनमुखी) होने पर उल्लासादि जप का लसितभाव है । प्रतिकूल वेदनीय (ऋणमुखी)

होने पर (तीव्रस्थल में आतुर आविर्भाव), एक अबूझ व्यथा-वेदना, इत्यादि हैं। तार चक्र में उदयास्त की सन्धि वा मेरु हुआ देशबिन्दु; स्वयं अर्धमात्रा है बीजबिन्दु; एवं प्रणव में अधिष्ठित ब्रह्मबिन्दु जापक के 'धीमहि' एवं 'प्रचोदयात्' इन दोनों के सम्पर्क में अहंबिन्दु हुआ। जापक निज अहंबिन्दु को 'धीमहि' भाव में इस ब्रह्म बिन्दु में आहुति दे रहा है, और, ब्रह्मबिन्दु 'प्रचोदयात्' भाव से हवन को सफल, चरितार्थ कर रहा है। संक्षेप में, बिन्दुसूत्र में बिन्दु जिस भाव से लक्षित है, इस सब निरूपक व्यावहारिक बिन्दु में उसकी व्याप्ति का संकोच कर लेना होता है।

१४. शून्यं समेत्य वृत्तित्वं निर्व्यापारत्वम्।

शून्य में 'समेत' (सम्यक् एवं समभाव में इत वा यात) जो वृत्तिता है, उसे कहते हैं निर्व्यापार, वा व्यापार रहित होना।

वा० समेत्येत्यस्य बोद्धव्या शून्यतास्थितिकल्पना।
अथवा शून्यतावाप्तिः समासे द्वन्द्ववृत्तयोः॥ ९८॥

अन्वय—'समेत्य' एति अस्य शून्यतास्थितिकल्पना बोद्धव्या। अथवा द्वन्द्ववृत्तयोः समासे शून्यतावाप्तिः॥ ९८॥

[इस (शून्य) को या तो समेत रूप से शून्यतास्थिति की कल्पना से समझा जाय, अथवा द्वन्द्ववृत्तियों के समास (संघात) में शून्यता की प्राप्ति से (समझा जाय)॥ ९८॥]

भाष्य—मान लें, क, ख, ग ये तीन शक्तियाँ किसी के ऊपर क्रिया कर रही हैं। उस क्रिया के फलस्वरूप मान लें किसी ओर गति हो रही है। अब, निर्व्यापार होने के लिए क, ख, ग इनमें से प्रत्येक को या तो शून्य स्थिति में लेना पड़ता है (individually vanish) अथवा, समास में (संघात में) उनका शून्य की स्थिति में समीकरण होना चाहिए (sum total equated to zero)। प्रथम कल्प को शून्यता स्थिति, द्वितीय को शून्यतावाप्ति (शून्यता + अवाप्ति) कहा गया है। सुषुप्ति, प्रकृतिलय प्रभृति में यह अन्तिम कल्प सम्भावित होता है। तत्तत् संस्था में निर्व्यापारता अवश्य है, किन्तु निर्व्यूढ़ भाव से नहीं। बीजभूमि में प्रसुप्त कहकर एक अवस्था है, वहाँ, स्थूल में, यहाँ तक कि सूक्ष्म में भी व्यापार नहीं रहता, किन्तु कारण में भी कुछ नहीं रहता, ऐसा कहने पर उससे भावी व्यापार की कल्पना में 'गौरव' होता है (अर्थात्, एकान्त निर्व्यापार कारण फिर किस प्रकार सव्यापार हुआ, यह समझना सहज नहीं है)। द्वन्द्ववृत्त (polarity condition and function), शून्य में समीकृत होकर उदासीनवृत्त (neutral) हुआ। किन्तु शून्य केवल अवसान-भूमि नहीं है, आरम्भ की भी भूमि है। लय में ही सृष्टि है। इसीलिए फिर आरम्भ होने का यदि कोई सम्भाव्य संवेग (potential momentum or latent urge) रह जाय तो,

वह फिर इस शून्य से ही आरम्भ करेगा। प्रथम कल्प में जो शून्यता-स्थिति है, उसमें अवाप्ति (केवल reach करना नहीं) लय, स्थिति (rest) है। इसीलिए, शून्य को छोड़कर वह और व्यापार में नहीं जायगी। निखिल सृष्टि में अनुप्रविष्ट जो बिन्दु है उसमें शून्य और पूर्ण समानाधिकरण होने से, सृष्टि में प्रत्येक पदार्थ में कभी निर्व्यापार होकर (यथा, सुषुप्ति में) शून्य में गति हो रही है (equilibrated or balanced rest)। उसी प्रकार फिर निरन्तर पूर्णता की ओर (as evolution) यात्रा भी हो रही है। शून्य में आकर प्रत्येक पदार्थ 'दम मार' लेता है, किन्तु 'जागकर' यात्रा पथ का पाथ होना ही पड़ता है। Involution absolute नहीं होता, इसी कारण कि, evolution अभी भी perfect नहीं हुआ है। बीज से धीरे-धीरे फलन्त पादप हुआ। वहाँ फिर बीज होता है इस आवेग में कि मेरे विकाश और सफलता की चरितार्थता अभी भी नहीं हुई है।

जपादि साधन में, इस शून्य में अवसान और आरम्भ है, इन दोनों को ही ऐसे आकार में पाने का यत्न करना होता है जिससे प्रथम (अवसान) शुद्ध हो, और द्वितीय (आरम्भ) पूर्णाभिमुख में ऋजुग, छन्दोग और धामग हो। बैखरी को नादानुसन्धान करते हुए मध्यमा की अवर-वर सन्धि एवं सेतु पार कराकर पश्यन्ती के परोवरीयान् ग्रामसमूह में—इत्यादि क्रम से लेना ही हुआ पूर्ण-परिक्रमा। इस यात्रा-पथ में जहाँ-जहाँ 'अवसान आरम्भ' भूमियाँ मिलती हैं, उन्हें असली बनाकर ही प्राप्त करना होता है। जैसे, सबेरे उठकर यदि बड़ी एक चढ़ाई चढ़नी हो तो, रात्रि में निद्रा और विश्राम गाढ़ होना ही उत्तम है।

१५. शून्यं व्यतीत्य वृत्तित्वं भूमत्वम्।

शून्य के अतिरिक्त (उसके स्थल में अवसान और आरम्भ इसकी अपेक्षा न रख कर) जो वृत्तिमत्त्व है, वह हुआ भूमत्व (भूमा)। व्यतीत्य=without reference to any 'origin' or plane of reference whatever।

वा० न द्वन्द्वो नाप्यभावश्च नास्ति यत्र निरूप्यता।
निरूपकत्वमन्यस्य तत्रैवास्ति च भूमता।
व्यतीत्येत्यत आयाति विशेषातीतवृत्तिता॥ ९९॥

अन्वय—तत्र न द्वन्द्वो न अपि अभावः, निरूप्यता अन्यस्य निरूपकत्वं च नास्ति। तत्र एव च भूमता (अस्ति।) 'व्यतीत्य' इति अतः विशेषातीतवृत्तिता आयाति॥ ९९॥

[जहाँ न द्वन्द्व है, न अभाव है, और न अन्य की निरूपकता या (स्वयं की-) निरूप्यता है, वहीं पर भूमता है। इसलिये (सूत्र में दिये गये) 'व्यतीत्य' शब्द से 'विशेष' या विशिष्टता के अतीतवृत्तिता-यह अर्थ आता है॥ ९९॥]

भाष्य—जहाँ द्वन्द्व नहीं है, अभाव भी नहीं है, निरूप्यता वा निरूपकत्व भी नहीं है, वहाँ भूमा को लक्षित समझें। सूत्र में जो 'व्यतीत्य' पद है, तद्द्वारा किसी विशेष वा विशिष्टता की ('इस भाव से' कहकर जो किसी विशेष निरूपण में आता है) अतीत (transcending) वृत्तिता (स्थिति) समझनी चाहिए। सुतरां 'शून्यं व्यतीत्य' कहने पर सीधा 'शून्य को बाद करके शून्यत्यक्त' वृत्तिता नहीं समझने पर नहीं चलेगा। भाव यह कि, 'भूमा' पदार्थ के निमित्त यह आवश्यक नहीं है कि—पहले मूल निरूपक (आरम्भ एवं अवसान दोनों के ही) शून्य को लें, तत्पश्चात् भूमा क्या वस्तु है यह समझते चलें। भूमा के समय वह आवश्यकता नहीं। देखा जाता है कि —द्वन्द्व, अभाव, निरूपित एवं निरूपक – ये चार भाव (categories) लेकर प्रत्ययादि होने के लिए, शून्य रूप मूल निरूपक (Point of Basic Reference) को बाद देकर (व्यतीत्य) वह सम्भवपर नहीं होता है। शून्यं व्यतीत्य भूमत्वम्। यह व्यतीत्य (transcending 'अत्यतिष्टद् दशाङ्गुलम्')-भाव ही भूमत्व को अन्य पदार्थ से विलक्षण करके दिखाता है। भूमा कहते हैं—मैं बहुत्व वा ब्रह्मत्व ही हूँ, मुझे किसी अल्प में. खण्डित, परिमित में भरने जाओगे तो मैं उसका अतीत ही रहूंगा। अल्प में, खण्ड में, परिमित में रहने पर तो सुख नहीं है; निरतिशय भाव से 'बहुलं' न होने तक, नदी के तटादि की भाँति बाधा रहती ही है, और गति में, प्राप्ति में, उपलब्धि में बाधा रहने का अर्थ ही है दुःख (impeded activity प्रभृति)। सृष्टि में सर्वत्र निरन्तर इसीलिए अल्प से भूमा की ओर असीम अभियान है ! अथच, सीमाओं को सीमा दिखा देता है जो सीमातीत, उसी सीमातीत में ही निखिल ससीम की स्थिति है। उसकी (ससीम की) विशेष संस्था—अवस्थिति परिस्थिति—उसके असीम में इस स्वभाव स्थिति को भावित नहीं होने देती। बद्ध कूप का जल, गर्त का जल, इसीलिए न इतना दीन, इतना कृपण, इतना कुण्ठित है !

भूमा ही रस है। क्योंकि, अस्ति-भाति में 'नेति नेति' करके सीमातीत अखण्ड का बोध धारणा में लाना चल सकता है (approach by negation); किन्तु रस के समय 'यह नहीं, वह नहीं' करके तो कुछ नहीं होता। यहाँ केवल अनुभूति में नहीं, धारणा में भी अन्वय मुख में—'यह तो'—जाना होता है (approach by positive affirmation)। और, 'यह जो यह तो' किसी बाधा को न मान कर सीमातीत की ओर ही चलता रहता है। रस में पर्याप्ति नहीं है। आरम्भ-अवसान नहीं, समता समापन की 'वार्ता' (ख़बर देने की भूमि) लाना भी नहीं है। 'मधुरं मधुरं मधुरं मधुरं' इत्यादि। इस कारण, 'भूमैव सुखं, नाल्पे सुखमस्ति', 'रसो वै स भूमा'। इसमें अल्प छोड़ कर बहु, निर्व्यूढ़ बहु होने की वृत्ति एकान्त 'साक्षात्' है। 'बहु' शब्द से भूमा है, वह फिर भी निपातन में। शब्द भी किसी विधि बन्धन में नहीं जायगा।

यह स्वयं साक्षात् अवच्छेदादि-रहित, अतिशय-रहित अस्तिस्वरूप एवं भातिस्वरूप है। भूमा आनन्द ही अस्ति-भाति है। सुतरां सबकुछ का अस्तितामान और भातितामान भूमा के 'स्वरूपमान' में ही है। स्वयं किन्तु पूर्वोक्त इन चारों में से किसी की भी पकड़ में वे नहीं आते। शून्य और पूर्ण—इन दोनों के सम्पर्क में नैकटिक—ताटस्थ्य (close approximation) भाव से आरम्भादि द्वारा लक्षण चला था। यहाँ वह नहीं चलता। इसीलिए 'व्यतीत्य'। शून्य वा पूर्ण स्वभाव से अनिरूप्य होने पर भी, मान की भूमि में यथाक्रम से आरम्भ और अवसान, एवं समता और समापन का निरूपक होता है; किन्तु भूमा निरूप्य-निरूपक भाव की ही व्यतीतता है।

१७. शून्यं समीक्ष्य वृत्तित्वं निर्व्यूढत्वम्।

शून्य को सम्यक् (समग्रतः, सर्वथा एवं सर्वतः) ईक्षण करते हुए जो वृत्तिता है वह निर्व्यूढत्व है।

सामग्र्येण सर्वथाऽपि सर्वतोऽपि समीक्षणात्।
हानोपादानशून्यत्वे निर्व्यूढं स्यान्निरूपणम्।
अन्यापेक्षनिरूप्यत्वं व्यूढत्वमिति कल्प्यते॥ १००॥

अन्वय—सर्वथा अपि सर्वतः अपि सामग्र्येण समीक्षणात् हानोपादान-शून्यत्वे निरूपणं निर्व्यूढं स्यात्। अन्यापेक्षनिरूप्यत्वं व्यूढत्वम् इति कल्प्यते॥ १००॥

[सब प्रकार से और सब ओर से समग्रता से समीक्षण करके हान और उपादान से रहित होने पर निरूपण निर्व्यूढ होता है। अन्य की अपेक्षा से निरूप्यत्व को व्यूढत्व माना जाता है॥ १००॥]

भाष्य—भूमा के विषय में निरूप्य-निरूपक-निरूपण नहीं है। भूमा सूत्र में शून्य इसी कारण प्रविष्ट है कि शून्य को लेकर ही यावतीय निरूपण होता है। किन्तु, निरूपण व्यूढ़ एवं निर्व्यूढ़ दोनों आकारों में हो सकता है। अन्य जो (किसी की अपनी भूमि वा वृत्त के बाहर) है, उसकी अपेक्षा रखकर जो निरूपण है, वह व्यूढ है। अंशतः वा खण्डतः जो निरूपण (साधारण व्यवहार में अथवा विज्ञानादि में) है, वह व्यूढ है। केवल, निरूप्य विषय नहीं, निरूपण भी यदि सर्वाधिकरण में (complete as process) न होकर किसी किसी अधिकरण में हो, तो भी व्यूढ है। फिर, केवल निरूप्य-निरूपण ये दोनों नहीं, निरूपक भी यदि यथार्थ शुद्ध नहीं हो, तो भी व्यूढ है। 'सामग्र्येण', 'सर्वथा' एवं 'सर्वतः'—इन तीनों के द्वारा इन तीनों की भर्ती, पूर्ति एवं शुद्धि की बात कही गई है। इन तीनों को फिर काष्ठा में लेना होगा—अन्य की तुलना में वा अपेक्षा में रखने से नहीं चलेगा। काष्ठा में वा परिसीमा में आने पर निरूपण यदि हानोपादान-रहित होता है, तभी (अर्थात् तत्त्व में उपनीत होने पर) वह निर्व्यूढ है। शून्य, पूर्ण,

बिन्दु, भूमा, ब्रह्म—सभी व्यवहार मान में व्यूढ़भाव में निरूपित होते हैं, किन्तु निर्व्यूढ़ निरूपण न होने तक तत्त्व परिनिष्ठित नहीं हुआ।

बहिर्विज्ञान की भाँति जपादि अध्यात्म विज्ञान में 'तत्त्व' क्या है, एवं तत्त्व का संकोच, व्यतिक्रम, व्यभिचार आदि भी क्या हैं, इनकी सविशेष समीक्षादि की आवश्यकता है। मिथ्या बड़वाग्नि अथवा आलोक-पुलक का थोड़ा सा आभास मिलने पर ही तो नहीं होगा। उसी कारण, निरूपण में तत्त्वविनिश्चय ही लक्ष्य है।

१८. शून्यं परीक्ष्य वृत्तित्व प्रमाणत्वम्।

शून्य वा मूल निरूपक की परीक्षा करके जो वृत्ति है, वह प्रमाण है।

प्रायशः प्रत्ययक्षेत्रेऽविस्पष्टतादिहेतुकः।
आभासः प्रतिभासश्च भासो वैकल्पिको भवेत्।
शून्यं त्रिविधमाश्रित्य प्रमाण हि परीक्षणम्॥ १०१॥

अन्वय—स्पष्ट है।

[प्रत्यय-क्षेत्र में प्रायः अविस्पष्टता आदि हेतु से आभास, प्रतिभास और भास वैकल्पिक होता है। त्रिविध शून्य को आश्रय करके [किया गया] परीक्षण प्रमाण होता है॥ १०१॥]

भाष्य—व्यूढत्व-निरूपण में ही विज्ञानादि के अनेक जागतिक व्यवहार हैं। बहिर्विज्ञान के सम्बन्ध में कहा जाता है—Science in measurement—यथार्थ मान ही विज्ञान है। किन्तु इस याथार्थ्य व्यूढभाव में ही मान की (on a restricted scale and under set condition) परख करना सम्भव है। सभी परीक्षा क्षेत्रों में ही निरूप्य-निरूपक-निरूपण इन तीनों को ही, बाध्य होकर अथवा अनुबन्धानुरोध से, किसी न किसी संकीर्ण एवं आपेक्षिक 'ढाँचे' में (frame of investigation में) खूब कसकर (as rigidity as possible) बाँध रखना होता है। इतना सा प्रासङ्गिक (range of what is relevant to the purpose) है, बाकी 'इस क्षेत्र में' प्रासङ्गिक नहीं है—इस प्रकार एक भेदक रेखा (line of demarcation) खींचकर परीक्षादि में प्रवृत्त होना पड़ता है। योगज ज्ञान में भी ज्ञान-भूमि की परम्परा है। इस निमित्त, प्रमाण, व्यवहार स्थल में, व्यूढ सम्बन्ध स्थापक है, निर्व्यूढ में उसकी व्याप्ति नहीं है। अथच वही आदर्श एवं लक्ष्य है। अन्यथा प्रतिष्ठा नहीं होती। अब, क्या साधारण, क्या वैज्ञानिक, क्या यौगिक-सभी प्रत्यय स्थलों में व्यापृत (veiled), विसंवादित (doubtful and disputed) एवं वैकल्पिक (alternate and antithetical) मुख्यतः इन तीन आकारों में विस्पष्टतादि का अभाव देखा जाता है, जिसमें प्रत्यय की परीक्षा एवं परिशुद्धि के निमित्त प्रमाण (याथार्थ्य निरूपण)

आवश्यक होता है। जो यथार्थ है वह विशेषतः व्यापृत होने पर होता है आभास, किसी अशुद्ध, असंस्कृत प्रतिफलक में (आन्तर स्थल में—इन्द्रिय, चित्त इत्यादि) अथवा प्रतिक्रिया (reaction) के आकार में आने पर प्रतिभास होता है, और वृत्ति जब परस्पर निरोधक विकल्पों में टूटकर दिखाई देती है (as mutually exclusive or opposed components) तब होता है वैकल्पिक भास। विज्ञान में एवं जपादि साधन में इन तीनों का दृष्टान्त प्रचुर है। जैसे जप में दैहिक रक्त-चलाचलादि के कारण जो छिन्न-छिन्न सूक्ष्म ध्वनि आरम्भ में सुनी जाती है, उसे नाद समझने पर, आभास होता है। उसे चूल्हे या झींगुर की ध्वनि कहना ही ठीक है—'रावण की चिता'—The sound of slow physical combustion। विराट् के क्षेत्र में यह है। यह सोमनाद नहीं है, पोजिटिव नहीं है, नेगेटिव (लोकक्षयकृत् अग्नि की दहन-ध्वनि) है। प्रतिभास एवं वैकल्पिक भास का दृष्टान्त भी अपने में लक्ष्य करें। शुद्ध ध्वनि, वर्ण आकृति, छन्दः सभी अवच्छेदक (receiving and projecting media) के दोष से अयथा-प्रतिक्रिया, अपक्रिया एवं विक्रिया रूप में आ सकते हैं। इस कारण आत्म-प्रत्यय-स्थल में गुरु, सन्त एवं शास्त्र—इस त्रयी की (शास्त्र को पृथक् करके नहीं) शरण एकान्त आवश्यक है। 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते'। शास्त्र का अर्थ है—standard experience—व्यवस्थित याथार्थ्य। अब, इन आभासादि तीन प्रत्ययों को याथार्थ्य से अन्तर में रखते हैं। सुतरां, इन तीनों को पकड़ कर शून्य में घूमना होगा (अर्थात्, इस अन्तर को शून्य में लाना होगा—The difference and divergence factor must be brought as nearas possible to zero)। ऐसा करके जो 'परीक्षण' है (सर्वतोभाव से, समग्रभाव से एवं सब प्रकार से), उसे 'प्रमाण' कहा जायगा। यथा, परीक्षक के सम्बन्ध में आप्तभूमि—रागद्वेषादि पक्षपात शून्यता, भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-राहित्य—यथार्थ प्रमाता होने के निमित्त आवश्यक होगा।

जैसे साधारण प्रत्यक्ष स्थल में, बुद्धि का जिस स्वच्छ, अवभासक केन्द्र में स्थित होकर प्रमाता के प्रमेय का ग्रहण करना उचित है, वह केन्द्र सर्वत्र नानाविध तामस-राजस संस्कारों की मलिन-विकृत स्तर-परम्परा से आच्छादित रहता है। इन्द्रिय-समूह भी (brain को पकड़ कर) स्वच्छन्द-पाटव भूमि में नहीं रहता। इसीलिए वास्तव इन्द्रिय-सन्निकर्ष-जन्य-प्रमाता के सम्बन्ध में जो क्रिया है वह ऋजु और ऋत नहीं होती; प्रमाता की प्रतिक्रिया भी (विषय देश में गमनादि) ऋजुगा और ऋतगा नहीं होती। जहाँ जिस वस्तु को, जिस भाव को हमने देखा, सुना, उस उस क्षेत्र में पूर्वोक्त आभासादि 'आपतित' हुए ही हैं। अनुमानादि के स्थल में भी तो गोलमाल बढ़ता ही है, मिटता नहीं। इस निमित्त बाद में 'प्रमा' सूत्र है—

१९. शून्यमन्वीक्ष्य वृत्तित्वं प्रमात्वम् ।

शून्य की अन्वीक्षापूर्वक जो शक्ति है, वह प्रमा है ।

वा० तत आभासिके क्षेत्रे त्वन्वयव्यतिरेकतः ।
स्थापितत्वं हि योग्यत्वे युक्तस्येति भवेत् प्रमा ॥
स्थापनं शून्यमन्वीक्ष्य युक्तशिष्टसमन्वयः ॥ १०२ ॥

अन्वय—ततः आभासिके क्षेत्रे तु अन्वयव्यतिरेकतः युक्तस्य योग्यत्वे स्थापितत्वं हि प्रमा इति भवेत् । शून्यम् स्थापनम् अन्वीक्ष्य युक्तशिष्टसमन्वयः ॥१०२॥

[इसके बाद आभासिक क्षेत्र में तो अन्वय-व्यतिरेक से योग्य रूप से युक्त का स्थापित होना ही प्रमा है । शून्य स्थापन को देखने पर युक्त और शिष्ट का समन्वय होता है ॥ १०२ ॥]

भाष्य—इसके बाद, अन्वीक्षावृत्तिता द्वारा कौन-सी 'प्रमा' है, उसे कहा है । पूर्व सूत्र में जो तीन प्रकार के 'आभासिक क्षेत्र' (apparent given; presented or represented field) का प्रसंग आया, उन तीनों क्षेत्रों में जो 'स्थापित' (settled fact) है, उसमें अब तक स्थापना नहीं हुई है, स्थापन का बाधक कोई अन्तर (अन्तराल वा अन्तराय) है, यह तो समझा जा सकता है । जो स्थापित वा व्यवस्थित है, उसे कहें 'ध्रुव' । तब फिर दूसरा (जो स्थापित नहीं है, वह) अध्रुव है, व्यभिचारी है । सुतरां, वह बाधित होगा । समग्रतः, सर्वतः एवं सर्वथा बाधित तो कुछ भी होने का नहीं; यहाँ तक कि आकाश पुष्पादि भी नहीं । इस अध्रुव बाधयोग्य की (जैसे, पृथिवी स्थिर ही है), उस धूमावती के 'शून्य' में व्याहृति होना आवश्यक है । उसके ध्रुव को अन्वय में आना चाहिए, और उसका व्यभिचारी, आरोपित अनृतभाग व्यतिरेक में जाना चाहिए । जैसे, तत्त्वमस्यादि के शोधन में करना होता है । जप का तो यही प्रधान कर्म है । जो assimilable है उसे assimilated, और जो eliminable है उसे eliminated होना चाहिए । परीक्षा के क्षेत्र में (experiment) में तो है ही, मन्थन के क्षेत्र में भी यह अन्वय-व्यतिरेक रीति (Method of Agreement and Difference) सर्वथा प्रयुक्त होना चाहिए । 'केवल' होने पर, वह केवलत्व भी स्थापित होना चाहिए । इस प्रकार व्याहृति के फलस्वरूप जो व्यभिचारी 'अयुक्त' था, वह 'योग्यत्व' में युक्त होता है । अब ध्रुव इस योग्य हुआ कि जो 'तथ्य' वा 'तत्त्व' है, उसमें युक्त, अन्वित हो । सर्वत्र यह व्यूढ भाव से होता है, निर्व्यूढ भाव से नहीं होता । इस निमित्त, क्या बहिर्विज्ञान में, क्या अध्यात्म विज्ञान में स्थापना का एक 'परोवरीयान्' क्रम चल रहा है ।

किसी एक व्यूढ प्रसंग में (with respect to any restricted and relative analysis) जो 'प्रमा' रूप में ग्राह्य है, वह सापेक्ष प्रमा है। इसलिए व्यापक भाव से (बहिर्विज्ञान को भी लेकर) कहा गया है कि—जो (आन्तर) वृत्ति योग्यत्व में युक्त रूप में स्थापित कर देती है, वह प्रमा है। किसके सम्बन्ध में योग्यत्व है, यह भी कहा गया है। आस्तिक दर्शनों में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द, इन तीनों का प्रमाजनकत्व एक प्रकार से सभी (यद्यपि वैशेषिक जरा कुछ दबी ज़बान से) मानते हैं। इन सबको लेकर तर्क का भी अन्त नहीं है। उससे हमारा काम क्या है ? वेद शब्द का (मन्त्र का विशेषतः) प्रामाण्य चूड़ान्त है—'रवेरिव रूपविषये'। इसे प्रत्यक्ष भी कहा गया है। जपादि साधन में इस प्रत्यक्ष प्रमा की भूमि में पहले योग्य, मध्य में युञ्जान, अन्त में युक्त (युक्ततर-युक्ततम) होना होता है। सुतरां जप साधन प्रमा का साधन है। जो व्यूढ स्थापित है उसे कहें 'तथ्य' और निर्व्यूढ स्थापित को कहें 'तत्त्व'। पहले, गुरु शास्त्रादि के 'अन्वय' में अपने को तथ्याश्रित करके, अन्त में तत्त्वाश्रित करना होता है। पहला मुख्यतः उपायाश्रय है, दूसरा उपेयाश्रय है। उपायाश्रय के साथ उपेयाश्रय में अस्थापित का संस्थापितत्व है। योग, ज्ञान, रस इन तीनों भूमियों में ही यह प्रमा-साधन अप्रमाद से कर लें। 'अप्रमत्तेन वेद्धव्यम्।'

उस मूलनिरूपक शून्य (आरम्भ-अवसान भूमि) को ठीक रखकर ही उस अन्वीक्षा को अस्थापित-स्थापन में लगाना होगा। यहाँ तक कि, रसभूमि में भी वही है। जैसे, प्राकृत कामगन्ध के अवसान में कृष्ण-अङ्ग-गन्ध है (मृगमद और नीलोत्पल के साथ तुलना करते हुए रसकवि जहाँ लज्जावश 'जीभ काट' लेते हैं) अच्छा, किन्तु अन्वीक्षा क्यों ? इसमें जो युक्त और शिष्ट हैं उन दोनों का समन्वय हो जाता है। जो योग में आया, और जो 'वियोग' में गया (शिष्ट, remainder), वे दोनों ही इस स्थापन रूप प्रमा में आकर कहते हैं—'अब हमारा विरोध नहीं है, अब हम मिल गए।' ललिता सखी श्रीमती को मिलन-कुञ्ज में 'परम योग' में स्थापित करके स्वयं हट गईं। वियोग में विधुरा ? नहीं, सो तो नहीं। उस परम पूर्ण योग में ही संयुक्ता हैं। प्राकृत काम का कृष्ण काम (लौल्य) में simple elimination नहीं है, perfect sublimation है। अपरापर भूमियों में भी उसे मिलाएँ। विज्ञान, गणितादि ने भी अपनी-अपनी भूमियों में भी इस 'प्रमा' एवं 'प्रमाण' को ठीक 'अपने समान' बनाकर पाया है। दृष्टान्त में हम नहीं जाते हैं।

२०. शून्यमुपेक्ष्य वृत्तित्वमुदासीनत्वम्।

शून्य की 'उपेक्षा' करके जो वृत्ति है उसे कहते हैं उदासीन।

यहाँ 'उपेक्ष्य' पद कहीं तात्पर्य-विभ्रम में न डाल दे, इसका ध्यान रखें। 'उप' इस उपसर्ग की सामीप्यादि वृत्ति है। सुतरां समीपस्थ या तटस्थ होकर (दृश्य में एवं भोग्य

में पातित और लिप्त न होकर) जो ईक्षण है, वह भी उपेक्षण वा उपेक्षा हो सकता है। यह पातित्य वा लिप्तता भी नानाभाव से हो सकती है। मुख्यतः इन दोनों को तल, लम्ब एवं वेध, इन तीनों के सम्बन्ध में समझा जा सकता है। जिस 'तल' में विषय है, तुम भी उसी तल में पातित हो, अथवा, किसी ऊर्ध्वतन वा अधस्तन तल से उसमें पातित हो; फिर, वह विषय तुम्हें विद्ध कर रहा है, अथवा विषय को ही तुम विद्ध कर रहे हो। इन सबका दृष्टान्त बाहर और भीतर सहज में ही मिलेगा। जप में तलवृत्तिता जब है, मान लें, स्थूल में ही व्यापार चल रहा है। स्थूल जप करते-करते कोई स्थूल शब्द सुनने पर, चित्त उसमें चला गया। मध्यमा में गए हो, नाद भी सुन रहे हो, चित्त उसी में है। उससे इच्छा से वा अनिच्छा से स्थूल में आने पर वेध का दृष्टान्त भी प्रचुर है। अब, उदासीन भाव क्या है ?

तलादि इन तीन अवस्थानों के सम्पर्क में ही पातित्य वा लिप्तता के स्थल में यदि केवल सामीप्य वा ताटस्थ्य में स्थिति कराई जाय तो 'उपेक्षण' हुआ। लिप्तत्व पातितत्व एवं विद्धत्व—ये तीन शब्द यथाक्रम इन तीनों सम्बन्धों में प्रयुक्त करें। इन तीनों को उनकी अवसान भूमि (शून्य) में लेकर, दृश्य-भोग्यादि सम्बन्ध से पूर्वोक्त सामीप्य वा ताटस्थ्य भूमि में अवस्थान कराता है उदासीन भाव। चलचित्र की छवि देखने की भाँति। उसमें भी ठीक उदासीन भूमि में स्थित होने के लिए, अपने देहादि संघात को उस छवि में शामिल कर लेना होता है। विशेष करके, अपने चित्त में जो सब वेदना-भरी छवियाँ उठ रही हैं, वे ही। अनासक्त भूमि से 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' भूमि पर्यन्त श्रुति के उस अपर सुपर्ण को (अनश्नन् इत्यादि) प्राप्त करना होता है। अथच, इस उदासीन उपेक्षण में दृश्य-भोग्य-प्रपञ्च अथवा उनका जो भान है, वह मिट नहीं गया है। वरन्, उनका जो 'रस' है, जो 'मधु' है, उसका शुद्ध सम्पूर्ण 'सन्दोह' सम्भावित होता है इसी भूमि में। गोपाल-तापनी में श्रीकृष्ण इसलिए न 'ब्रह्मचारी' हैं, और दुर्वासा भी उपवासी हैं! शुद्ध वैरागी हुए बिना तो यथार्थ अनुरागी नहीं हुआ जाता। रस में जो अप्राकृत, चिन्मय भूमि है, वहाँ भी यह परम सामीप्य वा ताटस्थ्य भाव है। डूबकर भी "नहीं डूबा हूँ"—यह भाव।

अब, विज्ञानादि सभी को बुलाकर अन्य प्रकार से देखें।

वा० स्पन्दद्वन्द्वौ तथा स्यन्द इति लिङ्गैर्निरूपितम्।
शून्यमुपेक्ष्यवृत्तित्वमौदासीन्यमितीरितम् ।
व्यतीत्यवृत्तिताकल्पा नैव सापेक्ष्यवृत्तिता ॥ १०३ ॥

अन्वय—स्पष्ट है।

[स्पन्द, द्वन्द्व और स्यन्द-इन तीन चिह्नों द्वारा निरूपित शून्य को औदासीन्य कहा जाता है जो उपेक्ष्यवृत्तिता-वाला है। सापेक्ष्यवृत्तिता व्यतीत्यवृत्तिता के तुल्य नहीं ही है ॥ १०३ ॥]

भाष्य – स्पन्द, द्वन्द्व एवं स्यन्द, इन तीनों की चर्चा साधारण भाव से की गई है। Principles of Vibration, Polarity and Flux—PVF। प्रणव में, अ = स्पन्द है; अ – म = द्वन्द्व है; उ = स्यन्द है। अब, इन तीनों लिङ्गों (index) को लेकर शून्य का (आरंभ-अवसानभूमि का) सन्धान करें। यथा, प्रणवजप में आरम्भ में भी बिन्दु है, अवसान में भी बिन्दु है। इस प्रकार निरूपित जो शून्य है, उसमें सामीप्य वा तादस्थ्य में अवस्थान को औदासीन्य कहते हैं। शून्य में ही एकान्त स्थिति में यह चलचित्र अवसान में समाप्त हो जाता है। इसीलिए, उत् + आसीन भाव भी नहीं रहता। इसलिए, सामीप्य (उप) है। चित्र है, एवं चल रहा है, किन्तु मैं उसका जो आरम्भ और अवसान भूमि है उसके 'निकट' ही हूँ। जप कर रहा हूँ या जप चल रहा है, किन्तु बिन्दु-विच्युत होकर नहीं। ऊर्ध्वरेताः, ऊर्ध्वस्रोताः भूमि आनी चाहिए। वैज्ञानिक परीक्षादि के स्थल में भी, उन तीनों को (अवाञ्छित) यथासम्भव उदासीन भूमि में (background or context of unprejudiced neutrality में) लाना होता है।

यह जो उदासीन भूमि की बात हुई, यह ठीक-ठीक 'भूमा' सूत्र की 'व्यतीत्य वृत्तिता' नहीं है। तत्कल्पा—approximation है, किन्तु ठीक वही नहीं है। इस विभेद पर विचार करें। उदासीन भूमि में व्यवहार्यता सम्भव है, भूमा भूमि में वह नहीं है। 'उप' शब्द का अपरापर अर्थ लेकर भी 'उपेक्ष्य' समझें। जैसे; उपकार, उपवन, उपदेश इत्यादि में। उभय स्थलों में ही transcendence होता है, किन्तु विलक्षणता है। द्रष्टृ, कर्तृ, भोक्तृ, नियन्तृ, निर्वाहयितृ—इन सब भावों में उदासीनता बाधित नहीं होती। इस कारण—'द्वा सुपर्णा सयुजा' इत्यादि। यहाँ द्रष्टृत्व है, भोक्तृत्व नहीं।

२१. शून्यं प्रतीक्ष्य वृत्तित्वं निर्वाच्यत्वम्।

शून्य की प्रतीक्षा में जो वृत्तिता है उसे कहते हैं निर्वाच्यता वा निरूपणीयता।— The state of being definable and specifiable।

वा० किं निर्वाच्यमनिर्वाच्यं वेति विकल्पनास्थितौ।
शून्यं प्रति निधायास्थां कुरुध्वमध्वनिश्चयम्।
निरूप्यमाणताधर्मावच्छेदिकेयं हि शून्यता ॥ १०४ ॥

अन्वय—किं निर्वाच्यम् अनिर्वाच्यं वा इति विकल्पनास्थितौ शून्यं प्रति आस्थां निधाय अध्वनिश्चयं कुरु। इयं शून्यता हि निरूप्यमाणताधर्मावच्छेदिका ॥ १०४ ॥

[क्या निर्वाच्य है और क्या अनिर्वाच्य, ऐसे संशय की स्थिति में शून्य के प्रति आस्था रखकर मार्ग का निश्चय करो। यह शून्यता ही निरूप्यमाणताधर्म की अवच्छेदिका है ।। १०८ ।।]

भाष्य—कौन निर्वाच्य वा निरूपणीय है, और कौन नहीं, इस प्रकार की विकल्पना वा संशय के अवकाश-स्थल में क्या करेंगे ? ध्यान देकर देखें— ऐसा कोई स्थल या भूमि है या नहीं, जो निःसंशय कहे—यही तो मैं ध्रुव निरूपक भाव में हूँ (जैसे, रात्रिकाल में अनन्त सागर के वक्षपर जहाज के लिए ध्रुवतारा), मुझे पाकर ही सबकी निरूप्यमाणता (अर्थात्, पूर्वादि दिक् के इस दृष्टान्त में) सम्भावित होती है (निरूप्यमाणताधर्मावच्छेदिका); सुतरां मुझमें 'आस्था' निधान करके निरूपणादि का अध्व (way, method—ऋताध्व) निश्चय कर लें। सब अनिश्चय के स्थलों में मुझे निश्चायक रूप में पहले प्राप्त कर लो। ग्रह किस मार्ग में चक्कर काट रहे हैं ? यहाँ कौन उत्क्षिप्त वस्तु (projectile) किस वर्त्म में चल रही है ? उत्तर देने के लिए, इस निश्चायक शून्य को (फोकस् इत्यादि रूप में) प्राप्त करना होगा। एक ध्रुव रेखा तुमने अङ्कित की है, फिर भी पैराबॅल, जो सचल बिन्दु का ऋताध्व (लोकस्) है, वह कहता है—'केवल उससे नहीं होगा; एक स्थिर बिन्दु बैठाओ। तब मैं दोनों के साथ दूरत्व को एकसा रख कर चलूंगा इत्यादि। हमारे लक्षण में शून्य = केवल ध्रुव बिन्दु नहीं है। यह कितनी बड़ी व्यापक संज्ञा है, यह देखा जा चुका है। इस दृष्टान्त में, यह ध्रुव बिन्दु, ध्रुव रेखा, ध्रुव तल वा आधार, एवं ध्रुव अन्वय (समदूरत्व), ये चार ध्रुव मिल कर इस पैराबॅल की निरूप्यमाणता धर्मावच्छेदिका शून्यता है; अर्थात्, इस कर्व के आरम्भ एवं अवसान की भूमि नियत एवं निश्चित है। गणित में Equation द्वारा इस निरूप्यमाणताधर्म को अवच्छिन्न करके दिखाया जाता है।

अब, अध्यात्म क्षेत्र में भी इस अवच्छेदक वा निश्चायक को प्राप्त करना चाहिए। नहीं तो, सभी कुछ अंदाजी है, धूमिल है।

जप में (जैसे, तार चक्र में) बिन्दु से नाद, नाद से बिन्दु, इस प्रकार आरम्भ अवसान होने के लिए नाद इस सूक्ष्म भाव बिन्दु को निरूपक शून्य रूप में (यथासम्भव) पाना होता है। किसी भी निर्वचनस्थल में यह 'शून्यं प्रतीक्ष्य वृत्तिता' आवश्यक है। जैसे, रोग में ज्वर का आरम्भ और अवसान स्थल ठीक पाना चाहिए (९८°), जिसे ध्रुव स्थान में रख कर ज्वर के बढ़ने-घटने का चार्ट आंकेंगे। सङ्गीत में ध्रुव में परदा बांध भी लेना पड़ता है। जप में गुरु ने जिस ध्वनि को, जिस प्रकार पकड़ा दिया है, प्राण के हृदय के मूल तार को उस ध्रुव में ही बांध कर जप-कीर्तनादि को साधना होगा। जो भूमा हैं, जो पूर्ण हैं, जो बिन्दु हैं, वे इस अनिरूप्य-अनिरूपक अनिश्चेय-निश्चायक शून्य रूप में ही मुझ पर कृपा कर रहे हैं। इस शून्य (रन्ध्र) में 'सों' करके

परमपुरुष पुकार देते हैं, इसीलिए न 'पूर्ण' पकड़ते हैं परम आलापन की 'पों', और भूमा रखते हैं परम स्थायी की 'भों'। कारिका में 'आस्थां निधाय' अंश पर ध्यान दें। प्रणव में, भूमा कहते हैं—'हमारा फिर स्थान क्या है ? यदि स्थान देना ही हो तो कलातीत में दो।' पूर्ण कहते हैं—'मैं तो सब में ही हूँ; फिर भी, ठीक है, कलाशक्ति में रह जाऊँगा।' शून्य कहता है—'मैं ही क्या कम हूँ ! फिर भी न सही, इस बिन्दु में ही बैठ जाता हूँ।'

अब 'वस्तु' किसे कहते हैं—

२१. सर्वसापेक्षत्वाश्रयबिन्दुत्वव्यापकवृत्तित्वं वस्तुत्वम्।

बिन्दुत्व (the Fundamental 'Point' or Basic 'Pointness') का आश्रय करते हुए निखिल सापेक्षभाव (universal tissue of relations or relatedness) है। इस बिन्दुत्व को व्याप्त करके वर्तमान होने को कहते हैं 'वस्तु' (the thing-as-such)। अर्थात् वस्तु क्या है यह जानना हो तो उस जिज्ञासा और ज्ञान की व्याप्ति इस बिन्दुत्व तक (उससे कम नहीं) जानी चाहिए। यह बिन्दुत्व क्या वस्तु है, जिस तक जाकर किसी भी वस्तु का वस्तुत्व ठीक होगा ? बिन्दु सूत्र में जो बिन्दु लक्षित है, वह बिन्दुभाव की 'परमता' है। शून्य की भी तो निरूपक बिन्दुरूप में भावना की गई है। जप में नाद का जो सूक्ष्म भाव मिलता है; वह भी बिन्दु है। परम बिन्दु को इस प्रकार आरोह-अवरोह वा 'मूर्च्छना' में बांध कर 'परो वरीयान्' क्रम में उसकी परमता में पहुँचना होता है। साधनशास्त्र में यह दस्तूर है। बिन्दु सूत्र में जो बिन्दुत्व है, वह बिन्दु स्वरूप है; और, इस स्थल में जो बिन्दुत्व है, वह बिन्दु जाति वा बिन्दुगोत्र है। वर्तमान सूत्र में इस गोत्र का भी अवम वा मध्यम में नहीं, फिर परम में भी नहीं, किन्तु तटस्थ परम में सर्व-सापेक्षताश्रय रूप जो परम कल्प, परम प्रतिभू बिन्दु है, वहाँ तक; अर्थात् किसी भी पदार्थ का सर्व-सापेक्षता-सम्बन्धावच्छिन्न जो व्यष्टित्व और व्यक्तित्व हैं, उसके आश्रय, अर्थात्, कारण वा बीज तक गति लक्षित हुई है। जड़ में हो, अथवा प्राण-मन की भूमि में ही हो, कोई भी पदार्थ (भाव, आकृति, नाम) एक-एक व्यष्टि-भाव से पड़ा हुआ है। उस व्यष्टि का अवश्य 'बीज' भी है। जड़ाणु में वह Nucleus, प्राणी में Germplasm, चेतना में 'अहं', आकृति में व्यक्तित्व है। व्यूढ निर्वचन के लिए, इनमें से प्रत्येक को, पाद में, मात्रा में, कला में एवं काष्ठा में परिमित वा परिमेय (measured or measurable) सापेक्ष समझ लेते हैं। नहीं तो, व्यवहार में निर्वचन नहीं बनता। किन्तु यह निश्चित है कि उसके सम्बन्धजाल को आवश्यकतानुसार समेट कर छोटा कर लेने पर भी, वह जाल विश्वभुवन जाल है। एक रेणु का भी इस निखिल के साथ अपने को जोड़े बिना रहना असम्भव है। अथच, उसके निजत्व-

निरूपक एक बीज ने भी उसे निखिल के वा अखिल के साथ सत्ताशक्ति-छन्दः-आकृति में अच्छेद्य ग्रथित करके भी, 'खिलवृत्ति', 'व्यष्टिवृत्ति' बना रखा है। सुतरां, यह रेणु की 'वस्तु' क्या है, यह जानने के लिए, गत शतक का एटम्, अथवा वर्तमान की Nuclear Energy, यहाँ तक कि Wave Mechanics तक जाने पर भी पर्याप्ति नहीं होती। रेणु, मैं जो उसका ज्ञाता हूँ, उसके ठीक बाहर भी नहीं, उसे बाद देकर तो नहीं ही है। प्राणमन (विराट् और व्यष्टि), दोनों ही उसे 'अपना' कर लेंगे; 'अहल्या पाषाणी' का रेणु होकर निस्पन्द प्राणहीनता में तलहीन अचेतना में पड़ा रहने नहीं देंगे। Mass और Energy को केवल समीकरण के सूत्र में बाँध कर ही छुट्टी है ? बहिर्विश्व में, आन्तर जगत् में केवल ही तो छाया के पीछे काया है, छवि की आड़ में वस्तु का सन्धान ही चल रहा है ! जपादि में भी अविश्वास रंगीन बुलबुलों का जादू का खेल भी देखना जो पड़ता है। किन्तु वस्तु, वास्तव क्या है और कहाँ है ? मीमांसक सम्प्रदाय विशेष तो देवताओं की मान्त्री तनु छोड़कर (शाक्ती तनु भी अवश्य), दर्शनादि प्रत्यक्ष योग्य अन्य तनु नहीं मानते। उसमें वस्तु-वास्तव छूट गया या नहीं ? भक्त-साधक लोग उस 'वाद' में प्रमाद ही समझेंगे। जो हो, छाया-बुद्वुदादि भी वस्तु का एकान्त वर्जन करके तो नहीं ही है। शुक्ति रजतादि स्थल में रजतादि की 'अनिर्वचनीय उत्पत्ति' समझने पर भी नहीं। हमारा लक्ष्य हुआ दर्शनीय दर्शन, दार्शनिक मर्शन नहीं।

वा० यथोर्णनाभस्तथा हि बिन्दुः
सूते च धत्ते च निसर्गजालम्।
व्याप्नोति बिन्दुमभितश्च जाल-
ममेयवृत्ति स्वयमेव वस्तु ॥ १०५ ॥

अन्वय—यथा ऊर्णनाभः तथा हि बिन्दुः निसर्गजालं सूते च धत्ते च। अमेयवृत्ति वस्तु बिन्दुं जालं च अभितः व्याप्नोति ॥ १०५ ॥

[जैसे मकड़ी वैसे ही बिन्दु निसर्गरूपी जाल को उत्पन्न करता है, और धारण भी करता है। अमेयवृत्ति वाली वस्तु बिन्दु को और जाल को व्याप्त करती है ॥ १०५ ॥]

भाष्य—जैसे ऊर्णनाभ है, वैसे बिन्दु इस देश काल निमित्तादि में विस्तारित विसर्ग जाल को अपनी 'नाभि' से प्रसव करता है, फिर वह धारणादि ('गृह्णते च') भी करता है। इस स्थल में, 'बिन्दु' कहने से परम नहीं, किन्तु परम तटस्थ परम गोत्रीय बिन्दु है। परम सम्बन्ध में व्याप्य-व्यापक भाव ठीक नहीं जाता। अब, यह निसर्ग जाल (cosmic relatedness) है, वह 'अमित' (unmeasured, unended) ही रह जाता है (बहिर्विज्ञान एवं अध्यात्म-विज्ञान दोनों क्षेत्रों में)। और, जो वस्तु है, वह केवल 'अमित' नहीं, स्वयं 'अमेयवृत्ति' होकर इस बिन्दु (निसर्ग जाल की समष्टि सापेक्ष

व्यष्टि नाभि) तक व्याप्त करके वर्तमान है। सुतरां, वस्तु का ज्ञान = निसर्ग-ज्ञान की समष्टि सापेक्ष जो व्यष्टि वा व्यक्ति है, उसका ज्ञान। अर्थात् 'क' ने अखिल सापेक्षता में स्थित होते हुए भी किस प्रकार खिलवृत्त वा व्यष्टिवृत्त रूप में अपने को पाया, उसका ज्ञान। जैसे, इलक्ट्रनादि, प्रोटोप्लाज्मादि, 'माइण्ड स्टाफ़' इत्यादि।

ब्रह्मवस्तु में इस लक्षण की अव्याप्ति है ? नहीं। ब्रह्म वस्तु = पूर्ण ब्रह्म = भगवत्ता, इस अभेद समीकरण को सोच कर देखें। निर्गुण, निर्विशेष भाव एवं सगुण सविशेष भाव के लिए, सूत्र में इस बिन्दुत्व को 'परम' समझें। इसमें शून्यत्व पूर्णत्व एकत्र है। सर्व सापेक्षता को नितान्त शून्य बना दें, निर्गुण समझें। एकान्त पूर्ण बना दें—समझें सभी वे हैं—सर्वं ब्रह्मौपनिषदम्—एवं सब में पूर्ण बिन्दु रूप में अनुप्रविष्ट भी वे हैं, वे 'प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्' हैं, तब फिर सर्व-सापेक्ष नितान्त पूर्ण में आया (विशिष्टाद्वैत में चिदचिद् जगत् उनका शरीर है; द्वैताद्वैत में—अक्षर, ईश्वर, जीव और जगत् रूप में ब्रह्म चतुष्पात् हैं; इत्यादि)।

अब वस्तु से 'द्रव्य' है।

२३. तस्यैव प्रमेयतावच्छिन्नत्वे सति सर्व सापेक्षतावच्छेदक-संव्यूढत्वावच्छिन्नवृत्तित्वं द्रव्यत्वम्।

वस्तु यदि 'प्रमेय' (प्रमाण के योग्य) रूप में विशेषित हो (वस्तु मात्र ही तो नहीं), एवं प्रमेय रूप में वह यदि 'संव्यूढ' भाव से (पूर्वोक्त) सर्व-सापेक्षता (universal relatedness) को अवच्छिन्न करते हुए (limiting, restricting, conditioning), तद्द्वारा (संव्यूढता द्वारा) विशेषित हो, तब वस्तु होती है द्रव्य। संव्यूढता = compact and stable co-inherence। मान लें, एक हिलियम् एटम् है। इसमें चार इलेक्ट्रानों ने एक (आपेक्षिक) ध्रुव संहतरूपता पाई है; किसी प्राणी का जर्म सेल, इत्यादि। दृष्टान्त सब दोनों में है। वस्तु द्रव्य बनना हो तो—(क) प्रमेय होगा; (ख) प्रमेय 'संव्यूढ' होगा; (ग) इस संव्यूढ रूप में वह सर्वसापेक्षता को (the tissue of cosmic relation) को 'विशेष' करके स्वानुरोध सम्बन्ध बना लेगी। केवल, मूर्त द्रव्य नहीं, आकाश, दिक्, काल, आत्मा—इनका भी द्रव्यत्व इस लक्षण में स्थापित करें। लक्षण में यह अवच्छेदकावच्छिन्न भाव है इसीलिए ब्रह्म वस्तु, ब्रह्म द्रव्य नहीं होते; अथवा 'भूमैकरसः' जो रसवस्तु है, वह रसद्रव्य नहीं होता। Spinoza का Substance = द्रव्य, यह भी सीधे-सीधे नहीं।

वा० प्रमेयताऽस्ति द्रव्ये समस्ते।
सापेक्षताऽपि द्रव्ये प्रसक्ता॥
संव्यूढता च तस्मिन्निधेया।
प्रमेयमात्रत्वे द्रव्यता न॥ १०६॥

अन्वय—समस्ते द्रव्ये प्रमेयता अस्ति । सापेक्षता अपि द्रव्ये प्रसक्ता । तस्मिन् संव्यूढता च निधेया । प्रमेयमात्रत्वे द्रव्यता न ॥ १०६ ॥

[समस्त द्रव्यों में प्रमेयता है । द्रव्य में सापेक्षता का भी प्रसङ्ग है । और उसमें संव्यूढता भी निधेय है । प्रमेय मात्र होना द्रव्य होना नहीं है ॥ १०६ ॥]

भाष्य—प्रमेय समस्त द्रव्यों में है ही । किन्तु केवल प्रमेय होने पर ही (प्रमेय-मात्रत्व) द्रव्य नहीं होता । पूर्वोक्त सर्व-सापेक्षताधर्म, यह भी द्रव्य में प्रसक्त (incidental to its being a knowable or definable substance) है । इन दोनों के अतिरिक्त तृतीय और एक लक्षण भी चाहिए—संव्यूढता (स्वयं को किसी निर्दिष्ट संहति में क्षेम वा पकड़ रखना) । इस अन्तिम संव्यूढता को कोई निर्दिष्ट आकृति (pattern) कहेंगे, कोई धर-पकड़ में आए बिना कहेंगे—'permanent possibility of characteristic reactions' । मीमांसक कहेंगे—यह 'मन्त्र' ही इन्द्र वा वरुण का द्रव्यत्व (substantiality) है; मन्त्र को यन्त्र-तन्त्र के साथ लेकर भी कोई बात करेंगे । विचार यहाँ अनावश्यक है । किन्तु, 'संव्यूढ' शब्द पर ध्यान दें । जप में वाक्, चित्त और प्राण के संव्यूढता में आने पर तब मन्त्र होता है समर्थ, अर्थात्, मन्त्र ही होगा द्रव्य, एवं द्रव्य परिशेष में होगा वस्तु ।

किन्तु संव्यूढ होने के लिए 'धर्म' की अपेक्षा है तो ? मिश्री का जल जैसे दाना बांधता है, नमक वा फिटकिरी का जल तो उस प्रकार नहीं बाँधता ।

२३. संव्यूढतासंगठितत्वावच्छिन्नवृत्तित्वं धर्मत्वम् ।

संव्यूढ को संगठित भाव से विशेषित करते हुए (analytically) देखने पर धर्म होता है । समग्र भाव से (जैसे, एक बीज, मन का कोई एक भाव) देखने पर (totally apprehended and appreciated) वह संव्यूढ (a system, organic unity, etc.) है; 'तोड़कर' देखने पर, एवं पादमात्रा कलादि की परस्पर 'धृति', अथवा योगक्षेम, गतिस्थिति, हरण-पूरण नियामक, स्थिति-स्थापक भाव में देखने पर, 'संगठन' होता है । अब, धर्म करता है सभी क्षेत्रों में संगठन । इस 'धर्म' का अर्थ रिलीजन केवल नहीं है, और, अध्यात्म क्षेत्र में ही यह सीमाबद्ध नहीं है । (Principle of cohesion, co-ordination, co-operation, equipoise, balance) है । 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसाधिगमः'—यह भी लक्षण में आएगा ।

वा० संव्यूढतां समाश्रित्योपकुर्वाणाः परस्परम् ।
सहगाः सममन्त्राश्च समतन्त्राः समन्विताः ॥
विभागशो हि धर्माः स्युरविभागेन धर्मता ।
जनिसूत्रक्रियासूत्राकृतिसूत्रैश्च सूत्रिता ॥ १०७-१०८ ॥

अन्वय—धर्माः विभागशः हि स्युः। संव्यूढतां समाश्रित्य परस्परम् उपकुर्वाणाः सहगाः सममन्त्राः समतन्त्राः च समन्विताः। अविभागेन धर्मता जन्मसूत्रक्रियासूत्र + आकृतिसूत्रैः च सूत्रिता ॥ १०७–१०८ ॥

[धर्म विभागशः संव्यूढता का आश्रय लेकर परस्पर उपकार करते हुए सहगामी, सममन्त्रवाले और समतन्त्रवाले समन्वित हों। धर्मता अविभाग से होती है, जोकि जन्मसूत्र, क्रियासूत्र और आकृतिसूत्र से सूत्रित होती है ॥ १०७-१०८ ॥]

भाष्य—संव्यूढ़ होने में धर्म की अपेक्षा है। अपेक्षित धर्म फिर इस संव्यूढ का समाश्रयण करके ही अपने संगठित रूप को दिखाता है। किन्तु अन्योन्याश्रय स्वाभाविक है। जैसे, चक्षु और उसका धर्म। चुम्बक और चौम्बकत्व। मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र और उनके धर्म। द्रव्याभाव में (structurally as an organic unity) देखना, और व्यापार-भाव से (as functional co-ordination and unity) देखना। इन दोनों प्रकार के देखने को फिर 'समास' में और 'व्यास' में साधना होता है। इनकी भी परस्परापेक्षा है। समास-व्यास इन दो प्रकार से देखने पर देखा जाता है कि—जो संव्यूढ भाव से विद्यमान है, उसके अङ्ग वा अवयव भी जिस प्रकार परस्पर उपकारक भाव से हैं (उपकुर्वाणाः परस्परम्), उनके संगठन-संघटक धर्म भी इसी प्रकार हैं। धर्मों का यह उपकुर्वाण रूप कैसा है ? (१) वे सहग हैं, अर्थात्, संव्यूढ की जो समग्रता (organic or structural integrity) है उसे वे सहगामी और सहकारी होकर (congruently and co-efficiently) बनाए भी रखते हैं (जैसे, वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म इत्यादि) : फिर, उनकी अपनी-अपनी क्रिया वृत्ति का जो समच्छन्दभाव (functional order and harmony) है, उसे भी वे बहाल रखते हैं। 'सहग' कहने से इन दोनों को ही समझना होगा। जप में जैसे कोई मन्त्र (मान लें, गायत्री) और व्याहरण-अनुस्मरण है। जप धर्म में स्थित है अर्थात् इन दोनों में वैरूप्य, वैकल्य नहीं है। यथा, तारचक्र में मेरु का लङ्घन नहीं होता हैं, इसीलिए प्राणविश्रान्ति सम्भावित नहीं होती। बिजली बत्ती में circuit ठीक है, current का leakage इत्यादि नहीं हो रहा है।

इस सहगत्व को फिर दो प्रकार से विश्लेषपूर्वक देखते हैं। प्रथम प्रकार में, उन्हें सममन्त्र, समयन्त्र एवं समतन्त्र होना चाहिए। क्यों, किस आकार में किस प्रकार ?—इन तीनों का उत्तर है मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र। इनकी बात पहले कही गई है। विज्ञान की दृष्टि में; उन्हें एक Formula वा Equation में आना चाहिए; उनका लेख वा curve एक ही गोष्ठी (family) के अन्तर्भुक्त होना चाहिए, एवं उनके बीच, गणित में जिसे congruity, symmetry, homology इत्यादि कहा जाता है, वे सब लक्षण रहने चाहिए। हम जिसे पादमात्रादि कह चुके हैं, उनका लेख एक समानाधिकार में

(common type or pattern में) स्थित होना चाहिए। और, समतन्त्रता (functional and reactional sympathy and alliance) यह भी चाहिए। कारिका में, 'समन्विता' पद में समयन्त्रता का निर्देश समझेंगे। जपादि साधन में अधिकार, यन्त्रादि चर्या,—इन सबके निरूपण में यह धर्मलक्षण विशेष रूप से भावनीय है। किसी स्थल में 'धर्मस्य ग्लानिः' (antipathy) इत्यादि होने पर, तब धर्म का 'अभ्युत्थान' परम कृपा की इस त्रिमूर्ति में ही साधित होना आवश्यक है।

इसे विभागशः अर्थात्, analytically, ग्रहण करने पर कहा जाता है, धर्म, और अविभागशः ग्रहण करने पर होती है – धर्मता। पुनश्च, धर्म को जनिसूत्र, जननसूत्र एवं जातसूत्र (अन्तिम दो आकृति और क्रिया हैं)—इस त्रिसूत्री के रूप में भी देखें। यज्ञोपवीत में यही त्रिसूत्री है। प्रथम सूत्र कहता है—'इस स्थल में सब कुछ का एक सामान्य नियामक भाव (theme and formula) रहेगा।' द्वितीय कहता है—'सब कुछ की एक सामान्य नियत आकृति (common basic plan or pattern) रहेगी। तृतीय कहता है—'सब कुछ की क्रिया में एक सामान्य नियन्त्रितता (common devotion, direction and determination) रहेगी। कोई-कोई गढ़ता है और कोई उसको तोड़ता है ऐसा कुछ नहीं होगा।

तत्पश्चात्, स्वधर्म—

२५. तस्यैव नाभिनिष्ठत्वं स्वधर्मत्वम्।

धर्म यदि 'नाभिनिष्ठ' है तो वह स्वधर्म है।

वा० नाभिकेन्द्रं समाश्रित्य वृत्तौ संव्यूढतास्थिता।
अन्तर्बहिश्च सर्वत्र स्थूले सूक्ष्मे च कारणे॥
तन्नाभिनिष्ठवृत्तित्वं स्वधर्मत्वं हि मन्यते।
गत्या स्थित्या च तन्निष्ठा द्वैविध्यं भजते पुनः॥ १०९–११०॥

अन्वय—नाभिकेन्द्रं समाश्रित्य अन्तः बहिः च स्थूले, सूक्ष्मे, कारणे च सर्वत्र वृत्तौ संव्यूढता स्थिता। तन्नाभिनिष्ठवृत्तित्वं स्वधर्मत्वं हि मन्यते। तन्निष्ठा पुनः गत्या स्थित्या च द्वैविध्यं भजते॥ १०९–११०॥

[नाभिकेन्द्र का आश्रय लेकर भीतर-बाहर, स्थूल-सूक्ष्म और कारण में सर्वत्र, वृत्ति में संव्यूढता स्थित है। उस नाभि में निष्ठितत्व वृत्ति ही स्वधर्मत्व है। वह निष्ठा गति और स्थिति रूप में पुनः द्विविधता को प्राप्त होती है॥ १०९–११०॥]

भाष्य—किसी वृत्ति को संव्यूढ रूप ह ना हो तो उसे किसी नाभि का समाश्रय लेना होता है। वृत्ति को स्थिति भाव में ही (static persistence) ले जाय, या गतिभाव में ही (kinetic performance) ले जाय, एक नाभि (Nucleus,

Centre, Focus, Origin) उसे प्राप्त करनी होगी। बहिर्विश्व में अथवा मानस क्षेत्र में, इसका व्यतिक्रम नहीं देखा जाता। दिखाई न देने की ही बात है। सर्वत्र 'विन्दु' अनुप्रविष्ट है। स्थूल में, सूक्ष्म में, कारण में सर्वत्र सन्धान करें—'नाभि का पता लगाएँ'। बिन्दु ने परम भूमि से कारण में नाभि, सूक्ष्म में केन्द्र, स्थूल में व्यूह वा व्यूढ रूप में 'अवतरण' किया है। मध्य में दो सन्धि-रूप भी हैं—कारण-सूक्ष्म में बीज, सूक्ष्म-स्थूल में केन्द्रीय। सब मिलकर पाँच हैं। मन्त्र में—कारण में कलाशक्ति, सूक्ष्म में बिन्दु-नाद, स्थूल में हकारादि वर्ण हैं। किसी भी पदार्थ की कारण-रूपा जो नाभि है, वह नाभिनिष्ठ जो स्थित्यात्मक और गत्यात्मक वृत्ति है, वह हुआ पदार्थ का स्वधर्म। उस कारण-रूप को यदि कहें 'स्वभाव' तब वह स्वभावनिष्ठ धर्म (स्थिति और गति) स्वधर्म है। यह नाभि वा स्वभाव 'स्त्रो भावः' है—जिसे गीता ने 'अध्यात्म' कहा है। इस स्थल में भाव 'स्त्र' से 'आत्मा' को 'अधिकृत्य' सम्भावित है। It is the core of self-existence and self-activity! स्वतन्त्र-भाव यदि विश्व में कहीं भी है तो बिन्दु का प्रतिभू इस नाभि में ही है। यहाँ spontaneous, स्वभाव-स्वच्छन्द-वृत्तिता सम्भावित है। नाभि से निम्न-भूमि में आकर यह कुण्ठित-गुण्ठित-लुण्ठित हुई है। इस कारण, 'स्वभाव में चलें', वह stoic लोगों का सूत्र है। 'आत्मानं विद्धि' 'सम्बन्ध' को जानें' इत्यादि। जड़ के क्षेत्र में, रेडियो एक्टिव् द्रव्य में इस 'स्वो भावः' की छाया लक्षित होती है। प्राणभूमि और मानस-भूमि में mechanistic व्याख्या निरस्त नहीं हुई है, किन्तु जड़ स्वयं ही उस व्याख्या को 'व्यर्थ' कर देने की फ़िकर में जो है। नाभि-टाभि सभी आगन्तुक कारणों से, एक का स्वभाव बहु के बहु भाव का समष्टि भाव है—यह सब पक्ष सहज ही नहीं हटेंगे। हटना होगा भी नहीं। स्वभाव और परभाव की बाजी (Race) अशेष चलेगी। कारण में ही उसका निदान है।

किन्तु वस्तुतः जो कुछ भी हो (जो कुछ है, उसे यहाँ स्पष्ट करके ही कहा गया है), व्यवहारतः एवं कार्यतः नाभिनिष्ठ गति और स्थिति द्रव्य मात्र में माने बिना उपाय नहीं है। एक रेणु भी कहता है—'यह मैं स्थिर हूँ सो हूँ ही, किसी के चलाए बिना नहीं चलूँगा, और, चलने पर किसी के रोके बिना नहीं रुकूँगा, मोड़ भी नहीं घुमूँगा।' —सब कुछ के बीच, intrinsic, innate, original कह कर एक कुछ कार्यतः माने बिना कहाँ चलता है!

जपादि में प्रत्येक बीज वा नाम का यह नाभिनिष्ठ धर्म वा स्वधर्म है। श्रीगुरु का है, इत्यादि। 'निष्ठ' कहने से नितरां स्थितः है—व्यभिचारी, अनियत, आगन्तुक, अध्यस्त नहीं। स्थिति और गति—दोनों प्रकार से इसे देखा गया है। स्थिति में भी एक प्रकार की गति—स्थिति-स्थापकता (cosmic elasticity) है। इसके फलस्वरूप स्वभाव में किसी 'अभिघात' स्थल में (impact इत्यादि), वह किञ्चित् कुण्ठितादिवत्

होने पर भी स्वभाव में लौट आती है—यथा, बहिरंग संग के होने पर भी अपना शुद्ध भाव रहता है। और, गति के समय निष्ठा दो प्रकार की होती है—आकर्षणी और विकर्षणी। यह विकर्षणी (यथा, रसमें मान, विरह इत्यादि) विरोध में 'कर्षणी' नहीं है, 'विशेष' में कर्षणी है। यह विशेष विरोध में नहीं जाता। यह सब बातें प्राण के प्रसङ्ग में विस्तारित होंगी।

और एक बात। 'स्वधर्म' जिस लक्षण में आया, उसमें उसके सिवाय और सब धर्मों को मत बनाना। भयावह जो परधर्म है, वह 'स्वमैत्र' स्थल में नहीं है, 'स्व वैर' स्थल में ही आता है। अर्थात्, कारण में (यथा, सुषुप्ति में वा भाव में), केवल नाभि-निष्ठ जो स्वधर्म है, वही स्फुट हुआ; स्वप्न में वा जागर में केवल वह नहीं, अन्यान्य धर्म ही अधिक हैं। किन्तु उसी कारण वे 'सभी' भयावह नहीं हैं, उन सब में भयावह पर भी होते हैं; वे मित्र हैं। चातुर्वर्ण्य के स्वधर्मादि का भी विचार करें। जाबाल सत्यकाम गोत्र न जानकर भी गौतम के अन्तेवासी हो सके थे, कर्ण गोत्र गोपन करके भी परशुराम के शापग्रस्त हुए; इत्यादि। इन सब में 'स्वधर्म' कहाँ किस प्रकार स्फुटित हुआ ?

२४. आदित्यो नाभिर्भुवनस्य।

आदित्य भुवन की नाभि हैं।

वा० भुवनस्य समग्रस्य नाभितादित्यकल्पिता।
जगतस्तस्थुषश्चापि सूर्य आत्मेति मन्त्रितम्।
पूषा च नाभिवृत्तित्वं द्विधा विश्वे हि विश्रुतम्॥ १११-११२।

अन्वय—समग्रस्य भुवनस्य नाभिता आदित्यकल्पिता। जगतः तस्थुषः च अपि सूर्यः पूषा च आत्मा इति मन्त्रितम्। विश्वे नाभिवृत्तित्वं द्विधा हि विश्रुतम्॥ १११-११२॥

[समग्र भुवन की नाभिता आदित्य रूप से कल्पित है। जगत् (जंगम) और 'तस्थुष्' (स्थावर) का आत्मा सूर्य और पूषा हैं ऐसा माना गया है। नाभिवृत्तिता विश्व में द्विधा—(सूर्य और पूषा के रूप में) है ऐसा प्रसिद्ध है॥ १११-११२॥]

भाष्य—अब शेष के कुछ सूत्रों में लक्षण का साधन में विनियोग दिखाया जाता है। बिन्दु की जो परम भूमि है, वहाँ 'व्यास' (differentiation) अथवा 'समास' (integration) इन दोनों में से किसी का भी अवकाश नहीं है। किन्तु नाभि में है। नाभि में व्यष्टि और समष्टि भाव है। समष्टि भाव फिर व्यक्ति समूह के सम्बन्ध में 'प्रभवः प्रलयः स्थानम्' है। स्थूल में विराट्, सूक्ष्म में हिरण्यगर्भ, कारण में ईश्वर है। ये तीनों परस्पर व्यावर्तक तीन वृत्तों की भाँति नहीं हैं। कारण वृत्त के बीच सूक्ष्म वृत्त है, सूक्ष्म के

बीच स्थूल है। देश-काल की व्याधि में ही केवल यह नहीं है। प्रत्येक पदार्थ का कारण-भाव जिस भूमि में सबसे अधिक निबिड़ और निष्ठित (compact and composed) रूप को पाया है वह भूमि हुई उसके पक्ष में नाभि। जड़ाणु में जैसे Nucleus। भुवन में इस प्रकार की नाभियाँ तो संख्यातीत हैं। किन्तु निखिल व्यष्टि कारणता का आधार एवं 'कारणत्रयहेतु' एक अव्यय भूमि भी अवश्य है। प्रजापति सृष्टि करते हैं, किन्तु पद्मनाभ के नाभिपद्म पर आसीन होकर।

अब भुवन के सम्बन्ध में यह जो नाभि हैं वे आदित्य रूप में वेदादि में श्रुत हैं। 'आदित्य' शब्द से 'अदिति' वा 'छेदहीन' अखण्ड सामग्री भी समझनी चाहिए। इन 'भुवनस्य नाभिः' आदित्य को 'सूर्य' एवं 'पूषा' इन दो दृष्टियों से देखना होता है। वेद मन्त्र में सूर्य को चराचर का 'आत्मा' कहा गया है, 'आत्मा' से यहाँ मूल नाभि समझें। नाभि की यहाँ दो मुख्य वृत्तियाँ हैं – 'सूते' और 'धत्ते', पोषण और पालन। पहली के सम्बन्ध मे सूर्य है, द्वितीय के सम्बन्ध में पूषा। Creating and Sustaining। कहना न होगा कि आदित्य के इन दोनों रूपों को किसी स्थूल रूप के साथ (Solar Mass इत्यादि) बिलकुल मिला नहीं डालना चाहिए। अणु में, जीव कोष मे, मानस में— सर्वत्र आदित्य भुवनस्य नाभिः हैं। अणु में nuclear, कोष में metabolic, मन में parapsychic (subliminal and superliminal), यह सब नाभिवृत्ति का नमूना (कारोबार) है।

२६. अदितित्वेन तस्यायनमादित्यहृदयम्।

अदिति स्वरूप में, अखण्ड कारण भूमि रूप में (एवं विशेषतः काल सम्बन्ध में) आदित्य का जो 'अयन' है, वह आदित्य हृदय है।

'अदिति स्वरूप' कहने से 'हृत्' का उद्देश किया गया है ; सुतरां स्थूल में अथवा अन्य किसी सम्पर्क में यदि आदित्य को 'अल्प', 'अंश', 'खण्डित', 'परिछिन्न-परिमित' बना कर देखें तो, 'हृत्' नहीं रहा। 'आदित्यहृदयम्' नामक प्रसिद्ध स्तोत्र में एवं जप में यह अदिति-स्वरूप विशेष करके ध्यान में लाया गया है।

नाभौकिस्त्वेन नाभौ तु वृत्तिरर्कस्य खण्डिता।
हृदि स्थितोऽपि सर्वत्रायते इति रविर्विभुः॥ ११३॥

अन्वय –नाभौ अभौकिस्त्वेन अर्कस्य वृत्तिः तु न खण्डिता हृदि स्थितः अपि रविः सर्वत्र अयते इति विभुः॥ ११३॥

[नाभि में 'अभौकिस्' (छोटे घर वाला) रूप से अर्क की वृत्ति खण्डित नहीं है। हृदय में स्थित (आत्मा रूप) होते हुए भी रवि सर्वत्र गतिमान् है, इसलिये विभु है॥ ११३॥

भाष्य—नाभि में वृत्तिमान् होने से यह न समझें कि अर्क की वृत्ति 'अर्भौकस्त्व' धर्म में परिच्छिन्न, खण्डित हुई है। 'अर्भौकः' कहने से देश-काल-निमित्तादि सम्बन्ध में अल्प व्याप्ति है। जैसे, सौर जगत् में सूर्य तो वहाँ हैं, यहाँ नहीं, दिन में हैं, रात्रि में नहीं, अपने ताप-किरणादि में हैं, अग्नि विद्युदादि में नहीं—यह सब अर्भौकः भावना है। अणु के सम्बन्ध में भी नहीं है। कोई एक इलैक्ट्रान स्पन्द भाव में सर्वत्र ही विद्यमान है, इत्यादि। मन के सम्बन्ध में भी अर्भौकः भावना की निवृत्ति के लिए हिरण्यगर्भ भावना है। रवि निखिल के 'हृदि' (मर्मौकः) स्थित होने पर भी, सर्वत्र अबाध-अकुण्ठित गति हैं (अयते), इसलिए वे बिन्दु (सर्वव्यापक) हैं। यह 'हृदि अधिष्ठितम्' अथच विभु भाव भुवन के नाभि-स्वरूप आदित्य में परिस्फुट है। भिन्न-भिन्न पदार्थों की नाभि मूल महानाभि में विधृत एवं समन्वित रहकर परस्पर के सम्पर्क में व्यक्ति वैशिष्ट्य धर्म से अवच्छिन्न हुई है। किन्तु महानाभ जो आदित्य हैं, वे विभु हैं। ॐ ह्रीं घृणिः सूर्य आदित्यः—मन्त्र से उनका जप और भावना करें। 'घृणि' कहने से भुवन का रेतः वा ओजः स्वरूप (भर्गः जिसका श्रेष्ठ रूप है) है। 'सूर्य' एवं 'आदित्य' पहले ही कथित हैं। प्रणव में घृणि, 'ह्र्' वर्ण में सूर्य, एवं ई' आदित्य को विशेष रूप से सूचित करते हैं। विज्ञान में, घृणि=Prime Energy, सूर्य = Nuclear Condensed Mass; आदित्य = Basic Cosmic Radiation। शरीर में, घृणि = Life Energy (मुख्य प्राण); सूर्य = Vital centre for storing and propagating Energy (प्राणकेन्द्र); आदित्य = the universal plenum of Life (प्राण बन्ध)।

२८. तत्रारनेमिसम्बन्धेनाग्नीषोमीयत्वमपि।

उस भुवननाभि आदित्य को आश्रय करते हुए 'अर' एवं 'नेमि' का सम्बन्ध लेकर 'अग्नीषोम' यह भाव आता है :

वा० दिग्वृत्तित्वमरत्वेन नेमिवृत्या च चक्रता।
दिक्षु विस्तारयत्यग्निररस्थो हव्यवाहनः॥
यतो हि पौरुषे यज्ञे विश्वेऽगुर्जना जनिम्।
अन्नं भूत्वा च सोमेन स्थाप्यते निखिलं स्थितौ॥ ११४–११५॥

अन्वय—अरत्वेन दिग्वृत्तित्वं नेमिवृत्या च चक्रता। अग्निः हव्यवाहनः अरस्थः दिक्षु विस्तारयति। यतः हि पौरुषे यज्ञे विश्वे जना जनिम् अगुः। सोमेन च अन्नं भूत्वा निखिलं स्थितौ स्थाप्यते॥ ११४–११५॥

[अरा रूप से दिग्वृत्तिता है, नेमि रूप से चक्रता है। हव्यवाहन अग्नि अर में स्थित रूप से ही सब दिशाओं में विस्तार करते हैं क्योंकि पौरुष यज्ञ में सभी लोग जन्म को

प्राप्त हुए हैं। और सोम के द्वारा अन्न बन कर सब कुछ स्थिति में स्थापित किया जाता है ॥ ११४–११५]

भाष्य––'अर' कहने से दिग् वृत्तित्व—दिक् रूप में अभिव्यक्त होना (directedness vectorization)—सूचित होता है। 'नेमि' कहने से चक्रवृत्तित्व—किसी प्रकार की परिधि वा सीमा (limitedness, boundedness, whence roundedness), भाव से आना। नाभि ने सृष्टि में सर्वत्र ही यह मौलिक आकृति (basic pattern) ग्रहण की है। यह तत्त्व पहले नाना प्रसङ्गों में भावित हुआ है। अब, अग्नि विशेष रूप से 'अर' को पकड़कर (अरस्थ) सब कुछ सत्ताशक्ति को अनेक दिशाओं में (दिक्षु) विस्तारित करते हैं; एवं इस मूल व्यापार के निर्वाहियिता होने से ही अग्नि हव्यवाहन (वह्नि) हैं। अग्नि ही सब कुछ में विस्तार एवं उन्मेष निर्वाहक (Expanding and Unfolding Elan) है। आदि म जो पुरुषयज्ञ (ऋग्वेद में, अथर्ववेद म विश्रुत) है, उस यज्ञ में 'विश्वे जनाः' ने जनि (उद्भव, अभिव्यक्ति) पाई है एवं प्राप्त कर रहा है (अगुः); आदि पुरुष ने वह्नि रूप में ही (छन्दोभिः दिक्षु विस्तारयन्) उस आदि जनियज्ञ का निर्वाह किया है। फिर, स्वयं 'अन्न' रूप होकर (जैसे, ऐतरेय उपनिषद् में) निखिल जात का पोषण करते हैं (पुष्णाति), एवं पोषण करके उनका निज-निज स्थिति में स्थापन करते हैं। यह स्थिति-स्थापन नेमिवृत्तिता है। सब कुछ ही निज-निज 'नेमि' वा परिधि में वर्तमान रह सका है एवं निज-निज 'कक्ष' में आवर्तन कर पा रहा है, इस अन्न संस्था-व्यवस्थापक सोम के कल्याण से। इसीलिए सोम सर्वत्र Balancing, Conserving, 'Rounding' Principle है। अग्नि और सोम दोनों अग्नीषोम रूप में निखिल की नाभि का 'अर-नेमि' आकृति में व्याकरण और विधारण कर रहे हैं। एक जड़ रेणु से विराट् विश्व पर्यन्त सर्वत्र इस युग्मक को पहचान लें, एवं अपने जपादि में भी इनका सन्धान करें। जैसे, अग्निमात्रा और सोममात्रा इत्यादि। गान में राग का जो वादी स्वर वा ध्रुव स्वर है, उसे नाभि समझने पर, संवादी अनुवादी स्वर द्वारा अर-नेमित्व निरूपित होता है; विवादी स्वर उसे कहीं विद्ध न कर दे, इस ओर दृष्टि रहनी चाहिए। तान में अग्नि, लय में सोम है।

२९. अरेणादिशो दिशति।

अरत्व आने पर जो (यथा, नाभि) है स्वयं 'अदिश्' (दिग् वृत्तित्व रहित—undirected) है, उसे 'दिश्' यह रूप प्राप्त होता है, (becomes directed or vector)।

वा० दिक्शून्ये येन दिग्वृत्तिस्तस्यैवारत्वमुच्यते।
अव्याकृतस्य मूलस्य व्याकरणं तदाश्रयम् ॥ ११६ ॥

अन्वय—येन दिक्शून्ये दिग्वृत्तिः तस्य एव अरत्वम् उच्यते। अव्याकृतस्य मूलस्य व्याकरणम् तदाश्रयम् ।। ११६ ।।

[जिसके द्वारा दिक्शून्य में दिग्वृत्ति आती है वही अर कहलाता है, जो अव्याकृत है उसका व्याकरण उसी अर के आश्रित है ।। ११६।।]

भाष्य—जो दिक्शून्य है अथवा उस प्रकार प्रतिभात है, उसमें दिग्वृत्ति—यह इस ओर है, वह उस ओर है, इस प्रकार दिग्वृत्ति अथवा उसका प्रत्यय होने पर कहा जाता है कि उसने इस बार 'अरता' पाई। मन की कोई वृत्ति है, किन्तु किस ओर है, यह नहीं समझ में आ रहा है। अररूपता नहीं हुई है। ज्यों ही पता चला कि पराक् है, प्रत्यक् है, अथवा गुरु, इष्ट, नाद, बिन्दु, लय इत्यादि की ओर अभिमुख है त्यों ही अररूपता आ गई। अर-नेमिता के आने पर चक्रता आती है। किन्तु चक्रमात्र में ही 'चक्कर' नहीं है। विषम और सुषम भेद पहले ही किया गया है। सुषम चक्र सुदर्शन का कृपागोत्र है। परागादि के क्रम से मुख होने पर ही पेषण चक्र इत्यादि होते हैं। अध्यात्म साधन में यह गुरु मुखीनादि भाव परम यत्न से साधना होता है। विज्ञान, गणितादि के क्षेत्र में भी इस'अर' की खबर ठीक-ठीक रखनी चाहिए—पोजिटिव्, निगेटिव, एंगुलर मोमेण्टम्, इत्यादि अनेक आकारों में। संगीतादि शिल्प में, चिकित्सादि व्यवहार में, अर्थनैतिक, राजनैतिक परिस्थिति में, इस 'अर' को ही पकड़ो। सभी दृष्टान्तों को समवेत करके यह निश्चित कहा जा सकता है, जैसे प्राचीनों ने एवं किसी-किसी नवीन ने भी कहा है कि अर को आश्रय करके ही जो अव्याकृत मूल (undifferentiated root or continuum) है, उसका व्याकरण (differentiation, analysis and synthesis) 'ईक्षण' है, उसी हुआ करता है। सृष्टि में यह दिग्दृष्टि वा मुख-मुखीन भाव गम्भीर है। मूल में जो में यह निहित है। 'दिश्' 'अदिश्' इन दो शब्दों को सभी पार्श्वों में संलग्न करके देखें। बाह्य व्यवहार में एवं साधन व्यवहार में जो 'यन्त्र' गृहीत वा परिकल्पित होता है, उसमें किसी नाभि (मन्त्र वा principle) को 'अर-नेमि' आकृति में पाना होता है, एवं उस रूप में पाकर उसे समर्थ और सफल तन्त्र में काम में लगाना होता है।

२९. अकारेणादिगुकारेण दिक् चेति।

अकार द्वारा 'अदिक्' एवं उकार द्वारा 'दिक्' सूचित है यह भी जानें।

वा० अकारेण ह्यदिग्वृत्तिमुकारेणाश्नुते दिशम्।
मकारेण च मेयत्वमित्योङ्कार इदं जगत् ।।११७।।

अन्वय—'अ'कारेण हि अदिग्वृत्तिम्, 'उ'कारेण दिशम् अश्नुते। 'म'कारेण च मेयत्वम् इति इदं जगत् ॐकारः ।। ११७ ।।

[(ॐकार के) 'अ'कार से अदिग्वृत्तिता है, 'उ' कार से (वह) दिशा (दिग्वृत्ति) को प्राप्त होता है। 'म'कार से मेयत्व सूचित होता है। इस प्रकार यह जगत् ॐकाररूप है ॥११७॥]

भाष्य—प्रणव में जो 'अ' है उससे अदिग्वृत्ति, 'उ' द्वारा दिग्वृत्ति, 'म' द्वारा मेयवृत्ति यथाक्रम से लक्षित करके मिलाएँ। सब स्वरों का आदि एवं सब व्यंजनों का आश्रय 'अ' नाभि है, यह मूल से ही 'उच्चारित' है। वैखरी रूप में कण्ठमूल होने पर भी नाभि है, और, नाभि में उच्चारित होने पर, मातृकाद्यापीठ मूलाधार है। 'उ' ओष्ठ्य वर्ण है। यह अर विस्तार वा संकोच (कूर्मवत्) करता है। 'म' अन्तिम स्पर्श वर्ण (ओष्ठ्य) है। यह 'नेमि' रूप में सीमा वा परिधि दिखा देता है। किन्तु 'म' जो नेमित्व और मेयत्व है, वह कूर्मवत् सङ्कुचत्-प्रसरत् है। इसीलिए, अर्धमात्रा रूप सेतु उभय में (नाभिमुख में बिन्दु एवं नेमिमुख में नाद) काष्ठा पर्यन्त ग्रहण करा सकता है। किन्तु पहले 'उ' द्वारा अर की इस कौर्मवृत्ति का सम्यक् साधित होना आवश्यक है। इस कारण, नादानुसन्धान में 'उ' को ही प्रथम 'ज्या' बनाया गया है, प्रणव-साधना में।

सुतरां, मूल निखिल भुवनाकृति भी ॐकार में निहित है। 'ॐकार एवेदं सर्वम्'।

३०. मकारेण मेयत्वमिति सर्वमोङ्कार एवेति।

मकार मेयत्व वा पूर्वोक्त नेमित्व को लक्षित करता है। सब ही ॐकार है।

पूर्वसूत्र में ही यह मेयत्व वा नेमित्व कहा गया है। तारचक्र के समाचरण में 'उदय' में 'उ' वर्ण को बीच में रखकर विस्तार से 'म' को व्यक्त करना होता है। 'अस्ते' वा विलये, इस 'उ' द्वारा विलोम में 'म' को फिर आद्य स्वर में वा मातृकापीठ में 'समेट कर' लीन करना होता है। यहाँ 'बिन्दुलीन' भाव वा भाव का तटस्थ है। यहाँ मेरु है। मेरु का लङ्घन नहीं करना चाहिए। प्रणव का सर्वात्मभाव नाना रूपों में इस ग्रन्थ में दिखाया जा रहा है। बाहर में यह बीज, रेणु कहीं भी छूटा नहीं है। इस स्थल में नाभि-अरनेमि आकृति ॐकार में ही निष्ठित है, यह बात कही गयी है। प्रणव ही सब है, इसीलिए, प्रणव के समाश्रय में सर्वसमाश्रित हैं। अवाङ्मनसगोचर जो परमतत्त्व हैं, वे ही कृपाक्षर रूप में अपने वाचक प्रणव एवं नाम बने हुए हैं, जिससे नामाश्रय से ही तदाश्रय सम्भावित हो सकता है। अब नीचे की कारिका—

वा० किं वाग् ब्रह्मेति का वा विषयिविषयता वाचकं किञ्च वाच्यं
सर्वं तुर्येऽपि धाम्नि त्वनवसरपदं केन सम्पद्यमानम्।

नादो बिन्दुः कलेति त्रितयमपि कुतो बाधितं साधितं वा
गम्भीरेऽस्मिन्नपारे ध्रुवमतितरितुं ध्रौव्यदिग्दर्शनं किम् ॥११८॥

अन्वय—वाग् ब्रह्म इति किम् ? का वा विषयिविषयता ? (किं) वाच्यम् ? किम् च वाचकम् ? तुर्ये धाम्नि तु सर्वम् अपि अनवसरपदं केन सम्पद्यमानम् । नादः बिन्दुः कला इति त्रितयम् अपि कुतः बाधितं साधितं वा ? अस्मिन् गम्भीरे अपारे अतितरितुंध्रुवं ध्रौव्यदिग्दर्शनं किम् ? ॥११८॥

['वाग्ब्रह्म' से क्या तात्पर्य है ? और विषयिविषयता क्या है ? वाचक और वाच्य क्या है ? चतुर्थधाम में सब-कुछ को कौन 'अनवसरपद' (जिसे पैर रखने की भी योग्यता, अवकाश नहीं) बना दे रहा है ? नाद, बिन्दु और कला—ये तीनों कहाँ से साधित या बाधित होते हैं? इस गम्भीर अपार समुद्र के पार तैर जाने के लिए ध्रुव दिखाने का निश्चित दिग्दर्शन क्या है ? ॥११८॥]

भाष्य—श्रुति ने 'वाग् वै ब्रह्म' कह कर नामनामी का अभेद सुनाया है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु मनन-विचार में पतित होकर बुद्धि कहती है—जहाँ विषयि-विषयता सम्बन्ध ही नहीं है, वहाँ फिर वाचक ही क्या और वाच्य ही क्या ? तुरीय जो धाम है, वहाँ तो पादमात्रादि सब कुछ ही 'अनवसरपद' (अर्थात्, उस धाम के प्रान्त में भी पैर बढ़ा नहीं सकते), तब फिर उस परम में उपनीत करने का जो 'पद' ('तद्विष्णोः' परमपद प्राप्त करने का जो पद) है, उस पद-रूप में सम्पद्यमान कैसे हुआ ? अर्थात् किसी पद के द्वारा ही जिसकी पद्यमानता नहीं है, उसने, प्रणवादि में परम प्राप्ति की सम्पद्यमानता कैसे दी एवं क्यों दी ? केवल फिर पद्यमानता नहीं, सम्पद्यमानता है। इसे आश्रय करें, परम में सम्पन्न होंगे ही। जो तुरीयधाम का प्रसंग चल रहा है, वह तो नादबिन्दु-कलातीत है, नहीं क्या ? यदि वही है तो फिर उसमें नादबिन्दुकला (अर्थात्, प्रणवादि की केवल व्यक्त मात्रा ही नहीं, साधारणतः अव्यक्त अर्धमात्रा भी) 'बाधित' होकर भी 'साधित' क्यों, कैसे ? अर्धमात्रा प्रणव की त्रिमात्रा और अमात्र के बीच सेतु होती है। कैसे ? इसलिए बुद्धि का मनन-विचार एक अतिगम्भीर एवं अपार में ले जाकर छोड़ देता है। यह जो गम्भीर-अपार 'कुतस्ता' 'कथन्ता' का अगाध अम्भोराशि है, उसे ध्रुव रुप से 'उत्तरित' होने में ध्रौव्य का दिग्दर्शन (तुम्हारी निज कृपा के बिना) और क्या है ? तुम्हारी निज कृपा ही इस गम्भीर-अपार के बीच ध्रुवतारा की भाँति दिग्दर्शनी होकर विभ्रान्त जीव को कह रही है—'जेइ निष्ठा सेइ कृष्ण, निष्ठा करि भजो'। जिस स्थल में और सब कुछ ही 'गम्भीराम्भः' है, किसी तरह भी अपना तल, कूल नहीं दिखाएगा, उस स्थल में यह परम कृपा ही (प्रणवादि रूप में) साक्षात् प्रत्यक्ष ध्रुव अवलम्बन है। इसके आश्रय से ही 'आत्मप्रत्ययैकसारं' परम तूष्णीम् पर्यन्त भी जाया जायगा।

उपसंहार में जपोल्लास-विलासवल्ली के जिस 'नाम्ना नाम्नि'[1] श्लोक ने परम पद में सम्पद्यमान होने के निश्चित उपाय के रूप में 'नाम' का ही निर्देश किया है वह श्लोक पुनश्च अनुधावनीय है ।

इति जपसूत्रे प्रथमाध्याये वृत्तितानिरूपणं नाम तृतीयः पादः

१. नाम्नानाम्नि स्तिमितमलसं भावमार्दौ जहीहि
नाम्नानाम्नि स्वरस-सुषमोल्लासकुण्ठा जहीहि ।
नाम्नानाम्नि प्रियपरिचये चारुचित्रे विलासे
नाम्नानाम्नीममपि जहिहि प्रोज्ज्वले सामरस्ये ॥ जपोल्लास०, १२ ॥

॥ जपसूत्रम् ॥

प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः (आनन्दाधार-निरूपणम्)

१. तत्त्वस्य प्रकृतिप्रत्ययत्वापत्तिस्तत्कल्पनम् ।

जिस मूल व्यापार में तत्त्व प्रकृति-प्रत्यय रूप में रूपित होता है, उसे कहते हैं 'तत्कल्पनम्' ।

मूल मे यह जो कल्पन है, वह 'तत्' वा तत्त्व का ही स्वकल्पन है, अन्य किसी के द्वारा कल्पन नहीं है ।

सोऽकल्पयत वशीदमकामयत चैक्षत ।
बहुस्यामिति तत्त्वस्यानिरुक्ता स्पन्दमानता ॥
तपसा चेति लिङ्गेन क्वचिद् ज्ञेया क्वचिन्न वा ।
ऋत-सत्ये इति द्वन्द्वः प्रत्ययप्रकृतीत्यपि ॥
सर्वं तत्कल्पनं गूढमात्मदृष्ट्या हि बुध्यताम् ॥१-२॥

अन्वय—सः वशी इदम् अकामयत ऐक्षत अकल्पयत च । 'बहु स्याम' इति तत्त्वस्य स्पन्दमानता अनिरुक्ता । (सा) 'तपसा च' इति लिङ्गेन क्वचित् ज्ञेया, क्वचित् न वा । ऋत-सत्ये इति प्रत्ययप्रकृती इति अपि द्वन्द्वः । सर्वं तत् गूढं कल्पनम् आत्मदृष्ट्या हि बुध्यताम् ॥१-२॥

[उस वशी (ईश्वर) ने यह कामना की, ईक्षण किया और कल्पना की कि 'मैं बहुत हो जाऊँ' । तत्त्व का इस प्रकार स्पन्दमान होना अनिरुक्त है (जिसका निर्वचन नहीं हो सकता) । 'तपसा च' इस चिह्न के द्वारा (वह स्पन्दमानता) कहीं ज्ञेय है और कहीं नहीं भी है । 'ऋत व सत्य' 'प्रत्यय और प्रकृति' यह द्वन्द्व है । इस सारे गूढ कल्पन को आत्मदृष्टि से समझा जाय ॥१-२॥]

भाष्य—वे 'वशी', अर्थात्, कल्पनादि सर्वव्यापार स्वतन्त्र होकर भी (not as one merged and involved in the process, but as one eternally transcendent and emergent), 'इदं' ने—इस अखिल को—'कल्पित' किया है, उन्होंने कामना वा 'इच्छा' की, उन्होंने 'ईक्षण' किया, इत्यादि । परम तत्त्व ने अपने को 'प्रकाश' एवं 'विमर्श' शक्तिरूप में 'कलन' किया, इत्यादि । सूत्र में इस कलनादि मूल व्यापार को 'तत्कल्पनम्' कहा है । मूल में निःसृत यह जो प्रापञ्चिक प्रवाह है, उसे 'आत्म' दृष्टि से एवं अनात्म वा इतर दृष्टि से देखा जाता है ।

अनात्म दृष्टि बाह्य, 'प्राकृत', 'जड़' दृष्टि है। इसकी परिणति प्रकृतिवाद, अज्ञातवाद, अथवा जड़वाद (Naturalism, Agnosticism, Objective Materialism) में है। इस दृष्टि से तत्त्व का कुण्ठितादि भाव प्राप्त होता है। आत्मदृष्टि को केवल Subjective समझने से भी नहीं चलेगा। काण्ट का 'critical outlook' भी ठीक ग्रहण नहीं कराता। जपसूत्रम् में तत्त्व के लक्षण में एवं अन्यत्र जिस दृष्टि का अनुसरण हो रहा है, वह अपरोक्ष भानदृष्टि है। साक्षात् अनुभव को समग्र, अखण्ड एवं निर्व्यूढ भाव से (as 'Fact') ग्रहण करें। इस 'आत्मदृष्टि' में (upon the background of experience as Fact, not as Fact Section, etc.) पूर्वोक्त कल्पनादि को समझते जाओ (बुध्यताम्)।

ऐसा न समझें कि इसमें केवल अध्यात्म-विश्लेषण (Subjective Analysis) ही होगा, अधिभूतादि (Objective Reality प्रभृति) छूट जायेंगे।—हमारी आलोचना में वह छूट नहीं रहा है—an appreciation of the cosmic order as a whole, गणितादि को क्रोड़ीकृत करके ही बहिर्विज्ञान जप के आधार की प्रस्तुति में लग रहा है। एकदेशी दृष्टि वाले एवंविध 'सार्वभौमिकता' में किञ्चित् आकुलता का बोध भले ही करें, किन्तु जपपदार्थ को जपमाला के एक-एक रुद्राक्षादि की भाँति अलग 'इतना-सा' करके देखने पर क्योंकर चलेगा?

अब आत्म वा तत्त्व दृष्टि में चार मूल 'अवभासक' (Exponents) हैं। इनकी बात पहले आलोचित हुई है, यहाँ उल्लेखमात्र है। प्रथम अस्तिता, द्वितीय भातिता, तृतीय प्रियता, चतुर्थ, इन तीनों की स्वतःस्फूर्तता एवं विविध नाम-रूप-भावादि में स्वतः मूर्तता है। इन चारों मूल अवभासों (प्रकृति एवं प्रत्यय उभय आकारों में) को अपने अनुभव में ही प्राप्त कर लो। अपने भीतर का तत्त्व मानों कह रहा है—'हूँ एवं होऊँगा', 'देख रहा हूँ एवं देखूंगा', 'रस और रसभुक् हूँ एवं होऊँगा', 'इन दोनों के अन्तहीन स्फूर्त एवं मूर्तभाव में भी हूँ एवं रहूँगा।' ऐसे ही चार प्रकार से, निज वस्तु का आत्मसंवेदन हो रहा है। ये चारों, मूल में जाकर, यथाक्रम, 'अकल्पयत', 'ऐक्षत', 'अकामयत', 'अतप्यत'। इसमें से, रस अथवा काम ('न वै रेमे') ला देता है विश्व के मूल में स्पन्द वा 'झूला'। तपः ला देता है, मूल आवेग (elan vital), उच्छ्वास-उच्छूनता ('तपसा चीयते ब्रह्म')। और, तपसा की मध्यस्थता में अस्तिता से सृष्टि के आदि में एवं आधार पर 'ऋतञ्च सत्यञ्च' है। भातिता से विश्व में प्रत्येक केन्द्र में आत्मदृष्टि, कहीं 'मूढ़', कहीं 'रूढ़' (explicit, emergent') होती है। व्यष्टि में विश्व, तैजस, प्राज्ञ है; समष्टि में विराट् हिरण्यगर्भ, ईश्वर है। 'तपसा' को माध्यम रूप में रखकर सब कुछ का विकाश-सङ्कोच (Evolution-Involution) परिकल्पित होता है, इसीलिए इस अपरूप वैचित्र्य में

लीलायन है। संगीत में नाद, नादाभ्यन्तर ज्योतिः, एवं तदभ्यन्तर रस जैसे। यहाँ 'ज्योतिः' कहने से रागादि का शुद्ध अवभास होता है। कलाविद् की 'तपसा' के माध्यम से इन तीनों का अपूर्व निवेदन-संवेदन सम्भावित होता है। बहिर्विज्ञान के विश्लेषण में, अस्ति देता है तलवृत्ति, भाति लम्बवृत्ति, रस बेधवृत्ति, तपःकालिक वृत्ति वा छन्दः (x, y, z, t)। अस्ति से पाद, रस से मात्रा, तपः से कला, भाति से काष्ठा। इस प्रकार नाना रूपों में ही इन चार 'मौलिकों' (fundamentals) को समझ लें।

कारिका में, तत्त्व की 'बहु स्यां' इत्यादि भाव से स्पन्दरूपता को 'अनिरुक्ता' कहा गया है, इस पर ध्यान दें। पुनश्च, 'तत्कल्पनं' को 'गूढं' भी कहा है, जैसे श्रुति आगमादि ने बारंबार कहा है। इन दोनों शब्दों पर ध्यान दें। प्रथम (अनिरुक्ता) के द्वारा यह कहा गया है कि बुद्धि की मननादि जो विमर्शवृत्ति है, उसके द्वारा वह स्पन्दरूपता व्याप्य होने की नहीं है। और बाद के (गूढं) द्वारा कहा गया, कि, बुद्धि की जो आत्मदृष्टि (Intuition प्रभृति) है, उसे समाधि की गम्भीरता में लाए बिना, अर्थात्, सब कुछ के 'हृत्' एवं 'आत्मा' तक, गति हुए बिना, उस गूढ गुहाहित, गह्वरेष्ठ भाव के 'भाव' में अनुप्रवेश नहीं होता।

और, एक बात। 'ऋतं' एवं 'सत्यं' इस चकारयुक्त द्वन्द्वभाव को 'प्रत्यय' एवं 'प्रकृति' के आकार में भी समझें। अर्थात्, सत्यम्=प्रकृति है, और, ऋतम्=इस प्रकृति को उद्देश करते हुए जो शुद्ध प्रत्यय है। जैसे, प्रणव जप में, प्रणव की जो प्रकृति है, वह सम्बन्ध में शुद्ध प्रत्यय वा 'ऋतम्' होती है, यदि उदय-विलय-सन्धि (मेरु) इन तीनों में अवहित होकर जप किया जाय, तभी। अन्यान्य जपों में भी यह उदाहृत है।

इस सूत्र में एवं कारिका में सृष्टि के 'मौलिकों' को संक्षेपतः दिखाया गया है। अब, मौलिक का भी जो मूल है—

२. तस्यानन्दस्यैव वृत्तत्वम्।

वह तत्कल्पनादि मूलतः आनन्द वा रस का वृत्ताभाव, वृत्तिमान होना है।

वा० आनन्दाद्ध्येव खल्वेवं मिथुनकल्पनादितः।
उल्लसितत्वमस्यैव स्वो भावोऽध्यात्ममीरितः।'
सर्वनिदानतायां यदनिदानं यथात्मनि ॥३॥

अन्वय—आदितः 'आनन्दाद् हि एव खलु' एवं मिथुनकल्पना। अस्य एव उल्लसितत्वम् स्वः भावः अध्यात्मम् ईरितः। यत् सर्वनिदानतायाम् अनिदानम्, यथा आत्मनि ॥३॥

[आदि से ही 'आनन्द से ही (यह सब उत्पन्न होता है)' ऐसी मिथुन कल्पना है। उल्लसित होना उसका अपना भाव है जो 'अध्यात्म' कहा गया है, जो सर्वनिदानता में अनिदान है, जैसे आत्मा में ॥३॥]

भाष्य—आनन्द एवं रस—परम सान्द्रता की समाधि से 'जिजागरिषु', जागृति रूप में स्वयं को अन्तहीन वैचित्र्य में विकसित करने के लिए एक निगूढ 'काम' को, अपने परम अस्ति एवं भाति के आधार पर भी, रखते हैं। विश्व का बिलकुल वर्जन करके (acosmic state), इसीलिए मानो 'न स वै रेमे'। आनन्द और लीला, रस एवं रास इन दोनों के अविनाभावयुगल में न रहने पर वह मूल 'आकांक्षा' (Basic Yearning) होती है। सृष्टि में एवं मूल में दृष्टि देने पर देखे बिना उपाय नहीं है। इस मूल आकांक्षा से मिथुनादि क्रम में लीला-विस्तार और रसवितान होता है। आनन्द के इस स्वतःस्फूर्त भाव को यदि 'उल्लसित' कहें, तब वह आनन्द का ही 'स्वो भावः'= अध्यात्म-भूमिका है। अपनी आत्मा को लेकर ही यह होता है, अन्यापेक्षा नहीं। श्रुति ने कहीं 'सोऽबिभेत्'—वे मानों 'अकेले'—डर रहे थे, यह भी कहा है। अथच, 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। इस भय को भी सृष्टि में, लीला में भलीभाँति पहचान लें। पहचान लेने पर अभय है। गोपाल को वक्ष से कक्ष में लेने में ही यशोमती को कितना भय था और—गोठ में, दूर वन में भेजने में! प्रलय में, जो 'आसीदिदं तमोभूतं' वह सृष्टि में सरक गया, छिप गया, किन्तु गया नहीं। आलोक के साथ उसकी अनन्त आँखमिचौनी है। न जाने कितने ही अपरूप रूप उसने भी धरे हैं—लज्जा, शरम, भय, भरम। इन्हें छोड़ कर तो रस अपने रसायन में जाने को राजी नहीं है! भय की बात भी मूल की बात है। समग्र सृष्टि का निदान आनन्द का अथवा रस का यह—'चाहता हूँ' और 'किन्तु कहाँ'—इन दो मूल भावों में खोज कर पाना होता है। अथच, स्वयं यह अनिदान है (वही जो 'मुञ्च मयि मानमनिदानम्' ।) परम में और परमा में 'मान'! अथच, इस अनिदान मान से ही, मान के सागर से ही निखिल—वह एक अज्ञातनामा तृण-कुसुम ही हो, जिसके पास से अबूझ गरज़ी अलि बार-बार आता है, बार-बार लौट जाता है—उसके अपने मान की गगरी दि वा-विभावरी सबेरे-साँझ भर लेता है!

अपनी रसानुभूति से इसे मिला कर देखो—'यथात्मनि'। 'आनन्दाद्ध्येव' इत्यादि श्रुति एवं आगमादि के भी मूल मन्त्र की यहाँ भावना करें। क्लीं बीज काम बीज है।

ऊपर भाषा कमनीय-कोमल प्रतीत हुई, किन्तु अब फिर वही अवच्छिन्नादि भाषा है—

३. निरतिशयसाक्षाद्घनत्वाश्रयत्वेऽनवच्छिन्नहृत्त्वं सर्वस्यानन्दः ।

आनन्द को लक्षण में कौन लाएगा, तथापि वर्तमान सूत्र में सब वस्तुओं के 'हृत्' (inmost 'core', जो पहले सूत्रित है) के रूप में आनन्द को कहा जा रहा है ।

वा० साक्षादिति च संवित्त्वं घनत्वेन ह्यमेयता ।
आदिलिङ्गे न काष्ठा च तारतम्यक्रमस्य वै ।
स्थेष्ठ-नेदिष्ठ भूमौको-निष्ठत्वमपि गृह्यते ॥४॥

अन्वय—स्पष्ट है ।

['साक्षात्' इस पद से संवित्-त्व, 'घनत्व' से अमेयता, 'आदिलिङ्ग' सूत्र के 'निरतिशय' से तारतम्य-क्रम की काष्ठा समझी जाती है । स्थेष्ठ (सबसे बड़ा), नेदिष्ठ (सबसे छोटा) और भूमा रूप ओकः (आश्रयस्थल) में निष्ठता भी समझी जाती है ॥४॥]

भाष्य सूत्र में जो 'साक्षात्' है, उससे संवित् वा संवित्ति लक्षित समझें । अपरोक्ष संवेदन रूप आनन्द, पारोक्ष्य में यह कभी नहीं जाता । स्मृति-स्थल में तो नहीं, दुःखादि के स्थल में भी नहीं । जहाँ 'जाड्य' समझते हैं (यथा, इस प्रस्तरादि में) वहाँ भी नहीं । पदार्थ मात्र का जो हृत् है, वह आनन्द ही है । सूत्र में जो 'घनत्व' है, उसके द्वारा यह समझना होगा कि, 'एष आकाश आनन्दः'—इस प्रकार आनन्द केवल नाद वा विस्तार रूप में ही है, ऐसा नहीं । परन्तु मान लें. वेधनिरूपक वा लिङ्ग (depth dimension) को अङ्गीकार करते हुए आनन्द ने बिन्दु रूप से अगाध घनीभाव का भी वरण किया हैं । यह रसघन, आनन्दघन रूप है । इस भाव का भी तल नहीं, अन्त नहीं । आनन्द ही इस घन रूप में 'हृदि सन्निविष्टः' है । रस चक्र की नाभि, मर्मौकः है । सुतरां, 'घनत्व' शब्द में अमेयत्व ही रहा । 'निरतिशय' इस आदि लिङ्ग में क्या समझेंगे ? सर्वत्र इस बोध की तरतमता का जो क्रम है उस क्रम की काष्ठा वा परिसमाप्ति भी इस 'हृत्त्व' में है । किन्तु 'हृत्' वस्तु को पहले व्यष्टिभाव से भी देखा गया है,—तुम्हारा, हमारा इस रेणु का । किन्तु, यहाँ 'भूमैव रसः'—भूमा के आधार पर देखें । एक रेणु का स्थेष्ठ-नेदिष्ठ-मर्मौकः जो 'हृत्' है, वह केवल व्यष्टिभाव से ही रस वा आनन्द नहीं है, वह —भूमा ही है । सूत्र में, 'अनवच्छिन्न' शब्द है, देखें । सब कुछ का 'हृत्' वस्तु होकर भी रस वा आनन्द सर्व निरूप्य-निरूपण-निरूपक का अतीत (व्यतीत्य वृत्तित्वम्) है । यह भाव भी अपनी रसानुभूति में समझ लें । तुम्हारे अन्तर की मधुमत्तम 'कणिका' कभी नहीं कहेगी—'मैं उस सागर को छोड़कर हूँ' कारिका के अनुवाद में ही सूत्र का भावानु-

वाद हुआ। आनन्द परमाकाश, रसभूमा, सुतरां पाद, मात्रा, कला, काष्ठा इन चारों के अतीत है। तथापि, 'सर्वस्य हृत्त्वं' रूप में आनन्द निखिल में अनुप्रविष्ट है। प्रणवादि बीज में एवं नाम में बिन्दु को नाभि बना कर नाद में एवं कला में आनन्द एवं रस के घनीभाव में प्रकाश एवं संवित्ति हुआ करती है। इसलिए, निष्ठा और भाव इन दोनों का साथ ग्रहण करके 'धुन' (ध्वनि) में जाओ। नादाभ्यन्तर ज्योतिः, ज्योतिरभ्यन्तर रस—ज्योति रस का प्रतिस्पन्द भी साक्षात् मिलेगा। निष्ठापूर्वक व्याहरण वा नाम ग्रहण करते-करते ही इस 'बेसुरे' यन्त्र में सुर मिल जायगा (tuning हो जायेगा)। और यन्त्र (वाक्, प्राण, मन) सुर में मिल जाने पर उनमें भाव का पुलक और भास का आलोक फूटना बाक़ी नहीं रहता। जितनी अपेक्षा है वह इस सुर में मिलने की ही है। उसमें वेदना भी आती है, 'धीरज' भी चाहिए। गुरु का भरोसा ही एकान्त भरोसा है। सुर जो मिलाऊँगा—वह किसे मिला कर, और कौन उसे मिलाएगा ?

केवल हृत्त्वं नहीं, आनन्द ही सर्व का स्वरूप है।

४. तस्यैव सर्वस्य स्वरूपत्वम्।

सर्व का स्वरूप भी वही आनन्द है।

वा० स्वरूपत्वेन बोद्धव्या परमत्वेन वृत्तिता।
किंरूपत्वक्रमावाप्तकाष्ठानन्दे समर्पिता ॥५॥

अन्वय—परमत्वेन वृत्तिता स्वरूपत्वेन बोद्धव्या। किंरूपत्वक्रमावाप्तकाष्ठा आनन्दे समर्पिता ॥५॥

[परमरूप से वृत्तिता (वर्तमानता) स्वरूप-रूप से समझनी चाहिए। 'किंरूपत्व' के क्रम से प्राप्त काष्ठा अन्ततः आनन्द में परिवर्तित होती है ॥५॥]

भाष्य—'स्वरूप' कहने से पूर्वालोचित उस अपरा-परा का अतिक्रम करके परमा तक गति सूचित होती है। अपरा में आनन्द गुण्ठितादि आकार में लुप्तवत् है। किन्तु, है ही, सब कुछ के 'हृत्' रूप में। आनन्द की मात्रा से ही सब कुछ 'जायन्ते, जीवन्ति' इत्यादि। परा प्रकृति में लुण्ठित (carried off) भाव नहीं रहता, किन्तु गुण्ठित और कुण्ठित इन दो भावों का अवशेष रहता है। यह तो हमारी अन्तरतम वस्तु ही (हृत्) मधु, रस, आनन्द—यह सब कुछ आगमापाय के बीच ठीक ही है ('सनातनी') और हमारा जो 'जगत्' (universe) है, वह इस मूल नाभि में विधृत होकर ही च ल रहा है (revolves) 'हृदेदं धार्यते जगत्'। 'इदं' पर ध्यान दें।—यह संवित्ति रहने पर भी, परमता की ओर एक स्वतः आकांक्षा, 'परम में काम' भी उसमें अवश्य ही

रहता है। योगी, ज्ञानी, रसिक, भक्त इसी कारण उस आकांक्षा को मिटाने के लिए निज-निज मार्ग में चलते हैं। 'तत्त्वमसि' साधारण भाव से पन्था का अनुसरण है।

सब पदार्थों से ही जैसे, (जैसे, एक धूलिरेणु) यदि जिज्ञासा करें—अच्छा, तुम्हारा 'रूप', भाव क्या है, मुझे कहोगे ?—तब वह तो बिलकुल, एकबार भी एकान्त भाव से कोई भी उत्तर नहीं देता। विज्ञान को भी उसने नहीं दिया है। उसकी किंरूपता का (what ? how ? why ? इत्यादि का) एक क्रम दिखाकर वह कहता है — आगे चलो, और भी चलो। 'एहो बाह्य, आगे कहो आर', 'यह बाह्य है' 'यह है' होता है, जब अपरा के प्रान्त में आते हैं। परा की भूमि में 'यह उत्तम है', किन्तु फिर भी गये 'आगे'। योगी, विज्ञानी, ज्ञानी सभी ही यह क्रमान्वय अपने-अपने मार्ग में समझते चलते हैं। अब भी जो क्रमान्वय है, इसकी जो काष्ठा है, वह आनन्द में (निरतिशय भूमा, निखिल हृत् का हृत्) समर्पित है। सुतरां, निखिल सन्धान का अवसान यही हैं। किंरूपता की पराकाष्ठा जहाँ है, वही स्वरूप है।

अब पादमात्रादि—

५. एतस्यैव पादा अध्यात्मादीनि।

अध्यात्म, अधिदेवादि इस आनन्द का वा स्वरूप का पाद है।

वा० अध्यात्ममधिदेवञ्चाधिभूतञ्चाधिकारतः।
अध्यक्षराधियज्ञे चानन्दपादा इमे मताः।
पादेनात्र विजानीत सम्पद्यमानवृत्तिता ॥६॥

अन्वय—अध्यात्मम् अधिदेवम् च अधिभूतं च अध्यक्षराधियज्ञे च इमे अधिकारतः आनन्दपादा मताः। अत्र पादेन सम्पद्यमानवृत्तिता विजानीत ॥६॥

[अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत, अधि + अक्षर, अधियज्ञ—ये 'अधिकार' से आनन्द-पाद माने गये हैं। 'पाद' से यहाँ सम्पद्यमानवृत्तिता जानें ॥६॥]

भाष्य—कितने पद वा भूमि में, अधिकार में वा अवस्था में अपने को अभिव्यक्त करूँगा, स्फुट करूँगा—इस भाव की अपेक्षा आती है, जब भूमा पदार्थ सविशेष अभिव्यक्ति में 'अवतरण' करते हैं। तब 'अपाद-आनन्द' (पर सूत्र में कथित) होता है सपाद। यहाँ 'पाद' कहने से किसी लिङ्ग, संज्ञा, आकृति इत्यादि पर अधिकार करते हुए स्वयं को व्याप्यव्यापक भाव से, आयतनवान् रूप में सम्पादित करना है। पाद का प्रसंग व्याहृति सूत्र में हुआ है। 'आयतन' (Magnitude, Extension) इस शब्द को व्यापक भाव से (अर्थात्, physical मात्र नहीं) लेकर (जैसे, पहले आयतनवत्त्व सूत्र में हुआ है), कहा जाता है कि तदधिकरण में जो सम्पद्यमानता है, वह पाद है। यहाँ, अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत, अधियज्ञ एवं अध्यक्षर—इन पाँच अधिकारों का

प्रसंग हुआ। इनमें से अन्तिम को छोड़कर चार गीता में कथित एवं निरूपित हैं। जपसूत्र में ये सब विशेष भाव से लक्षित हुए हैं। आनन्द के ये पञ्चपाद प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित हुए हैं।

'अध्यक्षर', एक प्रकार से प्रणवादि अक्षरों का वाचक है, फिर, अक्षररूप अधिकरण में उनका वाचक है। प्रणवादि के अध्यात्मादि चतुर्विध पादत्व हैं। जैसे, स्थूल वैखरी भाव से अकारादि अधिभूत (जड़ नहीं) हैं, मध्यमा में नादादि रूप में नित्य स्फोट के सन्धान में अधिदैव हैं, बिन्दुमुखी वा हृन्मुखी होने पर, अध्यात्म होता है; और, बिन्दु में जो अधिष्ठित हैं, 'हृदि' जो सन्निविष्ट हैं, उनमें समर्पित होने पर अधियज्ञ होता है।

विश्व में भी स्वरूप-आनन्द ने अपने को इन चार पादों में सम्पादित करके दिखाया है। एक बीज वा धूल को लेकर परीक्षा करें।

पाद के बाद मात्रा है।

६. एतस्यैव मात्रा भुवनानि विश्वा।

विश्वभुवन में (केवल जो पादरूपता है, ऐसा नहीं, यह आनन्द ही मात्रा रूप में है।

वा० अमेयो मेयतावृत्तिमङ्गीकुर्वंस्तनोति वै।
विश्वभुवनरूपेण तन्मात्रा विश्वजीवनम् ॥७॥

अन्वय—अमेयः मेयतावृत्तिम् अङ्गीकुर्वन् विश्वभुवनरूपेण तन्मात्रा विश्वजीवनं तनोति वै ॥७॥

[अमेय (तत्त्व) मेयतावृत्ति को अङ्गीकार करके विश्वभुवन रूप से तन्मात्र के द्वारा ('मातृ' शब्द का तृतीया एकवचन—तन्मात्रा) विश्वजीवन का विस्तार करता है ॥७॥]

भाष्य—पाद-मात्रादि चार को लेकर संख्येयत्व—Measurability होता है। संख्यान के योग्य संख्येय है। संख्यान, इस आकृति (category) में जो आता है। 'मेय' वा 'मेयता' और भी व्यापक वृत्ति है; अर्थात्, जो मेय है वह संख्येय नहीं भी हो सकता है। व्यवहारतः दोनों की व्याप्ति मिल भी जाती है। अब, मेयता और संख्येयता के बीच सन्धि वा योजकरूपा मात्रा होती है। जैसे, कर्ता (कारण) और कर्म के बीच करण है। कारण करण-व्यापार को बीच में रखकर कार्य करता है। सीधे-सीधे समझ लें, पारिभाषिक विचार का प्रयोजन नहीं। कर्ता को यदि कहें 'माता'; तब ध्यान दें कि, इसके तृतीया एक वचन में 'मात्रा' होता है। पाद के समय

अधिकरणता, मात्रा में करणता की मुख्यता होती है, दूसरे भी साथ में होते हैं। सम्प्रदान-अपादान इन दोनों की मुख्यता कला में होती है। कर्ता-कर्म, विशेषतः इन दोनों के द्वारा काष्ठा (कहाँ से कहाँ तक अथवा क्या) निरूपित है।

अब देखें, मेयता का अतीत (भूमा) जो आनन्द है, वह मेयता वृत्ति अङ्गीकार करते हुए स्वयं का विश्वभुवन रूप में विस्तार कर रहा है (तनोति वै)। अमेय स्वयं अपने 'माता' हो रहे हैं; आनन्द होते हैं 'आनन्दी'। केवल वही नहीं, स्वयं को विचित्र भाव में और छन्द में सब कुछ में मिलाने के लिए होते हैं 'आनन्दभुक्'। यह माता की मात्रारूपता है। अखिल भुवन, अणु में, महान् में, सर्वत्र ही इस मात्रा का ही मूर्तत्व है। प्रत्येक पदार्थ कह रहा है—जो आनन्द मेरी हृद्वस्तु है, उसे मैं इस-इस करण में (उपाय में, रूप में और भाव में), भोग करूँगा। अन्न-अन्नाद सम्बन्ध से विमल रसास्वाद तक सब क्षेत्रों में आनन्द मात्रा को लेकर ही मैं टिका रहूँगा। जिसे अणु-विराट् का जड़ विश्व समझते हैं, वहाँ अनवद्य छन्दोरूप में इस आनन्दमात्रा ने किस अपरूप भाव से उसे स्फुट करके रखा है और जिला रखा है! कवि का विस्मय विज्ञान का ततोऽधिक विस्मय है।

मात्रा मुख्यतः करण रूप में है, फिर भी 'कृत' वा फल रूप में भी उसे लें। जपादि साधन में मात्रा को करण एवं कृत, इन दोनों भावों में ही आनन्द में (हृत्व में) स्थापित रखें। जैसे अग्नि और सोममात्रा। दोनों ही मात्राएँ आनन्द के ही करण हैं। किन्तु दोनों की समता रक्षित न होने पर कृत 'ऋत' नहीं होता। सुतरां आनन्द से लुण्ठितादि भाव भी आ सकता है।

७. अपादस्तु स परम आकाशः।

'अधिकृत्य' वा अधिकरणतावच्छिन्नभाव को छोड़ देने पर, अर्थात् जो कोई कुछ अधिकार करते हुए, कुछ के अधिकरण में रहा, यह न समझने पर, आनन्द परम आकाश है। यहाँ पद्यमानता नहीं है, सम्पद्यमानता का भी अवसान है।

वा० कोऽन्यादिति वाक्येनाकाशस्यानन्दरूपता।
भूमैव परमाकाशो यो वै रस इतीरितः।
सर्वाधारत्वसर्वत्वे तस्मिन्नेव प्रतिष्ठिते॥ ८॥

अन्वय—"कः अन्यात्" इति वाक्येन आकाशस्य आनन्दरूपता। भूमा एव परमाकाशः यः वै रसः इति ईरितः। तस्मिन् एव सर्वाधारत्वसर्वत्वे प्रतिष्ठिते॥ ८॥

[कौन हिलेगा'—इस वाक्यांश से आकाश की आनन्दरूपता सूचित हुई है। भूमा ही परम आकाश है जिसे 'रस' कहा गया है। उसी में सर्वाधारत्व और सर्वत्व प्रतिष्ठित हैं॥ ८॥]

भाष्य—आनन्द को आकाश रूप में (as unbounded Plenum) न पाने पर कौन स्पन्दित होता, प्राणवृत्तिमत् होता ? इस वाक्य में श्रुति ने इस आनन्दाकाश को ही उद्देश किया है। आनन्द केवल 'हृत्' को अधिकार करके सर्वत्र रहता है, एवं मात्रा पादादि रूप में अपने को स्फुट करती है, ऐसा नहीं है। आनन्द परमाकाश रूप में है ही। मेय एवं संख्येय में अवगाहन करके भी आनन्द अमेय, असंख्येय होता है। आनन्द का यह परमाकाशभाव भूमा है। यह है 'रसो वै सः'। रस पदार्थ का जो स्वाभाविक भूमत्व और विभुत्व है, वह मूर्तभाव में भी बाधित नहीं होता। अमूर्त एवं मूर्त ब्रह्म वा आनन्द की एकान्त बाधरहित भूमि ही भगवत्ता है। 'मूर्त' को स्थूल में ही न बाँधें। इस निमित्त कहते हैं कि आनन्द में 'सर्वाधार' एवं 'सर्व', ये दोनों ही परस्पर को 'उत्खात' न करके स्वच्छन्द में प्रतिष्ठित हैं। प्रपञ्चोपशम में सर्व के शून्य में आने पर भी आधार आनन्द होता है; फिर सर्व पूर्ण होकर रहने पर भी आधेय आनन्द होता है। प्रथम की बात बाद के सूत्र में है—

८. अमात्रश्च स शान्त आत्मा।

अपाद आनन्द अमात्र होने पर भी शान्त आत्मा है। यह शान्त आत्मा कठ श्रुति में 'यच्छेद् वाङ्मनसि' मन्त्र में एवं माण्डूक्य में 'शान्तं शिवमद्वैतं प्रपञ्चोपशमं स आत्मा स विज्ञेयः' मन्त्र में विशेषतः श्रुत हुआ है। माण्डूक्य ने 'अमात्र' भी कहा है। पाद-मात्रा इन दोनों को लेकर ही कला-काष्ठा है, इसीलिए पाद-मात्रा जहाँ नहीं (अर्थात् मुख्यतः अधिकरण एवं करण नहीं), वहाँ कारक-क्रिया-फल यह त्रिपुटी भी नहीं है। मेय फिर अमेय में ही लौट गया, निरुक्त अनिरुक्त में, इत्यादि !

वा० नान्तःप्रज्ञं बहिःप्रज्ञमित्यादिना समूहितम्।
आत्मप्रत्ययैकसारं यत् तदेवामात्रमुच्यते।
प्रपञ्चोपशमात्तत्राप्रसङ्गोऽबाधबाधयोः ॥ ९ ॥

अन्वय—यत् अन्तःप्रज्ञं बहिःप्रज्ञम् इत्यादिना न समूहितं तत् एव आत्मप्रत्ययैकसारम् अमात्रम् उच्यते। प्रपञ्चोपशमात् तत्र अबाधबाधयोः अप्रसङ्गः ॥ ९ ॥

[जो 'अन्तः प्रज्ञ', 'बहिः प्रज्ञ' इत्यादि के द्वारा समूहित नहीं होता, वही आत्मप्रत्यय-मात्र-सार वाला (तत्त्व) अमात्र कहा जाता है। प्रपञ्च का उपशम होने से वहाँ अबाध या बाध का प्रसङ्ग नहीं उठता ॥ ९ ॥]

भाष्य—अन्तःप्रज्ञ नहीं, बहिःप्रज्ञ नहीं, उभयतः प्रज्ञ नहीं, इत्यादि 'नेति-नेति' मुख से जो चरम अनुभव भूमि श्रुति-वाक्य में 'समूहित' (कहने और सोचने की वस्तु न होने पर भी उसे ग्रहण कराने का यत्न किया गया है) है, उसका अनिरुद्धादि

कहकर भी, 'आत्मप्रत्ययैकसारं' रूप में निर्देश किया गया है। यह अमात्र है। क्योंकि, वाक् वा मन के किसी लिङ्ग, सूचक, निरूपक (अर्थात् करण) द्वारा इसका तो 'मान' नहीं होता है। और प्रपञ्चोपशम परमभाव रूप उस शान्त भूमि में अबाध-बाध इस द्वन्द्व की भी प्रसज्यता फिर नहीं है। अर्थात्, इस 'उपराम' को लेकर मनन-विचार में उतरने पर, वैसा नहीं रहता। नीच का (बौद्ध वा वाच्य भूमि का) कोई 'पक्ष' ही वहाँ पक्षधर्मता नहीं रखता। ताटस्थ्य में जो कहेंगे, स्वरूप में वह परम तूष्णीम् है। अद्वैतादि किसी भी पक्ष का 'विवाद' उस चरम और परम अनुभव तक नहीं जाता। पूर्व खण्ड में 'अद्वैताद्वैतदशकम्' देखें। 'शान्त आत्मनि' चरम आहुति में सभी शान्त हैं। श्रुति और अनुभव ने इसमें कोई सन्देह नहीं रखा है।

योग में, ज्ञान में और भक्ति में जो परम निविष्टता की भूमि पहले कही गई है, एवं आनन्द से जिस परम स्वलसित भाव का पुनः पुनः उद्देश किया गया है, वह इस परम शान्त को लक्ष्य करके ही। शम-दमादि का जो शान्त है, उसके साथ इस परम शान्त को मिलाने से नहीं चलेगा।

९. सपादस्तु स विष्णुरुरुक्रमः। तथा च गायत्री।

आनन्द सपाद होने पर विष्णु उरुक्रम होते हैं। तथाच, गायत्री।

वा० त्रेधा यो निदधे पदं पादस्येति च श्रूयते।
सम्पद्यमानः स एव स्वयं विष्णुरुरुक्रमः॥ १०॥

अन्वय—यः त्रेधा पदं निदधे, 'पादस्य' इति च श्रूयते। स एव स्वयम् सम्पद्यमानः उरुक्रमः विष्णुः॥ १०॥

['जिसने तीन बार चरण रखे' 'पाद का'—ऐसा भी सुना जाता है। वही स्वयं सम्पद्यमान उरुक्रम विष्णु है।]

भाष्य—वेद के श्लोकोद्धृत इन दोनों मन्त्रों में 'पद' एवं 'पाद' शब्दद्वय श्रुत हुआ है। 'भूर्भुवः स्वः' इत्यादि अनेक रूपों में उन्होंने अपना 'परम पद' विश्वचेतना में 'पाद' रूप में निधान कर रखा है। अथच, इस विश्व-चेतना (cosmic consciousness) भूमि में उन्होंने क्या अपने को निःशेष करके रखा है? नहीं, कहीं उनके इस पाद रूप ने अपने परम पद को निःशेषित नहीं किया है। विराट् विश्व भी नहीं, एक धूलिरेणु भी नहीं। यह विश्वभुवन उनका एक पाद है, इस पाद से 'क्षर' भाव भी लक्षित होता है। किन्तु 'अयं' वा 'यह' रूप में जो प्रतीत है उसके ऊर्ध्व में (transcending it) 'असौ' वा 'वह' जो भूमि है, 'द्यौ' रूप में उस भूमि में (स्वः) है, उनका 'अक्षर' (अमृत) पाद भी है, यह निश्चित है, और वह अमृत पाद भी 'त्रिपात्' है। सुतरां 'अयं' वा व्यक्त भूमि में तीन क्षर पाद हैं, 'असौ' वा अव्यक्त भूमि में भी तीन अक्ष

और अमृत पाद हैं। और, क्षर और अक्षर, मृत और अमृत, इस द्वन्द्व के अतीत 'तद्विष्णोः परमं पदं' है। इस प्रसङ्ग में गीता का—'यस्मात् क्षरादतीतोऽहम्' इत्यादि स्मरण करें। विश्व में सब कुछ में इस सप्तधाभाव का ध्यान करें। प्रणव में अ, उ, म्—ये तीन प्रथम त्रिक हैं; नाद-बिन्दु-कला द्वितीय त्रिक है; अन्त में कलातीत है। जप में, बैखरी में क्षर वाचिकादि तीन हैं; मध्यमा-पश्यन्ती-परा, ये तीन 'अमृतं दिवि' हैं। इन तीनों के भी अतीत परम है। यावत् सम्पद्यमानता है, तावत् पाद है। स्थूल में, सूक्ष्म में, कारण में; व्यक्त में अव्यक्त में; व्यष्टि में समष्टि में; अणु में महान् में; भीतर में बाहर में;—सर्वत्र ही सम्पद्यमानता है और चल रही है। किन्तु किसी भी मेय काष्ठा में यह निःशेषित नहीं होती। जैसे, बीज में, सुषुप्ति में, प्रलय में इत्यादि। क्रमानुसार चल रही है, चक्रावृत्ति चल रही है। जहाँ 'रेखा' खींचें, विष्णु उरुक्रम उसे अतिक्रम करते हुए कहते हैं—'देखो, मैं इसके पार हूँ!' निरूप्यमाणता के प्रसङ्ग में यह समझने की चेष्टा की गई है। जप में यह 'उरुक्रम' वाक् प्रभृति की सम्पद्यमानता में प्राप्त करना होता है। 'नादोरुक्रमाष्टकम्' में जैसे। गायत्री-आदि के 'पाद' की इस सूत्र को ध्यान में रखकर सविशेष भावना करेंगे। वस्तुतः समस्त सपाद की सम्पादयित्री 'छन्दसां माता' गायत्री हैं।

१०. समात्रश्च स ॐकारमात्रा।

आनन्द समात्र भी होने पर ॐकारमात्रा है।

वा० अकारादय एव स्युर्जाग्रदादिविलक्षणाः।
आनन्दस्यैव मात्रास्ता नादबिन्दुकलात्मनः ॥११॥

अन्वय—अकारादयः एव जाग्रदादिविलक्षणाः स्युः नादबिन्दुकलात्मनः आनन्दस्य एव मात्राः ताः ॥११॥

[अकार आदि जाग्रद् आदि (अवस्थारूप भाव) से विलक्षण हैं। वे नादबिन्दु-कलात्मक आनन्द की ही मात्रा हैं ॥११॥]

भाष्य- जाग्रदादि अवस्था, भूर्भुवः स्वरादि नाना भावों में विशेषतः लक्षित ॐकार के अकारादि को आनन्द की ही मात्रा कहकर ध्यान करें। अकारादि को बहिः प्रज्ञादि मात्रा, एवं 'तुरीय' को 'अमात्रम्' रूप में दिखाया है, माण्डूक्यादि श्रुति में। जपसूत्रम् में सेतु वा अर्धमात्रा की बात पुनः-पुनः कही गई है। एवं उस सेतु का ही सर्व प्रयत्न से समाश्रय करने को कहा गया है। यहाँ कारिका में नादबिन्दुकलात्मा को विशेष करके उद्देश किया गया है। ध्यान दें कि, यहाँ भी सूत्र में 'च' है। अर्थात्, पाद और मात्रा परस्पर अन्वित और मूलतः अभेद में हैं। एक दृष्टि से जो पाद है, अन्य दृष्टि से वही मात्रा है। प्रत्यय भेद मात्र है। पद्यमानता और मीयमानता है।

गायत्री इत्यादि में, जिस भाव से पाद-विन्यास होता है उसमें, अन्वय है, किन्तु इस प्रकार तादात्म्य (दृष्टिभेदपूर्वक) नहीं है, ऐसा लगता है। किन्तु पाद की पद्यमानता छन्द के अनुरोध से जिस प्रकार है, मूल प्राण प्रयत्न (as basic pranik function) की दृष्टि से ठीक वैसी ही हो, ऐसा नहीं है। इस प्रकार वर्ण दृष्टि से प्रणव और व्याहृति के बिना चतुर्विंशति, प्रणव एवं व्याहृति के साथ अष्टाविंशति है। पद दृष्टि से सप्रणव सव्याहृति चतुर्दश हैं इत्यादि। इन सब आकारों में गायत्री में पद्यमानता वा पादनिर्देश हो सकता है। चतुर्दश भुवन ही गायत्री के पद-रूप इस चतुर्दश पाद में संगृहीत हुए हैं। मीयमानता वा मात्रा की दृष्टि से भी (अनुबन्धानुरोध से) अनेक प्रकार से लिया जा सकता है। उसमें से सात अग्नि-मात्रा एवं सात सोम-मात्रा हैं, इन चतुर्दश मात्राओं में ग्रहण एवं इनकी समताविधानपूर्वक व्याहरण-अनुस्मरण, साधन में एकान्त आवश्यक हैं। पद्यमान जैसे मीयमान होता है, मीयमान भी उसी प्रकार पद्यमान होता है। जैसे संगीत के ताल में चौताल और एकताला है। दोनों में ही १२ मात्राएँ हैं; किन्तु उनका पाद-विन्यास एक-सा नहीं है। पादमात्रा इसी पाद में अन्यत्र पुनः कथित होगी। पहले जिस अधिकरणमुख्यता और करण-मुख्यता की चर्चा हुई है, उसे भी स्मरण रखना होगा। अधिकरण और करण अन्योन्य अपेक्षा में ही रहते हैं। शास्त्रादि देते हैं 'पद'। जैसे 'वरेण्यम्'। श्रीगुरु इस पद को पादमात्रा में मिला देते हैं। वे ही सम्भव बना देते हैं, इस पद को त्रिपात् नहीं, परन्तु चतुष्पात् करके व्याहरण करना एवं अग्नि एवं सोममात्राद्वय के अनुपात की समता की रक्षा करना। वस्तुतः गायत्री में यही अग्नीषोमीय समताविधान का सन्धिस्थल ('key position') है।

विज्ञान के क्षेत्र में स्पन्दन एवं वीचि के विचय एवं समुच्चय के विचार में एवं गणना में (wave mechanics), पादमात्राज्ञान ही तो विज्ञान है। और, पादमात्रा का छन्द अन्यरूप होने के कारण ही कार्बन लकड़ी का कोयला भी होता है और हीरा भी होता है। और, संगीतादि में तो पादमात्रा ही कला-कलन का प्राण है।

११. अव्यवहार्यत्वेनापद्यमानत्वमपादत्वम्।

किसी प्रकार व्यवहारयोग्य न होने से जो पद्यमान भी नहीं (अर्थात्, जिसके सम्बन्ध में उपपन्न, प्रतिपन्न, सम्पन्न, निष्पन्न यह सब किसी संज्ञा की भी व्याप्ति नहीं है), वह अपाद है। (पहले एक सूत्र में, यह परम आकाश कथित हुआ है।)

वा० अलक्षणतया यस्य न व्यवहारयोग्यता।
क्रियाकारकभेदो वाऽपाणिपादः स उच्यते॥
जवनग्रहणे तस्य किमाश्चर्यमतः परम्।
सर्वतः पाणिपादं तदित्यपि भावयेत् सुधीः॥१२-१३॥

अन्वय—अलक्षणतया यस्य व्यवहारयोग्यता क्रियाकारकभेदः वा न, स अपाणिपादः उच्यते ॥ तस्य 'जवन-ग्रहणे' 'किम् आश्चर्यम्' अतः परम्' ? सुधीः 'सर्वतः पाणिपादं तत्' इति अपि भावयेत् ॥१२-१३॥

[जिस का लक्षण न होने के कारण न व्यवहार-योग्यता है और न ही क्रिया-कारक-भेद है, वह अपाणिपाद कहलाता है। उसके 'जवन' (गति) पकड़ने से बढ़कर आश्चर्य क्या है ? सुधी (सुज्ञ) व्यक्ति ऐसी भी भावना करे कि वह "सब ओर हाथ-पाँव वाला है" ॥१२-१३॥]

भाष्य—किसी लक्षण में जो नहीं आता है अतः जिसे लेकर कोई व्यवहार सम्पादित भी नहीं हो पाता है, जिससे क्रियाकारकभाव (सुतरां अधिकरणादि भी) किसी प्रकार सङ्गत नहीं होते है, अर्थात् जिसके सम्बन्ध में क्रिया भी नहीं कही जा सकती, फिर कारक भी नहीं कहा जा सकता,—उसी को (अर्थात्, परब्रह्म को) उद्देश करके ही श्रुति एवं अनुभव दोनों ने ही कहा है—'अपाणिपादः' इत्यादि। किन्तु फिर, इसकी अपेक्षा आश्चर्य और क्या है, कि उस 'अपाणिपादः' इत्यादि (नेतिमुख में श्रुत) परम तत्त्व को ही उद्देश करते हुए उन्होंने कहा है—'जवनो ग्रहीता', 'पश्यत्यचक्षुः' इत्यादि ! वे ही गमन करते हैं, ग्रहण करते हैं, देखते हैं, सुनते हैं, सब कुछ ही करते हैं ! उन्हें छोड़कर कुछ भी करना नहीं, होना भी नहीं हैं। केवल फिर, मूल आधार वा अधिष्ठान रूप में ही वे सब कुछ के निर्वाहियिता हैं, यह कहकर छोड़ देने से भी कहाँ चलता है ! 'सर्वतः पाणिपादस्तत् सर्वतोऽक्षिरोमुखम्' इत्यादि; 'सहस्रशीर्षा' इत्यादि;—ये सब श्रुतियाँ उस अपाद परम के केवल 'परमपदं' को नहीं, 'परमपाद' को भी बाद देने को राज़ी नहीं हैं ! 'विद्याविद्याविषय' कहकर भी तो एकान्त निर्विषम हुआ नहीं जाता ! इसीलिए, किमाश्चर्यमतःपरम् !

१२. तस्मिन् क्रियाकारकव्यवहारयोग्यतापत्तिः सपादत्वम्।

अपाद में क्रियाकारक व्यवहार आने पर ('अध्यास' अथवा अन्य प्रकार से, उसे लेकर यहाँ विचार अनावश्यक है) वह होता है सपाद।

वर्तमान स्थल में, अपाद का सपाद होना कैसा है, उसकी आलोचना नहीं हो रही है। इस परमाश्चर्य को आश्चर्य रूप में ही मान लिया जा रहा है (प्रसिद्ध 'आश्चर्य' मन्त्र में एवं अन्यत्र नाना स्थलों में श्रुति एवं अनुभव ने जैसा किया है)।

वा० सम्पद्यते त्वपादोऽपि समृध्यते स आत्मराट्।
ऊर्णनाभः स कूर्मो वा मायावी किमुतान्यः सः ॥
बिन्दौ च नादतापन्ने प्रसक्ता पद्यमानता।
मीयता बिन्दुमुद्दिश्य सोमार्द्धं बीजता दृयोः ॥१४-१५॥

अन्वय—स तु आत्मराट् समृध्यते, अपादः अपि तु सम्पद्यते। सः ऊर्णनाभः कूर्मः वा, सः मायावी किम् उत अन्यः॥ बिन्दौ च नादतापन्ने पद्यमानता प्रसक्ता। बिन्दुम् उद्दिश्य मीयता सोमार्द्धं द्वयोः बीजता ॥१४-१५॥

[वह तो आत्मराट् होते हुए भी समृद्ध होता है, अपाद होते हुए भी सम्पद्यमान (गतिशील) होता है। वह ऊर्णनाभ भी है, कूर्म भी; वह मायावी है या कि अन्य ? बिन्दु के नाद बन जाने पर गति का प्रसङ्ग है, बिन्दु को लेकर मीयता है, सोमार्द्ध (अर्धचन्द्र) रूप से दोनों की बीजता है ॥१४-१५॥]

भाष्य—आश्चर्य है कि अपाद होकर एवं रहकर भी वह सम्पन्नतादि के सम्बन्ध में आया है—जैसे, 'जवनो ग्रहीता' इत्यादि। 'अचक्षुः' अथच दृष्टिवृत्तिसम्पन्न है; इत्यादि। फिर, आत्मराट् रहकर भी, वह समृद्धतादि के सम्बन्ध में आ रहा है। स्व-सत्ता में मिथुनत्व, बहुत्व है; स्वशक्ति में सर्वज्ञत्व; सर्व-स्रष्टृत्व इत्यादि ऐश्वर्य है; इस प्रकार रसमें, छन्द में, आकृति में, जो आत्मराट् (अर्थात् आत्मस्वरूप में नित्य स्वतन्त्र एवं पूर्ण होकर भी) है, वह, आश्चर्य रूप से, समृद्ध हो रहा है। परिनिष्ठित सामग्री फिर सम्पन्न हो रही है, पूर्ण का फिर पूरण हो रहा है! वह क्या ऊर्णनाभि की भाँति है, या कूर्म की भाँति है, मायावी की भाँति; अथवा, अन्य कुछ की भाँति (किमुतान्यः) ? इन कुछेक उपमा-विकल्पनाओं में अपाद सामग्री के सपाद होने की जो अनेक प्रकार की 'आकृति' मिलती है; उस पर ध्यान दें। किन्तु औपमिक कल्पना में तो तत्त्व-विनिश्चय नहीं होता।। इन सब उपमाओं के बीच, ऊर्णनाभ में प्रकृति वा कारण का संकोच वा प्रसार होता है; कूर्म में प्रत्यय वा सूक्ष्म संकोच और प्रसार है; एवं मायावी में प्रतीत वा स्थूल संकोच-प्रसार विशेष भाव से लक्षित है। महामाया वा भगवत्ता सूत्र में यह मूल आश्चर्य यथासम्भव धारणा में लाने की चेष्टा हुई है। 'बिन्दु' प्रभृति भी पुनश्च प्रणिधेय हैं। अब, इस मूल आश्चर्य को यदि दोनों ओर से देखें तब पाएँगे कि ये दो मूल वृत्तियाँ हैं—पद्यमानता एवं मीयमानता। 'सम्पन्न' कहने से मुख्यतः प्रथम; किन्तु 'समृद्ध' कहने से दोनों ही प्राप्त होती हैं। इसमें से, बिन्दु के नाद-भाव में आने में पद्यमानता (पाद) है, और नाद के बिन्दु को 'उद्देश' करने में मीयमानता वा मात्रा है। नाद ही पाद का सामान्य व आधार (अधिकरण) रूप है; बिन्दु ही मात्रा का (करणता का) चरम और परम रूप है। ब्रह्मकारणता की बिन्दुकारणता ही परमरूपता है। कुछ करने वा होने में बिन्दु तो चाहिए ही चाहिए।

सुतरां, 'सोमार्द्ध' को पादमात्रा एतदुभय के बीज रूप में जानें। सोम वा ॐकार के बीच (अर्द्ध), समात्र एवं अमात्र के सेतुरूप में अवस्थित होने के कारण भी सोमार्द्ध है।

१३. तत्रैव मातृमानव्यवहारयोग्यतापत्तिः समात्रत्वम्।

वही सपाद (आनन्द) मातृ-मान व्यवहार में आने पर समात्र होता है।

बीज अङ्कुरादि क्रम से सपाद हो रहा है; बीज की नाभि में कोई एक रहस्य वस्तु कहती है—'मैं माता हूँ, तुम्हारे अङ्कुरादि सभी पादों को मैं 'मापती' जा रही हूँ; बाहर से जो रस, आलोक-तापादि हैं, उन्हें भी माप कर ले रही हूँ। तुम्हारी इस अविश्रान्त सम्पद्यमानता में कहीं भी एक रेणु, कहीं भी जरा-सा स्पन्द भी, माप में' मात्रा में आए बिना नहीं रहेगा। पादमात्रा का इस प्रकार परस्पर ओत-प्रोत अन्वय है। केवल, अधिभूत में नहीं, अध्यात्मादि में भी इस दृष्टि से देखें। अथच, परमाश्चर्य यह है कि जो (आनन्द) अङ्कुरादि पाद विस्तार कर रहा है वह विष्णु उरुक्रम होकर भी अपाणिपाद 'परमाकाश' भूमा है। और, नाभि में यह जो 'माता' है, वह मात्रा रूप में अन्तर्बहिः निखिल का परिमाप भले ही लेता है किन्तु स्वरूप में तो वह बिन्दु है जिसमें 'शून्यत्वपूर्णत्वे' एकत्र हैं। इसीलिए, विश्व में कहीं भी सम्पद्यमानता का भी शेष नहीं है, मीयमानता का भी अन्त नहीं है। जिस भूमि में यह 'नितरां अपास्त' है उसकी बात ही कारिका में कही जा रही है—

वा० नान्तःप्रज्ञादिरूपेण व्यतिरेकेण मेयता।
अपास्ता नितरां यत्र स आत्मेत्यवगम्यते।
आत्मैवेदमिति श्रुत्या सर्वभूतात्मता श्रुता ॥१६॥

अन्वयः—अन्तःप्रज्ञादिरूपेण व्यतिरेकेण मेयता न। यत्र (सा) नितराम् अपास्ता स आत्मा इति अवगम्यते। "आत्मा एव इदम्"—इति श्रुत्या सर्वभूतात्मता श्रुता ॥१६॥

[अन्तः प्रज्ञा आदि रूपों में व्यतिरेक भाव से मेयता का अभाव है। जहाँ वह सर्वथा अपास्त (समाप्त, निरस्त) है—वह 'आत्मा' समझा जाता है। "यह सब कुछ आत्मा ही है—ऐसे श्रुति-वाक्य के द्वारा (आत्मा की) सर्वभूतात्मकता कही गयी है ॥१६॥

भाष्य—बहिःप्रज्ञ नहीं, अन्तःप्रज्ञ भी नहीं; इत्यादि व्यतिरेक मुख से मानमेयता (एवं उसके साथ पाद-पद्यता) एकान्त भाव से जिस 'भूमि' में अपास्त है, उसे 'आत्मा' समझना होगा। अथच, यह सब कुछ आत्मा है, आत्मा के सिवाय कुछ भी नहीं, इस प्रकार आत्मा की सर्वभूतात्मता भी श्रुति एवं अनुभव में प्रसिद्ध है। सुतरां, आत्मा को केवल व्यतिरेक मुख से निखिल व्यवहार की 'नितरां अपास्त' भूमि को ही नहीं देखता हूँ, परन्तु अन्वय मुख से, पाद-मात्रादि की 'नितरां समस्त' भूमि को भी देखता हूँ। आनन्द का एवंविध अन्वय-व्यतिरेक मुख से जो 'नितरां समस्त-अपास्त' भाव है, वही आत्मा है—'शान्तात्मा' एवं 'सर्वभूतात्मा' दोनों प्रकार से ही। 'नितरां समस्त' कहने से,

तात्पर्य उस भूमि से है जहाँ निखिल व्यस्त पादमात्रादि का परम समाससिद्ध (Realm of complete Integration and perfect synthesis) है। अपास्त-समस्त के तत्त्व-विचार का यहाँ अवकाश नहीं है। दोनों ही हैं एवं जपादि साधन में 'समस्त' को पकड़ कर ही 'अपास्त' में आना होता है। यह जो समस्त भाव है, उसे फिर व्यष्टि सुषुप्ति अथवा समष्टि प्रलय की भाँति एक अव्यक्त, अव्याकृत भूमि समझ कर ही मत छोड़ देना। पूर्ण भान या ज्ञान की भूमि भी अवश्य है। पूर्ण ज्ञान का नाम यदि दें 'वेद', तो यह वेद भी नित्य है, एवं 'वेदविदेव चाहम्' भी नित्य है। अपास्त एवं समस्त, दोनों प्रकार से आनन्द ही आत्मा है; इसीलिए आत्मा 'प्रियः पुत्रात् प्रियो वित्तात्' इत्यादि है। अब, आत्मा के इन दोनों प्रकारों के बीच जो सेतुभाव है—

१४. तदुभयत्वयोनिरर्द्धमात्रा।

उन दोनों प्रकारों (सपाद-समात्र) की योनि अर्धमात्रा है।

वा० समात्रामात्रयोः सन्धिः सपादापादयोरपि।
सन्धिमेनं समाश्रित्य प्रवृत्तिर्मानपादयोः।
सन्धिस्तु योनिरुत्पत्तौ निवृत्तौ तस्य सेतुता॥ १७॥

अन्वय—समात्र-अमात्रयोः सपाद-अपादयोः अपि सन्धिः। एनं सन्धिं समाश्रित्य मानपादयोः प्रवृत्तिः। उत्पत्तौ तु योनिः सन्धिः, निवृत्तौ तस्य सेतुता॥ १७॥

[समात्र और अमात्र में सन्धि है, सपाद और अपाद में भी है। इस सन्धि का आश्रय लेकर मान और पाद की प्रवृत्ति होती है। उत्पत्ति में तो सन्धि योनि है, और निवृत्ति में वह सेतु है॥ १७॥]

भाष्य—समात्र एवं अमात्र, सपाद एवं अपाद—इन दो भावों के बीच एक परम रहस्यमय सन्धि हुई है। इस सन्धि का कोई भी निदान, निरुक्ति कहाँ दिखाई देता है! अथच, इस रहस्यमय सन्धि को पकड़ कर ही पादमात्रादि की, व्यस्त-समस्त उभय भाव में ही, प्रवृत्ति है। इस सन्धि को छोड़कर विश्व में, अन्तर में अथवा बाहर कहीं भी, कुछ भी व्यस्त अथवा ससस्त रूप में, सम्पादित भी नहीं होता, परिमित भी नहीं होता। जैसे फिर वही बीज और अङ्कुर है। बीज की जो नाभि है, और उसका जो अङ्कुरभाव है इन दोनों के बीच कोई सन्धिसूत्र रहकर मानो निर्देश देता है, प्रेरणा देता है—'तुम अङ्कुर में सम्पादित और परिमित बनो अब की बार! भीतर जपादि में, भाव में, रस में, अनुभूति में भी वही है। समझ कर देखें। यह रहस्य-सन्धि फिर, पाद-मात्रादि की उत्पत्ति (विकास) के सम्बन्ध में, 'योनि' है। और अपाद-अमात्र में उनकी निवृत्ति वा विलय के सम्बन्ध में 'सेतु' है। यह 'अर्धमात्रा' पहले बार-बार इस ग्रन्थ में कथित हुई

है। ब्रह्मा ने क्यों अर्धमात्रा की योगनिद्रा रूप में स्तुति की है, एवं अब भी हमारे बीच कर रहे हैं, इस पर भी ध्यान दें। 'अर्द्ध' शब्द की व्यञ्जना भी सविशेष ध्यान देने योग्य है।

१५. कला पादमात्रासमाहारात्।

पाद एवं मात्रा दोनों के 'समाहार' होने पर कला होती है।

इस समाहार को बीज एवं फल, दोनों प्रकार से ही देखना होगा। बीज में फल सम्भाव्य रूप में समाहृत है। बीज में 'कल' (अङ्कुरित बीज की चर्चा भी है) है, फल में 'फल' है। प्रथम में कलनी शक्ति है, द्वितीय में फलित रूप, भावादि है। बीज में शक्य समाहार (power or potency composed) है; फल में व्यक्त समाहार (resultant recomposed) है। शक्यता से व्यक्तता में पहुँच कर शक्यता ने अपने को निःशेषित नहीं किया, अभिनव शक्यता रूप में फिर समाहृत कर लिया। इसीलिए, कला में पादमात्रा के समाहार को बीज एवं फल, शक्य एवं व्यक्त (नवशक्य गर्भ), दोनों प्रकार से ही देखना होता है। बीज रूप में पाद मात्रादि में समग्र भाव से समाहार होता है। किन्तु फल में, अंशकलादि रूप विशेष करके विकसित हुआ है। प्रथम (बीज), undifferentiated synthesis है; द्वितीय, differentiated integration है।

वा० पादेन पद्यमानत्वं मेयत्वञ्चापि मात्रया।
तयोरेव समाहारात् फलत्वं कर्तृकर्मणोः।
आनन्दकलया बीजफलयोर्बिन्दुनादता॥ १८॥

अन्वय—पादेन पद्यमानत्वं मात्रया च मेयत्वम् अपि। तयोः एव समाहारात् कर्तृकर्मणोः फलत्वम्। आनन्दकलया बीजफलयोः बिन्दुनादता॥ १८॥

[पाद से पद्यमानता और मात्रा से मेयता भी होती है। उन दोनों के समाहार से ही कर्तृ और कर्म फलित होते हैं। आनन्दकला के द्वारा क्रमशः बीज और फल बिन्दु और नाद बनते हैं।॥ १८॥]

भाष्य—'कर्तृकर्मणोः' कहने से इस स्थल में कारक-क्रिया का अन्वय वा संग्रह लक्षित हुआ है। इस संग्रह के आरम्भ में क्या है? बीज-रूपा जो कलनी शक्ति है, वही। पद, वाक्यादि में उसे शब्दशक्ति कहते हैं। और, क्रिया-कारक का इस प्रकार संग्रह का समापन किसमें है? फल में वा अर्थ में। अब, सोचकर देखें, पाद में जो पद्यमानता है, और मात्रा में जो मीयमानता (पदवाक्यादि-स्थल में वाच्यता एवं प्रमेयता) है, उन दोनों का समाहार न होने पर समन्वय में, समानाधिकरणादि में आहुति न होने पर बीजत्व एवं फलत्व (जैसे, उस वाक् के समय), इन दोनों में से

कोई-सा भी साधित नहीं होता। वागादि का दृष्टान्त लेकर पादमात्रा का यह समाहार (कल और फल दोनों प्रकार से) सोचकर देखें।

अब, आनन्द ही निज कला में ('अंश' अर्थ में नहीं) बिन्दु एवं नादभाव आश्रय करके सब कुछ क्रियाकारक व्यवहार में बीज एवं फल रूप धारण कर रहा है, ऐसा समझें। अर्थात्, सब कुछ का बीज ही आनन्द की बिन्दु-कला है, और, फल नाद-कला है। 'क' व्यञ्जनमुख = सुख=आनन्द; 'ल' = कलत्व एवं फलत्व, आ = व्याप्ति—काष्ठा। सुतरां आनन्द 'कला' होकर कहता है—'मैं मूल भाव से, (जैसे बीज, अथवा ॐकारादि वाक्) विचित्र व्यञ्जना में स्वयं का कलन एवं फलन करता हूँ; व्याप्ति की एक-एक सीमा वा काष्ठा भी मान लेता हूँ।'

अर्धमात्रा की समाहृत-बिन्दु-नाद आनन्द कला रूप में भावना करें। अर्धमात्रा में ऋद्धि वा ऋद्धमान भाव होता है। यह शक्ति का स्वधर्म है। शक्य को व्यक्त, एवं व्यक्त को शक्य में लाने से ही शक्ति स्वभाववृत्तिमती होती है। भगवत्ता में कभी योगमाया, कभी योगनिद्रा हैं। यह ऋध्यमान भाव होता है नाद की परमता एवं बिन्दु की परमता, इन दोनों को उद्देश करके, एवं उभयाभिमुख 'उरुक्रम' में उभय को 'समाहृत' करके। इसके फलस्वरूप पाद और मात्रा होते हैं।

कला को परमा, मध्यमा एवं अवमा—इन तीन प्रकार से देखें। परमा भाव से कला आनन्द ब्रह्म वा रसभूमा के सृष्टि-लीलादि रूप में आत्मकलायन या स्वकलायन है। मध्यमा रूप में यह सन्धि और सेतु-रूपा हैं। और अवमा रूप में वर्णरूपादि कला-अंशादिरूपा (aspects, partials, components) हैं।

१६. अंशो मीयमानत्वस्य मुख्यत्वेन व्यपदेशात्।

वह आनन्द कला 'अंश' रूप में लक्षित होती है, जब उसमें 'मीयमानत्व' वा 'परिमाणार्हत्व' मुख्य रूप से व्यपदिष्ट (लक्षण-संज्ञादि द्वारा उद्दिष्ट) होता है।

सामग्र्येणास्ति सर्वं हि सव्यापारं तथैव च।
तत्र तु मानभासेन पृथक्त्वमंशभागतः।
प्रत्यवच्छेदजन्यांशे व्याप्ते व्यष्टित्वमाप्यते॥ १९॥

अन्वय—सर्वं हि सामग्र्येण अस्ति तथैव च सव्यापारम्। तत्र तु मानभासेन अंशभागतः पृथक्त्वम्। प्रत्यवच्छेदजन्यांशे व्यष्टित्वमाप्यते व्याप्ते॥ १९॥

[सब कुछ समग्रता से है और वैसे ही व्यापारयुक्त है। वहाँ मान-भास से क्रमशः अंश और भाग के रूप में पृथक्ता होती है। प्रत्यवच्छेद से उत्पन्न अंश में व्यष्टिता और माप्यता व्याप्त होती है॥ १९॥]

भाष्य—पहले आनन्द का जो स्वकलायन प्रसंग हुआ, उस स्वकलायन के फल-स्वरूप जो सृष्टि एवं लीला है, उसमें कुछ भी (यहाँ तक कि एक धूलिरेणु भी) तत्त्वतः खण्डित (segmented) एवं व्यवहारतः 'त्यक्त' (isolated) होकर नहीं रहता। महासङ्गीत में जैसे एक-एक स्वर, एक-एक छन्दः रहते हैं। अथच, मान वा मेयत्व का भास भी उस समग्र अखण्ड भाव में उदित होता है, जिससे बोध होता है कि विश्व में प्रत्येक पदार्थ की सत्ताशक्ति प्रभृति के 'अंशों' के बँट जाने से उनकी पृथक्ता बनी है। मुख्यतः मान की मेयता (measure) समग्र अखण्ड भाव से भास रूप में उदित (manifest, emergent) होने पर, एवंविध अंशभाग एवं तन्निमित्तक पृथक्त्व व्यक्त होता है। Fact होता है Fact-section, एवं Fact-section होता है Fact as 'bounded and rounded'। मेयता की ओर दृष्टि जाने पर यह भास-रूप आता है। ध्यान में रखना होगा कि, जपसूत्र में भास = आभास नहीं है। जो स्वयं अबौद्ध (alogical) है, उसकी बौद्ध (logical) 'छवि' वा आकृति भास है। विमर्श-पञ्चकवशतः यह भास फिर पञ्चधा अभिव्यक्त होता है। मिथ्यात्व के लक्षण-जाल को 'विश्वघेरा' बना कर उसमें भान-भासादि सब कुछ को खींच कर, भक्ति प्रभृति अपर 'सिद्धान्त भेद' जिससे न जन्में, उसी प्रकार जप की आधार-प्रस्तुति में जपसूत्रम् अग्रसर हो रहा है। इस कारण, अंश को 'प्रत्यवच्छेदजन्य' कहते हैं। वैज्ञानिक परिभाषा है। जो unmeasured है, उसके बीच किसी को भी as factor as part, as component, 'measure out' करना। तुम-हम ही वह करते हैं क्या ? करते तो हैं, किन्तु मूलतः आनन्द ब्रह्म स्वकलायन में ही (by an inherent, immanent process) उसे करते हैं, एवं कर रहे हैं। 'प्रत्यवच्छेद' कहने से उस प्रकार का अवच्छेद (live cross-sectioning) समझना चाहिए, जिसमें अंश पृथक् होकर भी सत्ता-शक्ति इत्यादि में एवं व्यावहार में अखण्ड सामग्री के साथ 'युक्त' ही रहता है। जैसे, यह सजीव देह है। इसे मारकर dissection table पर टुकड़ा-टुकड़ा करके नहीं दिखाते हैं, परन्तु जीवन्त रखकर ही x-ray इत्यादि द्वारा पृथक्-पृथक् भाव से दिखाते हैं। इस प्रकार अंशों का युक्तभाव रह गया, फलतः, गठन एवं घटन (structurally and functionally) दोनों प्रकार अंशों की समीक्षा-परीक्षा की जा सकी। प्रणव, गायत्री, नाम इत्यादि से अंश और कलादि को इस प्रकार ही मिलाना होता है। इस प्रकार अंश-कलादि के 'समादर' (appreciation) में भक्तिसिद्धान्तादि क्षोभ नहीं पाएँगे, ऐसा लगता है। श्रुति स्मृति, आगम पुराण में, 'अंश', 'कला' बहुधा कथित हैं। अद्वैत वेदान्त का भी निज सिद्धान्त है। इन सबके ही सामान्याधार रूप में इस स्थल में अंशसूत्र निबद्ध हुआ है। बहिर्विज्ञान, गणि-तादि भी वर्जित नहीं हुए। Term of a Series इत्यादि।

यह जो प्रत्यवच्छेदजन्य अंश है, उसमें व्यष्टिता (individuality) एवं माप्यता (measurability), ये दो धर्म व्याप्त रहते हैं यह देखें। और भी सोचकर देखें कि अंशभाव अर्धमात्रा के 'बिन्दुक्रम' में (tendency to centralization, point-edness, focussing) आया करता है।

१७. अंशी पद्यमानत्वस्य मुख्यत्वेन व्यपदेशाच्च।

और पद्यमानता (पाद) मुख्य रूप से व्यपदिष्ट होने पर अंशी है।

'बिन्दुक्रम' में सब कुछ मानो कूर्म बीजादि की भाँति अपने को सामग्रिक सत्ता और सम्बन्ध से 'समेटकर' किसी केन्द्र में एवं संस्था में 'संहत' करके 'अंश' कला बना है। किन्तु फिर 'नादक्रम' भी तो है। यह पद्यमान विततभाव मुख्य होने पर, अंश के सम्पर्क में होता है अंशी।

वा० पल्लवं पादपस्यांशः पादपस्यांशिता मता।
पार्थिवांशो भवेद् रेणुः पादपाङ्गञ्च पल्लवम्।
क्रियाङ्गमपि वेदाङ्गं वाक्याङ्गादीनि चिन्तयेत्॥
अवयवान् पुनश्चापि न्यायावयवपञ्चकम्।
अर्थार्थी धर्मधर्मी च शक्तिशक्तिमतोर्द्वयम्।
तादात्म्यमभिसन्धाय सम्बन्धस्याधिरोहणम्॥२०-२१॥

अन्वय—स्पष्ट है।

[पल्लव पादप का अंश है, पादप को अंशी माना गया है। रेणु पार्थिव अंश है और पल्लव पादप का अङ्ग है। क्रियाङ्ग, वेदाङ्ग, और वाक्याङ्ग आदि का भी चिंतन करें। फिर अवयवों का और न्याय के पाँच अवयवों (अनुमान-सम्बन्धी) का भी चिन्तन करें। अर्थ-अर्थी, धर्म-धर्मी, शक्ति-शक्तिमान् के जोड़ों को भी सोचें। तादात्म्य का अभिसन्धान लेकर सम्बन्ध का अधिरोहण होता है॥२०-२१॥]

भाष्य—'अंश-अंशी' भाव को पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार समन्वित करके वर्णादि-समाश्रित जो जपादि है, उसमें प्रवृत्त और अग्रसर होना होता है। लक्षण 'सार्वभौमिक' होता है, जपादि के क्षेत्र में उनका यथायथ प्रयोग है। प्रयोग के क्षेत्र में (केवल जप में नहीं, विज्ञानादि में भी) यह अंश-अंशी-सम्बन्ध का एक प्रकार का अधिरोहण (जप में जैसे अभ्यारोहण) है, एवं साधन में सोपानावलि की भाँति उसी क्रम में अधि-रोहण करना होता है। प्रथम भाव वा सोपान—जड़ वा स्थूल (mechanical) अंश-अंशी भाव है। जैसे, मिट्टी वा पत्थर, और उसका रेणु। साधन के प्रारम्भ में जप-मन्त्रादि के वर्णादि इस 'जड़ीय' भाव में होता है। यह आनन्द का एवं कला का 'अल-सित' भाव है। सब मानो पृथक् हैं, किसी सूत्र से आत्मीयता में गृहीत नहीं हुए हैं।

पादप और उसके पल्लव का अंश-अंशी भाव कहा जाता है, इस जड़ीय दृष्टि में। किन्तु सूत्रान्वय पर दृष्टि देने पर यह सम्बन्ध भासित होता है अङ्गी और अङ्गभाव से। Mechanical दृष्टि हुई organic। उसके बाद का सोपान है अवयव-अवयवी। किन्तु तृतीय में आने के पहले क्रियाङ्ग, वेदाङ्ग एवं वाक्याङ्ग, इन तीनों का अङ्ग-अङ्गित्व किस प्रकार का है, यह सोच लें। इन तीनों में सम्बन्ध 'प्राणिक' (organic) तो है, अर्थात्, अंग-समूह की अन्योन्यापेक्षा एवं उपकारकत्व विस्पष्ट तो है, किन्तु अच्छेद्यत्व वा अविनाभाव अभी 'गाढ़' (compact) भाव में नहीं भासित हुआ है। 'व्यूढ' वा conditional रूप अभी व्यक्त है। यदि फल चाहें तो अनुष्ठेय क्रिया का यही अङ्ग, क्रम, मात्रा इत्यादि है। अपर दोनों दृष्टान्तों में भी व्यूढ भाव है। किन्तु अवयव-अवयवी में उन्हें फिर अलग-अलग करके देखा नहीं जा सकता (Psychologically interrelated and logically congruent)। न्याय के (अनुमान के) अवयव-पञ्चक जैसे हैं, अनुमिति-रूप जो प्रमिति है वह इन पाँच अवयवों को लेकर के ही है। वाक्याङ्ग में इसका निकट भाव होता है। इस सोपान का आश्रय लेकर, अर्थ-अर्थी, धर्म-धर्मी, शक्ति-शक्तिमान्, इन तीनों का मध्य में समाश्रय लेते हुए तादात्म्य में उपनीत हों। न्यायावयवादि में न्याय ही गठित हो रहा है, इन पाँच अवयवों में अथवा तीन अवयवों में। उनमें से किसी का वर्जन करके (स्वार्थ-परार्थ किसी भी स्थल में) 'न्याय' ही नहीं होता है। तथापि अवयवों का परस्पर प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानविषयत्व नहीं है। 'पर्वतो वह्निमान्' ज्ञान से धूम (हेतु) वा महानस (दृष्टान्त) का ज्ञान चाहिए ही ऐसा नहीं है। घटाभाव कहने से जैसे घट का ज्ञान चाहिए ही। अथवा, शिष्य एवं गुरु। वाचक एवं वाच्य। अर्थ-अर्थी के स्थल में यह आया, किन्तु धर्म-धर्मी और शक्ति-शक्तिमान् में जैसा है उसी प्रकार नहीं। इन्हें सोच कर देखें। सब कुछ को आनन्द-तादात्म्य में परिसमाप्त करना हो तो, अंशीसूत्र के प्रत्यंग में उल्लिखित इस अधिरोहिणी का आश्रय लेना होता है। सोच-कर देखना होता है कि मैं और साधन, पद्यमानता के किस सोपान में अब अवस्थित हैं ? दृष्टि का एवं साथ-साथ आनन्द-संवित्ति का स्फुरण पाद-पाद में, सम्पन्नता में उपनीत हो रहा है या नहीं, देखना होता है। गीता में जो 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' है, उसमें से अर्थार्थी का पूर्व सोपानों में अलसित भाव, सुतरां आर्त्त भाव है; अर्थार्थी में अर्थ वा प्रयोजन का बोध जागरूक है, सुतरां उल्लसित का अङ्कुर है। धर्मधर्मी में जिज्ञासु है, शक्ति-शक्तिमान् में ज्ञानी है। इन दोनों में मिलकर उल्लासप्रौढि एवं विलसित भाव है। और, 'एक भक्ति' एवं 'युक्ततम' में तादात्म्याश्रित स्वलसित भाव भी है। साधन जीवन में यही सबसे अधिक मरमी प्रश्न है—मैं आर्त हूँ; आनन्दविधुर हूँ; हे ज्योतीरस सामग्री ! कल तुम ही बनोगे मेरे अर्थ और मुझे बनाओगे अपना

अर्थी। रस-भूमि में यह सीमा पार करके रागानुग होता है। तब धर्मधर्मी है। रास-मण्डल में शक्तिशक्तिमान् हैं। और, 'प्रमुदित रास कमल में अनिर्वचनीय तादात्म्य है। ज्ञानी शुभेच्छा से तुर्यगा पर्यन्त सोचकर देखें।

बहिर्विज्ञानादि में दृष्टान्त के लिए मैं इस समय नहीं गया, किन्तु प्रयोग है। अब लीलासूत्र—

१८. उल्लसितत्वमानन्दस्य लीला।

आनन्द का उल्लास लीला है।

वा० विश्वस्य व्यवहारस्य स्वयं मूलममूलं यत्।
उल्लसितत्वमव्यक्तमात्मन्येवोपलक्ष्यते ॥२२॥

अन्वय—विश्वस्य व्यवहारस्य यत् मूलं (तत्) स्वयम् अमूलम्। अव्यक्तम् उल्लसितत्वम् आत्मनि एव उपलक्ष्यते ॥२२॥

[विश्व के व्यवहार का जो मूल है, वह स्वयं अमूल है। अव्यक्त उल्लसितत्व आत्मा में ही उपलक्षित होता है ॥२२॥]

भाष्य—निखिल विश्वव्यवहार के (सृष्टि स्थितिलयादि के) मूल रूप में जो स्वयं अमूल है, परब्रह्म में अथवा आनन्द में वह अव्यक्त उल्लसित भाव ही लीला है। अपने आत्मा में उपलक्षण (तटस्थ) भाव से इस अनिर्वचनीय उल्लसित रूप को समझ कर देखें। 'आत्मौपम्येन' समझकर देखने के सिवाय समझने का उपायान्तर नहीं है। उल्लासादि 'इस' आत्मा में भी उपमित होते हैं, इसीलिए न रक्षा है! अपना यह आत्मा ही निखिल तत्त्व एवं भाव का उपमास्थल है; सब कुछ भावों का भाव वा नमूना यहाँ है। 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।' परम तत्त्व एवं भाव के सम्बन्ध में भी 'आत्मप्रत्ययैकसारं' कहने के सिवाय गति नहीं है! किन्तु, आत्मा ही फिर हिरण्मय पात्र से सत्य के मुख को अपिहित करके रखता है, एवं 'पूषा' रूप में स्वयं ही सत्य का मुख अपावृत भी करता है। तब वह होता है प्रत्यगात्मा।

आनन्द का उल्लास भाव जो लीला है, उसे अपनी आत्मा में ही सत्य का मुख यथासम्भव अपावृत करते हुए समझना होगा। अध्यात्मदृष्टि के बिना अधिभूतादि के आनन्द, एवं उल्लास-लीलादि भाव, साक्षात् अपरोक्ष रूप से पकड़ने का कोई सूत्र नहीं है। इसीलिए विश्व में प्रकाश एवं आनन्द इन दोनों का ही गुण्ठितादि रूप है। अपने भीतर भी जब तक परा प्रकृति अपरा में कवलिता है, तब तक यन्त्र और यन्त्रारूढ रूप ही सर्वत्र व्यक्त होते हैं। अथच, आनन्द ही सब कुछ का 'हृत्' है, सब कुछ का 'आत्मा' होने से, कहीं एक धूलिरेणु में भी, 'अपिहित' होते हुए भी, आनन्द एवं लीला

बाधित नहीं हुए हैं। पाद-मात्रा-कला-काष्ठा, इन चार मापकों ने मिलकर कहीं भी उस स्वरूपतः अपाद-अमात्रादि आनन्द-लीला को सर्वथा सम्पादित, परिमापित, संकलित एवं सीमित नहीं किया है। इन सबमें व्याप्त होकर भी आनन्द एवं लीला 'अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्'। 'पादोऽस्य'—विश्वभुवन का जो वज्रबन्धन है, वह उसके एक पाद में ही है। जपसूत्र में यह रूप ही विशेषतः स्फुटित करने का यत्न हुआ है, आनन्द जिस प्रकार निखिल का 'हृत्' है; उल्लसित रूप लीला भी उसी प्रकार निखिल का 'हृदय', core and heart of everything है। 'Heart' कहने से 'Live Pulsating Heart' समझें। जपाक्षर को लेकर और उनके पादमात्रादि को लेकर चल रहे हो। किन्तु प्रतीक्षा में हो कि कब—अक्षर में 'हृदि सन्निविष्ट' आनन्दघन 'अक्षर', पाद में पद्यमान, मात्रा में मीयमान इत्यादि होते-होते कहेगा—देखा, यह सभी आनन्द का पाद है, आनन्द की मात्रा है, आनन्द की कला है। इसीलिए, अलसित से उल्लास-विलास में रूपायित होना ही इसका स्वभाव है; और स्वलसित में उसकी सीमाहीन, अन्त-हीन काष्ठा है। इसके स्फुटित रहने पर, तुम्हारे जपने पाया अपना 'हृदय'। हृद्देश में स्थापित मन्त्र का जो 'कीला' है उसके 'ढीला' होते-होते 'हृदय' में हुई 'लीला'।

१९. तस्या निरतिशयनिर्व्यूढत्वेन स्थितित्वं कैवल्यम्।

लीला के निरतिशय एवं निर्व्यूढ रूप में स्थिति की भूमि लीलाकैवल्य है।

वा० लीलाहृदयसर्वस्य बाध्यता व्यवहारतः।
निरतिशयनिर्व्यूढं कैवल्यं बाधबाधने ॥२३॥

अन्वय—स्पष्ट है।

[लीला हृदय-रूप सब कुछ की व्यवहार से बाध्यता है। बाध का बाधन होने पर निरतिशय निर्व्यूढ कैवल्य होता है ॥२३॥]

भाष्य—सब कुछ 'आनन्दहृत्' एवं 'लीलाहृदय' होने पर भी व्यवहार में यन्त्रा-रूढ एवं यन्त्रबाध्य होकर अपने को दिखा रहा है। यह जो बाधबाधितता है, यह किसी की निज प्रकृति वा स्वभाव नहीं है; प्रत्यय में भी पूरी तरह से नहीं (यथा, Indeterminacy principle); किन्तु व्यवहार में जो 'प्रतीत' है, उसमें वह रहती है। विज्ञान में यह व्यवहार हुआ Statistics, Average इत्यादि। गठन में पड़कर सब कुछ ही कहता है 'यह देखो मैं नागपाश में बँधा हुआ हूँ' हिलना-डुलना कुछ नहीं है, अथच, जड़ से आरम्भ करके सब कुछ में ही नागपाशमोचन के निमित्त 'गरुड' की शरण भी है। इस पाद के २१, २२, २३ सूत्रों में जड़ का लक्षणादि किया गया है, और २६ सूत्र में व्यवहार का लक्षण है। ध्यान दें कि, बहिर्विज्ञानादि को अन्तर्भाव में लाकर ही ये सब लक्षण दिये गये हैं।

अब, यह जो 'बाधबाध्यता' है, वह जब फिर अपने को ही 'बाधन' (negate) करने की ओर चली है, तो प्रश्न होता है—'अच्छा, यह बाध-बाधन (negating the negative) किस भूमि में (क) निरतिशय, एवं (ख) निर्व्यूढ है ? इन दोनों परिभाषाओं को पहले-पहले समझने का यत्न किया गया है। निरतिशय नाद की भी परमता एवं बिन्दु की भी परमता है; और निर्व्यूढ कहने से कला की भी परमता है। इस प्रकार भी नये सिरे से सोचकर देखें। भगवत्ता में यह लीलाकैवल्य निष्ठित है।

२०. विलसितत्वमानन्दस्य योगमाया।

आनन्द का विलास जिनसे होता है, वे योगमाया हैं।

वा० सम्बन्धगुणकर्मादियोगाद् या मायते स्वयम्।
साक्षात्त्वेन परानन्दं योगमायेति सोदिता ॥२४॥

अन्वय—सम्बन्धगुणकर्मादियोगात् या स्वयं मायते। सा साक्षात्त्वेन परानन्दं योगमाया इति उदिता ॥२४॥

[जो सम्बन्ध, गुण, कर्म आदि के योग से स्वयं मापी जाती है, वे साक्षात् परानन्द योगमाया रूप से प्रकट हैं ॥२४॥]

भाष्य—आनन्द की जो परमता एवं लीलाकैवल्य है, उन दोनों भावों को 'साक्षात्' रूप में सम्बन्ध, गुण, कर्म इत्यादि (अमायिक) भाव से स्वयं (स्वतन्त्र, अन्यनिरपेक्ष भाव से) विलसित (विचित्र और विशेष अनिर्वचनीय रूप में) करती हैं जो, वे योगमाया हैं। आनन्द के परमोल्लास-विलासादि रूप जो भगवत्ता है, उससे पृथक् कोई तत्त्व योगमाया नहीं है। भगवत्ता स्वयं ही अनिर्वचनीय विलासानुरोध से योगमाया है। 'योगमायामुपाश्रितः' इत्यादि वाक्यों से कहीं पृथक्ताविभ्रम में न पड़ जायें ! आनन्दपरमता का जो लीलाकैवल्य है, उसकी विलास भूमि की भूमिका (अमायिक) सम्बन्धादि-रूप में 'रच' देती हैं ये योगमाया। 'योग' एवं 'माया' इन शब्दों पर ध्यान दें। कारिका में—'योगाद्', 'मायते', 'स्वयं', 'साक्षात्त्वेन' ये चार लिङ्ग भावनीय हैं। 'परानन्दं' पद कर्म में प्रयुक्त तो है, किन्तु इन चार लिङ्गों द्वारा पृथक्त्व एवं पराक्त्व में ग्रहणीय नहीं है। सुतरां, सम्बन्धादि भी 'मायिक' नहीं हैं। भगवत्ता स्वविलास के लिए योगमाया में जो अनिर्वचनीय (अचिन्त्य) 'स्वमायन' करती हैं, स्वभाव जो भगवत्ता है, उसके योग में ही, वियोग में नहीं है, उसे मायिक के गोष्ठीयुक्त (अन्तर्गत) नहीं किया जा सकता। महामायादि सूत्र में यह विवेचित हुआ है।

तब फिर यह समझने पर नहीं चलेगा कि, योगमाया की कोई 'नामगन्ध' इस मायिक प्रपञ्च में नहीं है, रह भी नहीं सकती। वह अवश्य ही नहीं है। एक धूलि-रेणु, एक बिन्दु शिशिर, एक तृण कुसुम, भीतर में कोई एक पुलक वेदना—किसी भी स्थल में (अवश्य, हृत् एवं हृदय में) योगमाया का वर्जन करके 'प्राकृत' माया का 'दखल' नहीं हुआ है। योगमाथा में जो चार 'लिङ्गक' हैं, वे चारों 'अपिहित' मात्र हुए हैं जड़ादि क्षेत्र में; तिरोहित कहीं भी नहीं हुए हैं।

किन्तु, जड़त्व क्या है ?

२१. अलसितत्वमानन्दस्य जडत्वम्।

आनन्द का (एवं तत्सह लीला का) अलसित भाव ही जड़त्व वा जड़ीयत्व है।

वा० आनन्दनिष्ठलीलायाः परिसीमा हि बाधने।
तत्रैव जडतापत्तिः कैवल्यमिव बाधितम् ॥ २५ ॥

अन्वय—बाधने हि आनन्दनिष्ठलीलायाः परिसीमा। तत्र एव जडतापत्तिः कैवल्यं बाधितम् इव ॥ २५ ॥

[बाधन होने में आनन्दनिष्ठलीला की परिसीमा है। वहीं जड़ता आपन्न होती है, कैवल्य भी बाधित-सा हो जाता है ॥२५॥]

भाष्य—आनन्द में लीला कैवल्य निष्ठित है, सन्देह नहीं। स्वयं-स्वतन्त्र भाव, जिसमें कोई भी प्रतिद्वन्द्विता का व्यामर्श ('challenge') नहीं है—Absolute Autonomy grounded on undivided, unchallenged Being and Becoming—वह हुआ कैवल्य। इसमें जो कुछ 'बाधन' (limitation) दृष्ट होता है वह पहले किस प्रकार आया, उसका निदान किसी ने नहीं दिया—'कुत इयं विसृष्टिः'—इस प्रश्नाकार में ही वह रह गया है। हाँ, सीमा, गण्डी, जिस प्रकार हो, लगी हुई है। जो कैवल्य रूप में निष्ठित है, वह 'सीमित' रूप में घटित हुआ है। इस बाधनघटित, बाधनाघटन की ओर भी एक परिसीमा (maximum limitation) दिखाई दे रही है, हम लोगों के प्रत्यय में एवं व्यवहार में। कैवल्य के सन्धान में बाधबाधन (negating the negation) की ओर जो निरतिशय, जो निर्व्यूढ, जो परिनिष्ठित है उसकी ओर चलना पड़ा था। इस स्थल में विलोम क्रम (affirming the negation) है। इसके फलस्वरूप, आनन्द का स्वलसित भाव फिर नहीं है, लीला भी फिर नहीं है, इस निष्ठित निषेध की अवम भूमि में हम उतर आए हैं। वहाँ मिला निष्ठित स्वलसित के स्थान पर स्तिमित अलसितत्व। लीलास्थल में 'कीला' (Bondage Factor) है। यह हुआ जड़त्व। यदि कहें इसकी आवश्यकता इसीलिए है कि, स्वलसित यदि 'किसी अकार' अपने को अलसित में उतारे, तो आनन्द के उल्लास-विलासादि भी अप्रासङ्गिक

हो उठते हैं, किन्तु विचारशास्त्र जो कुछ भी कहे (whatever the dialectics may say) तुमने काम की बात को खासी-मीठी बनाकर ही कहा है, यह मानना होगा।

किन्तु जड़ को जड़ बनाकर देखने से या रखने से तो नहीं चलेगा। मान लें, तुम्हारे जप के अक्षर हैं। विज्ञान भी अपने हाथ से लपेटे हुए जड़ के नागपाश की वज्रगाँठ को स्वयं ही खोल रहा है, अभिनव विज्ञान के दिए हुए सब 'गरुड मन्त्र' (हाइज़नबर्ग फार्मूला इत्यादि) को रटकर। किन्तु बन्धन की ग्रन्थि खुलकर भी नही खुल रही है। इसीलिए इस प्रकार 'दृष्टिकोण' को उलट लेना होगा।

२२. अनिरस्यमानस्वभावत्वे सङ्कोच्यमानवृत्तित्वमेव लीलाकैवल्यस्य।

आनन्द के स्वभाव में जो लीला कैवल्य है, उसका निरसन न होकर (अर्थात् उसके रहने पर भी), सङ्कोचनादि रूप में भी उसकी वृत्ति लक्षित होती है।

वा० धूलिलोष्ट्रादिषु ज्ञेयं जडत्वं दृश्यभोग्ययोः।
अस्तिभातिप्रियञ्चेति प्रकृतिं किं विमुञ्चति।
आनन्दस्य च लीलायाः सर्वानुस्यूततास्थिति : ॥ २६ ॥

अन्वय—धूलिलोष्ट्रादिषु दृश्यभोग्ययोः जडत्वं ज्ञेयम्। किं (तत्) अस्ति-भातिप्रियञ्च इति प्रकृतिं विमुञ्चति ? आनन्दस्य लीलायाः च सर्वानुस्यूतता-स्थितिः ॥ २६ ॥

[धूलि, लौंदे आदि में दृश्य व भोग्य का जडत्व है। (वह) 'अस्ति' 'भाति' 'प्रिय' प्रतीति की प्रकृति को छोड़ता है क्या ? आनन्द और लीला की सबमें अनुस्यूत रहने की स्थिति है।]

भाष्य—धूलिलोष्टादि को (स्थूल भाव से), पञ्चतन्मात्रादि को (सूक्ष्मभाव से), यहाँ तक कि, जगत् के मूल में जो 'प्रकृति' है उसे भी (कारण भाव से), दृश्यमात्र, भोग्यमात्र—इस प्रकार देखकर वा जानकर, 'जड़' बनाया है। सांख्यादि के सूक्ष्म विश्लेषण में अन्तःकरण एवं 'महत्' भी (जिन्हें साधारणतः ज्ञान का साधन एवं ज्ञान ही समझा जाता है), इस दृश्य-भोग्य के भाग में पड़ता है, इसीलिए वह जड़ है। यह अद्वैत वेदान्त में भी तटस्थ है। भक्तिसिद्धान्त में, विशेषतः रसाश्रित साधन में, 'प्राकृत' 'जड़ीय' इन शब्दों की अन्य रूप व्यञ्जना है। नाना प्रसङ्गों में इन सब पर दृष्टिपात हुआ है। जपसूत्र के आधार पर, केवल वैज्ञानिक के 'Matter' वा जड़त्व को ही लक्ष्य नहीं किया गया, अथवा पश्चिम के दर्शनादि में रूपादि का एवं गुरुत्वादि के आश्रय अथवा सम्भावना को ही लक्ष्य नहीं किया गया है; इस देश के भी सांख्यादि के जड़त्व में ही लक्षण को बाँधकर रखा नहीं गया है। एक सर्वानुस्यूत सूत्र पाने की चेष्टा हुई

है। विज्ञान का ही हो वा दर्शन का ही हो, जो 'जड़' कहकर 'ख्यात' होता है, उसकी ख्याति में एक 'कुण्ठा', एक 'संकोच' रह जाता है। यह मानो भुला दिया जाता है कि, कोई पदार्थ किसी अवस्थान में अपना 'स्वभाव' वा प्रकृति त्याग नहीं करता, एवं वह स्वभाव हुआ उसमें अस्तिता-भातिता-प्रियता का (सच्चिदानन्द का) अविनाभाव। यह अपिहित होता है, सङ्कुचित होता है, किन्तु तिरोहित, निरस्त नहीं होता है, हो नहीं सकता। एक धूलिरेणु में भी नहीं। केवल फिर सामान्य भाव से वह नहीं है। प्रत्येक पदार्थ की सत्ता में आनन्द ब्रह्म बिन्दुरूप में अनुप्रविष्ट है, उसकी सत्ता का जो 'हृत्' है, वहाँ अस्ति-भाति को साथ रखकर ही आनन्द परं अहं रूप में सन्निविष्ट है; सुतरां, लीलाकैवल्य ही हुआ उसका 'हृदय'। इन चारों से एक नगण्य धूलि भी वञ्चित, बिताड़ित नहीं हुई है, हो भी नहीं सकती—ब्रह्म-स्वभाव, बिन्दु, हृत् एवं हृदय इन कुछेक 'ख्यातियों' में (in apprehension and appreciation) अवश्य ही विचित्र भाव से बाध (negation इत्यादि) सम्भावित हुआ है। न्यूटन के दिन के विज्ञान में जड़त्व की जो ख्याति थी, वर्तमान में क्या वही है ? केवल Mass and Energy समीकरणसूत्र में ग्रथित होकर नहीं, Energy भी वह बर्टेण्ड रसेल के शब्दों में—Matter is becoming more and more material, अर्थात्, Cartesian (Follower Descarte) युग के उस द्वैत का मार्जन होता चला है। सुतरां, विज्ञान की ख्याति में भी शनैः-शनैः एक सर्वानुस्यूतता की स्थिति ही सम्भावित हो रही है। आनन्द-लीला ही वह है, यह ख्याति कब होगी ? अति सूक्ष्म जो अणु है, उसके बीच भी यदि परम विपुल (बिन्दुरूप में) विद्यमान रहे, और कहे—'मुझे चाहे जिस परिसीमा में रखने जाओ, मैं अपनी निरतिशयता एवं निर्व्यूढता से किसी भी प्रकार बेदख़ल नहीं होऊँगा', तब तो जड़ को उसके जड़त्व में ही 'संहृत' करके तुम रख नहीं सके ! जिन सब पदार्थों की 'जड़' रूप में ख्याति है, उनकी प्राणचेतना, आनन्द-लीलादि-रूप में 'अख्याति' भी जो हमारे व्यवहार में चल रही है, यह भी कह आए हैं। वर्तमान में Nuclear physics केवल बहिःप्रकोष्ठ की वार्ता ही सुनाता है। जड़ के 'हृद्देश' में (यन्त्रारूढ़ भाव से) 'हृदय' का स्पन्दन भी अब सुनने का उद्योग कर रहा है। किन्तु वह स्पन्दन किसका है ? प्राण कहने में तो अब भी प्राणों में शङ्का जो है !

तत्पश्चात्, दृश्य-भोग्य कहकर तुम जिसे 'जड़' बनाते हो, उसमें भी क्या 'दृशि' नहीं, भोक्ता नहीं ? देखना और भोग करना क्या एकतरफा है ? यह फूल केवल दृश्य और भोग्य है ? द्रष्टा और भोक्ता नहीं ? अन्न स्वयं भी अन्नाद नहीं ? जब तुम उसे भोग करते हो, तब वह भी तुम्हारा भोग नहीं करता ? कुछेक rigid फार्मूला के ढाँचे से निकल कर जो आना होगा ? नहीं तो, प्रमाण-व्यवसायी बनोगे, प्रामाण्य-अनुभवी तो नहीं बन सकोगे, और,—'रसं लब्ध्वा आनन्दीभवति !'

इस निमित्त आगे का सूत्र है—

२३. दृश्यभोग्ययोर्द्रष्टृभोक्त्रोः स्वभातिप्रियत्वाभ्यां पिहितवृत्तित्वादलसितचेतनत्वं जडत्वे ।

दृश्य-द्रष्टा एवं भोग्य-भोक्ता—इस प्रकार द्वन्द्व स्थिति (bi-polarity) के स्थल में, द्रष्टा एवं भोक्ता की जो अपनी भातिता एवं प्रियता है, उसके द्वारा दृश्य एवं भोग्य की अपनी (अस्तिता नहीं, किन्तु) भातिता एवं प्रियता की 'पिहितवृत्तिता' होती है, आच्छादितभाव घटित होता है एवं उस पिहितवृत्तिता के फलस्वरूप 'अलसितचेतन' भाव दृश्य में और भोग्य में देखा जाता है; उसके होने पर जड़त्व ख्याति होती है ।

सुतरां, देखा जाता है कि, जड़ में अलसित-चेतनत्व स्वतःसिद्ध नहीं है । द्रष्टा एवं भोक्ता के सम्बन्ध में आकर, उनके निज (विशेषतः इस सम्बन्ध में अर्जित) लसित चेतनत्व की प्रतियोगिता में 'निष्प्रभ' और अलसित होकर ही उनका जड़त्व है । कैसे ?

वा० नक्षत्राणां च सोमस्य द्युतिमाच्छाद्य दीप्यते ।
भानुर्यथा तथा द्रष्टा भोक्ता कर्तेति चिन्त्यताम् ।
द्वन्द्वे भोक्तुर्हि भोग्यस्य भोक्तानन्दी न चापरम् ॥ २७ ॥

अन्वय—यथा भानुः नक्षत्राणां सोमस्य च द्युतिम् आच्छाद्य दीप्यते तथा द्रष्टा भोक्ता कर्ता इति चिन्त्यताम् । भोक्तुः भोग्यस्य च द्वन्द्वे हि आनन्दी भोक्ता न अपरम् भोग्यम् ॥ २७ ॥

[जैसे सूर्य नक्षत्रों की और चन्द्रमा की द्युति को ढककर दीप्त होता है, वैसे ही द्रष्टा, भोक्ता और कर्त्ता है ऐसा सोचा जाय । भोक्ता और भोग्य के द्वन्द्व में भोक्ता ही आनन्दी बनता है, दूसरा (भोग्य) नहीं ॥ २७ ॥]

भाष्य – सूर्य दीप्यमान होने पर नक्षत्रादि ज्योतिःपदार्थों की (कारिका में 'सोम' =यह उपग्रह चन्द्रमण्डल ही नहीं है) अपनी-अपनी द्युति आच्छादित हो जाती है । वे किन्तु द्युतिमत् ही रहते हैं । द्युति उनके स्वभाव में ही है । द्रष्टा, भोक्ता, कर्ता—इस त्रिपुटी को उपमा के अन्तर्गत भानु के सदृश समझें । नक्षत्रादि भानुप्रकाशादि की प्रतियोगिता में उस स्थल पर दृश्यादि-स्थानीय हैं । उपमास्थल में, नक्षत्रादि ही अदृश्य होते हैं, किन्तु उपमित स्थल में, उनके स्वभातित्वादि आच्छादित हो जाने से वे होते हैं दृश्यादि । इस प्रकार की द्वन्द्वस्थिति के निमित्त प्रतियोगिता होने पर, भोग्य के 'भाग' में चेतन एवं आनन्दीभाव नहीं पड़ता, भोक्ता के भाग में ही पड़ता है । अर्थात्, इस प्रकार प्रतियोगितास्थल में, भोक्ता ही आनन्दी है, भोग्य नहीं, इस प्रकार ख्याति होती है । किन्तु मित्र-मिलन, वनिता-सम्भोगादि के स्थल में पारस्परिकता परिस्फुट ही रहती है । सुतरां, 'योग्यता' का प्रश्न आता है । मित्र-मिलन के

स्थल में प्रतियोगिता होने पर भी पारस्परिक आनन्दी होने में बाधा नहीं हुई, किन्तु जब मैं एक नीबू खाता हूँ, तब अकेला मैं ही आनन्दी होता हूँ। इस भेद की नियामक जो योग्यता (fitness or appropriateness) है, उसका एक निरूपण चाहिए।

२४. पारस्परिकव्यवहार-व्यवहार-नियामकसम्बन्धानुपातित्वं योग्यत्वम्।

परस्पर के व्यवहार के स्थल में, उस व्यवहार का नियामक एक सम्बन्ध रहता है। उस सम्बन्ध की अनुपाती योग्यता है।

वा० योग्यत्वमनुपातित्वात् क्रमापेक्षव्यवस्थितम्।
तरतमतया तस्य वृत्तिर्मेयत्वमृच्छति ॥२८॥

अन्वय अनुपातित्वात् योग्यत्वं क्रमापेक्षव्यवस्थितम्। तस्य तरतमतया वृत्तिः मेयत्वम् ऋच्छति ॥२८॥

[योग्यता अनुपाती (relative) होने के कारण क्रम की अपेक्षा से व्यवस्थित है। तरतमता से उसकी वृत्ति मेयत्व को प्राप्त होती है ॥ २८ ॥]

भाष्य—योग्यता अनुपात-धर्मी होती है। व्यवहार क्षेत्र में एकान्त योग्य वा अयोग्य कुछ भी नहीं है। सभी आपेक्षिक हैं। जो सब व्यवहितादि वस्तु सूर्यालोक में भी दृश्य नहीं, वे सब X-ray प्रभृति में दृश्य हैं। विप्रकृष्ट (जैसे, बहुदूरवर्ती नक्षत्र) के सम्बन्ध में भी वही बात है। वृक्षलतादि में (अन्तःसंज्ञा), पाषाणादि में (प्राणन), साधारणतः 'प्रतिस्पन्द' नहीं देता; किन्तु योग में एवं उपयुक्त मन्त्र में वे सब, चेतना और प्राण के 'सूचक' प्रतिस्पन्द देने की योग्यता पा चुके हैं और पा रहे हैं। इसलिए, 'अनुपात' कहने से ये तीनों आते हैं—क्रमापेक्षा, तरतमता एवं परिमेयता। इन तीनों को यथाक्रम से, पाद, कला एवं मात्रा का रूप कह सकते हैं। सुतरां, 'क' नामक पदार्थ में, मेरे सम्बन्ध में, एवं प्रतियोगिता में, जब कहते हैं—वह दृश्यमात्र है, द्रष्टा नहीं; भोग्यमात्र है, भोक्ता नहीं; कार्यमात्र है, कर्ता नहीं;—तब, यह जो उसकी द्रष्ट्रत्वादि के सम्पर्क में अयोग्यता है, वह अयोग्यता किस 'अनुपात' में है! अर्थात्, किस पाद में या किस क्रमापेक्षा में है! किस कला में (in what respect and aspect), तुलना में है? किस मात्रा में वा परिताप में? इन तीनों जिज्ञासाओं के मूल में तो विज्ञान की यावतीय समीक्षा-परीक्षा हैं। साधारण एवं साधन व्यवहार में भी अन्यथा होना उचित नहीं है। अवश्य ही, इन तीनों के साथ काष्ठा वा limit का प्रश्न भी आता है। 'यह' पाद में, मात्रा में, कला में तो योग्यता का अनुपात (proportion) 'इस प्रकार' है; किन्तु काष्ठा में—अवम में वा चरम में? व्यासनन्दन शुकदेव प्रव्रज्या में बाहर निकले तब पिता व्यासदेव को उद्देश करते हुए 'तरवोऽपि नेदुः'। प्रस्तरादि की (विशेषतः विग्रहादि की) 'योग्यता' भी, अनुपात के अवम ग्राम में एक प्रकार है, चरम ग्राम में अन्य प्रकार है। तुम विग्रह की

सेवा करके तुष्ट हो; विग्रह भी कहता है—'मैं परितुष्ट हूं; तुम वर माँगो'। जपादि द्वारा 'योग्यता' को उस 'शरण्य' 'वरेण्य'—रूप सुहृद्भूमि में उठा लेना होता है।

प्रणव, गायत्री, ऊपर कोई बीज अथवा नाम, इन सब में मात्रा, छन्दः, भाव, भास, इन सबके अनुपात में ऐसी किसी सीमा में आना होता है, जहाँ उनकी जड़त्व-ख्याति चली जायगी, उन सबमें प्राणप्रतिष्ठा होगी। चैतन्य स्फुरित होगा, उनका जो रस वा मधु है, वह उच्छसित होगा। जैसे, गायत्री में मात्रा (अग्नि, सोमादि) योग्यतानुपाती होने पर महाव्याहृतित्रय में जागृतिरूपता होती है, छन्द की योग्यता आने पर, 'तत्सवितुर्वरेण्यं' यह पाद है; भास में 'भर्गो देवस्य धामहि' है; भाव में, 'धियो यो नः प्रचोदयात्' है—

यह पादद्वय भी लसितचेतन होकर रहता है।

२५. योग्यत्वनिरूपितत्वं जडत्वाजडत्वयोः।

यह जड़ है अथवा जड़ नहीं—इसकी निरूपक पूर्वोक्त योग्यता है।

पहले देखा कि, योग्यता धर्म-व्यवहार क्षेत्र में कहीं निष्ठित (inflexibly fixed) होकर नहीं है।

वा० लोष्ट्रे जडत्वयोग्यत्वं त्वय्यजडत्वयोग्यता।
न हि निर्व्यूढवृत्तित्वं भजेते व्यावहारिके।
योग्यतायोजनाव्याप्तावजडत्वं जडेऽपि च ॥ २९ ॥

अन्वय—लोष्ट्रे जडत्वयोग्यत्वं त्वयि अजडत्वयोग्यता। (एते) व्यावहारिके निर्व्यूढवृत्तित्वं न भजेते। योग्यतायोजनाऽव्याप्तौ च जडे अपि अजडत्वम् ॥२९॥

[लौंदे में जडत्व की योग्यता है और तुम (जीव) में अजडत्व की योग्यता है। ये दोनों व्यावहारिक स्तर पर निर्व्यूढवृत्तिता को प्राप्त नहीं होते। योग्यता-योजना की अव्याप्ति होने पर जड में भी अजडत्व आ जाता है ॥ २९ ॥]

भाष्य—तुम्हारी जो साधारण व्यवहार ख्याति (ordinary pragmatic appreciation) है, उसमें तो लोष्ट्र में जड़ता की योग्यता है, और तुममें (त्वयि) अजड़ता की योग्यता है। किन्तु, यह जो साधारण व्यावहारिक (कारोबारी) जड़-योग्यता एवं अजड़योग्यता ('dead materiality and its opposite') है, ये दोनों अवश्य ही निर्व्यूढवृत्ति (unconditionally and unalterably established position or function) नहीं हैं। निर्व्यूढवृत्त होने पर देशकाल निमित्तादि बदलकर भी उसे अन्यथा नहीं किया जाता। जो जड़ है वह जड़ ही रहता है, जो चेतन है वह चेतन ही है। किन्तु हमने देखा है कि, जड़त्व योग्यता द्वारा निरूपित है। सुतरां, निर्व्यूढ़वृत्त (absolute constant) नहीं हैं। जड़-विज्ञान में matter का अविनश्वरत्व तिरोहित है। जड़वस्तु के अक्षरत्व के स्थल में 'शाक्त' अक्षरत्व आया है, किन्तु

वह भी सीमा-रेखा खींचकर। जड़ विश्व की पूरी ख़बर नहीं मिली है, और 'घर की ख़बर' (प्राण-मन की) तो ठीक-ठीक (पाद-मात्रा-कला-काष्ठा में) कम ही मिली है, और योग्यता भी सम्बन्धानुपात द्वारा निरूपित है। सुतरां कारिका का यह शेष चरण विज्ञान की ओर से अब भी जाँचा जाना बाक़ी है। योग्यता की 'योजना' (जैसे, जपादि के अक्षर में) सर्वत्र तुम साधते जा रहे हो, किन्तु ठीक व्याप्ति नहीं हो रही है। व्याप्ति ठीक 'भूमि' तक होते ही—'अजडत्वं जडेऽपि च' होता है। यह जो ठीक भूमि की बात है, वह प्रत्येक पदार्थ को 'नाभि' की बात है। नाभि के सन्धान में ही सब चला है। किन्तु शायद मृगनाभि का जो मृग है, उसकी भाँति। किन्तु नाभि का सन्धान तो बाद में होगा, व्यवहार ही किसे कहते हैं ?

२६. क्रियाकारकफलसङ्घातनिरूपितवृत्तित्वं व्यवहारत्वम्।

क्रिया, कारक, फल इन तीनों के सङ्घात (co-incidence, congruence, confluence) द्वारा निरूपित (conditioned and assigned) जो वृत्ति है, वह व्यवहार (behaviour) है। [इस 'व्यवहार' शब्द को विज्ञानादि की जड़वृत्ति (physical events) के सम्बन्ध में भी व्याप्तिमान् समझना होगा।]

वा० फलस्य फलितत्वाय क्रिया तस्याश्च कारकाः।
संहत्य वृत्तितां यन्ति विश्लेषादिति पद्यते।
संश्लेषाद् यत् समग्रत्वं तद्वृत्तिर्व्यवहारता॥ ३०॥

अन्वय—फलितत्वाय फलस्य क्रिया। तस्याः च कारकाः संहत्य वृत्तितां यन्ति, इति विश्लेषात् पद्यते। संश्लेषाद् यत् समग्रत्वं तद्वृत्तिर्व्यवहारता॥३०॥

[फल के फलित होने के लिए क्रिया होती है। उस क्रिया के कारण संहत (इकट्ठे) होकर वृत्तिता को प्राप्त होते हैं ऐसा विश्लेषण से सिद्ध होता है। संश्लेष से जो समग्रता है उसकी वृत्ति है व्यवहारता॥३०॥]

भाष्य—कोई फल (effect desired , फलने के लिए (to be actual, to materialize) उपयुक्त (योग्य) क्रिया और कारक की संहतवृत्ति की (co-incidence इत्यादि की) अपेक्षा रखता है। सभी प्रकार के क्रियास्थलों में, विश्लेष करके (by analysis, adequate and sufficient), यह प्रतिपन्न होता है। विश्लेषण करके क्रिया के अङ्ग, कारक के अंश-अवयवादि (partials, moments, components इत्यादि), पृथक् पृथक् रूप से हम देख लेते हैं। किन्तु 'व्यवहार' कहने से क्या समझना होगा ? इस पृथक्-पृथक् वृत्तिसमूह को पुनश्च संश्लेषपूर्वक (synthetically) समग्रवृत्तिता में पाना और देखना होता है। इस प्रकार की समग्रवृत्तिता (integrated functioning) के रूप में जो भास एवं ग्रहण है, उसे 'व्यवहार' कहते हैं। वि + अव + हार—इन तीन भागों में ये तीन व्यापार सूचित होते हैं। कोई एक फल है। उसका

सामान्य भाव से भास हुआ—यह 'फला'। क्यों, कहाँ, किस प्रकार, किसके द्वारा इत्यादि अभी भी प्रतिभात नहीं हुए हैं। यथासम्भव सूक्ष्म और दक्ष विश्लेषण करके पाया कि—क्रिया एवं उसके कारकसमूह ने किस प्रकार संहतवृत्ति होकर फल को ठीक इस आकार में घटित किया। गीता में जैसे 'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधम्' इत्यादि भाव से पञ्चधा विश्लेषण है। विज्ञानादि में, समीक्षा में, परीक्षा में एवं अन्वीक्षा में एवंविध विश्लेष वा analysis को ही मुख्य उपाय के रूप में अवलम्बन करना होता है। किन्तु यथासम्भव निपुणभाव से विश्लेष करके भी निश्चिन्त नहीं हुआ जाता कि भाग-समूह को पूरा पा चुके हैं, एवं ठीक योग्य अनुपात में पा चुके हैं। पाद में, मात्रा में, कला में, काष्ठा में यथार्थ संहतिरूप मिला है तो? इस संशय का निराकरण होता है पुनश्च संश्लेष में समग्र को मिला सकने पर। जैसे, प्रोटोप्लाज्म। विश्लेषण से जो उपादान जिस रूप में प्राप्त हुए, उन्हें ठीक अनुपात में मिलाकर सजीव प्रोटोप्लाज्म मिला क्या? यदि कहें, सजीव का विश्लेषण तो नहीं किया है। तब फिर, वह भी मत कहना कि—सजीव का वा प्राण का 'व्यवहार' संकलित कर लिया है। जपादि में कुण्डली की जागृति, नादादि के स्फुरण का एक शारीरविश्लेष रूप (physiological picture) अवश्य ही है। मान लें, वह रूप यथासम्भव 'योग्य' (adequate and sufficient) रूप में ही मिल गया है। किन्तु, उससे जप्य मन्त्र का, प्रणवादि का, जो 'व्यवहार' है, वह क्या पूर्ण और यथार्थ रूप में व्यक्त हुआ या नहीं? इसके लिए, इन शारीर व्यापारों को संश्लेषपूर्वक समग्रवृत्तिता में लाकर देखना होगा कि—वे सब इस नादस्फुरणादि फल के सम्पर्क में ठीक योग्य हैं या नहीं? विश्लेषण के बाद पुनश्च 'अवहार' न होने तक व्यवहार का भासादि हुआ, यह नहीं कहा जा सकता।

२७. व्यवहार-निर्वाहक संघातस्य संव्यूढत्वं चक्रकोषाद्याकृतिभिः।

पूर्वोक्त व्यवहार निर्वाहक जो 'संघात' है, वह फिर संव्यूढ रूप होता है, चक्रत्व, कोषत्व इत्यादि आकृति ग्रहण करके।

वा० व्यवहारानुरोधाद् ये सङ्घातावृत्तितामियुः।
तेषां चक्रत्वकोषत्वाद्याकारा अपि चासते।
पञ्चकोषात्मको जीवो द्रव्ये मूर्तेऽपि चक्रता ॥३१॥

अन्वय—स्पष्ट है।

[व्यवहार के अनुरोध से जो संघातवृत्तिता को प्राप्त हुए हैं उनके 'चक्र' 'कोष' आदि आकार भी हैं। जीव पञ्चकोषात्मक है और मूर्त द्रव्य में भी चक्रता है ॥३१॥]

भाष्य—व्यवहार के अनुरोध से जो संघात वृत्तिमान् है, उसे क्रिया, कारक एवं फल, इन तीनों में से किसी एक को मुख्य बनाकर, एवं अन्य दोनों को गौण बनाकर पूर्वोक्त विश्लेष-संश्लेष साधित हो सकते हैं, व्यवहारतः होते भी हैं। मुख्य गौणभाव

से ही वह होना उचित है, 'वियुक्त' (by mere abstraction) करके होना उचित नहीं है। प्रत्यवच्छेद में होना उचित है, केवल अवच्छेद में नहीं। यथार्थभाव से व्यवहारनिर्वाहक संघात को ग्रहण करने पर देखा जायगा कि, क्रिया-कारक-फल, इन तीनों में से प्रत्येक अन्य दोनों में केवल 'संहत' हुआ है, ऐसा नहीं। अर्थात्, केवलमात्र, co-incidence and composition नहीं; उनका co-inherence भी है। एक के मध्य दूसरे दोनों ने अपने को सन्निविष्ट और सव्यापार रखा है। इस प्रकार फल के बीच क्रिया और कारक, दोनों ही वर्तमान और वृत्तिमान हैं। फल को 'भिन्धि' (तोड़ कर देखो), उसमें क्रिया और कारक वर्तमान हैं। इस शरीर से एक वाक् बाहर होती है, अथवा एक कणा क्षरित होता है; उसमें यह शरीर और शरीरी पूरे-पूरे वर्तमान हैं, ऐसा समझना होगा। केवल मात्र बीज में वा बिन्दु में नहीं। उसमें घन एवं समर्थरूपता हैं। इस प्रकार संघात की श्रेणी, स्तर, पर्व इत्यादि रूप से परम्परा है। 'संहत' भाव साधारण लक्षण है। यह होने पर व्यवहार होता है। किन्तु संहत को श्रेणि, स्तर-परम्परा में उठकर 'संव्यूढता' में पहुँचना होता है। इस संव्यूढ की बात पहले कही भी गई है। यह संहत की एक विशिष्ट क्रमोन्नत भूमि वा स्तर है। सृष्टि में सर्वत्र ही (यहाँ तक कि, मूर्त जड़ पदार्थ में भी) संहत के साथ संव्यूढ भी व्यक्त अथवा गूढभाव से रहता है। किन्तु अधिकांश स्थलों में, उस सम्बन्ध में हमारा प्रत्यय नहीं होता। इसीलिए संहत रूप यदि देख भी लें, तब संव्यूढ रूप क्वचित् ही देख पाते हैं। जैसे, अधुना विज्ञान ने जड़ाणु आदि में भी चक्ररूप (planetary pattern) देखा है, किन्तु कोषाकृति ? इसीलिए इस प्रकार अब भी व्यवहार हो रहा है कि, जीव में पञ्चकोषादि हैं; मूर्त जड़ादि में चक्ररूपता है। इस प्रकार का भेद इस पर निर्भर करता है दृष्टिगति की अवगमकता कहाँ तक है। सुतरां, मूर्त भूतादि में भी (यथा, एटम में) कोषरूपता सावकाश है। चक्र-कोषादि के सम्बन्ध में पहले कुछ-कुछ आलोचना हुई है; भावी ग्रन्थ में सभी को लक्षणों में विस्पष्ट करने का यत्न भी होगा। यहाँ यह ध्यान दें कि 'संहत', 'समूह' एवं 'संव्यूढ', इन तीनों में यथाक्रम फल, क्रिया एवं कारक को मुख्य रखा गया है।

२८. आनन्दस्य सर्वात्मत्वेऽपि व्यवहारतो नाभिकोषत्वम्।

आनन्द ने निखिल आत्मा एवं हृत् होकर भी व्यवहार-निर्वहण में 'नाभिकोष', यह युग्मरूप ग्रहण किया है। जहाँ चक्ररूपता है, वहाँ उसकी 'नाभि' है, और जहाँ कोष-रूपता है, वहाँ 'आनन्दमय कोष' है।

वा० व्यवहारानुरोधे च आनन्दः सर्वभावनः।
नाभिकोषत्वमायाति सर्वात्मा सर्वहृत् स्वयम् ॥३२॥

अन्वय—व्यवहारानुरोधे च सर्वभावनः, सर्वहृत्, सर्वात्मा आनन्दः स्वयं नाभिकोषत्वम् आयाति ॥३२॥

[और, व्यवहार के अनुरोध से सर्वभावन, सर्वहृत्, सर्वात्मा आनन्द स्वयं नाभि-कोषता को प्राप्त होता है ॥३२॥]

भाष्य—आनन्द से ही सब कुछ जात है, आनन्द में ही जीवित है, एवं आनन्द में ही प्रत्यावृत्त है—यह तो श्रुति, अनुभव दोनों में ही प्रसिद्ध है। यह आनन्द का सर्व-भावन रूप है। भूमा, आकाश एवं शान्त रूप में आनन्द ही आत्मा है; पुनश्च, बिन्दु-रूप में निखिल सृष्टि में अनुप्रविष्ट भाव से भी आनन्द सर्वात्मा, सर्वभूतान्तरात्मा है। आनन्द-बिन्दु स्वकलन में होता है आनन्दकला; वह सर्वभूत में फिर, स्येष्ठ-नेदिष्ठ मर्म-ओकः रूप में हृत् है। सुतरां, आनन्द ही सर्वहृत् है। यह आनन्द क्रिया-कारक-फलादि व्यवहारनिर्वहण अनुरोध से क्या हुआ ? जहाँ (स्थूल में, सूक्ष्म में, कारण में) जितने चक्ररूप (spiral आदि pattern) हैं, उनके नाभि और अक्ष हैं; और जहाँ जितनी कोषाकृतियां (organic pattern) हैं, उनके मूल आधार और केन्द्र हैं। जैसे, जीव देह में मूलाधार में कुण्डली शक्ति आनन्दरूपिणी हैं; उनकी जागृति आनन्द-जागृति है। शङ्खावृत्त में जो षट्चक्र विन्यस्त है, उस षट्चक्र का अक्ष भी (सुषुम्णाचित्रादि रूप में) आनन्द है। और, मुख्यतः जिस अक्ष के आश्रय में जीव-आयतन में प्राणन चल रहा है, एवं साधन में विशेषतः चलता है, वह भी आनन्द (फल रूप में) है। प्राणन को यदि कहें फल, तो 'अणन' को कहें क्रिया; और, प्राण को कारक।

२९. प्राणस्य प्राणत्वात्।

क्योंकि आनन्द प्राण का भी प्राण है।

क्रिया-कारक-फल, इन तीनों को ही प्राण की ही त्रिधा वृत्ति के रूप में देखा गया है। किन्तु प्राण स्वयं क्या वस्तु है ? अगले खण्ड में 'प्राणपाद' विशेष रूप से सन्नि-वेशित एवं विवेचित हुआ है। पाश्चात्य विज्ञान का 'Life' वा 'Vital Energy' यान्त्रिकता (Mechanistic Theory) के कवल से कवलित होकर भी 'अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्'। केवल वही नहीं। जिस जड़ के आदर्श पर प्राण को 'आंक' लूँगा, वह जड़ ही यदि दो दिन बाद कहे—'मैं प्राण हूँ। यह देखो, तुम्हारे सभी फार्मूला की केंचुली फेंक कर मैं बाहर निकलता हूँ।' तब फिर आश्चर्यबोध करने का कुछ नहीं है। किन्तु, प्राण भी अपने प्राण वा स्वरूप में आनन्द है, यह अवबोध कब होगा ?

वा० **'कः प्राण्याद्' यदि न स्याद् वै भूमाकाशः सुखात्मकः।**
प्राणस्य प्राणता यस्मात्ततोऽस्य सर्वनाभिता॥
क्षोभजन्यक्रियात्वेऽपि नानन्दान्यत्ववृत्तिता ॥३३॥

अन्वय—यदि सुखात्मकः भूमाकाशः वै न स्यात् 'कः प्राण्यात्' ? यस्मात् प्राणस्य प्राणता, ततः अस्य सर्वनाभिता। क्षोभजन्यक्रियात्वे अपि आनन्दा-न्यत्ववृत्तिता न॥

[यदि सुखात्मक भूमाकाश न हो तो कौन प्राणित होगा ? क्योंकि प्राण की प्राणता है, इसलिए इस (आनन्द) की सर्वनाभिता है । क्षोभजन्य क्रिया होने पर भी आनन्द से अन्यत्ववृत्तिता नहीं होती ॥ ३३ ॥]

भाष्य—आनन्द-ब्रह्म के मूल स्पन्द-क्रिया-रूप को यदि कहें 'अणन', तब विश्व में प्राणापानादि 'फलित' व्यापार-रूप को कहें 'प्राणन' । किन्तु मूल स्पन्द रूप में भी देखो, और फलित व्यापार-रूप में भी देखो, श्रुति ने कहा है, अनुभव भी कहता है—'कोऽन्यात् कः प्राण्याद् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात् ।' आनन्द भूमा-रूप में सर्वाधार हैं, इसी-लिए एक अणु भी स्पन्दित हो रहा है । विश्व में किस निगूढ मर्म में पुलक का सिहरन है, इसीलिए न विश्व में ऐसा हिल्लोल, इतना दोल है ! आत्मदृष्टि से सोचकर देखो । इस विश्व में अणु महान् में ओत-प्रोत अणन-प्राणन का 'प्राण' स्वयं आनन्द है । इस-लिए, आनन्द सर्वनाभि है । आनन्द-ब्रह्म का भूमा, सर्वात्मा, सर्वभावन, सर्वबृंहत्, सर्व-नाभि—मुख्यतः इन पांच रूपों में सर्वत्व प्रदर्शित हुआ है ।

शङ्का हो सकती है कि, अणन-प्राणनादि सभी कुछ तो क्षोभजन्य वृत्ति है । किन्तु वह 'क्षोभ' इस पञ्चधा सर्वता के आधार पर ही क्षोभ है, जैसे, निस्तरङ्ग महोदधि में लहरीमाला । सुतरां, उस क्षोभ में आनन्द की अन्यतापत्ति नहीं होती, आनन्दवृत्ति भी नहीं होती । अर्थात्, क्षोभरूप में भी आनन्द स्वभिन्न अन्य कुछ नहीं होता ।

व्यवहार में, विशेषतः विज्ञान के व्यवहार में, क्षोभ को पाते है अन्यरूपापत्ति रूप में (as 'strain') । अन्य रूप=अन्यता नहीं है । जहाँ क्षोभ है, वहाँ संक्षोभ (as 'stress') देखा जाता है । अर्थात्, रूपान्तरित फिर स्वरूप में लौटना चाहता है । जैसे, रबर, स्प्रिंग इत्यादि में स्पष्ट रूप से । किन्तु सर्वत्र ही यह विद्यमान है । फलतः, क्षोभ-संक्षोभ (strain and stress), इन दोनों का 'अनुपात' (ratio) सर्वत्र दृष्ट होता है । इसके फलस्वरूप सर्वत्र ही स्थितिस्थापकता (cosmic elasticity) है । आनन्द के सर्वनाभि होने के कारण ही सब प्रकार का क्षोभ ही आनन्द में प्रत्यावृत्त होना चाहता है । जपादि साधन में यह अन्तहीन प्रत्यावृत्ति (returning) है, जैसी कि साधारण उद्वेगभरी जागृति की निरुद्वेग आनन्दघन सुषुप्ति में होती है—जो चरम परिपूर्णता रूप धारण करता है, उसे कहा है समावृत्ति (व्यावृत्ति से) । रेणु भी अपने स्थितिरूप में अपनी आनन्दनाभि में ही स्थित है । वह जब चञ्चल होता है, क्षुब्ध होता है, तब वह अपने खोये हुए स्थितिरूप को ही खोजता-फिरता है । इस खोज का अन्त नहीं, जब तक परमा स्थिति में, आनन्दकैवल्य में नहीं पहुंच जाता । इसीलिए, मूल में एवं स्वभाव में, विश्वक्षोभ हुआ (जड़ में उसका गुण्ठितादि रूप दिखाई देने पर भी) रसलोभ और विश्वदोला (झूला) हुआ भुवनदोल ! Cosmic stress is cosmic yearning; cosmic vibration, cosmic thrill ।

३०. रसतमत्वाच्चेति ।

क्योंकि, प्राण का जो प्राण है, वह रसतम जो है ।

कुछेक श्लोकों में इस रसतम का थोड़ा-सा सन्धान लेने की आकूति हुई है । प्रथम दो में सगुण, साकार भाव के बीच से—

वा० कोऽयं कालीयनागो विततशतफणः कश्च कालीयकूपः
कास्ता गोगोपगोप्यो विषमविषवशात् स्तब्धसंवेदना याः ।
कालिन्दीकूलचारी मधुरमुरलिकानादसञ्जीवनेन
सन्धाय ह्लादिनीं को मथितफणिफणः संविदा नृत्यशीलः ॥३४॥

अन्वय— कः अयं विततशतफणः कालियनागः ? कः च कालियकूपः ? काः ताः गोगोपगोप्यः याः विषमविषवशात् स्तब्धसंवेदनाः ? कः कालिन्दीकूलचारी मधुरमुरलिकानादसंजीवनेन ह्लादिनीं सन्धाय मथितफणिफणः संविदा नृत्यशीलः ? ॥३४॥

[यह सैकड़ों फण फैलाये हुए कालियनाग कौन है ? और कालियकूप कौन है ? वे गो-गोप-गोपियाँ कौन हैं जो विषम विष के कारण स्तब्धसंवेदन हो गयी हैं ? कालिन्दी-कूलचारी कौन है जो मधुर-मुरलिका के नाद-रूपी संजीवन से ह्लादिनी का सन्धान कर के नाग के फणों को मथित करते हुए संवित् (शक्ति) से नृत्यशील हैं ॥ ३४ ॥]

भाष्य—शतफणा विस्तार करता है जो कालियनाग, कौन है वह ? उसका निवास कालियकूप ही है क्या ? और, उस कालियह्रद का जल, तृष्णा से पान करके, जो गो-गोप-गोपी सभी विषम विष में संज्ञाह्रास (अचेतन) हो गए थे, वे सब कौन हैं ? एवं कालिन्दीकूलचारी वह नटवर किशोर ही कौन है; जो अपने चरण-सरोज-तल में कालिय फणी के शतफण मथित करते हुए मधुरमुरलीनिनाद की संजीवनसुधा ढाल कर नृत्यशील हुए थे ? किशोर नटवर के उस मुरलीनाद में सन्धान हुआ था—किस रसतमा का ? वह रसतमा है परम आनन्दघन पुरुष के निज 'प्राण का प्राण' जो ह्लादिनीसार है, वह । उस महाभावानुग भाव का 'संवित्' के द्वारा उन्होंने सन्धान किया था । कालियविष में स्तब्ध संवेदन गो-गोप-गोपी में निगूढा ह्लादिनी के साथ संविद् की 'सन्धिनी' हुआ था मुरलीनाद । यह जो रसतम की अपनी रसतमा को जगाने की नित्य लीला है—वह अहरहः चल रही है । कालिय को, उसके आवास को, उसके विततशतफण को पहचान लो । अपने बीच ही । गो-गोप-गोपियों को भी पहचान लो । मधुरमुरलीनाद नाम से न सुनने तक अर्थात् सन्धिनी जब तक सन्धान नहीं देती, तब तक, मेरी जो ह्लादिनी संवित् है, वह स्तब्ध संवेदना के किसी अतल में डूबी रहती है, उसका पता नहीं मिलता ! गो-गोप-गोपी को नाना प्रकार से अपने बीच प्राप्त कर लो । जैसे, गो=वाक्, गोप=वाक् का छन्दः, गोपी=वाक् की भावानुगा, रसानुगा वृत्ति; इत्यादि ।

तत्पश्चात्,

वा० को रामः सानुजो यो दशरथतनयः शोभनाकान्त ऐच्छ-
ल्लङ्काधीशं निहन्तुं दशवदनमरिं दम्भिनं चात्मवध्यम्।
सीतारामौ भजन्तं सुविमलयशसं वेत्ति को वा कपीश-
मद्यश्वीनं किमेतद् यदघटघटनं प्राक्तनं शाश्वतं किम् ॥३५॥

अन्वय—कः रामः ? यः दशरथतनयः शोभनाकान्तः सानुजः दशवदनम् अरिम् दम्भिनम् आत्मवध्यं च लङ्काधीशं निहन्तुम् ऐच्छत्। सुविमलयशसं सीतारामौ भजन्तं कपीशं कः वा वेत्ति ? यद् एतद् अघटघटनं (तत्) किम् अद्यश्वीनं (उत) प्राक्तनं, शाश्वतं किम् ? ॥३५॥

[राम कौन हैं ? दशरथसुत सीताकान्त अनुजसहित जिन्होंने दशवदन शत्रु, दम्भी और अपने द्वारा वध्य लङ्काधीश को मारने की इच्छा की थी। सीताराम को भजनेवाले, विमलयशवाले कपीश्वर को भी कौन जानता है ? यह जो कुछ अघटघटन है यह आज-कल की बात है ? या पुरानी है ? या शाश्वत है ? ॥ ३५ ॥]

भाष्य—शोभनाकान्त (सीताकान्त), दशरथतनय, अनुज लक्ष्मण-सहित, राम कौन हैं कहो तो !—जिस राम ने, दाम्भिक आत्मवध्य जो दशानन लङ्काधीश अरि था, उसका निधन करने की इच्छा थी ? और, 'सीताराम' इस युगल का एकनिष्ठ भजनशील सुविमलयश वह कपिश्रेष्ठ ही कौन है ? एवं रामचरित में जो अपूर्व अघटनघटन है, वह क्या 'आजकल का' (अद्यश्वीन) है या पुरा काल का (प्राक्तन) है या नित्य चिरन्तन (शाश्वत) है ? यह सब क्या सोचा है ? यह सब क्या पौराणिक कहानी, ऐतिहासिक घटना, अथवा नित्य के जीवन की नित्य की छवि, अथवा, शाश्वत जो जीवनभूमि है, उस भूमि की ही मरमी वार्ता है ? यदि, अन्तिम दो दृष्टियों से देखना चाहो तो, यह रामलीला किस जीवन-दृश्यमञ्च में, किस प्राण के प्रेक्षागृह में किस प्रकार देखोगे, यह सोच लो। 'दशरथ' शब्द में किस तत्त्व का इङ्गित है ? और दशानन ? दशानन फिर 'आत्मवध्य' कैसे है ? अध्यात्म-रामायणादि में एवं कतिपय उपनिषद् में और सन्त सद्गुरु के मुख में, रामचरितमानस में—अन्यभाव से ही इसे स्फुट किया गया है। जप के साधन में कपि-श्रेष्ठ को अपने इष्टनामजपरत श्वासवायुरूप में भी आरम्भ में भावना करें। 'लं' यदि होता है, पृथ्वी बीज, अर्थात् वह भूमि, जहाँ सृष्टि धारा उतरकर कहती है—'यहाँ मैं अब कुण्डली मारकर विश्राम करूँगी, निद्रित होऊँगी (static, potential रूप धरूँगी), तो फिर, 'क' रूप जो व्यञ्जनमुख है, आनन्द की स्वकलना रूपा जो आनन्द-कला है, उसे कुण्डलिनी रूप में सुलाकर रखता है जो अवस्थान, उसे 'लङ्का' कह सकते हो। 'लं' वा लय स्थान में 'का' कौन है ? इस अवस्थिति में साक्षात् आनन्दकला कुण्डलिनी-रूपा होकर 'अशोकवन' में बन्दिनी (साक्षात् आनन्द संवित् वा ह्लादिनी संवित् होकर भी)

निद्रिता हैं। वे प्रसुप्ता होकर भी स्वरूप में शोकरहिता हैं। विशेषतः स्थूल में और बैखरी भूमि में ही यह निद्रा है। स्थूल में ये दस इन्द्रिय और उनका चालक वा चालित जो मन है, उस मन का ही आधिपत्य है। जिसे अपरा प्रकृति भी कहा जाता है। मानस के 'अव' एवं 'उच्च' दो ग्रामों की बात बार-बार कही गई है। इन दोनों को लेकर मानस की अथवा चेतना की तीन भूमियाँ हैं। यदि मानस को साधारण भाव से कहें दशानन रावण, तब 'अव' एवं 'उच्च' इन दो ग्रामों में उस रावण के दो 'सहोदर' हैं। पुनश्च, स्थूल में मानस के इन्द्रिय सहकार में जो वृत्ति है, वह जैसे उस भूमि में ही व्याप्त अथवा व्यापनयोग्य है, वैसे ही उस मानस का 'प्रभाव' केवल स्थूल में वा व्यक्त गोचरता की भूमि में ही 'सीमित' (restricted) है, ऐसा नहीं है। सूक्ष्म में, कारण में, एवं सन्धि में भी इसका प्रभाव है। अर्थात्, स्थूल में मानस की जो वृत्ति है, वह केवल स्थूल में ही रहकर शेष नहीं होती, इन तीनों क्षेत्रों में भी वह संस्कार बीजादि रूप में व्यापारवती होती है। इसलिए, ऊर्ध्व मानस की जो शुभसन्धि है, उसे अपेक्षा करते हुए मानस की जो वृत्ति है, उसके फलस्वरूप 'लङ्का' में पूर्वोक्त आनन्द कला की निद्रा में सार्धत्रिवलयाकृति (सन्धि-अर्थ) है। इन्हें भीतर की ओर से सोच-कर देखें।

अब, निखिल नाभि में जो परम आनन्द 'रम्' बीज रूप में अधिष्ठित हैं, उन्होंने क्या किया ? 'यम्' इस हृदयस्थ वायुबीज का समाश्रय करते हुए, 'वम्' वा वरुण बीज का अतिक्रम करके (समुद्रलङ्घन), 'लम्' का (अपनी निद्रिता आनन्दकलारूपिणी कुण्ड-लिनी का) 'उद्धार' किया। अपने आनन्दकला रूप के साथ मिलित होकर हुए 'राम'। 'रम्' बीज में जो 'अम्' है, वह वरुण बीज के 'व' को सम्प्रसारित 'उ' कार-रूप में (सानुज लक्ष्मण) मिलाकर हुए 'ओम्'। बैखरी भूमि में प्रसुप्ता नाद-बिन्दु-कला वा अर्धमात्रा, मध्यमा का (सेतु वा सागर) व्यवधान पार होकर पश्यन्ती में आई। इस प्रकार, कितने ही भाव से रामचरित रस को अपने मानस में (अनुबन्धानुरोध से) स्फुट कर लेना होता है ! अथच, यह रामचरित केवल क्या रूपक है ? वैसा तो नहीं।

वा० विश्वं चञ्चल्यते वा चिचलिषति कुतो वाऽपि बोभाति भूतं
विश्वं तेष्ठीयते वा जिगमिषदपि वा केन तिष्ठासतीतम्।
विश्वं शाशय्यते क्वाऽप्यधिशिशयिषते किं वनीवङ्क्ति किन्तु
विश्वे जाजायमाने यदधिकरणता सा पनीपत्यमाने ॥३६॥

अन्वय + भाष्य—विश्वं चञ्चल्यते (वारं-वारं चलति) वा (अथवा) चिच-लिषति (चलितुमिच्छति) कुतः (कथं कुत्र वा, कस्तत्र हेतुः को वा आधारः ?) (सदा चञ्चल्यमानमपि विश्वं कथं पुनश्चलितुश्चलितुमिच्छति कस्मिन्नाधारे वा चलति ? खलु रसमनपेक्ष्य कदापीयं चञ्चलता चिचलिषा वा न सम्भवति ;) कुतो वा विश्वं

भूतमपि (जातमपि बोभोति बोभवीति वारं-वारं भवति सकृद्भावे अतृप्यदिव ? सकृद्-भावे अतृप्यमानमिव विश्वं रसमेव अनुसन्धत्ते ?) विश्वं तेष्ठीयते वा (वारं-वारं तिष्ठति , जिगमिषदपि (गन्तुमिच्छदपि) (किं तद्-रसलालसया ?) केन तिष्ठा-सतीतं—(केन हेतुना इतं यातमपि तिष्ठासति स्थातुमिच्छति ? किं तत् प्राप्तमेव रसलेशं भूय आस्वादयितुम् ?) विश्वं शाशय्यते क्व (पुनः-पुनः शेते कुत्र ? प्रलयादिषु अस्माकं सुषुप्ताविव आनन्दभुक्, ननु भवति ?) किमपि अधिशिशयिषते (किमधिकृत्य किमु-द्दिश्य वा शयितुमिच्छति ?) वनीवङ्क्ति किं वा (नु) (किं वा वारंवारं वञ्चयते ? गमनशयनादि सकलव्यवहारेषु रसलिप्सु विश्वं मनाक् रसयुगपि आत्मानमेव वञ्चयते वारं-वारं भूमत्वस्य अनुपलब्धत्वात्, कालञ्चापि वञ्चयते विश्वं दुष्पूर-रसलिप्सायास्तस्य कालेनानवच्छेदात् ।) विश्वे जाजायमाने (विश्वे वारं-वारं जायमाने) यदधिकरणता (या अधिकरणता, यमेव रसमानन्दमधिकृत्य जायमानता) सा (अधिकरणता) पनीपत्यमाने (अपि विश्वे इति शेषः) (विश्वे वारं-वारं प्रलयादिषु पतत्यपि स रस आनन्द एवाधि-करणम्) ॥३६॥

विश्व चञ्चल चरण से केवल चल ही रहा है, फिर भी उसकी मानो चलने की साध नहीं मिटती, फिर भी चलना चाहता है। क्यों ? उसकी यह चिरचञ्च-लता किस अचञ्चल रसतम की ओर अभिसार है ? अभी तो वह हुआ है (भूतं), फिर भी होकर भी उसकी साध नहीं मिटी है, फिर-फिर बार-बार वह हो रहा है (बोभोति)। उसने क्या अपने रसतम से वर माँगा है ?—हे अव्यक्त रससागर ! एक बार के जन्म में तुम्हारे एक कणा के आस्वादन से तो हमारी आशा नहीं मिटी, मुझे भक्त रसिक की भाँति बार-बार जन्म लेने दो, तभी बारबार नव-नव आस्वादन से तुम्हारे साथ महारास में मिलित रहूँगा ! वह जाना चाहकर भी बार बार ठिठककर खड़ा हो रहा है, क्यों ? पुष्प कलिका से कलिकान्तर में उड़ जायगा मधुकर, तब वह उड़ूं उड़ूं करके भी फिर से जो बैठ रहा है ! क्यों ? मधुर के निबिड संग में उसकी लालसा अभी भी मिटी नहीं है, इसीलिए ? चले जाकर भी जो फिर लौटकर बैठना चाहता है (इतं तिष्ठासति) ! क्यों ? किसी अनास्वादित रस के कुहकमें ? विश्व चलते-चलते बारंबार सो जाता है, अपने अशेष चलने के पथ पर ही। किन्तु उसका सोने का स्थान कहाँ है (क्व) ? अपने पथ चलने की क्लान्ति को किस सुषुप्ति के निबिड रस में डुबा कर वह फिर नव होना चाहता है ? उसका यह शयन, शयन की साध किसके बीच (अधिशिशयिषते किम्) है ? उसके बाद, उसका यह निरन्तर पथ चलना, चलते-चलते जरा-सा मानो स्थिर होना अथवा लौट आना, क्लान्ति के भार से लौट कर सो जाना, दौड़-भाग कर तो रसतम को नहीं पा सका, नींद के बीच, स्वप्न में, ध्यान में क्या उसे पाऊँगा, इस आशा में—यह सभी करके वह देखता है, मैं केवल वञ्चना

ही करता जा रहा हूँ, किन्तु किसे ? (वनीवङ्क्ति किं नु), अपने को या और किसी को ? हे वाञ्छित के, रसतम के अभिसार में वञ्चित पान्थ ! क्यों भूल गये हो कि— जिस परम आश्चर्यमय आधार पर बारंबार तुम हुए (जाजायमान), उसी परम आश्चर्य आधार पर ही तो तुम फिर बार-बार गिर गये (पनीपत्यमान) ! जहाँ से आए वहीं तो फिर लौट गये ! वह स्थान छोड़कर 'पादमेकं न गच्छसि !' वह आनन्द, रसतम तुम्हारा चिराकाङ्क्षित है ! ॥३६॥]

वा० समारम्भकसम्बन्धा कालनिमित्तका हि या ।
संयोजकञ्च बध्नाति बाधा देशनिमित्तका ॥३७॥

अन्वय – या हि बाधा कालनिमित्तका (सा) समारम्भकसम्बन्धा देशनिमित्तका संयोजकं च बध्नाति ॥३७॥

[जो बाधा काल-निमित्त वाली है, वह समारम्भकसम्बन्धिनी है, और जो देश-निमित्त वाली है वह संयोजक को बाँधती है ॥ ३७ ॥]

वा० सर्वं सङ्गच्छते येन संग्राहकः स वै मतः ।
तं बध्नाति या बाधा छन्दोवैयर्थ्यहेतुका ॥३८॥

अन्वय—येन सर्वं संगच्छते स वै संग्राहकः मतः । तं या बध्नाति (सा) छन्दोवैयर्थ्यहेतुका ॥३८॥

[जिसके द्वारा सब कुछ सङ्गत होता है, वह संग्राहक माना जाता है । उसे जो बाधा बाँधती हैं वह छन्द को व्यर्थ बनाने में हेतु है ॥ ३८ ॥]

वा० वस्तुस्वभावनिष्ठा या बध्नाति सा समापकम् ।
बाधा एताश्चतस्रो वै बध्नन्ति स्थित्युपक्रमे ॥३९॥

अन्वय—या सा वस्तुस्वभावनिष्ठा समापकं बध्नाति । एताः चतस्रो बाधाः स्थित्युपक्रमे वै बध्नन्ति ॥ ३९ ॥

[जो वस्तुस्वभावनिष्ठा है वह समापक को बाँधती है । ये चारों बाधायें स्थिति और उपक्रम में बाँधती हैं ॥ ३९ ॥]

वा० निरस्येत्तस्थुषी ह्येकां युग्मां तेष्ठीयमानता ।
स्थापिका च त्रयीं हन्ति स्थिता तुर्यामपि क्रमात् ॥४०॥

अन्वय—तस्थुषी हि एकां निरस्येत्, तेष्ठीयमानता युग्मां (निरस्येत्) स्थापिका च त्रयीं हन्ति, स्थिता तुर्याम् अपि क्रमात् हन्ति ॥४०॥

[तस्थुषी (स्थित होना चाहने वाली अवस्था) एक (बाधा) को दूर करे । तेष्ठीयमानता (बारंबार स्थित होना) दोनों (पहली व दूसरी) बाधाओं को (दूर करे) । स्थापिका (स्थापन करने वाली अवस्था) तीनों (बाधाओं को) नष्ट करती है । स्थिता (पूरी तरह स्थित) क्रमशः चौथी को भी नष्ट करती है ॥ ४० ॥]

वा० चक्राद् भ्रमन् भ्रमन् भृङ्गः प्रफुल्लमल्लिकामधु ।
पातुं तिष्ठासति स्थाने युङ्क्तः कालस्तु नो च दिक् ॥४१॥

अन्वय—भृङ्गः चक्राद् भ्रमन् भ्रमन् प्रफुल्लमल्लिकामधु पातुं स्थाने तिष्ठासति; कालः तु दिक् च नो युङ्क्तः ॥४१॥

[भ्रमर चक्र-गति से घूम-घूमकर खिली हुई मल्लिका के मधु को पीने के लिए स्थान पर बैठना चाहता है, किन्तु न तो काल का संयोग बैठ रहा है न दिक् का ॥ ४१ ॥]

वा० स्वच्छन्दः पवनो वा न स्वच्छन्दा नापि स्वा गतिः ।
मल्लिकाऽपि स्वभावे न तिष्ठासा सफला किमु ॥४२॥

अन्वय—न वा पवनः स्वच्छन्दः, स्वा गतिः अपि स्वच्छन्दा न । मल्लिका अपि स्वभावे न, तिष्ठासा किम् उ सफला (स्यात् ।)

[न तो पवन स्वच्छन्द है, और न ही (भ्रमर की) अपनी गति स्वच्छन्दा है । मल्लिका भी स्वभाव में नहीं है, तो बैठने की इच्छा कैसे सफल हो ? ॥ ४२ ॥]

वा० मल्लिकां त्वमधुना गच्छ मा भ्रमीस्त्वमितस्ततः ।
मल्लिकामीहते भृङ्ग इत्थं कालेन चोदितः ॥४३॥

अन्वय—(भृङ्ग) त्वम् अधुना मल्लिकां गच्छ इतस्ततः त्वं मा भ्रमीः । इत्थं कालेन चोदितः भृङ्गः मल्लिकाम् ईहते ॥४३॥

["तुम अब मल्लिका पर जाओ ! तुम इधर-उधर मत घूमो !"—इस प्रकार काल द्वारा प्रेरित भृङ्ग उद्योग-सहित मल्लिका की ओर जाता है ॥ ४३ ॥]

वा० तस्थुषीयं स्थितिस्तस्य दिग्दर्शनमृतेऽपि तु ।
जहद्वैलक्ष्यलक्ष्यत्वे तेष्ठीयमानता भवेत् ॥४४॥

अन्वय—इयं तस्य (भृङ्गस्य) तस्थुषी स्थितिः दिग्दर्शनम् ऋते अपि तु जहद्वैलक्ष्यलक्ष्यत्वे तेष्ठीयमानता भवेत् ॥४४॥

[यह उस (भ्रमर) की तस्थुषी स्थिति है । दिग्दर्शन के बिना भी वैलक्ष्य को और लक्ष्यत्व को छोड़ते हुए तेष्ठीयमानता होती है ॥ ४४ ॥]

वा० असकृत् कर्णिकाकेन्द्रं विशन् निविशते न तु ।
पेपीयते मधु न्यस्तस्ततोऽपि निविवृत्सति ॥४५॥

अन्वय—कर्णिकाकेन्द्रम् असकृत् विशन् न तु निविशते । न्यस्तः मधु पेपीयते । ततः अपि निविवृत्सति ॥४५॥

[कर्णिकाकेन्द्र पर बार-बार बैठता हुआ भी पूरी तरह (स्थिर होकर) नहीं बैठता । बार-बार बैठकर मधु पीता है, और हर बार वहाँ से निवृत्त होना चाहता है ॥ ४५ ॥]

वा० स्वभावो मधुपस्यायं मधुस्वभावतो यदा।
जह्याद् विषमतामद्धा स्यात्तदा स्थापिका स्थितिः ॥४६॥

अन्वय—अयं मधुपस्य स्वभावः। यदा विषमताम् अद्धा जह्यात्, तदा स्थापिका स्थितिः स्यात् ॥४६॥

[यह मधुप का स्वभाव है। मधुस्वभाव के कारण जब वह विषमता को सचमुच छोड़ दे तब स्थापिका स्थिति हो ॥ ४६ ॥]

वा० प्रसीदति पुरः कालस्ततो दिक् च प्रसीदति।
प्रसीदति ततश्छन्दः स्वभावः सम्प्रसीदति ॥४७॥

अन्वय—पुरः कालः प्रसीदति, ततः दिक् च प्रसीदति, ततः छन्दः प्रसीदति, स्वभावः सम्प्रसीदति ॥

[पहले काल प्रसन्न होता है, तब दिक् प्रसन्न होती है। उसके बाद छन्द प्रसन्न होता है, और स्वभाव सम्प्रसन्न होता है ॥ ४७ ॥]

वा० आसम्प्रसादमेवास्य स्वभावस्य स्वभावनम्।
सम्प्रसन्नः स्वभावोऽयं परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥४८॥

अन्वय—अस्य स्वभावस्य आसम्प्रसादम् एव स्वभावनम्। सम्प्रसन्नः अयं स्वभावः परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ४८ ॥

[इस स्वभाव का संप्रसाद होने तक स्वभावन होता है। सम्प्रसन्न होने पर यह स्वभाव 'पर' (—तत्त्व) को देखकर निवृत्त हो जाता है ॥ ४८ ॥]

वा० तस्मिन् निवर्तमाने हि भाति यत् तत्त्वतः स्थितम्।
क्रियाकारकफलासङ्गात् समापकः समाप्यते ॥४९॥

अन्वय—तस्मिन् निवर्तमाने हि यत् तत्त्वतः स्थितं (तत्) भाति, क्रियाकारकफलासङ्गात् समापकः समाप्यते ॥४९॥

[उसके निवृत्त होने पर, जो तत्त्वतः स्थित है वह प्रकाशित होता है। क्रियाकारक-फल का आसङ्ग होने से समापक (भी) समाप्त हो जाता है ॥४९॥]

वा० व्युत्थाने च समाधाने न च्योतति स्थितिः स्थिरा।
आसीनमयते दूरमित्यादीनां समन्वयात् ॥५०॥

अन्वय—व्युत्थाने समाधाने च स्थिरा स्थितिः न च्योतति। 'आसीनम् अयते दूरम्' इत्यादीनां समन्वयात् ॥५०॥

[व्युत्थान में या समाधान में स्थिरा स्थिति च्युत नहीं होती। 'आसीन (बैठा हुआ) ही दूर चला जाता है' इत्यादि वचनों के समन्वय से यह बात सिद्ध है ॥५०॥]

दो वस्तुएँ अन्योन्यभाव से सम्बद्ध हैं, यह समझा जा सकता है तीन लक्षणों द्वारा। प्रथमतः, उनका साहचर्य है। द्वितीयतः, एक का अपर में रूपान्तरित होने का

सामर्थ्य है। जैसे, मान लें, वैज्ञानिक टेलीफोन नामक यन्त्र का आविष्कार होने से देखा जाता है कि उसकी सहायता से शब्द-तरंग ताडित तरंग में रूपान्तरित होती हैं एवं फिर वह ताडित तरंग, दूसरा जना जिस रिसीवर को पकड़े हुए हैं उसके कर्णगोचर होने के समय पुनः ध्वनितरङ्ग में वा शब्द-ऊर्मि रूप में रूपान्तर लाभ कर रहा है। इससे शब्द का वा ध्वनि का एवं तड़ित् का अन्योन्य सम्बन्ध ही सूचित होता है। तृतीयतः, देखा जाता है कि जो अन्योन्यसम्बद्ध हैं, वे एक दूसरे के उत्पादक वा जनक भी हुआ करते हैं। यह भी उपर्युक्त दृष्टान्त द्वारा समझा जायगा।

जप के क्षेत्र में ज्योतिः एवं रस का इस प्रकार अन्योन्य सम्बन्ध है। जप करते-करते कभी आलोक का आविर्भाव होता हैं और उसके फलस्वरूप जप के अन्तर्निहित अर्थ का मानो कुछ स्फुरण दिखाई देता है एवं उसके साथ फिर थोड़ा-सा पुलक भी चित्त को स्निग्ध कर देता है। इस आलोक और पुलक की मानो दो धाराएँ parallel भाव से पास-पास चली गयी हैं एवं इनका क्रमशः नैकट्य होते-होते एक क्षेत्र में जाकर वे अनन्यता को प्राप्त होती हैं, अभिन्न हो जाती हैं। वहाँ ज्योतिः ही रस है एवं रस ही ज्योतिः है। वहाँ फिर आलोक में और पुलक में वा ज्योतिः और रस में भेद नहीं किया जा सकता है। इसलिए इस अन्योन्यता की जहाँ काष्ठा व चरम सीमा है वहीं अनन्यता है।

अब देखना होगा अभ्यारोह किसे कहते हैं। जिस अन्योन्य सम्बन्ध की बात कही गई, किन्तु साधारणतः जप के क्षेत्र में इस सम्बन्ध का अनुपात सर्वत्र समान भाव से रक्षित नहीं होता, वरन् अन्योन्यता के परिवर्त में एक अन्योन्यत्व एवं अन्यत्व का आविर्भाव हुआ करता है। ज्योतिः एवं रस मानो परस्पर से विच्छिन्न हो जाते हैं एवं एक के आविर्भाव में अपर का कोई प्रतिस्पन्द नहीं मिलता। मान लें, जप करते-करते बहुतों को एक आनन्द का स्पर्श मिलता है, किन्तु इस सुख-स्पर्श के नशे मात्र में ही वे आविष्ट रह जाते हैं उसी में 'धुत' होकर पड़े रहते है। वे पुलक में ही विह्वल होकर मग्न रहते हैं, किसी आलोक का आविर्भाव भी वहाँ नहीं होता। आलोक मानो वहाँ से भूमिका के अभाव में तिरोहित हो गया है। उसी कारण वह रस उज्ज्वल रस न होकर मलिन और स्तब्ध रस के रूप में ही दिखाई देता है; किन्तु वह प्रकाश मानो बिलकुल ही सूखा 'प्रखर' प्रकाश है। वहाँ सरसता का प्रवाह मानो अवरुद्ध है, इसीलिए प्रकाश नीरस, शुष्क और प्राणहीन है। इन सब क्षेत्रों में ज्योतिः एवं रस का जो गाढ़ प्रणय वा मैत्र है उसका अभाव परिस्फुट है। इस मैत्र के अभाव में ही एक ओर होता है रस का मान्द्य एवं मालिन्य एवं दूसरी ओर ज्योति की नीरसता और रूक्षता। यह मन्द वा मलिन रस किञ्चित् सुख का वा प्रेय का कारण होने पर भी श्रेय का कारण नहीं है। इसके उपभोग में किञ्चित् सुखावेश का लाभ

होने पर भी, वह श्रेयोलाभ का परिपन्थी है, सुतरां वर्जनीय है। इसलिए प्रयोजन है इन दोनों का मैत्र सम्पन्न करके साधन-पथ में अग्रसर होना। श्रुति ने भी गायत्री एवं मधुमती ऋक् के एक-एक चरण को पास-पास सजा कर इस मैत्र-साधन की ओर ही इङ्गित किया है। ज्योतिः एवं रस की परस्पर विच्छिन्नता, अन्योन्यता एवं पार्थक्य वा अन्यता दूर करके जो उनकी अन्योन्यता और परिशेष में अनन्यता में ले जाता है उसी का नाम अभ्यारोह है। इस मिलन के फलस्वरूप रस होता है ऊर्जित और उज्ज्वल, प्रेम का होता है उद्दीपन एवं उपनिषद् की द्युति का होता है विकिरण। तब पुलक की भी सीमा नहीं रहती, आलोक का भी 'ओर' नहीं होता। श्रीभगवान् के लीला-कीर्तनादि को सुनते-सुनते भी बहुत बार पहले एक अपरूप पुलक का संचार दिखाई देता है और बाद में महाजन पदावली के अन्तर्निहित अर्थ के उद्भासन में मानो एक परम प्रकाश के बीच चित्त डूब जाता है।

अभ्यारोह-जप हुआ स्थितिस्थापक। अर्थात् यह क्रमशः चित्त को स्थिति में आरूढ़ करता है। इस स्थिति के भी फिर नाना स्तर या पर्व हैं। प्रथम हुई 'तिष्ठा-सन्ती' स्थिति। इस अवस्था में स्थिति के लिए एक प्रवणता-मात्र दिखाई दी है, स्थिति की अभिलाषा चित्त में मात्र उदित हुई है, घूम-घूमकर क्लान्त होकर मानो थोड़ा-सा बैठना चाह रही है मात्र। इसके बाद द्वितीय भूमि में आती है 'तस्थुषी' स्थिति। यहाँ मानो अबकी बार बैठने चली यह अवस्था। यहाँ फिर केवल स्थिति के लिए इच्छामात्र नहीं है, स्थिति के अनुकूल क्रिया भी होने चली है। मानस क्षेत्र से अब मानो वास्तव कार्य-क्षेत्र में, इच्छा क्रिया में रूपान्तरित होने चली है। इसके बाद भी तृतीय भूमि में तेष्ठीयमाना स्थिति दिखाई देती है। यहाँ भ्रमर ने मधुर आस्वाद पाया है और उड़कर जाकर भी वह फिर बार-बार जाकर पुष्प के केन्द्र-कोरक में बैठ रहा है। किन्तु अभी पक्का होकर नहीं बैठा है, स्थिति अभी चञ्चल है। इसीलिए बीच-बीच में उड़ जाना पड़ता है, किन्तु फिर-फिर बैठ रहा है। स्थिति से अभी भी च्युति हो रही है। यद्यपि स्थिति बहुत बार-बार हो रही है फिर भी बीच-बीच में थोड़ा-सा अवकाश रह जाता है। स्थिति निरन्तर निरवच्छिन्न नहीं हुई है। इसके बाद चतुर्थ भूमि में जब 'स्थापिका' दिखाई देती है, तब स्थिति मानो पक्की होती है और टूटना नहीं चाहती, च्युति के भय से मानो मुक्त होती है। 'मानो' कहता हूँ इसीलिए कि इस भूमि में स्थिति की दृढ़ता क्रिया के द्वारा निष्पन्न है। स्थिति के लिए यहाँ एक कर्तृत्व वा कारयितृत्व का प्रयास है, वह 'स्थापिका' शब्द द्वारा सूचित होता है। स्थिति का यह permanence वा स्थिरता स्थिति के प्रतिकूल शक्तिसमूह को दबाकर ही सम्पादित हो रही है। इसीलिए वह आयास-प्रयासहीन अनायास स्थिति नहीं है। सुतरां अभय भी नहीं है। इसीलिए उसके भी ऊर्ध्व में उठकर पञ्चम भूमि में जाकर

'स्थिता' स्थिति में पहुंचने पर स्थिति निरापद स्थिरता और पूर्णता लाभ करती है; क्योंकि वहाँ की स्थिति स्थापित वा सम्पादित स्थिति नहीं है, यह 'स्थिता' स्थिति, "resting rest' है। यहाँ जो स्थिति नित्य वर्तमान है, उस पर आरूढ़ होना मात्र प्रयोजन है। इसीलिए इन स्थिति स्थिति-गति इस द्वन्द्व में से एक नहीं है, इसका विरोधी अन्य कुछ नहीं है, इन सब द्वन्द्वों (opposition) के ऊर्ध्व में, नित्या स्थिति, शाश्वती स्थिति है। यहीं स्थिति की चरमता और परमता है।

किन्तु इस स्थिति-लाभ के प्रयास के प्रारम्भ में ही चार बाधाएँ आकर पथरोध करके खड़ी हो जाती है। प्रथम, स्थिति के अनुकूल क्रिया का आरम्भ होने नहीं देती काल-जन्य बाधा। स्थिति के लिए प्रयास एक विशिष्ट काल की अपेक्षा करता है। जैसे काल की परिणति से मनुष्य जब यौवनावस्था में आकर उपनीत होता है, तभी उसके बीच एक अव्यक्त अभिनव क्षुधा,अशनाया वा हिदंसा (रेचन की इच्छा) फूट उठती है, उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन में भो ऐसी ही काल की परिणति में एक विशिष्ट अवस्था आ जाने पर तभी ब्राह्मी स्थिति के लिए एक अदम्य बुभुक्षा, आत्मा में ही रमण के लिए एक सुतीव्र अभिलाषा फूट उठती है। उसके पूर्व नहीं। इसलिए इस उपयुक्त काल की प्रतीक्षा सबको ही करनी होती है। यथोपयुक्त काल न आने पर अध्यात्म-जीवन की सूचना नहीं हो सकती। मधुसंग्रहार्थी भ्रमर को भी यथोपयुक्त काल में ही मधु के अन्वेषण में व्रती होना होता है। अन्यथा उसका वृथा घूम-घूमकर मरना ही सार होता है। पुष्प से पुष्पान्तर में वह फुल्लमल्लिका के मधुपान के लोभ से घूमता-फिरता रहा है और यथास्थान बैठना चाह रहा है। किन्तु चाहने से क्या होगा ? काल वा दिक् किसी का भी योगायोग जो नहीं है। पवन भी अब अनुकूल 'मन्द-मन्द बहता' नहीं है एवं अपनी गति भी अब स्वच्छन्द नहीं है, यहाँ तक कि मल्लिका भी अब स्वभाव में नहीं है, अन्तर के मधु का भाण्डार उसने अभी भी खोल कर नहीं रखा है, पूर्ण प्रस्फुटन में स्वयं को प्रकाशित नहीं किया है। इसलिए मधुकर के बैठने की आशा मिटेगी कैसे ? क्योंकि उसने यात्रा की है एक अशुभ लग्न में। सुतरां उसकी स्थिति की इच्छा वा बैठने की आकाङ्क्षा का वैफल्य अवश्यम्भावी है इस क्षेत्र में। अनेक साधक ही इस प्रकार क्रम-परिणति की अपेक्षा न रखकर, यथोपयुक्त काल आने से पहले ही, स्थिति का ठीक लग्न न जानकर ही, स्थिति के प्रयास में वृथा इधर-उधर घूमकर मरते हैं।

काल एसे करे गेलो दूतीयाली,
मधु मिलनेर चित्तमल्लिकार बुके।
कोन् मुखे कोन् पथ धरि चलि ?
पियासी मधुप पान्थ चाय दिके दिके ॥

सुप्रसन्ना दिक् एलो अग्रदूती,
शुभलग्ने देखाइलो सरल सरणि।

सरल सरणि—विषम पवना,
केमने मिलाबो वाय निश्चिन्त चलनी॥

कुटिल सरणि करिले सरल,
रसतम प्रियपाने मोर अभिसार।

क्षुरधार क्षेपा निशित पवने,
तबु असम्भव करे तोलो बार बार॥

विषमेर दाओ सुषम छन्द,
वाय अनुकूल मन्द सुमन्द बहना।

लगन मधुर, सरणि सुन्दर,
मधुपथिकाय कर स्वच्छन्द गमना॥

प्रसन्न लगन, सुप्रसन्ना दिक्,
पवनेओ मधुच्छन्दा शिखाइले मन्त्र।

तबु तो आमार आपन स्वभावे,
लुकाइले कतो कुण्ठा शङ्का कतो द्वन्द्व॥

सब प्रसादिले आमार कारणे,
मोर आपन प्रसादे राखिले वञ्चित।

अकुण्ठ आकूति अझोर आश्वासे,
मोर आपनारे कर प्रसाद-सिञ्चित॥

कृपण कुण्ठित छाड़िया अध्रुव,
से परम रसतमे एकान्त विराम।

स्थिता स्थिति, शुधु स्थापिकाय नय,
स्वभावेर स्वभावन बिना शुधु नाम॥

जत काम जत आशा ओ आयास,
सकलेर समापिका निजे समापन।
सकल निर्झर सकल तटिनी,
समापिया महासरितेर सिन्धुस्नान॥
कभु तरङ्गित, निस्तरङ्ग कभु,
जागर स्वपन किंवा ध्येयान समाधि।
कर्म कोलाहले, मग्न मौन रसे,
विपुल गभीर दीप्त शान्त निरवधि॥
मधुरतम हे आमार स्वामि,
मधुरेर अभिसारे आलोर दिशारी।
तोमारि अनन्त करुणा प्रसाद,
ढेले दाओ, क' रे नाओ एकान्त तोमारि॥

[काल आकर दूती-कर्म कर गया, मधुमिलन की चित्तमल्लिका के हृदय में "किस ओर, कौन-सा पथ पकड़कर चलूँ" प्यासा मधुप पथिक दिशा-दिशा में 'देख' रहा है।]

[सुप्रसन्ना दिक् अग्रदूती बनकर आई। शुभलग्न में उसने सरल सरणी दिखायी। सरणी सरल है, किन्तु पवन विषम है। वायु में निश्चिन्त गति कैसे लाई जाय ?]

[कुटिलसरणी को सरल करने पर मेरा, रसतम प्रिय की ओर, अभिसार होगा। तीखी धार वाले, उन्मत्त, तीक्ष्ण पवन से तुम फिर भी मेरी गति को असम्भव बना डालते हो।]

[विषम को सुषम छन्द दो, वायु को अनुकूल, मन्द, सुमन्द बहने दो। मधुपथ पर स्वच्छन्द गमन करो।]

[मधुर लग्न है, सुन्दर सरणी है। सुप्रसन्ना दिक् है। पवन को भी तुमने मधुच्छन्दा मन्त्र सिखा दिया है। फिर भी तो मेरे अपने स्वभाव में कितनी कुण्ठा, शङ्का, कितने द्वन्द्व छिपा दिये हैं।]

[मेरे लिए सब कुछ को तुमने प्रसाद से भर दिया है। किन्तु मेरे अपने प्रसाद से तुमने मुझे वञ्चित रखा है। अकुण्ठ आकूति और निरन्तर आश्वास से मेरे अपने-आप को प्रसादसिञ्चित करो।]

[कृपण, कुण्ठित और अध्रुव को छोड़कर, उस परम रसतम में एकान्त विराम होना 'स्थिता' स्थिति है। केवल 'स्थापिका' में वैसा नहीं होता। स्वभाव का 'स्वभावन' तो नाममात्र है]*

[जितनी कामनाएँ, जितनी आशाएँ और अभ्यास हैं, सबकी समापिका स्थिति का स्वयं समापन होता है। सभी निर्झरों, सभी नदियों को समाप्त करके महासरित् का यह सिन्धुस्नान है।]

[कभी तरङ्गित, कभी निस्तरंग, जाग्रत्, स्वप्न, या ध्यान-समाधि में या कर्म कोलाहल में मौन रस में विपुल, गभीर, दीप्त, शान्त, निरवधि रहने की वह स्थिति है।]

[हे मेरे मधुरतम स्वामि! मधुर के प्रति अभिसार का आलोक दिखाने वाले! तुम्हारी ही अनन्त करुणा का प्रसाद ढाल दो, ऐकान्तिक रूम से मुझे तुम्हारा अपना बना लो।]

* मूल में 'स्वभावेर स्वभावन बिना शुधु नाम"—ऐसा पाठ छपा है। 'बिना' का अर्थ व संगति समझ में न आने के कारण उसे 'किना' पढ़कर यहाँ अर्थ किया गया है। सम्पा.

वा० सर्वं शून्यं ब्रुवन्तः किमधिकरणतां ब्रूयुराधेयतां वा
सर्वं दुःखं लपन्तोऽनुभवविषयतामात्मनोऽनात्मनो वा।
सर्वं स्यन्दि व्रजन्तः क्षणिकचपलतां वीचिभंगेऽर्णवे वा
सर्वमात्मेत्यटन्तो विगतविमतयो यान्ति निर्द्वन्द्वसौख्यम् ॥५१॥

अन्वय—सर्वं शून्यं ब्रुवन्तः किम् अधिकरणतां ब्रूयुः आधेयतां वा? सर्वं दुःखं लपन्तः आत्मनः अनुभवविषयतां (ब्रूयुः) अनात्मनः वा? सर्वं स्यन्दि व्रजन्तः वीचिभंगे क्षणिकचपलतां (ब्रूयुः) अर्णवे वा? सर्वम् आत्मा इति अटन्तः विगतविमतयः निर्द्वन्द्वसौख्यं यान्ति ॥५१॥

['सब कुछ शून्य है' ऐसा कहनेवाले क्या (तत्त्व को) अधिकरण कहेंगे या आधेय? 'सब कुछ दुःख है' ऐसा बोलने वाले आत्मा को अनुभव का विषय बतायेंगे या अनात्मा को? जो सब चञ्चल (स्यन्दमान) है उसी पर चलने वाले क्या तरङ्गभङ्ग में क्षणिक चपलता कहेंगे या समुद्र में? सब कुछ आत्मा है ऐसा समझकर घूमने वाले,

जिनकी विमति दूर हो गयी है, निर्द्वन्द्व सौख्य (द्वन्द्वरहित सुखभाव) को प्राप्त होते हैं ॥५१॥]

से कोन् जादूकर विश्व इन्द्रजाल, जाहार आजव रचना ?
'शून्य' नाम तार ? कोथा कारे राखि, केमने, केन वा, बलो ना !
आनन्द दीपाली, क्षणप्रभा छटा, निर्वाण चिरतमसाय ।
सुखेर बुद्बुद् दुखेर सायरे, सबे फूटि सद्य भेङ्गे जाय ॥
दुःख शुधु सत्य, दुःख शुधु नित्य,—तबु से दुःख अनुभव ।
'आनन्द आकाश', आधार आत्मा—ताय छेड़े कभू सम्भव ?
निखिल भङ्गुर, निखिल स्यन्दि, भाङ्गा गड़ा अन्तहीन ।
एई अविराम, विश्ववीचिभङ्ग, कोन् समुद्रे उदिया लीन ?
सत्य, ज्ञान, आर अनन्त आनन्द—भुलिया आत्माय भुलिले ।
अविश्रान्त शोक-तरङ्ग-प्रहत, शून्येते निःशेष मागिले ॥
द्वन्द्व क्रमागत, भङ्ग निरन्तर,—ताय पेते चाओ प्रशांति ।
विगतविमति, भूमसुखरूप ! तेयाग' निजबोधे भ्रांति ॥

[वह कौन जादूगर है, जिसकी अजब रचना यह विश्वरूपी इन्द्रजाल है । उस का नाम क्या 'शून्य' है ? कहाँ किसे रखूं ? कैसे ? क्यों ? कहो न !

[आनन्द की दीप-पंक्ति, क्षणप्रभा छटा है, निर्वाण चिर तमसा में है । सुख का बुलबुला दुःख के सागर में उठते ही तुरन्त फूट जाता है । दुःख केवल सत्य है, दुःख केवल नित्य है, फिर भी उस दुःख का अनुभव 'आनन्द आकाश', आधार आत्मा को छोड़ कर कभी सम्भव है क्या ?

[सब कुछ भङ्गुर है, सब कुछ चञ्चल है, टूटना और गढ़ना अन्तहीन है । यह अविराम, विश्ववीचिभङ्ग किस समुद्र में उठकर लीन हो रहा है ?

[सत्य, ज्ञान और आनन्द को भूलकर आत्मा को भी भूल गये ? अविश्रान्त शोक-तरङ्गों से प्रहत शून्य में तुमने निःशेष माँगा ?

[द्वन्द्व क्रमागत है, भङ्ग निरन्तर है, उसमें प्रशान्ति पाना चाहते हो । विगत-विमति ! भूम-सुखरूप ! निजबोध में भ्रान्ति त्यागो !]

इस कारिका में आभास में सत्-चित्-सुख-स्वरूप विश्वबोध का जो परमाधार है, उसकी बात कही गई है । वह परमाधार निजबोध-रूप आत्मा है । शून्य, दुःख, अध्रुव—इत्यादि कुछ भी कहकर इस परमाव्यक्त परम प्रकाश निज बोधरूप

आत्मा का अपलाप करना सम्भव नहीं होता। विरुद्ध भावों के परिहार के निमित्त जो गहन दुर्गम विचार-सरणि चली है—बहुधा बहुमुखी होकर भी चली है—उस पदे-पदे विभ्रमसंकुल सरणि का अनुसरण यहाँ किया गया। शून्यादि इस ग्रन्थ में यथास्थान लक्षित और विवेचित हुए। यहाँ सर्वसंदिग्ध एवं सर्व अध्रुव के बीच किस ओर असंशय ध्रुव सत्य का (द्वन्द्वरहित आनन्द उपलब्धि रूप में) सन्धान करना होगा—इसी का निर्देश हुआ है। विचार की भूमिका के लिए भी अत्यावश्यक जो निजबोध (immediate self-experience) रूप आधारभूमि है, उसे दिखाया गया है। विमतिमतता छोड़कर उस परम निजबोधरूप आधार पर भ्रान्तिहीन विश्रान्ति एवं क्लान्तिहीन प्रशांति प्राप्त करते चलें।

॥ इति जपसूत्रे आनन्दाधारनिरूपणं नाम चतुर्थःपादः ॥

●

॥ इति प्रथमोऽध्याय ॥

150/-
G

DKS-9308-4164

ग्रन्थकार

पूर्वाश्रम में नाम	: प्रो० श्री प्रमथनाथ मुखोपाध्याय
स्वयंदीक्षा में नाम	: प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
आविर्भाव	: १८७७ ई०
तिरोभाव	: १९७३ ई०

स्वामीजी पूर्वाश्रम में स्वाधीनता-संग्राम के उत्साही कार्यकर्ता, बंग-भंग-आन्दोलन के अग्रणियों में अन्यतम, स्वदेशी शिक्षा के क्षेत्र में श्री अरविन्द, आचार्य सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय, श्री रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी इत्यादि महान् मनीषियों के सहकर्मी और वर्तमान यादवपुर विश्वविद्यालय के आदिम रूप 'जातीय शिक्षा-सदन' में भारतीय इतिहास और संस्कृति के अध्यापक रहे। पत्रकारिता में भी आपने विपुल कार्य किया। सुप्रसिद्ध तान्त्रिक ग्रन्थमाला के सम्पादक सर जॉन वुडरफ (आर्थर एवॅलॉन) के आप गुरुस्थानीय सहयोगी रहे हैं।

स्वामीजी गम्भीर दार्शनिक, तपोबल-विशिष्ट योगी, पाश्चात्य विज्ञान के रहस्यविद्, भारतीय अध्यात्म-विज्ञान और पाश्चात्य भौतिक विज्ञान के अनुपम समन्वयकर्ता एवं रससिद्ध समर्थ कवि (संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी में) रहे।

स्वाधीनता संग्राम के सम्बन्ध में दो अतीव भावपूर्ण एवं प्रेरक उपन्यास (बंगला) लिखे। काव्य-रचनाएँ (स्फुट), जो आजीवन (९६ वर्ष की आयु तक) चलती ही रहीं।

'वेद व विज्ञान', 'पुराण व विज्ञान', 'इतिहास और अभिव्यक्ति' अन्यतम विशिष्ट रचनाएँ। अंग्रेजी में अनेक रचनाएँ, जिनमें से दो के नाम हैं :—The Patent Wonder, The Metaphysics of Physics.

हमारा विशिष्ट प्रकाशन

वेद व विज्ञान

महान् साधक, तत्त्ववेत्ता, प्रातिभज्ञानसम्पन्न, क्रान्तिदर्शी कवि, योग-तन्त्र के रहस्यविद्, निगम-आगम धाराओं के अनुपम सङ्गमस्वरूप, गहनविचारक, आधुनिक विज्ञान के मर्मविद् और अप्रतिम रचनाकौशल के धनी **स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती** (पूर्वाश्रम में प्रो० श्री प्रमथनाथ मुखोपाध्याय) के, आज से ७५ वर्ष पूर्व दिये गये व्याख्यानों का डॉ० ऊर्मिलाशर्मा-कृत हिन्दी अनुवाद हाल ही में प्रकाशित हुआ है।

वेद में से विज्ञान खोजना अर्थात् वेद की विज्ञान-परक व्याख्या करना एक बात है; किन्तु इस ग्रन्थ में प्रस्तुत आधुनिक विज्ञान की मर्यादा, वेद और विज्ञान की पद्धतियों में समता व विषमता का विवेचन, स्वामीजी की प्रज्ञा द्वारा ही सम्भव था।

भारतीय संस्कृति के मूलरूप वेद की निरूपण-पद्धति और आधुनिक विज्ञान से उसकी तुलना आज के युग में जिज्ञासु-मात्र के लिए उपादेय है। यह ग्रन्थ प्रत्येक प्रबुद्ध भारतीय के लिये अनिवार्य रूप से अध्ययन-योग्य है। (मूल्य : १००-००)

अध्यात्मपरक हमारे आगामी प्रकाशन

पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वतीजी के ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद—

१. 'जपसूत्रम्' के शेष चार खण्ड, क्रमशः।

२. 'इतिहास और अभिव्यक्ति'

३. 'पुराण एवं विज्ञान'

पूज्यपाद श्री शिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्द के आप्तजन-प्रशंसित ग्रन्थराज 'आर्यशास्त्रप्रदीप' (मूल बंगला)—सम्पूर्ण का हिन्दी अनुवाद दो खण्डों में, क्रमशः।

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी